पुरुषार्थसिद्धि-उपाय

प्रवचन

भाग-३

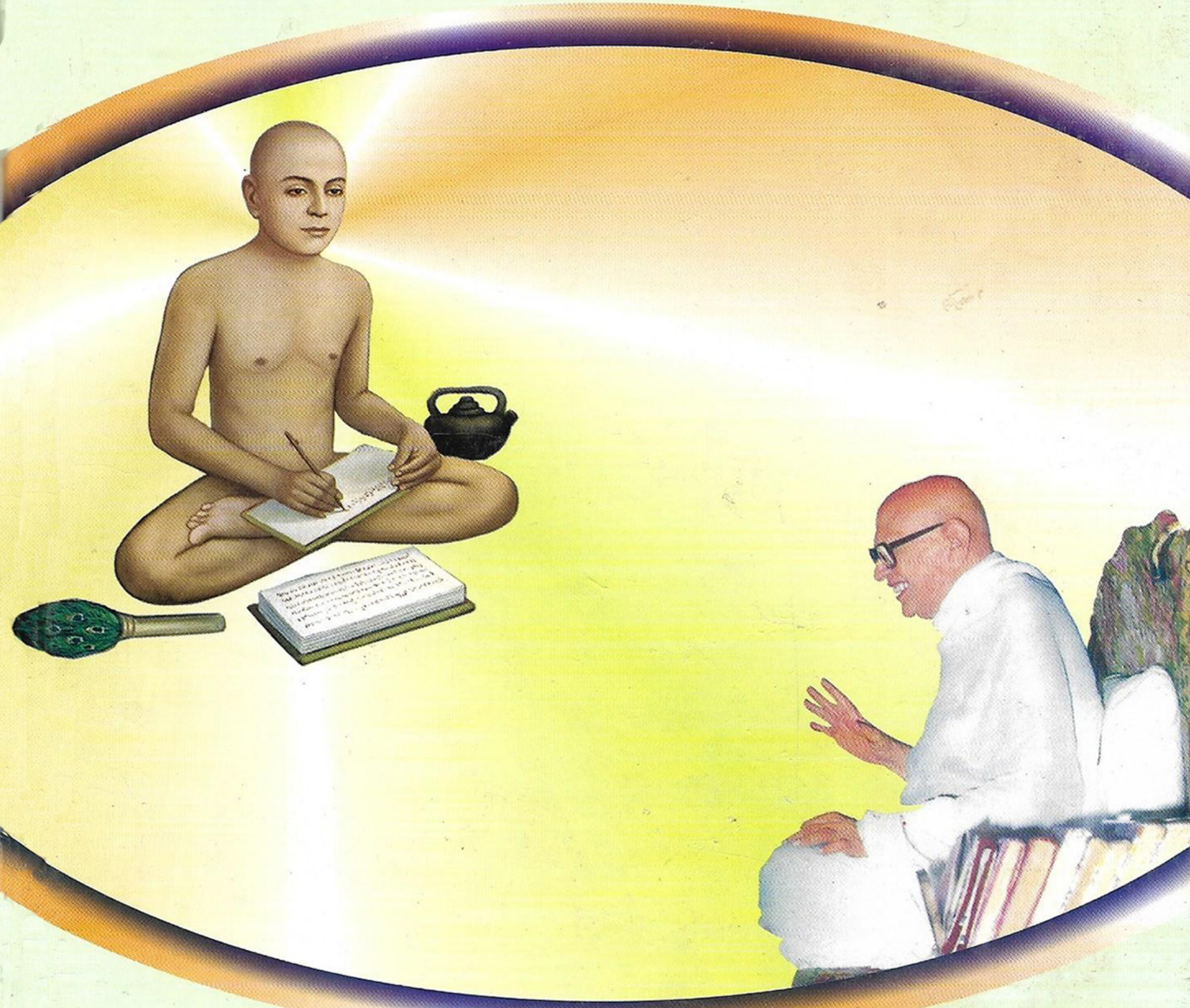

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं. ४४

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन

भाग-३

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ की
पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः धारावाहिक प्रवचन
गाथा १४९ से २२६, प्रवचन ६१ से ८९

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, विलेपार्ले, मुम्बई के अवसर पर दिनांक 17 मई से 22 मई 2015 तक)

ISBN : 978-93-81057-28-5

न्यौछावर राशि : रुपये 20.00

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

आज से लगभग ९०० वर्ष पहले हुए भावलिंगी सन्त दिगम्बर आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय में स्थित मर्म को टीका करके खोलकर भव्य जीवों के कल्याण के लिये महान अद्वितीय उपकार किया है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वतन्त्र शास्त्रों की रचना भी की है, जिसमें पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक ग्रन्थ का भी समावेश होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'जिनप्रवचनरहस्य कोश' भी है और इसकी टीका आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने की है, जिन्होंने मूल ढूँढ़ारी भाषा में ग्रन्थ की टीका की है। पण्डितजी ने आचार्य के भावों को अत्यन्त सुन्दर तथा भाववाही सरल शैली में खोला है। इस प्रकार आकाश के आधार स्तम्भ समान आचार्यों ने अनुभव को लेखनी में उतारकर मोक्षमार्ग को अखण्ड रखा है।

आचार्यों के हृदय के भावों को वर्तमान काल में यदि किसी ने खोलकर स्पष्ट किया हो तो वे हैं—भव्य जीवों के तारणहार दिव्यमूर्ति ज्ञानानन्दस्वभावी **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी।** इस काल का एक आश्चर्य समान पूज्य गुरुदेव ने स्वयं के अनुभव के बल द्वारा शास्त्रों में रहे हुए गम्भीर भावों को खोलकर भव्य जीवों को परोसा है। इस काल में आपश्री का अलौकिक सातिशय उपकार भरतक्षेत्र के जीवों पर वर्त रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ईस्वी सन् १९६६-६७ में पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पर भाववाही प्रवचन किये हैं। यह ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभाजित है। मुख्यरूप से श्रावकों के आचार सम्बन्धित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है, तथापि चारित्र की स्थिरता प्राप्त ज्ञानी धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही यह चारित्रदशा प्राप्त होती है। इस वस्तुस्थिति का क्रम आचार्य भगवान ने ग्रन्थ रचना में किया है, जो उनकी लेखनी से स्पष्ट होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना कोई चारित्र अंगीकार करे तो वह क्रम उल्लंघनरूप दोष है, जिससे किसी काल में भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अत: आचार्य भगवान ने प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का वर्णन

किया, द्वितीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन करने के पश्चात् सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। इन सभी बातों की स्पष्टता पूज्य गुरुदेवश्री ने सरल भाषा में प्रवचनों में की है।

पूज्य गुरुदेवश्री के पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ पर कुल ८९ प्रवचन हुए हैं। इन प्रवचनों को अक्षरश: लिखाकर उन्हें प्रकाशित करने का निर्णय श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा लिया गया है। जिनका प्रकाशन इस ट्रस्ट एवं श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा संयुक्तरूप से किया जा रहा है। इन प्रवचनों को कुल तीन भागों में प्रकाशित किया गया है, इस तृतीय भाग में कुल २९ प्रवचनों का समावेश किया है। इस भाग में सम्यक्चारित्र अधिकार के अन्तर्गत देशचारित्र, सकलचारित्र, सल्लेखना इत्यादि प्रकरणों के प्रवचन लिये गये हैं। सभी मुमुक्षु भाई-बहिन इन प्रवचनों का भरपूर लाभ प्राप्त करें—ऐसी भावना है।

इस प्रसङ्ग पर, मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवन्दन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षुजन अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत् परमानन्द को पायें।

प्रस्तुत प्रवचनों को कम्प्यूटर से सुनकर श्री नीलेशभाई जैन, भावनगर द्वारा गुजराती में कम्पोज किया गया है, तत्पश्चात् श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा फिर से इन प्रवचनों को सुनकर मिलान किया गया है। प्रवचन तैयार करते समय यथासम्भव सावधानी रखी गयी है। पूज्य गुरुदेवश्री के भाव तथा प्रवचनों का प्रवाह व्यवस्थित बना रहे, ऐसी सावधानी रखी गयी है, तथापि पाठकवर्ग को किसी प्रकार की क्षति दृष्टिगोचर हो तो ज्ञात कराने का विनम्र अनुरोध है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) द्वारा किया गया है। साथ ही बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन, सागर द्वारा रचित हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है। इस तृतीय भाग में समागत कुछ मूल गाथाओं की टीका-भावार्थ में गुजराती और हिन्दी प्रति में यत्किंचित् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। अत: मूल अंश हिन्दी के अनुसार और प्रवचन में गुरुदेवश्री द्वारा

पठित मूल अंश गुजराती प्रति के आधार पर यथावत् रखा गया है। सम्पूर्ण प्रवचनों को शुद्धता की दृष्टि से सी.डी. प्रवचन से सुनकर मिलान किया गया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

इस प्रकाशन में अत्यन्त सावधानी और सम्हाल रखने पर भी त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है। सुज्ञ पाठकगण की ओर से इस सम्बन्धी जो कुछ सूचना दी जायेगी, उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए आगामी संस्करण में उन्हें सुधार दिया जायेगा।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः वीरमार्ग प्रकाशक पूज्य गुरुदेवश्री के पावन चरणों में मस्तक झुकाते हुए भावना भाते हैं कि सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ में समागत निश्चय-व्यवहार की सन्धियुक्त इन प्रवचनों का अवगाहन करके मुक्तिमार्ग की ओर गमन करें।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर

दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **' श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी

सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त,

निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	तारीख	गाथा	पृष्ठ नंबर
६१	०३-०७-१९६७	१४९ से १५५	००१
६२	१४-०७-१९६७	१५६ से १६०	०२७
६३	१४-०७-१९६७	१६१ से १६२	०५२
६४	१७-०७-१९६७	१६२ से १६७	०७२
६५	१८-०७-१९६७	१६७ से १७०	०९८
६६	१९-०७-१९६७	१७० से १७१	१२२
६७	२०-०७-१९६७	१७१ से १७५	१४३
६८	२२-०७-१९६७	१७५ से १७६	१६५
६९	२३-०७-१९६७	१७६ से १७८	१८३
७०	२४-०७-१९६७	१७८	२०९
७१	२५-०७-१९६७	१७८	२२८
७२	२६-०७-१९६७	१७९ से १८२	२४३
७३	२७-०७-१९६७	१८२ से १८६	२६३
७४	२८-०७-१९६७	१८७ से १९२	२८६
७५	३०-०७-१९६७	१९३ से १९५	३१२
७६	३१-०७-१९६७	१९६ से १९९	३३४

प्रवचन क्रमांक	तारीख	गाथा	पृष्ठ नंबर
७७	०१-०८-१९६७	१९९ से २०१	३५९
७८	०२-०८-१९६७	२०१ से २०५	३८१
७९	०३-०८-१९६७	२०५	४०८
८०	०४-०८-१९६७	२०६ से २०८	४३४
८१	०५-०८-१९६७	२०६ से २०९	४५२
८२	०६-०८-१९६७	२१० से २११	४७२
८३	०८-०८-१९६७	२१२ से २१४	४९४
८४	०९-०८-१९६७	२१२ से २१५	५१२
८५	१०-०८-१९६७	२१५ से २१६	५३४
८६	११-०८-१९६७	२१६ से २१७	५५३
८७	१२-०८-१९६७	२१८ से २२०	५७५
८८	१३-०८-१९६७	२२१ से २२३	५९७
८९	१५-०८-१९६७	२२३ से २२६	६१७

ॐ

श्री जिनाय नमः

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन

(भाग-३)

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ की
पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

प्रवचन नं. ६१ गाथा-१४९ से १५५ गुरुवार, आषाढ़ शुक्ल ६, दिनांक १३.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। श्रावक का सामायिक का स्वरूप। सामायिक किसे कहना? कब और किस प्रकार करना? - यह चलता है। सामायिक अर्थात् क्या? उसमें समता का लाभ होता है। समता का लाभ अर्थात् वीतरागता जिसमें से प्रगटे। अर्थात् जिसमें आत्मा में, पहले आत्मा समस्वभावी, ज्ञायक, अनाकुल आनन्दस्वरूप है - ऐसा ज्ञान और दृष्टि होने के पश्चात्, उसमें लीनता की क्रिया को सामायिक कहा जाता है। समताभाव का लाभ कहा न? आया है न ऊपर? आत्मस्वरूप में गमन (ऐसा) 'समय' जिसका प्रयोजन है। जिसमें गमन करना, वह चीज़ क्या है? समझ में आया? जिसमें अन्तर गमन करना है, परिणमन में आनन्द चाहिए है, वह आनन्द वस्तुतः तो यह है। जिसे सुखी होना हो और जिसे सुख चाहिए हो, उसे क्या करना - उसकी व्याख्या है। सुख तो आत्मा में-अन्तर आत्मा में है। सुख कहीं पुण्य-पाप के विकल्प में, शरीर में, बाहर में है नहीं। जिसकी बुद्धि पुण्य-पाप, उसके फल, उनमें से सुखबुद्धि टल गयी है और आत्मा में आनन्द है - ऐसी जिसे बुद्धि और रुचि हुई है, ऐसे जीवों को स्वरूप में अधिक आनन्द को अनुभव करने के लिये सामायिक करना - ऐसा कहा जाता है। कहो, सेठी!

मुमुक्षु : ऐसा इसमें कहाँ लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं लिखा? यह समता – क्या कहा यह? ऐ देवानुप्रिया! यह सम, समता, गमन क्या लिखा? आत्मा के स्वरूप में गमन; तो आत्मा का स्वरूप क्या है? समझ में आया?

यह आत्मा जो है, इसका स्वरूप क्या है? कि जिसमें गमन करना, परिणमन करना है न, इस ओर आया, देखो न! सामायिक की व्याख्या। आत्मा, यह आत्मा है, देखो! (गाथा) १४८ का भावार्थ। १४८, लोग सामायिक कहते हैं, उन्हें सामायिक का पता भी नहीं कि सामायिक किसे कहना? यह तो आत्मा आनन्द–स्वरूप, समतास्वरूप, वीतरागस्वरूप है अर्थात् ज्ञायकस्वरूप है। – ऐसी प्रथम दृष्टि हुई है, अनुभव हुआ है, श्रद्धा हुई है। अब उसके अन्तर में आनन्द को विशेष अनुभव करने के लिये सामायिक का, आनन्द का आजमाईश का एक प्रयोग है। समझ में आया? इसका नाम सामायिक। जिसमें से आत्मा में सुख है, शान्ति है – ऐसा भान हुआ है। अब उस शान्ति को प्रगट करने का प्रयोग–आजमाईश, उसे प्रतिदिन की सामायिक कही जाती है। कहो, समझ में आया? वह कहते हैं।

भावार्थ : गृहस्थ श्रावक... भावार्थ है न? १४९ गाथा। गृहस्थ अर्थात् घर में रहनेवाला श्रावक। **गृहस्थी के अनेक कार्यों में संलग्न रहता है...** उसे रागादि के परिणाम, द्वेषादि के परिणाम विशेष रहा करते हैं। **अत: उसके लिये आलम्बनरूप प्रभात और सन्ध्या दोनों समय आचार्यों ने नियमित किये हैं।** आलम्बन अर्थात् निमित्तभूत। सबेरे और शाम। **यों तो सामायिक जब भी इच्छा हो की जा सकती है उससे आत्मा का कल्याण ही है,...** वस्तुस्वरूप आत्मा, जिसके स्वरूप में ही आनन्द और ज्ञान भरे हैं। स्वयं वस्तु है या नहीं? वस्तु की दृष्टि नहीं, इससे वह, वर्तमान रागादि की दृष्टि में सुख है – ऐसा मानता है। कहो, समझ में आया? वस्तु की दृष्टि नहीं, इसलिए राग–पुण्य–पाप में सुख है, उनके फल में सुख है, इधर–उधर नजर डालता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव, पर में सुख मानता है। कहो, समझ में आया? ऐसा जो मानता है, उसे सामायिक नहीं हो सकती।

मुमुक्षु : प्रयोग तो हो सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे कहाँ से प्रयोग ? जहाँ वस्तु दृष्टि में आयी नहीं, उसे प्रयोग कहाँ से ? किसमें करे ? समझ में आया ? भाई ! यह तो वीतरागमार्ग है। आहा...हा... !

वस्तु स्वयं, भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अकेला अतीन्द्रियज्ञान का रसकन्द है। वस्तु है या नहीं ? आत्मा पदार्थ है या नहीं ? और शाश्वत् है या नहीं ? शाश्वत है या नहीं ? नित्य है। तो उसकी वस्तु में आनन्द और ज्ञान, शान्ति अर्थात् चारित्र, आनन्द अर्थात् सुख- ऐसा इसमें परिपूर्ण, पूरी वस्तु असंख्य प्रदेश में परिपूर्ण पड़ी है। ऐसी जिसे प्रथम दृष्टि हुई है कि सुख तो मुझमें ही है। समझ में आया ? सेठी ! पुण्य-पाप के भाव में भी सुख नहीं, उनके बन्धन में सुख नहीं, उनके फल में सुख नहीं; चक्रवर्ती का छह खण्ड का राज्य हो, तो भी समकिती धर्मी जीव को उसमें सुख भासित नहीं होता। समझ में आया ?

कहते हैं कि आत्मा के भानसहित स्वरूप में एकाग्र होने का चाहे तब आत्मा का प्रयोग करे तो सामायिक कर सकता है - ऐसा कहते हैं। सबेरे-शाम ही करना - ऐसा कोई नहीं। **नुकसान कदापि नहीं है।** स्वरूप का अन्दर प्रयोग करके ध्यान करे, आनन्द का स्वाद ले, चाहे जब बैठै, अन्तरस्वरूप के... समझ में आया ? स्वभाव के बाग में चाहे जब रमने जाये - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! भगवान आत्मा, जिसकी नजर करने से निधान पड़े, उसकी स्थिरता द्वारा आनन्द आवे। ऐसा जो आत्मा, उसकी जिसे पहले नजर पड़ी है, नजर में वह आत्मा आया है कि यह आत्मा आनन्द और ज्ञान है। समझ में आया ? दीपचन्दजी ! यह मिथ्यादृष्टि सामायिक करे तो क्या हो ? क्या सामायिक, कहाँ थी मिथ्यादृष्टि को ?

मुमुक्षु : आत्मा तो हाथ आया नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा की तो खबर नहीं। जिसमें रमना है, टिकना है, वह क्या चीज़ है, यह तो नजर में आयी नहीं। समझ में आता है ? वस्तु अस्ति-सत्‌रूप, उसमें अनादि-अनन्त, शाश्वत् वस्तु, वैसे शाश्वत् ज्ञान और आनन्द और शान्ति उसमें है। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति आत्मा में है। ऐसा अन्तर्दृष्टि से अनुभव में आत्मा का स्पर्श हुआ है। वह अब अन्तर में विशेष सामायिक अर्थात् आत्मा में एकाग्र होने का प्रयोग विशेष करता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

अरे! वीतरागी सुख और वीतरागी आत्मा पड़ा रहा और बाकी राग में सुख तथा राग की क्रिया, वह धर्म, ऐसे फँस गया। सेठी! सेठी ने भी अभी तक जयपुर में यह किया है न? क्या कहते हैं? नहीं बोले, ठीक से जवाब नहीं दे। ठीक जवाब होवे तो बोले। मीठालालजी है न यह तो! आहा...हा...! आत्मा मीठालाल है – ऐसा कहते हैं। आनन्द की मिठास का लाल, वह आत्मा है। आहा...हा...! वस्तु की ओर अन्दर में नजर पड़ने से, यह पूरा कोई चैतन्य घोलन और आनन्द की मूर्ति है – ऐसी अन्दर प्रतीति और भान होने के बाद, दो घड़ी – चार घड़ी, छह घड़ी आनन्द का विशेष स्वाद लेने के लिये उसमें एकाग्र होने का प्रयोग करे, अजमाईश करे, उसे सामायिक कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? परमेश्वर केवलज्ञानी तीर्थंकर वीतरागदेव के मार्ग में इसे सामायिक कहने में आता है। कहो, मास्टर! सामायिक और प्रौषध, सामायिक और अपवास।

मुमुक्षु : दो के प्रश्न पहले करते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो के प्रश्न पहले करते थे। अब स्थिर हो गये। उपवास, अपवास, यह तप अपवास किया हो न? आठम पाखी का उपवास हो, वह निर्जरा है या नहीं? यह प्रौषध का अब बाद में आयेगा। प्रतिदिन का प्रयोग यह (सामायिक) है और आठ–आठ दिन में प्रयोग करना, वह प्रौषध है। आठ–आठ दिन में इस आत्मा के आनन्द का प्रयोग अन्दर में (करना), अन्दर रहने में स्थिर होने का प्रयत्न करना, वह प्रौषध है, उसका नाम प्रौषध। आत्मा की शान्ति और आनन्द का पोषण मिले, उसे प्रौषध कहते हैं। ऐ... न्यालचन्दभाई!

मुमुक्षु : ज्ञानी ने जो आत्मा देखा है, वैसा ही है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं चलता, नहीं, नहीं। ऐसा चलता है? लो! यह ठीक कहते हैं वहाँ। यह यहाँ ऐसा चलता है। ज्ञानी ने देखा, इसलिए इसे–इसे कहाँ खबर पड़ी?

मुमुक्षु : ज्ञानी ने देखा ऐसा ही है, फिर उसमें दूसरा क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है, परन्तु स्वयं को भास बिना कहाँ से आया? ऐसा है वह।

मुमुक्षु : इतना भास हुआ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भास खोटी बात है, एकदम बात सच्ची नहीं है। भगवान ने देखा वैसा आत्मा है, परन्तु देखा कैसा है ? तुझे भासित हुए बिना किस प्रकार हुआ ?

मुमुक्षु : ऊपर उतारकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ऊपर है न ? वस्तु ही नहीं रही। इसके ज्ञान में वह चीज़ यह है – ऐसा अन्दर भास होना चाहिए कि यह वस्तु है, उसमें अकेला ज्ञान का पुंज है यह। ज्ञान के भान से यह ज्ञान का पुंज है और साथ में आनन्द के स्वादवाला अर्थात् यह तो पूरी आनन्दमय ही वस्तु है। ऐसे आत्मा अन्तर प्रत्यक्ष हुए बिना, यह आत्मा ऐसा है – ऐसा भास होता ही नहीं। भगवान को ऐसा भासित हुआ है। ऐ... न्यालभाई ! वहाँ की बात करते हैं। वहाँ पूरे दिन बहुत चलता है न ? वहाँ ऐसा चलता है। ज्ञानी ने देखा, वह आत्मा हमारे मान्य है। ऐसा तो अनन्त बार किया है ऐसा तो, सर्वज्ञ भगवान के वाड़ा में अनन्त बार आया था। भगवान कहे वह सच्चा; परन्तु भगवान तुझे अन्दर बैठे बिना सच्चा कहाँ से आया ? सेठी ! यह तो पराश्रयभाव हुआ, स्वाश्रयभाव नहीं आया।

कहते हैं, **प्रभात और सन्ध्या दोनों समय आचार्यों ने...** इस काल को आलम्बन निमित्तभूत कहा है। **यों तो सामायिक जब भी इच्छा हो की जा सकती है, उससे आत्मा का कल्याण ही है, नुकसान कदापि नहीं है। इसलिए प्रत्येक श्रावक को दोनों समय अथवा तीन समय...** दोपहर। **(उत्कृष्ट) छह घड़ी, (मध्यम) चार घड़ी, (जघन्य) दो घड़ी तक पाँचों पाप तथा आरम्भ परिग्रह का त्याग करके...** व्यापार-व्यापार में जो वृत्ति हो, उसे हटाकर – ऐसा कहते हैं। **एकान्त स्थान में शुद्ध मन करके...** ओहो..हो.. ! एकान्त स्थान में पहले मन को शुद्ध करके, देखो ! सामायिक की विधि अब व्यवहार, स्थूल व्यवहार की विधि बताते हैं। **पहले पूर्व दिशा में नमस्कार करना...** पूर्व दिशा। भगवान विराजते हैं न महाविदेहक्षेत्र में ? तीर्थंकर विराजते हैं, (वहाँ) नमस्कार करना। व्यवहार की बात कहते हैं, हों !

फिर नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करना,... यह विकल्प की एक विधि है। **नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करना, पश्चात् तीन आवर्त्तन करना, और एक शिरोनति...** तीन आवर्तन ऐसे करके, फिर पैर लगना। **इस प्रकार चारों दिशाओं में**

करके खड्गासन अथवा पद्मासन धारण करके... या तो खड़े–खड़े और या पद्मासन लगा दे अन्दर में, शरीर का। **सामायिक करना चाहिए।** लो! सामायिक इस प्रकार करना। व्यवहार की विधि–स्थूल विधि बतायी है। बाकी तो अन्दर में स्वरूप–सन्मुखता का झुकाव होकर उसमें एकाकार हो जाना, निर्विकल्प शुद्धोपयोग की रमणता (होना), उसे सामायिक कहते हैं। समझ में आया? यह नवकार गिना (जपा) करे – णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... इसलिए सामायिक हो गयी? वह तो विकल्प है, वह तो आस्रव है। कहो, मोहनभाई! भगवान ने कही, वह सामायिक भी इसने सुनी नहीं। कैसी सामायिक कहलाती है? करे तो कहाँ से? समझ में आया?

कहते हैं, **और जब सामायिक पूर्ण हो जाये, तब अन्त में भी प्रारम्भ की तरह नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप, तीन तीन आवर्त्तन, एक एक शिरोनति करना चाहिए।** लो! **यही सामायिक करने की स्थूल विधि है**... स्थूल विकल्प की एक विधि है। **सामायिक करते समय–सामायिक काल में–श्रावक भी मुनि के समान है।** लो! ध्यान में हो, यह अब विशेष कहते हैं। १५० (गाथा)।

गाथा – १५०

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य।।१५०।।

है उदय चारित्र मोह का, पर सकल सावद्य योग के।
परिहार से है महाव्रतवत्, दशा सामायिक कहें।।१५०।।

अन्वयार्थ : (एषाम्) यह (सामायिकश्रितानां) सामायिकदशा को प्राप्त श्रावकों को (चारित्रमोहस्य) चारित्रमोह का (उदये अपि) उदय होने पर भी (समस्तसावद्ययोग–परिहारात्) समस्त पाप के योग का त्याग होने से (महाव्रतं) महाव्रत (भवति) होता है।

टीका : 'सामायिकश्रितानां एषां श्रावकानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् चरित्रमोहस्य उदये अपि महाव्रतं भवति' – अर्थ:– सामायिक करनेवाले श्रावक के उस समय समस्त

पाँचों पापों का त्याग होने से प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीयकर्म का उदय होने पर भी महाव्रत ही है।

भावार्थ : श्रावक जिस समय सामायिक कर रहा हो, उस समय वास्तव में उसकी अवस्था मुनि समान ही है। उसके परिणामों में और मुनि के परिणामों में विशेष अन्तर नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि मुनि दिगम्बर है और श्रावक वस्त्रसहित है। मुनि महाराज ने प्रत्याख्यानवरण कषायों का त्याग कर दिया है और श्रावक ने अभी तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का त्याग नहीं किया है।।१५०।।

गाथा १५० पर प्रवचन

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य।।१५०।।

अन्वयार्थ : यह सामायिकदशा को प्राप्त श्रावकों को... इस प्रकार आत्मा के आनन्द के प्रयोग में विशेष स्थिरता प्राप्त श्रावक को। **चारित्रमोह का उदय होने पर भी...** तीसरी चौकड़ी प्रत्याख्यान (होने) **पर भी समस्त पाप के योग का त्याग होने से महाव्रत होता है।** इस अपेक्षा से उसे उपचार से महाव्रत कहे जाते हैं। एकदम बाहर से भी विकल्प टूट गये हैं, आरम्भ-परिग्रह में एक ओर शान्त बैठा है और अपने आत्मा में आनन्द के अनुभव के घोलन में पड़ा है, उसे कहते हैं कि भले उसे प्रत्याख्यानावरणी का जरा उदय है, परन्तु उसे मुनिपना परमार्थ से नहीं है, परन्तु इस प्रकार उपचार से मुनिदशा कहने में आता है। समझ में आया?

अर्थ - **'सामायिकश्रितानां एषां श्रावकानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् चरित्रमोहस्य उदये अपि महाव्रतं भवति' सामायिक करनेवाले श्रावक के..** श्रावक -श्राविका दोनों, चाहे जो हो। यह सामायिक करनेवाले का पद कितना ऊँचा है! अपने स्वभाव का जो भान और भाव भासित हुआ है, उसमें आरूढ़ होकर स्थिरता करना, इसका नाम सामायिक कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : स्थिरता अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्दस्वरूप में स्थिरता। स्थिरता अभी पूछना पड़ती है ?

मुमुक्षु : एकाग्रता।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा में एकाग्रता। स्थिरता कहो या एकाग्रता कहो या शुद्ध –उपयोग कहो। आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है – ऐसा भान तो हुआ है। अब उसमें एकाग्रता की दो घड़ी, चार घड़ी की स्थिरता (करनी), उसे यहाँ सामायिक कहने में आता है। लो! कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : तो स्थिरता कितने–कितने समय की हुई ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो घड़ी, चार घड़ी, छह घड़ी। कहा न, क्या कहते हैं, देखो!

मुमुक्षु : अन्तर्मुहूर्त में तो उपयोग बदले तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भले विकल्प बदले, परन्तु वहाँ स्थिरता उसे कहने में आता है। विकल्प बदले, परन्तु उसी–उसी के विचार में रहता है; इसलिए उसे सामायिक कहने में आता है।

कहते हैं **सामायिक करनेवाले श्रावक के उस समय समस्त पाँचों पापों का त्याग होने से...** हिंसा, झूठ, चोरी, विषय–वासना का विकल्प वहाँ है नहीं और **प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीयकर्म का उदय होने पर भी..** तीसरी चौकड़ी का। श्रावक को दो चौकड़ी मिटी है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी कषाय मिटी, उतनी तो सदा ही समता है। यह तो विशेष समता का प्रयोग करे, इतना प्रत्याख्यानावरणी का रस घटता जाता है, तथापि उसका उदय है, **होने पर भी महाव्रत ही है।** लो, उसे महाव्रत कहा।

श्रावक जिस... यह श्रावक, इस प्रकार का श्रावक, हों! यह सम्प्रदाय के माने हुए वे श्रावक, कोई श्रावक नहीं हैं। वह तो मन्दिर जाये और पूजा करे और तिलक लगावे, वह श्रावक। कहो, यह उपाश्रय जाये और आसन बिछावे और मुँहपत्ती बाँधकर बैठे, वह श्रावक। वह श्रावक–बावक है नहीं। आत्मा में अन्दर राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता करे और उसकी समता का प्रयोग अन्दर करे, ऐसे समतावन्त श्रावक को यहाँ

श्रावक कहने में आया है। बात बहुत अनोखी डाली है। वह वस्तु ही यह है, दूसरा क्या हो ? समझ में आया ?

मुनि समान ही है, देखो! **श्रावक जिस समय सामायिक कर रहा हो, उस समय वास्तव में उसकी अवस्था मुनि समान ही है। उसके परिणामों में और मुनि के परिणामों में विशेष अन्तर नहीं है।** विशेष नहीं, है तो सही। **भेद केवल इतना ही है कि मुनि दिगम्बर है...** मुनि हों, उन्हें तो वस्त्र-पात्र हो नहीं सकते। अत्यन्त दिगम्बर, ऐसे वनवास में, आनन्द में रहते हैं, उन्हें मुनि कहा जाता है। समझ में आया ? दिगम्बर जंगल में, वनवास में आत्मा की गोष्ठी में स्थित होते हैं। कहो, समझ में आया ? उन्हें मुनि, वीतरागमार्ग में उन्हें मुनि कहा जाता है। **श्रावक वस्त्रसहित है।** इतना अन्तर है। मुनि दिगम्बर हैं, श्रावक को वस्त्र है, इतना राग का उदय है।

मुनि महाराज ने प्रत्याख्यानवरण कषायों का त्याग कर दिया है... जिन्हें अन्तर सच्चा मुनिपना प्रगट हुआ है, बाह्य दिगम्बर हो गये हैं और अन्तर में तीन कषाय का नाश हुआ है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी—और आत्मा की इतनी स्थिरता हमेशा चौबीस घण्टे जिनकी स्थिरता जम गयी है। तीन कषाय के अभाव की वीतरागता मुनि को चौबीस घण्टे चलती है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया ? उन्हें वीतरागमार्ग में मुनि, साधु कहा जाता है। दूसरों को मुनि और साधु नहीं कहा जाता।

श्रावक ने अभी तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का त्याग नहीं किया है। लो! इतना अन्तर है। समझ में आया ? तीसरी कषाय (चौकड़ी) का अभाव होकर अन्तर में उग्र स्थिरता होनी चाहिए, बाह्य में अत्यन्त दिगम्बरपना हो, ऐसी दशा श्रावक को है नहीं, परन्तु आत्मा के अन्तर के प्रयोग से अजमाईश करके शान्ति का विशेष वेदन करे तो उसे इस अपेक्षा से महाव्रत उतने काल तक, थोड़ा सा उसमें उपचार से, कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें ? मार्ग कठिन। जगत से सुना जाये नहीं कितनों को! इस प्रकार मानकर बैठे हैं न कि उसे यह मार्ग, यह सच्चा है और अभी तक माना हुआ खोटा, यह बात उन्हें अन्दर कठिन पड़ती है। सेठी! आहा..हा..!

गाथा - १५१

अब, दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप कहते हैं:–

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः।।१५१।।

प्रतिदिन लिए संस्कार, सामायिक की स्थिरता निमित्त।
पक्षार्ध दो में सुनिश्चित, कर्तव्य है उपवास नित।।१५१।।

अन्वयार्थ : (प्रतिदिनं) प्रतिदिन (आरोपितं) अंगीकार किए हुए (सामायिक संस्कारं) सामायिकरूप संस्कार को (स्थिरीकर्त्तुम्) स्थिर करने के लिये (द्वयोः) दोनों (पक्षार्द्धयोः) पक्ष के अर्द्धभाग में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन (उपवासः) उपवास (अवश्यमपि) अवश्य ही (कर्त्तव्यः) करना चाहिए।

टीका : 'प्रतिदिनं आरोपितं सामायिक संस्कारं स्थिरीकर्तुम् द्वयोरपि पक्षार्द्धयोः अवश्यं उपवासः कर्त्तव्यः' – अर्थ :– प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक व्रत की दृढ़ता करने के लिये दोनों पखवाड़ों के (शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के) अर्द्धभाग में चतुर्दशी और अष्टमी के दिन अवश्य उपवास करना चाहिए।

भावार्थ : प्रोषध का अर्थ पर्व है और उपवास का अर्थ है निकटवास करना। पर्व में पाप से छूटकर धर्म में वास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। यह प्रोषधोवास प्रत्येक महीने में चार बार किया जाता है अर्थात् प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन किया जाता है। इससे सामायिक करने की भावना दृढ़ रहती है अर्थात् विषय–कषायों से चित्त सदा विरक्त ही रहता है, इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को सामायिक अवश्य ही करना चाहिए।।१५१।।

गाथा १५१ पर प्रवचन

अब, दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप कहते हैं:– लो! दूसरा शिक्षाव्रत। फिर भोगोपभोग का तीसरा आयेगा, वैयावृत्त्य का चौथा आयेगा।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः।।१५१।।

भाषा देखो! सामायिक के साथ में प्रोषध को मिलाते हैं। कहो, **'प्रतिदिनं' प्रतिदिन अंगीकार किए हुए सामायिकरूप संस्कार...** देखो! दो घड़ी, चार घड़ी हमेशा सामायिक के संस्कार स्थिरता, शान्ति उसे जमी थी। प्रतिदिन प्रयोग किया था। आहा..हा..! दो घड़ी, चार घड़ी, हमेशा आत्मा में निर्विकल्परूप से, शुद्धोपयोगरूप से रहने के संस्कार प्रतिदिन दो-दो घड़ी, चार घड़ी किये थे। उसे अब आठ—महीने में चार दिन विशेष प्रोषध में, आत्मा को ध्यान में रहने का प्रयोग विशेष करता है। कहो समझ में आया? पहले दो घड़ी, चार घड़ी का प्रयोग था, वह विशेष है। उपवास के तीन प्रकार करेंगे। चार पहर का, आठ पहर का और बारह पहर का। परन्तु वजन यहाँ है। **प्रतिदिन अंगीकार किए हुए सामायिकरूप संस्कार...** देखा? वजन यहाँ है।

आत्मा... अरे! आठ वर्ष की कन्या सच्ची श्राविका हो, उसे भी आत्मा के आनन्द का भान हुआ होता है और उसमें वह सामायिक के समय स्थिरता के, आनन्द के विशेष संस्कार डालती जाती है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! कहीं सुखबुद्धि नहीं होती। संसार में पड़े दिखायी दें, राज, कुटुम्ब-परिवार कहीं सुखबुद्धि नहीं दिखती, सबसे सुखबुद्धि उठ गयी होती है। सम्यग्दृष्टि को और सामायिक करनेवाले को आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र सबसे हितबुद्धि कहो या सुखबुद्धि, उठ गयी है। समझ में आया?

ऐसे **सामायिकरूप संस्कार को स्थिर करने के लिये...** देखो! **'स्थिरीकर्त्तुम्'** देखो! आया। स्थिर, स्थिर आया अन्दर। एकाग्र विशेष **दोनों पक्ष के अर्द्धभाग में...** लो! ठीक। स्थिर करने के लिये, संस्कार अधिक स्थिर (करने के) लिये **दोनों पक्ष के अर्द्धभाग में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन...** अष्टमी और चौदस। एक महीने में चार बार आत्मा को, अत्यन्त निवृत्त होकर प्रोषध में आत्मा के आनन्द का प्रयोग करे। यह पूरी विधि कहेंगे, हों! आहा..हा..! कहो समझ में आया?

मुमुक्षु : दो घड़ी, चार घड़ी का.... किया हो उसके लिये?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो घड़ी, चार घड़ी का किया हो, उसे इस आठ दिन में वह अब

अधिक करने का समय है, ऐसा कहते हैं। दृष्टि में आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, वह चौबीस घण्टे (रहता है) और उसकी स्थिरता का दो घड़ी, चार घड़ी सामायिक का प्रयोग (करे) और आठ दिन, पन्द्रह दिन, ऐसा करके आठ-आठ दिन हो न फिर? महीने में चार दिन अर्थात् आठ-आठ दिन। आठ-आठ दिन में अष्टमी और चतुर्दशी। अष्टमी और चतुर्दशी। ऐसे आत्मा में विशेष निवृत्ति, स्थिरता लेने के लिये यह प्रयोग है, अजमाईश है। आहा..हा..! यह दो, पाँच लाख की पूँजीवाला, दस-दस लाख के व्यापार में प्रयोग नहीं करते? प्रयास, बड़े प्रयास करते हैं या नहीं? पूँजी होवे पाँच लाख की, व्यापार करें बड़े-बड़े पच्चीस लाख और दस लाख के।

मुमुक्षु : बैंक में से पैसा लेकर।

पूज्य गुरुदेवश्री : बैंक में से (पैसा लेकर) करते हैं। यह प्रयास करे कि इसमें से कितनी लक्ष्मी मुझे आत्मलक्ष्मी (प्राप्त होगी)। जिस चीज़ को मैंने जाना, उसमें स्थिरता कितने अंश रख सकता हूँ? उस प्रकार के सामायिक के संस्कार जिसने किये हैं, उसने आठ दिन में प्रोषध के संस्कार विशेष करना। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? **उपवास अवश्य ही करना चाहिए।**

'प्रतिदिनं आरोपितं सामायिक संस्कारं स्थिरीकर्तुम् द्वयोरपि पक्षार्द्धयो: अवश्यं उपवास: कर्त्तव्य:'–प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक व्रत की दृढ़ता करने के लिये... देखा? हमेशा दो-दो घड़ी, चार घड़ी आत्मा के अन्तर दरबार में एकाकार होकर जो संस्कार सामायिक के किये हैं, उनकी **दृढ़ता करने के लिये दोनों पखवाड़ों के (शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के) अर्द्धभाग में चतुर्दशी और अष्टमी के दिन अवश्य उपवास करना चाहिए।** पाँचवें गुणस्थान की दशा का-प्रौषध का वर्णन है। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : श्रावक को पाँचवाँ तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, पाँचवाँ हो तो ही श्रावक कहलाये; नहीं तो श्रावक कहलाये नहीं। श्रावक को पाँचवाँ होता है, ऐसा कहते हैं। भाई! पाँचवाँ हो तो ही श्रावक कहलाये। परन्तु यह श्रावक किसे कहना? यहाँ तो कुछ जरा भी भान नहीं होता (कि) आत्मा क्या

है ? और उसमें राग क्या है ? राग की क्रिया करे, करता है तो उसका क्या परिणाम आवे ? कुछ खबर नहीं होती। समझ में आया ?

देहादि की क्रिया भिन्न है, समय-समय यह अवस्थायें होती हैं, वे आत्मा से नहीं; वे तो शरीर की क्रियायें स्वतन्त्र पर्याय होती है। वह वस्तु तो अजीव पदार्थ है। उसकी पर्याय स्वतन्त्र (होती है), मैं उसे नहीं कर सकता, मुझसे वह होती है, यह चीज़ नहीं। राग को करूँ, यह मेरे स्वरूप में नहीं। क्योंकि करूँ-ऐसा होवे तो लाभदायक माना उसे तो। आत्मा तो रागरहित स्वरूप है। ऐसी दृष्टि हुए बिना राग का, अस्थिरता का त्याग भी नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया इसमें ?

भावार्थ : यह प्रोषधोवास प्रत्येक महीने में चार बार किया जाता है... वह ढसरडा (दिखाव) रह गया बाहर का, वस्तु पड़ी अन्दर की। हमेशा प्रोषध तो करे। न्यालचन्दभाई !

मुमुक्षु : निर्बल पड़कर, बेगार (अनावश्यक श्रम) करके....

पूज्य गुरुदेवश्री : बेगार रही बेगार। मिथ्या। दो सौ प्रोषध करके, करो सामायिक। परन्तु किसकी सामायिक ? अभी वस्तु की खबर नहीं होती। जिसमें स्थिर होना है, जिसमें टिकना है, वह चीज़ क्या है ? उसमें है क्या ? और कैसे उसमें टिकना ? किस कारण से ? समझ में आया ? क्योंकि पर्यायबुद्धि मिटे बिना, पर में सुखबुद्धि मिटे बिना वस्तुबुद्धि नहीं होती। वस्तुबुद्धि कहो या द्रव्यबुद्धि कहो, या द्रव्यदृष्टि कहो। समझ में आया ? जिसे अभी पुण्य-पाप के विकल्प में, पैसा आदि मिले, उसमें सुखबुद्धि का उत्साह वर्तता है। सुखबुद्धि का उत्साह वर्तता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उत्साह वर्तता है, उसमें। यह, यह किया, यह प्राप्त किया, यह लिया, मुझे मिला, यह किया, वह तो पर में जिसका उत्साह वर्तता है।

मुमुक्षु : श्रावक को उत्साह नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक को उत्साह नहीं होता, समकिती को पर में उत्साह नहीं होता। आसक्ति होती है, उत्साह नहीं होता कि इसमें सुखबुद्धि ऐसा भाव नहीं होता। समझ में आया ?

श्रावक उसे कहते हैं कि विषय की वासना उसे हो, परन्तु वासना में सुखबुद्धि न हो। आहा..हा..! समझ में आया? 'चाखे रस क्युं घड़ी छूटे, सूरिजन सूरिजन सोहि' आत्मा का, अन्तर्दशा का भान हुआ है। भान में, उस आनन्द के प्रेम में, उसे कहीं प्रेम (नहीं आता)। पुण्य-पाप विकल्प या उनका फल, दिखे बाहर में ऐसे प्रेमी मानो रानी पर आसक्त है, (तथापि) कहीं प्रेम नहीं होता, रुचि का प्रेम कहीं नहीं होता। आहा..हा..! समझ में आया?

तथापि छियानवे हजार रानियाँ हों, विवाह करे, परन्तु शुभभाव, अशुभ आवे उसमें उसे रस नहीं, रस नहीं। रोग, यह रोग आया। मेरी निरोगता दशा में यह रोग है। जिसे छह खण्ड का राज, छियानवें हजार पद्मिनी जैसी देवियाँ (रानियाँ), कहीं सुख नहीं होता। जहाँ सुख भासित हुआ है, वहाँ से हटता नहीं और जिसमें नहीं, वहाँ कहीं प्रेम लगता नहीं। कहो, समझ में आया? यहाँ तो एक साधारण दो रुपये कमाता हो और यदि उस दिन, दिन के दस रुपये आये, आ..हा..हा..! आकाश को लात लगाये (मेरा) आकाश को लात लगाये अर्थात् कि मानो...

मुमुक्षु : आकाश को लात लगाना तो खाली जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यर्थ का उत्साह करता है, ऐसा इसका अर्थ। आहा..हा..! अरे! भगवान! भाई! तेरी लक्ष्मी तो केवलज्ञान लक्ष्मी है न अन्दर में! केवलज्ञान लक्ष्मी, अनन्त आनन्द लक्ष्मी, अनन्त शान्ति-चारित्र वीतरागता लक्ष्मी। उस लक्ष्मी में से एकाग्र होकर शान्ति निकाले (प्रगट करे) तो वह धर्मी का सच्चा वीर्य की रचना (स्वरूप रचना) का कार्य कहलाये। समझ में आया?

प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन किया जाता है। इससे सामायिक करने की भावना दृढ़ रहती है... ऐसा, हमेशा दो घड़ी, चार घड़ी करने का मन हुआ ही करे, ऐसा कहते हैं। **विषय-कषायों से चित्त सदा विरक्त ही रहता है, इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को सामायिक अवश्य ही करना चाहिए।** है तो प्रोषध की व्याख्या। समझ में आया? दृढ़ करने के लिये।

गाथा - १५२

प्रोषधोपवास की विधि

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ।।१५२।।

सम्पूर्ण आरम्भ से रहित, देहादि में ममता रहित।
हो पर्व दिन के पूर्व दिन, मध्यान्ह में अनशन ग्रहण।।१५२।।

अन्वयार्थ : (मुक्तसमस्तारम्भः) समस्त आरम्भ से मुक्त होकर (देहादौ) शरीरादि में (ममत्वं) ममत्वबुद्धि का (अपहाय) त्याग करके (प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे) पर्व के पहले दिन के मध्याह्न काल में (उपवासं) उपवास को (गृह्णीयात्) अंगीकार करना चाहिए।

टीका : 'प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे मुक्तसमस्तारम्भः देहादौ ममत्वं, अपहाय उपवासं गृह्णीयात्' - अर्थ :- जिस दिन उपवास करना है, उसके एक दिन पहले अर्थात् धारणा के दिन समस्त आरम्भ छोड़कर चार प्रकार के आहार का त्याग करके शरीरादि में ममत्वभाव छोड़कर उपवास ग्रहण करें।

भावार्थ :- जैसे अष्टमी के दिन उपवास करना है तो सप्तमी के दोपहर के बारह बजे से चारों प्रकार के आहार का त्याग करके, समस्त आरम्भ का त्याग करते हुए शरीरादि में मोह छोड़कर उपवास धारण करना चाहिए।।१५२।।

गाथा १५२ पर प्रवचन

प्रोषधोपवास की विधि अब इसकी विधि।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ।।१५२।।

'मत्वमपहाय' हो! आसक्ति।

अन्वयार्थ : समस्त आरम्भ से मुक्त होकर... सब व्यापार–धन्धे के विकल्प से मुक्त होकर। उस आरम्भ–धन्धे में रुके नहीं। पाप के–भैंसों के काम, और गायों के काम और अमुक के काम और लड़कों के काम, सब पाप के काम हैं। अभी अस्थिरता के पाप की बात है, हों! ऐई! वासुदेवजी! कहो, समझ में आया इसमें? **समस्त आरम्भ से मुक्त होकर शरीरादि में...** भी ममत्व अर्थात् आसक्ति, आसक्ति का त्याग करके। समझ में आया? यह मेरा है, यह तो त्याग पहले से हो गया है। मेरा है नहीं, परन्तु आसक्ति जो अन्दर होती है, उसे घटाकर **पर्व के पहले दिन के मध्याह्न काल में...** अष्टमी का जब प्रोषध करना हो तो सप्तमी के बारह बजे आरम्भ का सब त्याग कर डाले।

मुमुक्षु : बहुत सबेरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मध्याह्न दिन। आधा लिखा है, देखो न! सप्तमी के बारह बजे से सब त्याग, वह नौवीं के बारह बजे तक। प्रोषध की ऐसी विधि है।

उपवास के पहले दिन के मध्याह्न काल में 'प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे' उपवास को अंगीकार करना चाहिए। देखा? सप्तमी के बारह बजे के बाद आहार का त्याग कर देना, ऐसा कहते हैं। अष्टमी को तो उपवास है, परन्तु सप्तमी के बारह बजे (आहार का त्याग कर देना)। उत्कृष्ट विधि यह है। समझ में आया? यह तो निश्चिन्त दुकान–बुकान का काम कर ले, छूटकर फिर आठ बजे उपाश्रय जाये, फिर ऐसा कहे लाओ प्रोषध करो अब। अन्य सब काम हो गया, लड़को को सौंप दिया, अब करना तू। चलो। यह तो भानरहित प्रोषध, यह मिथ्या है। सबेरे उठकर काम करे, सब्जी–बब्जी सब कर ले, लड़कों के लिये सब तैयार कर ले, अब मैं जाता हूँ, लो! अब यहाँ काम तुम्हें नहीं करना, अब तुम्हें पकाकर खाना। ऐसा ही है?

मुमुक्षु : ...इतना तो लाभ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या छोड़े? परन्तु वृद्धि बिना? इसने कहाँ ममता कहाँ घटायी? यह तो सब किया, सबेरे से–पहले चार, दो पहर से कहते हैं। देखा?

मुमुक्षु : सबेरे उगाही को जा आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उगाही को जा आवे।

उपवास करना है, उसके एक दिन पहले अर्थात् धारणा के दिन... वह धारणा का दिन कहलाता है, वह पारणा का दिन कहलाता है। उपवास धारणा का दिन यह सप्तमी, पारणा का दिन वह नौवीं (उपवास) करने का दिन वह अष्टमी, परन्तु यह धारणा, यहाँ से धारणा करे। **समस्त आरम्भ छोड़कर...** सब छोड़कर शान्त, शान्त। एकान्त मकान में जाकर, अपने आत्मा को अन्तर एकान्त में लेकर ध्यान करे। आहा..हा..! **चार प्रकार के आहार का त्याग करके शरीरादि में ममत्वभाव छोड़कर उपवास ग्रहण करें।** लो! सप्तमी के दिन और चौदस को होवे तो तेरस के दिन बारह बजे।

मुमुक्षु : ऐसा भान न हो तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह भानसहित ऐसा करना, ऐसा कहते हैं, उसमें क्या है? आत्मा के भान—दृष्टि, ज्ञान का अनुभव होकर यह सामायिक और प्रोषध का प्रयोग करना, ऐसा कहते हैं। उसमें अकेली बाहर की क्रिया की बात है? आहा..हा..! लोगों को (खबर) होती नहीं, सामायिक क्या? धर्म क्या? बस! यह जा आये और आसन बिछाकर, दो चार सामायिक कर ली, लो! धूल भी नहीं सामायिक। मिथ्यात्व का पोषण है। धर्म नहीं। शुभविकल्प कुछ हो, उसे धर्म माना है और आत्मा का स्वभाव है, उसके सन्मुख देखने का प्रत्याख्यान किया है। आत्मा के सामने देखने का प्रत्याख्यान। बाहर करना, राग और विकल्प मन्द करके यह करना। उसका त्याग किया है (अर्थात्) आत्मा के स्वभाव सन्मुख देखने का त्याग किया है। राग के सन्मुख देखने का आदर किया है। क्या किया? समझ में आया? यह बात तो बहुत चली। ऐसे प्रोषध तो, भाई! लोग कर नहीं सकते। कर सकने की तो बात है। कर सकेंगे, कर सकते हैं, हो सकते हैं, कहते हैं। तू वस्तु को श्रद्धा में तो ले कि ऐसा होवे तो ही प्रोषध और सामायिक कहलाये, नहीं तो प्रोषध सामायिक कहलाये नहीं। ऐसी दृष्टि में तो बात ले, श्रद्धा में तो यह बात बैठा, ज्ञान में तो इसे तह बैठा कि सामायिक और प्रोषध तो इसे कहा जाता है। यह दुनिया ढोंग करती है, उसे सामायिक, प्रोषध नहीं कहते हैं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : अशुभ तो छूटता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, जरा भी नहीं छूटता। अशुभ तो पहला मिथ्यात्व है। कहो,

मिथ्यात्व का अशुभ तो छूटा नहीं, और अशुभ छूटे, कहाँ से आया। कहो, मिथ्यात्व तो बड़ी कषाय है, बड़ा पाप है। आहा..हा..! **चार प्रकार के आहार का त्याग करके शरीरादि में ममत्वभाव छोड़कर उपवास ग्रहण करें।**

भावार्थ :– जैसे अष्टमी के दिन उपवास करना है तो सप्तमी के दोपहर के बारह बजे से चारों प्रकार के आहार का त्याग करके,... लो! **समस्त आरम्भ का त्याग करते हुए शरीरादि में मोह छोड़कर (आसक्ति) उपवास धारण करना चाहिए।** लो! ये लोग प्रोषध करते थे न? ये ताराचन्दभाई वारिया... वह फिर सबेरे चौदस का होता है न? सबेरे आवे चार बजे, चार बजे से प्रोषध करे। ऐसा कहे, उठकर तुरन्त ही प्रोषध करना। कुछ भी काम करना नहीं, तुरन्त... एक बार ताराचन्दभाई (संवत्) १९७१ में वहाँ 'लाठी' चातुर्मास था, वहाँ आये थे। बाहर सो रहे थे। एकदम चार बजे मैं जहाँ उठा, दूसरे सो रहे थे। वे मेरे पास आये। कहे–प्रोषध कराओ। भाई! क्यों अभी? उन्होंने श्वेताम्बर शास्त्र में पढ़ा हो न कि उठकर तुरन्त करना, कुछ काम करना नहीं। यह १९७१ की बात है, ताराचन्दभाई, हों! वीरजीभाई के पिता। बाह्य में उनकी क्रिया। महीने में प्रोषध करते, हों! ऐसा करे बेचारे। द्रव्य / वस्तु की खबर नहीं, तत्त्व की खबर नहीं। यह बत्तीस सूत्र का चलता... सूत्र कहलाता है वह। वीरजीभाई के पिता। बत्तीस सूत्र उन्हें मुखाग्र, कण्ठस्थ थे। चलता सूत्र। आर्यिकायें, साधु उनके पास पढ़ने आवे। वस्तु की कुछ जरा भी सच्ची खबर नहीं। वह तो कहते कि यह इन छह दोष को साधु को प्रत्येक सौ करोड़ कहा है, तो सब साधु को डालो तब अंक इकट्ठा होगा। कहो, उनका हिसाब... ऐसा कहते थे। कहते थे या नहीं? खबर है न, बात सब हो गयी है, हमारे तो वहाँ थे न? ऐसे बहुत नरम व्यक्ति, हों! नरम बहुत, ऐसे अवस्था हो गयी थी, साधु को पढ़ावे परन्तु ऐसी उनकी कोमलता बहुत। उस सम्प्रदाय की, यह तो बात थी नहीं इसलिए क्या करे? माने कि साधु ऐसे होते हैं, बस! पाप न करे, अमुक न करे। बस! वह साधु, जाओ। ऐसा सादा जीवन।

वीरजीभाई, खबर है चातुर्मास में (संवत्) १९८८ में खीमजी के खीमाजी थे न, पैर लगते कि महाराज! तुम तो पहले तिरनेवाले, हों! मैंने कहा, इसे तो कुछ खबर नहीं। बेचारे अट्ठम करे और ऐसा करे। अब, आत्मा के भान बिना ऐसे उपवास वे कहाँ मक्खी के पैर से तोले जाये ऐसे हैं वहाँ। लोगों को बाह्य प्रवृत्ति और उसमें रुकना और उसमें से

कुछ लाभ होता है, यह बात अन्दर ऐसी घुस गयी है, पढ़े हुए को भी उसमें कुछ मिठास होती है।

मुमुक्षु : व्यवस्थित चले जाते थे, उसमें गाँठ डाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं, चले जाते थे व्यवस्थित, उसमें बीच में गाँठ डाली। उल्टे-उल्टे जाते थे, उल्टे। व्यर्थ में अभिमान (सब करते थे)। यह अब इसे खबर तो पड़े कि यह सामायिक, प्रोषध हम करते हैं, वह नहीं, क्यों? मास्टर! आहा..हा..!

गाथा - १५३

उपवास के दिन का कर्त्तव्य

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्।।१५३।।

फिर पूत निर्जन वसतिका जा, सभी सावद्य योग तज।
सब इन्द्रियार्थों से विरत, हो मन वचन तन गुप्ति युत।।१५३।।

अन्वयार्थ :- फिर (विविक्तवसतिं) निर्जन [1]वसतिका-निवासस्थान में (श्रित्वा) जाकर (समस्तसावद्ययोगं) [2]सम्पूर्ण सावद्ययोग का (अपनीय) त्याग करके (सर्वेन्द्रियार्थविरतः) सर्व इन्द्रियों से विरक्त होकर (कायमनोवचनगुप्तिभिः) मनगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति सहित (तिष्ठेत्) स्थिर होवे।

टीका : 'विविक्त वसतिं श्रित्वा समस्त सावद्ययोगं अपनीय सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत्' - अर्थ :- जिसने सप्तमी के दिन उपवास धारण किया है, वह श्रावक उसी समय एकान्त स्थान में जाकर (सोलह पहर अर्थात् ४८ घण्टे के लिये) हिंसादि पाँच पापों का संकल्पपूर्वक त्याग करके, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से

१. प्राचीन समय में नगर-ग्रामों के बाहर धर्मात्माजन मुनियों के ठहरने के लिए-आराम के लिए अथवा सामायिक आदि करने के लिए झोपड़ी आदि बनवा देते थे, उसे वसतिका कहते थे। अनेक नगरों में वसतिका आजकल भी देखने में आती हैं।

२. सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग=जिस समय सावद्ययोग का त्याग करे उस समय 'मैं सर्व सावद्ययोग त्यागी होता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करे।

विरक्त होकर, मन, वचन, और काय को वश रखे अर्थात् तीन गुप्ति का पालन करे।

भावार्थ : उपवास का सारा समय धर्मध्यानादि में व्यतीत करना चाहिये। एकान्त स्थान के बिना धर्मध्यान नहीं हो सकता, इसलिए एकान्त स्थान धर्मशाला, चैत्यालय वगैरह में वास करे और मन में विचार करे तो केवल धार्मिक बातों का ही विचार करे, वचन बोले तो धार्मिक बातों का ही विवेचन करे, तथा काय की चेष्टा करे तो अपनी मर्यादा–प्रमाण क्षेत्र में धर्मरूप ही करे, निरर्थक चलना–फिरना न करे। इस भाँति तीनों गुप्तियों का पालन करे।।१५३।।

गाथा १५३ पर प्रवचन

उपवास के दिन का कर्त्तव्य यह आया न?

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्।।१५३।।

फिर निर्जन वसतिका... इस नीचे अर्थ किया है। **प्राचीन समय में नगर–ग्रामों के बाहर धर्मात्माजन, मुनियों के ठहरने के लिए...** यह बात खोटी लगती है। मुनियों को ठहरने के लिये बनावे, वह चले नहीं।

मुमुक्षु : स्वयं के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बराबर है। **आराम के लिए अथवा सामायिक आदि करने के लिए झोपड़ी आदि बनवा देते थे,...** बाहर बनाते थे। गृहस्थ, श्रावक बाग आदि एकान्त हो वहाँ बनाते थे। मुनि के लिये नहीं बनाते। ऐसा इसमें कैसे डाला?

मुमुक्षु : उसमें लिखा होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा होगा, परन्तु विचारकर डालना चाहिए या नहीं? किसने लिखा है, किसने? समझ में आया? धर्मात्मा जीव मुनियों को ठहरने के लिये... ये बात खोटी है। मुनि के लिये कुछ किया ही नहीं जा सकता। मुनि तो जंगल में रहते है। वन के बाघ। वे तो कहीं स्थित होते हैं, बबूल के नीचे, थड़ के नीचे, कहीं खुले स्थित होते हैं।

उन्हें क्या है? मुनि तो मोक्ष को साधने को तैयार हो गये हैं, ऐसे तैयार। केवल लूँ या लिया, केवल (ज्ञान) लूँ या लिया – ऐसा होता है।

आराम के लिए अथवा सामायिक आदि करने के लिए झोपड़ी आदि बनवा देते थे,... स्वयं के लिये, ऐसा लो! पाठ में ऐसा है सही न? **'विविक्तवसतिं' उसे वसतिका कहते थे। अनेक नगरों में वसतिका आजकल भी देखने में आती हैं।** होवे बाहर में बनायी हुई। ऐसी एकान्त झोपड़ी आदि जंगल में हों, वहाँ जाकर **सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग करके...** लो! **सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग=जिस समय सावद्ययोग का त्याग करे...** नीचे है, **उस समय 'मैं सर्व सावद्ययोग त्यागी होता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करे।** प्रतिज्ञा करे। फिर व्यवहार डाला। सावद्ययोग का त्याग करके किसी प्रकार के पाप के परिणाम नहीं करूँ, विकल्प आवे। समझ में आया? इससे पाप का त्याग करे, ऐसा है न?

सर्व इन्द्रियों से विरक्त होकर... अपने आत्मा के आनन्द में प्रवेश करने को, अन्तर में लीन होने को, आनन्द में लीन होने को यह प्रोषध है। उपवास और वह तो खाने का विकल्प न हो, इसलिए उसे आनन्द में अन्दर निवृत्ति.. निवृत्ति.. निवृत्ति के लिये स्थिरता का अन्तर में प्रयोग है। स्थिरता कितनी कर सकता हूँ? मुनिपना प्राप्त हो तो स्थिरता बहुत करनी पड़ेगी। समझ में आया? **त्याग करके सर्व इन्द्रियों से विरक्त होकर मनगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति सहित स्थिर होवे।** लो! ठीक! तीनों गुप्ति ली है।

'विविक्त वसतिं श्रित्वा समस्त सावद्ययोगं अपनीय सर्वेन्द्रियार्थविरत: कायमनोवचनगुप्तिभि: तिष्ठेत्' लो! है अन्दर, मनो है अन्दर। इसमें भी है और अन्वयार्थ में भी है। **'कायमनोवचनगुप्तिभि:'** अन्वयार्थ में है। **जिसने सप्तमी के दिन उपवास धारण किया है...** सप्तमी के दिन बारह बजे उपवास धारण किया, दिन में बारह बजे। **वह श्रावक उसी समय एकान्त स्थान में जाकर...** उसी समय **हिंसादि पाँच पापों का संकल्पपूर्वक त्याग करके,...** कहो, **पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर, मन, वचन, और काय को वश रखे अर्थात् तीन गुप्ति का पालन करे।** कहो, देखो! सप्तमी के बारह बजे बाद से। तब अष्टमी की विशेष दशा होती है। ऐसे पहले से ऐसा करे।

ओहो..हो..! अनाहारिक आत्मा है तो अनाहारिक का प्रयोग करता है अन्दर। आहार बिना मुझे और विकल्प बिना कितनी देर रहा जा सकता है। वहाँ तो सावद्ययोग है।

मुमुक्षु : सावद्ययोग का अर्थ अपध्यान, बुरा ध्यान।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपध्यान... ठीक!

भावार्थ : उपवास का सारा समय धर्मध्यानादि में व्यतीत करना चाहिये। एकान्त स्थान के बिना धर्मध्यान नहीं हो सकता, इसलिए एकान्त स्थान धर्मशाला, चैत्यालय... मन्दिर आदि हों **वगैरह में वास करे और मन में विचार करे तो केवल धार्मिक बातों का ही विचार करे,...** विकल्प आवे तो धार्मिक तत्त्वचर्चा का ही विकल्प आवे, ऐसा। दूसरे पाप का नहीं। **वचन बोले तो धार्मिक बातों का ही विवेचन करे,...** कहो, प्रोषध में बैठे-बैठे फिर सब फालतू बातें करे, निवृत्ति बहुत हो न, और सभी सगे-प्रिय एकत्रित हुए हों। उसके तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं होता। निश्चय तो नहीं। यहाँ तो धार्मिक वचन, धार्मिक मन के विचार। **तथा काय की चेष्टा करे तो अपनी मर्यादा-प्रमाण क्षेत्र में धर्मरूप ही घूमे-फिरे।** इतनी जगह हो न थोड़ी, उतने में ही घूमे फिरे, आगे बाहर न जाये। **इस भाँति तीनों गुप्तियों का पालन करे।** लो!

मुमुक्षु : व्यवहार गुप्ति....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; यहाँ व्यवहार कह बात है न।

गाथा - १५४

पश्चात् क्या करना चाहिये यह बताते हैं:-

धर्मध्यानासक्त को वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः।।१५४।।

हो धर्म ध्यानासक्त दिन, सामायिकादि में बिता।
स्वाध्याय से निद्रा विजय, शुचि संस्तर पर हो निशा।।१५४।।

अन्वयार्थ : (विहितसान्ध्यविधिम्) प्रात:काल तथा सन्ध्याकाल की सामायिकादि क्रिया करके (वासरम्) दिवस (धर्मध्यानासक्त:) धर्मध्यान में लीन होकर (अतिवाह्य) व्यतीत करे और (स्वाध्यायजितनिद्र:) पठन-पाठन से निद्रा को जीतकर (शुचिसंस्तरे) पवित्र बिस्तर (चटाई आदि) पर (त्रियामां) रात (गमयेत्) पूर्ण करे।

टीका : 'धर्मध्यानासक्तो वासरं अतिवाह्य विहित सान्ध्यविधिम् स्वाध्यायजितनिद्र: शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्' - अर्थ :- उपवास अंगीकार करके श्रावक, धर्मध्यान में लीन होकर दिवस पूर्ण करके तथा सन्ध्या सामायिक आदि करके तीन पहर तक पवित्र बिस्तर में यथाशक्ति स्वाध्याय करते हुए रात्रि व्यतीत करे।

भावार्थ : यह उपवास धारणा का दिन है, अत: दोपहर के बारह बजे से सन्ध्याकाल तक धर्मध्यान करना, फिर सामायिक करके स्वाध्याय करना पश्चात् शयन करना और यथाशक्ति ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना। इसके बाद प्रात:काल चार बजे बिस्तर को छोड़कर जागृत हो जाना चाहिये।।१५४।।

गाथा १५४ पर प्रवचन

पश्चात् क्या करना चाहिये यह बताते हैं:-

धर्मध्यानासक्त को वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्र:।।१५४।।

प्रात:काल तथा सन्ध्याकाल की सामायिकादि क्रिया करके... दो ली है, इसमें पाठ में। प्रात:काल-सबेरे और शाम। **सामायिकादि क्रिया करके दिवस धर्मध्यान में लीन होकर...** लो! **व्यतीत करे और पठन-पाठन से निद्रा को जीतकर पवित्र बिस्तर पर रात पूर्ण करे।**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह थोड़ा लेंगे शयन। थोड़ा लेंगे अन्दर। यथाशक्ति पाठ ही है न? **'स्वाध्यायजितनिद्र:'** स्वाध्याय में ही काल व्यतीत करे। वह रात्रि और दिन स्वाध्याय

में काल व्यतीत करे – ऐसा, पाठ में तो ऐसा है। नींद तो बहुत दिन से लेता है। **उपवास अंगीकार करके श्रावक, धर्मध्यान में लीन होकर दिवस पूर्ण करके तथा सन्ध्या सामायिक आदि करके तीन पहर तक पवित्र बिस्तर में यथाशक्ति स्वाध्याय करते हुए रात्रि व्यतीत करे।** लो!

यह उपवास धारणा का दिन है... पहले का। **अत: दोपहर के बारह बजे से सन्ध्याकाल तक धर्मध्यान करना, फिर सामायिक करके स्वाध्याय करना...** उसकी बात ली है। **पश्चात् शयन करना...** देखो! थोड़ा लिया। पूर्व रात्रि, पूर्व, पूर्व आहा..! अर्थात् थोड़ा करना, ऐसा। **यथाशक्ति ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना।** यह तो फिर ऐसा डाला। मन में भी बराबर पालन करना, ऐसा। **इसके बाद प्रात:काल चार बजे बिस्तर को छोड़कर जागृत हो जाना चाहिये।** लो! देखा? चार बजे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह। अष्टमी का (उपवास) करना है तो चार बजे उठे।

गाथा – १५५

इसके बाद क्या करना?

प्रात: प्रोत्थाय तत: कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यै:।।१५५।।

फिर सुबह उठ सामायिकादि, तात्कालिक क्रिया कर।
प्रासुक पदार्थों से करे, जिनदेव पूजा श्रुतकथित।।१५५।।

अन्वयार्थ : (तत:) इसके बाद (प्रात:) सुबह ही (प्रोत्थाय) उठकर (तात्कालिकं) प्रात:काल की (क्रियाकल्पम्) सामायिकादि क्रियायें (कृत्वा) करके (प्रासुकै:) प्रासुक अर्थात् जीवरहित (द्रव्यै:) द्रव्यों से (यथोक्तं) आर्ष ग्रन्थों में कहे अनुसार (जिनपूजां) जिनेन्द्रदेव की पूजा (निर्वर्तयेत्) करे।

टीका : 'तत: प्रात: प्रोत्थाय तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा यथोक्तं प्रासुकै:

द्रव्यैः जिनपूजां निर्वर्तयेत्' – अर्थ :– शयन के बाद चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में जाग्रत होकर सामायिक और भजन व स्तुति आदि करके, शौच–स्नानादि से निबटकर प्रासुक आठ द्रव्यों से भगवान की पूजा करना तथा स्वाध्याय आदि करना।

भावार्थ : आचार्यों का अभिप्राय यहाँ प्रासुक द्रव्यों से पूजन करने का है। अतः जल को लौंग द्वारा [१]प्रासुक बना लेना चाहिए या जल को उबाल लेना चाहिए और उसी जल से द्रव्यों को धोना चाहिए। भगवान की पूजा में अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ जैसे नारंगी, मौसम्मी, गन्ना इत्यादि सचित्त वस्तुयें उपवास के व्रतधारियों को कदापि नहीं चढ़ाना चाहिए।।१५५।।

गाथा १५५ पर प्रवचन

इसके बाद क्या करना?

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः।।१५५।।

इसके बाद सुबह ही उठकर प्रातःकाल की क्रियायें करके... ऐसा। सामायिकादि। **प्रासुक अर्थात् जीवरहित द्रव्यों से...** लो! अचित्त द्रव्यों से। **आर्ष ग्रन्थों में कहे अनुसार...** भगवान के शास्त्र में कहे अनुसार वह **जिनेन्द्रदेव की पूजा करे।** प्रोषध के (दिन) सबेरे। प्रोषध के सबेरे। देखो! अमृतचन्द्राचार्य महामुनि भावलिंगी सन्त हैं। समझ में आया? वे कहते हैं कि प्रोषध का दिन हो, उस सबेरे में, अचित्त द्रव्यों से, सचित्त से नहीं। उससे शास्त्र में **कहे अनुसार जिनेन्द्रदेव की पूजा करे।** लो! परमात्मा वीतरागदेव की प्रतिमा के दर्शन करना और पूजा करना। भाव आता है न, उस प्रकार का!

शयन के बाद चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में जाग्रत होकर... लो! ब्रह्ममुहूर्त है न सबेरे का! **सामायिक और भजन व स्तुति आदि करके,...** सामायिक करे और कोई

१. प्रासुक=जो द्रव्य सूखा हो–पका हुआ हो–अग्नि पर तपाया हुआ हो–लवण तथा अम्लरस मिश्रित हो–कोल्हू, छुरी, चक्की आदि यन्त्रों से छिन्न–भिन्न किया हुआ हो–तथा संशोधित हो, वह सभी प्रासुक=अचित्त है। यह गाथा स्वामी कार्तिकेय ग्रन्थ की संस्कृत टीका में तथा गोम्मटसार की केशववर्णी कृत संस्कृत टीका में सत्यवचन के भेदों में कही गई है।

स्तुति आदि (करे) **शौच–स्नानादि से निबटकर प्रासुक आठ द्रव्यों से भगवान की पूजा करना तथा स्वाध्याय आदि करना।** लो!

आचार्यों का अभिप्राय यहाँ प्रासुक द्रव्यों से पूजन करने का है। अत: जल को लौंग द्वारा प्रासुक बना लेना चाहिए... लो! पानी में लौंग डालकर बनाना, अचित्त को। प्रोषध का दिन है न? सचित्त को छूना नहीं। **या जल को उबाल लेना चाहिए और उसी जल से द्रव्यों को धोना चाहिए। भगवान की पूजा में अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ जैसे नारंगी, मौसम्मी, गन्ना इत्यादि सचित्त वस्तुयें उपवास के व्रतधारियों को कदापि नहीं चढ़ाना चाहिए।** लो! भगवान की पूजा के लिये मौसम्मी, नारंगी, सीताफल या गन्ना, सचित्त वस्तु... गन्ने को सचित्त कहा, देखा? अचित्त लेना। ऐसे कि चावल हो, या ऐसी चीज़ हो न कोई ऐसी! इस प्रकार अष्टमी के दिन सबेरे करना। समझ में आया? सप्तमी के दोपहर से स्वाध्याय–ध्यान में व्यतीत करना, रात्रि को थोड़ा शयन करके, स्वाध्याय करे और सबेरे उठकर भगवान की अचित्त द्रव्यों से पूजा करे, पश्चात् क्या विधि करे, यह कहा जायेगा? (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित नि:शङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है। — *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

प्रवचन नं. ६२ गाथा-१५६ से १६० शुक्रवार, आषाढ़ शुक्ल ७, दिनांक १४.०७.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, उसके मुक्ति के उपाय की व्याख्या है। आत्मा जो है, वह चैतन्य ज्ञान-आनन्द आदि सब चैतन्यस्वभाव है यह। इसकी प्राप्ति होना; मुक्ति अर्थात् इसकी पर्याय में सिद्धि (होना), उसके उपाय की व्याख्या है। उसमें दूसरे शिक्षाव्रत की व्याख्या चलती है। पहला तो आत्मा का जिस घर में स्थिर होना है, वह घर देखना चाहिए। एक मनुष्य कहे कि भाई! इस घर में जाना, दो घड़ी बैठना परन्तु घर देखा न हो तो वह कहाँ बैठे? इसी तरह सामायिक और प्रोषध करना - ऐसा कहा, परन्तु किसे? समझ में आया? सामायिक और प्रोषध यह स्थिर होने का है। - परन्तु किसमें? वह चीज - जिसमें स्थिर होना है, वह जाना न हो (तो) उसमें स्थिर कहाँ से हो? पहले तो यह आत्मा चीज़ क्या है? शुद्ध चैतन्यस्वरूप, पूर्ण आनन्दरूप ऐसा आत्मा, उसे पहली अन्तर्दृष्टि-सम्यग्दर्शन हो, तब उसमें स्थिरता का प्रयोग और प्रयत्न हो। कहो, समझ में आया?

सामायिक, (वह) हमेशा स्थिरता का - अन्तर एकाग्र होने का प्रयोग है। प्रोषध है, वह आठ दिन में अन्दर में स्थिरता का एक विशेष उग्र प्रयोग है। परन्तु स्थिर कहाँ होना है? उस चीज़ की खबर बिना मिथ्यादृष्टि सामायिक करे तो क्या? प्रश्न था न? सामायिक अर्थात् क्या?

जिसमें संसार है। तो अनादि राग की एकताबुद्धि से उसे विषमभाव की प्राप्ति चालू है, विषमभाव। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है और राग, पुण्य-पाप, वह विकार स्वभाव है। दोनों को एक मानकर पर स्थिर होने से विषमभाव की, विकार की और मिथ्यात्वभाव की प्राप्ति होती है। इस संसार में धन्धा करता है न? धन्धा क्या? बाहर का नहीं। वजुभाई! बाहर का धन्धा नहीं। अन्दर में पुण्य और पाप, राग और द्वेष में एकत्व होकर, उसे पुष्टि और वे मेरे हैं - ऐसा मानकर रहता है, उसे विषमभाव, मिथ्यात्वभाव, अरागभाव से

विरुद्धभाव उसकी इसे प्राप्ति होती है। दुःखी होने की प्राप्ति, उसे दुःख की प्राप्ति होती है। कहो, समझ में आया?

अब जिसे सुखी होना हो तो कैसे, क्या करना? उसकी व्याख्या है। यह बात पहले आ गयी है कि पहले आत्मा–आस्रव और कर्म के भावरहित आत्मा है। आस्रव और कर्म सहित हूँ – ऐसी एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व है; और वह मिथ्यात्व, विषमभाव—वीतरागभाव के विपरीतभाव—दुःखभाव की प्राप्ति का कारण है। कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? विकारभाव और कर्मभावसहित मैं हूँ, वस्तु भिन्न नहीं परन्तु उस सहित हूँ – ऐसी मान्यता में विषमभाव की–दुःख की प्राप्ति है। वह प्रतिक्षण दुःख की प्राप्ति करता है। व्यापार–धन्धे के काल में या सोने के काल में वह विषमभाव की प्राप्ति करता है। क्योंकि अपना स्वभाव विकार और कर्म से भिन्न है, ऐसा न मानकर, सहित है (ऐसा मानता है), इसलिए उसे पृथक् करना नहीं रहा और उसे तो पुष्टि करना रहा। गजब बातें! समझ में आया? वह तो यह प्रोषध है न, इसलिए ऐसा आया, ऐसे पुष्टि ऐसी करे और या ऐसी करे।

जिसे सुखी होना है, दुःख मिटाना है, उसे आत्मा सुखरूप आनन्द है। ऐसे दूसरे (विकारी) भाव में कहीं सुख नहीं है। शुभाशुभराग और फल ये सब कर्म निमित्त की उपाधि, उपाधिवाले हैं। वे दुःखरूप हैं, उनसे मैं रहित हूँ, दुःखभाव से मैं रहित हूँ, ऐसा जो स्वरूप है, ऐसे स्वरूप की दुःखभावनारहित की, अर्थात् आनन्दभावसहित की अन्तर में प्रतीति और ज्ञान के भान में पहिचान–अनुभव हो, तब इसने जाना कि यह आत्मा आनन्द का घर है। कहो, समझ में आया? तब अब स्थिरता रहने के लिये पात्र हुआ। उसमें स्थिरता करने के लिये पात्र हुआ। वह स्थिरता प्रतिदिन दो घड़ी, चार घड़ी आत्मा में प्रयोग करना, अन्तर एकाग्र होना, अजमाईश करना, उसका नाम सामायिक कहने में आता है। कहो, सेठी! और उसका विशेष प्रयास, वह दृढ़ता दो घड़ी, चार घड़ी अच्छी रहे, उसके लिये आठ दिन में बहुत काल, सोलह पहर यहाँ तो कहेंगे। समझ में आया? उसे उपवास करके आत्मा में एकाग्रता का अभ्यास करना।

आत्मा जैसा जाना था कि यह पूरा स्वभाव आनन्दस्वरूप है, ऐसा उसमें एकाग्र होकर आत्मा की दशा में शान्ति की, समभाव की (पुष्टि करे)। शान्ति कहो या समभाव कहो। पहले मिथ्यात्व विषमभाव था। ऐसे समताभाव की पुष्टि का दो घड़ी प्रयोग करना, वह

सामायिक है। आठ-आठ दिन में अष्टमी, चतुर्दशी को प्रयोग करना, वह प्रोषध है। कहो, समझ में आया? इसे पहले जान तो लेना पड़ेगा या नहीं? मौसम (सीजन) में समय नहीं बिताते कितने ही? पन्द्रह दिन, महीना, दो महीना सब भूल जाते हैं। अकेला धन्धा, धन्धा और धन्धा। पाप, पाप और पाप। मगनभाई! दो, तीन महीने ऐसे होते हैं न ठीक से। आहा..!

यहाँ तो कहते हैं कि जिसमें लाभ सोचा हो, उसमें लाभ लेने के लिये काल बिताता है, थोड़ा निकालता है, ऐसा कहते हैं। चौबीस घण्टे में दो घड़ी, चार घड़ी निकालकर, यह आत्मा है, ऐसे अन्तर्मुख, अन्तर्मुख कितना रह सकता हूँ? वस्तु अन्तर्मुख है, ऐसा भान हुआ, परन्तु अन्तर्मुख कितना रह सकता हूँ, उसके प्रयोग को, अजमाईश को सामायिक कहा जाता है। उसके विशेष प्रयोग-अजमाईश को प्रोषध कहने में आता है।

मुमुक्षु : प्रत्येक समय निर्विकल्पदशा उत्पन्न होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो या न हो, वह अलग बात। मैं तो प्रयोग के लिये कहता हूँ। किसी समय हो भी जाये, और न भी हो, परन्तु शुद्धता स्थिर रहे और विकल्प हो। विकल्प रहे तो द्रव्य सामायिक हुई। स्थिरता जितनी है, है उतनी तो ऐसी की ऐसी है। स्थिरता बढ़े तो निर्विकल्प हो। सबमें हो, ऐसा कुछ नहीं। यह है प्रश्न। सामायिक के समय प्रत्येक सामायिक के समय निर्विकल्प होता है या नहीं? वह अन्दर में जाने का प्रयोग करे, एकाग्र होने में (प्रयोग करे)। समझ में आया? फिर किसी समय स्थिर हो और किसी समय स्थिर न हो परन्तु वह प्रयोग उसका है। कहो, समझ में आया? उसमें आठ दिन का प्रयोग यह है कि अष्टमी... वह क्या कहलाता है? प्रोषध, वह ऐसे चौबीस पहर कहीं निर्विकल्प रह सकता है, ऐसा प्रश्न नहीं है, परन्तु उसमें अन्दर में झुकाव को किस प्रकार रख सकता हूँ? कैसे रह सकता है? या नहीं रह सकता? उसके विशेष प्रयोग को प्रोषध कहते हैं। उसकी यह व्याख्या है।

प्रोषध के (दिवस)... कहते हैं न? सबेरे पूजा करना। कहा न? उसमें नीचे एक लाईन रह गयी है। प्रोषध करनेवाले को प्रासुक द्रव्य से वीतराग प्रतिमा की पूजा करना। उसमें नीचे जरा रह गया था कल।

जो द्रव्य सूखा हो-पका हुआ हो-अग्नि पर तपाया हुआ हो-लवण तथा अम्लरस मिश्रित हो... खट्टा और खारा डालकर, ऐसा कहते हैं। **कोल्हू, छुरी, चक्की**

आदि यन्त्रों से छिन्न–भिन्न किया हुआ हो–तथा संशोधित हो, वह सभी प्रासुक= अचित्त है। यह गाथा स्वामी कार्तिकेय ग्रन्थ की संस्कृत टीका में तथा गोम्मटसार की केशववर्णी कृत संस्कृत टीका में सत्यवचन के भेदों में कही गई है। अब १५६ गाथा।

लाभ कैसे लेना उसकी बात है। बात तो यह ले या नहीं ? आहा..हा.. ! यह तो ऐसे कर छोड़े सामायिक, प्रोषध कि मूल वस्तु नहीं मिले। जिसमें स्थिर होना है, वह क्या ? उसकी खबर नहीं होती। करो सामायिक और प्रोषध। जिस घर में जाना हो, उस घर की खबर नहीं होती (और कहे) घर में रहना।

मुमुक्षु : घर में अर्थात् कहाँ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : समताभाव का लाभ, ऐसा था या नहीं ? सामायिक— सम+आय=समता का लाभ। इसका अर्थ क्या ? समता कहाँ से मिलती है ? जहाँ समता पड़ी है, वहाँ स्थिर होने से मिलती है।

मुमुक्षु : पहले ऐसा अर्थ नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची है। ऐसा सामायिक का अर्थ नहीं था, कहते हैं। ए.. न्यालचन्दभाई ! उल्टा–उल्टा काटता था। करना हो कुरता और काटे... क्या कहलाता है ? कढ़ियूं, अंगरखा, भाई ! पहले तो कढ़ियूं कहते थे न ? कढ़ियूं कहते थे। कढ़ियूं करना हो और काटे अंगरखा, काट डाले उल्टा–सीधा तो टुकड़े व्यर्थ में जाये।

इसी प्रकार आत्मा में क्या स्थिर होना है, वह वस्तु क्या है ? उसे दृष्टि द्वारा ऐसी दृढ़ता अन्दर में आवे (कि) यह वस्तु ही शुद्ध और आनन्द है। अकेला ज्ञान का समुद्र, ज्ञान का पुंज, प्रभु ज्ञानस्वरूप है, ऐसा भान होकर अब अन्दर में स्थिर होने की या व्यापारदशा का प्रयोग करना, उसे यहाँ प्रोषध आठ दिन में वह करने का कहते हैं। १५६, देखो ! गर्मी के दिन में कितने लोग जाते हैं न ? हवा खाने नहीं जाते ? थाक खाने। निवृत्त होते हैं न निवृत्त ? फिर जाते हैं आबू, ऐई ! हवा खाऊँगा और ऐसा करूँगा और क्या फिर ? गप्पा–गोला मारे ? पाप किये अकेले। निवृत्ति के दिन में पाप करने गये।

मुमुक्षु : तबियत व्यवस्थित करे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तबियत अर्थात् क्या ? आत्मा की तबियत या शरीर की ?

मुमुक्षु : शरीर की।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो शरीर वह कहाँ इसका आत्मा है ?

मुमुक्षु : तो किसका है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की पर्याय सुधरे या रहे, वह तो उसके कारण शरीर में रहा, उसमें आत्मा को क्या हुआ ? आत्मा की तबियत तो बिगड़ी। ऐई! मोहनभाई!

मुमुक्षु : आत्मा की तबियत दिखती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिगड़ी। क्या कहते हैं ? दिखती नहीं, यह देखनेवाला है या नहीं ? कौन है परन्तु यह ? देखता नहीं, यह जाननेवाला है या नहीं ? देखता नहीं – ऐसा जाननेवाला है या नहीं ? आहा..! दिखायी नहीं देता, ऐसा निर्णय करनेवाला है या नहीं ? यही दिखता है। इसे कहाँ जड़ को खबर है (कि) कोई मैं दिखता हूँ या नहीं दिखता हूँ ? जड़ को कुछ बेचारे को कोई खबर नहीं है। शरीर और वाणी... मूल तो यही-आत्मा ही है, जहाँ-तहाँ। जहाँ-तहाँ प्रसिद्धरूप से आत्मा ही प्रसिद्धि को पाता है। कि यह वस्तु ऐसी.. यह वस्तु ऐसी.. यह वस्तु ऐसी.. कहते समय उसका ज्ञान प्रसिद्ध होता है या नहीं ? ज्ञान की प्रसिद्धि के बिना यह है, यह है-कहा किसने ?

मुमुक्षु : यह नहीं – ऐसा भी किसने कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं – ऐसा कहा, उसकी प्रसिद्धि में आत्मा है। नहीं क्या ? जहाँ-जहाँ न करे, वहाँ-वहाँ यह है। श्रीमद् ने कहा है न यह ?

करि कल्पना दृढ़ करे, न न नास्ति विचार
पण अस्ति ते सूचवै ए ज खरो निर्धार।

मैं ऐसा नहीं होऊँ, मैं ऐसा नहीं होऊँ, वहाँ ही ऐसा है। आहा..हा..! मैं ऐसे ज्ञानस्वरूप न होऊँ, बस! वह मैं इस ज्ञानस्वरूप न होऊँ, वहाँ ही मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। कभी भी वास्तविक विचार और निर्णय किया ही नहीं, ऐसा का ऐसा चला जाता है अन्ध। समझ में आया ? उत्साह कितना करे, देखो! महीने, पन्द्रह दिन बाहर जाये तो ऐसे सामान ले जाये, आबू में जाये तो ऐसे सब व्यवस्थित, ऐसी सब कुर्सी-बुर्सी ऐसी हो कि फिर हल्की... ऐसे ले जाये, ऐसी ले जाये, ऐसे समेटे ऐसी। ऐसे-ऐसे करके अमुक.. ऐसा सुना

है। वहाँ हम कहाँ देखने गये थे। समझे न? यह वहाँ फिर दरियाँ ले जाये, अमुक ले जाये, अमुक ले जाये। फिर एक महीने आराम करूँगा। आराम है या हराम है? ऐई! हरामजादगी की है तेरी दशा। ए.. सेठी! आत्माराम को हराम में डालता है, हों! आहा..हा..! धूल में, शरीर में क्या है? राग किया, उसमें तुझे आया क्या? नुकसान.. नुकसान.. नुकसान.. क्षण और पल में वहाँ। और उसमें फिर पाँच, पच्चीस लाख की पूँजी हो और उसमें ऐसे.. समझे न? सर्दी में व्यवस्थित व्यापार हो गया हो, फिर गर्मी में निश्चिन्त घूमने का, अब निश्चिन्तता का।

मुमुक्षु : वह तो निश्चिन्त करे, वहाँ भी...

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है न?

एक बार कहा था न? हम माल लेने गये थे वहाँ। हमारे मगनभाई! करके... बहुत रूपवान और पतला, चपल बहुत कहलाता था, वहाँ था। उसके यहाँ उतरे थे। माल लेने गये। खाने बैठे, वहाँ उठा, वह फोन बाहर पड़ा होगा। मगनभाई कहे क्या है? तब यह तो माल लेने जाये, परन्तु अब पूरे दिन यह क्या है? परन्तु यह खा तो सही, खाने के लिये तो तुम यह कमाते हो। मगनभाई थे पतले, यहाँ रहते थे। मन्दिरमार्गी का आग्रह बहुत था। कुछ विचार नहीं करते परन्तु अरे! यह खाने के लिये कमाते हो, खाने में भी चैन नहीं मिलता, चार रोटी में एक रोटी खायी तो यह... टेलीफोन आया, यह.. टेलीफोन आया। क्योंकि रसोई में टेलीफोन नहीं होता, रसोई में टेलीफोन नहीं होता, बाहर होता है, इसलिए बाहर उठकर जाता था।

मुमुक्षु : भोजन करने के निकट पड़ा हो। अब तो दुनिया बहुत आगे बढ़ गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब नहीं था। यह तो (संवत्) १९६६–६७ की बात है। माल लेने गये थे, वहाँ उतरे थे। हमारे गाँव के थे न। परन्तु यह क्या है? होता है परन्तु... इतना तो करो। होना होगा, वह होगा वहाँ। मुझे कहे – उसे ऐसे देरी हो, अमुक देरी हो। फिर बचाव करे। आहा..हा..! अरे! अपनी सम्हाल (की नहीं) घण्टी बजी, अब तेरी सम्हाल कर। मनुष्य देह मिला, भाई! आहा..! वह घण्टी बजे वहाँ जाये। वह यह चला मनुष्य का भव, भाई! आँखें बन्द होगी तब यह नहीं आयेगा। आहा..हा..! यह समय मिला उसमें से लाभ लिये बिना आँखें बन्द हुई, बापू! कहीं कुछ पता नहीं (लगेगा)। समझ में आया?

कहाँ-कहाँ जायेगा ? इसका इसने निर्णय नहीं किया। अनन्त-अनन्त चौरासी के अवतार, उसमें यदि यह जन्म-मरणरहित की दृष्टि, इस देह में, इस भव में प्रगट नहीं की, पता नहीं लगेगा, भाई ! कहाँ जायेगा ? समझ में आया ? ऐसी जिसे अन्दर लगनी लगी, उसको लगन लगी जो वह करे। खाये, पीये, ऐसा करे गन्ने का साठा खाये और फिर ऐसे करे तथा मौसम्बी का (रस पीवे), ओहो.. ! सबेरे खाये, दोपहर को खाये, सायंकाल कढ़ी, खिचड़ी और पापड़। मानों बस मजा (आ गया)। हैरान है, दुःखी हुआ है अकेला। ऐई ! मोहनभाई !

मुमुक्षु : कल्पना से मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मात्र दुःखी हुआ है, अब सुन न ! तेरी मूर्खता देख न ! दुःखी होता है (और मानता है) हम अभी सुखी हैं। मूर्ख है ? आहा..हा.. ! अरे ! ऐसा समय-काल गँवाता है, आत्मा के लिये नहीं करता और यहाँ गँवाता है, मूर्ख नहीं तो क्या है यह ? सेठी ! आहा..हा.. ! अरे बापू ! यह तो बिजली की चमक में मोती पिरो लो, भाई ! यह काल अनन्त-अनन्त काल में यह इतना काल.. साठ, सत्तर, अस्सी कितना कहलाये ? कहते हैं कि ऐसे आत्मा का भान करके, ऐसा समय निकालना। न निकाले तो श्रद्धा में तो लेना कि करने योग्य यह है, इसमें (आत्मा में) स्थिर होने योग्य है, इसमें रहने योग्य है—ऐसी श्रद्धा तो पक्की पहिचान करके कर। कहो, मोहनभाई ! आहा..हा.. ! देखो ! १५६

गाथा - १५६

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयादिवसस्य।।१५६।।

पूर्वोक्त विधि से यह दिवस, द्वितीय रात्रि भी बिता।
इस ही विधि से यत्न पूर्वक, तृतिय दिन आधा बिता।।१५६।।

अन्वयार्थ : (ततः) उसके बाद (उक्तेन) पूर्वोक्त (विधिना) विधि से (दिवसं) उपवास का दिन (च) और (द्वितीयरात्रिं) दूसरी रात को (नीत्वा) व्यतीत करके (च)

फिर (तृतीयदिवसस्य) तीसरे दिन का (अर्धं) आधा भाग भी (प्रयत्नात्) अतिशय यत्नाचारपूर्वक (अतिवाहयेत्) व्यतीत करे।

टीका : 'ततः उक्तेन विधिना दिवसं नीत्वा च द्वितीय रात्रिं नीत्वा च तृतीय दिवसस्य अर्द्धं प्रयत्नात् अतिवाहयेत्' –अर्थः– फिर जिस प्रकार धर्मध्यानपूर्वक पहले आधा दिन व्यतीत किया था, उसी प्रकार दूसरा दिन भी व्यतीत करके, तथा जैसे स्वाध्यायपूर्वक पहली रात व्यतीत की थी, वैसे ही दूसरी रात भी व्यतीत करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक तीसरा आधा दिन भी व्यतीत करना चाहिए।

भावार्थ : जिस प्रकार धारणा का दिन व्यतीत किया था उसी प्रकार पारणा का दिन भी व्यतीत करे। धारणा से लेकर पारणा तक का सोलह पहर का समय (४८ घण्टे) श्रावक को भले प्रकार धर्मध्यानपूर्वक ही व्यतीत करना चाहिए, तभी उसका उपवास करना सार्थक है; कारण कि विषय–कषायों का त्याग करने के लिए ही उपवासादि किये जाते हैं।।१५६।।

गाथा १५६ पर प्रवचन

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयादिवसस्य।।१५६।।

इसी टीका सीधी, लो! सीधी। **फिर जिस प्रकार धर्मध्यानपूर्वक पहले आधा दिन व्यतीत किया था...** इसकी टीका। क्योंकि शब्द वे ही हैं। जैसे कि अष्टमी का उपवास, प्रोषध करना हो तो सप्तमी के बारह बजे से निवृत्ति लेकर **पहले आधा दिन व्यतीत किया था उसी प्रकार दूसरा दिन भी व्यतीत करके,...** ओहो..! कमाने का अवसर है मुझे। कहो, अष्टमी आयी, वह आत्मा के कमाने का–कमायी का काल है मुझे। आहा..हा..! समझ में आया? ऐसा **व्यतीत करके, तथा जैसे स्वाध्यायपूर्वक पहली रात व्यतीत की थी...** अष्टमी के पहले, सप्तमी की शाम। **वैसे ही दूसरी रात भी व्यतीत करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक तीसरा आधा दिन भी व्यतीत करना चाहिए।** लो! नवमी का आधा दिन। आहा..हा..! मौसम का–मौसम का वर्णन करते हैं। हों!

भावार्थ : जिस प्रकार धारणा का दिन व्यतीत किया था... धारणा समझे

न ? अष्टमी (का उपवास) हो तो सप्तमी का (दिन) धारणा कहलाता है। चौदस का हो तो तेरस का दिन धारणा का कहलाता है और पूर्णिमा का दिन पारणा का कहलाता है। एकासन, इस ओर का एकासन, उस ओर का पारणा। **पारणा का दिन भी व्यतीत करे। धारणा से लेकर पारणा तक का सोलह पहर का समय श्रावक को भले प्रकार धर्मध्यानपूर्वक ही व्यतीत करना चाहिए,...** आहा..हा..! समझ में आया ? **तभी उसका उपवास करना सार्थक है; कारण कि विषय-कषायों का त्याग करने के लिए ही उपवासादि किये जाते हैं।** उपवास का अर्थ यह है। आता है न ? मोक्षमार्गप्रकाशक में। विषय-परसन्मुख के विकार और कषाय के त्याग के लिये उपवास है। अकेला लांघण— उपवास करके बैठा और विषय-कषाय का त्याग नहीं, उसे तो लांघण कहा जाता है। समझ में आया ?

उपवास में आत्मा की समता का कुछ लाभ न मिले और मात्र विषय-कषाय के भाव में रुके, खाना नहीं परन्तु विषय-कषाय में रुके, तो उसमें कहाँ ? क्या हुआ ? उसमें क्या किया तूने उपवास ? लांघण किया।

मुमुक्षु : द्रव्य उपवास और भाव उपवास।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य उपवास का अर्थ क्या ? मिथ्यादृष्टि। खाने-पीने में क्या है ? जड़ की क्रिया तो जड़ की है। राग की कुछ मन्दता की, तो वह पुण्य बाँधे, वह वास्तविक उपवास नहीं। उपवास (अर्थात्) स्वरूप में समीप रहे वह उपवास है। यह सब अपवास-माथावास है। जगत को आत्मा की मिठास आना (कठिन है)। यह गले पड़ा है - शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, पुण्य-पाप, इज्जत गले पड़ी है, गले। समझे न ? मिठास... मिठास... मिठास...। उसका ऐसा हर्ष आता है, उसका जोश चढ़े तो ऐसे अन्दर से रोम खड़े हो जाते हैं। ओहो..! समझ में आया ?

गाथा - १५७

अब उपवास करने का फल बताते हैं:-

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलासावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति।।१५७।।

यों सभी सावद्य रहित जो, सोलह प्रहर यों बिताता।
हो उस समय निश्चित अहिंसा, पूर्ण व्रत उसके सदा।।१५७।।

अन्वयार्थ : (यः) जो जीव (इति) इस प्रकार (परिमुक्तसकलसावद्यः सन्) सम्पूर्ण पापक्रियाओं से रहित होकर (षोडशयामान्) सोलह प्रहर (गमयति) व्यतीत करता है (तस्य) उसे (तदानीं) उस समय (नियतं) निश्चयपूर्वक (पूर्णं) सम्पूर्ण (अहिंसाव्रतं) अहिंसाव्रत (भवति) होता है।

टीका : 'इति (पूर्वोक्तरीत्या) यः (श्रावकः) परिमुक्तसकलसावद्यः षोडशयामान् गमयति, तस्य (श्रावकस्य) तदानीं नियतं पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति' – अर्थ :– जिस प्रकार से उपवास की विधि बताई है, उसी प्रकार से जो श्रावक सम्पूर्ण आरम्भ–परिग्रह का त्याग करके सोलह प्रहर व्यतीत करता है, उस श्रावक को उन सोलह प्रहर में नियम से पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन होता है।

भावार्थ : उपवास तीन प्रकार का है। उत्कृष्ट उपवास १६ पहर का है, मध्यम उपवास १२ पहर का है, जघन्य उपवास ८ पहर का है।

यथा (१) सप्तमी के दिन दोपहर का १२ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन दोपहर को १२ बजे पारणा किया – इस तरह १६ पहर हुए, यह उत्कृष्ट उपवास है।

(२) सप्तमी के दिन सन्ध्या समय ५ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ७ बजे पारणा किया। यह १२ पहर का मध्यम उपवास है।

(३) जघन्य उपवास आठ पहर का है। अष्टमी के दिन प्रातः ८ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ८ बजे पारणा किया। यह ८ पहर का जघन्य उपवास हुआ। इस भाँति उपवास का वर्णन पूर्ण हुआ।।१५७।।

गाथा १५७ पर प्रवचन

अब उपवास करने का फल बताते हैं:-

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलासावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति।।१५७।।

टीका : जिस प्रकार से उपवास की विधि बताई है, उसी प्रकार से जो श्रावक सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके... लो! बिल्कुल आरम्भ, हिंसा कुछ न करे। **सोलह प्रहर व्यतीत करता है,...** लो! सोलह पहर हुए न? दो दिवस के, एक रात्रि के चार (ये) छह और दूसरे चार, दस और दूसरे चार, चौदह और दूसरे दो। सोलह हुए। दो रात्रि और दो दिन ऐसा हो गया न? आधा इस ओर है और आधा उस ओर है। इसलिए दो दिन हो गये। दो दिन हुए और दो रात। दो दिन और दो रात। इतना समय इसे लेना। ओहो..हो..! निवृत्त कब है? धन्धा प्रवृत्ति के कारण हम निवृत्त कहाँ हैं? महाराज! हमारी जगह तुम हो तो खबर पड़े। गजब, भाई... कहा, पढ़ते हो कुछ? समय (निकालते हो)? तब पैसा बहुत नहीं था, साठ-सत्तर लाख होगा। मैंने कहा, कुछ पढ़ते हो? महाराज! इसका समय नहीं मिलता हमें। इतनी सब प्रवृत्ति। हमारी जगह आप हो तो आपको पता पढ़े कि निवृत्ति नहीं ले सकते हैं। गजब, भाई! इसे पावर चढ़ गया लगता है। कहा, ऐ.. मोहनभाई! कामगरा सब, आहा..हा..!

जगत को ऐसा मानो कि हम ऐसे बस! ऐसे काम हमारे सिर पर बोझा है कि हम निवृत्ति दो घड़ी नहीं ले सकते। मरने की फुर्सत नहीं। मरते (समय) पड़ा रहेगा वहाँ, सुन न अब, व्यर्थ का क्या..? हुकम किया हो कि यह पचास हजार ले आओ, अमुक लाना, वहाँ मुझे कहना, टेलीफोन.. वहाँ तो यहाँ भाईसाहब, यह कुछ हुआ यहाँ, क्या हुआ? कुछ खबर नहीं। दर्द उठा है, यह कहने को निवृत्त नहीं रहे। जाओ, जय भगवान! चलो अब अन्यत्र। मुझे कुछ होता है, इतना कहने को निवृत्त न रहे। समझ में आया? आहा..हा..! भाई! कहना क्या भाषा! एकदम जहाँ चक्र घूमे। यहाँ कुछ होता है, ऐसा बोलकर ऐसे पुकार करे वहाँ तो... जाओ। तम्बू ताने अन्यत्र, जाओ, आहा..हा..! द्रव्य बदले, क्षेत्र

बदले, काल बदले, भव बदले, भाव बदले - सब बदल जाये। मानो यह आत्मा ही नहीं मिले। आहा..हा..! यह भव ही नहीं मिले।

त्रिकाल वस्तु भगवान आत्मा की दृष्टि करके स्थिरता का प्रयोग करने के लिये इतना तो काल व्यतीत करना, निकालना, भाई! नहीं निकाल सके तो मान्यता में तो रखना कि यह काल निकालने जैसा है। समझ में आया? लो! **सोलह पहर में नियम से पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन होता है।** कहो, है न? **'अहिंसाव्रतं भवति'** उसमें राग नहीं, राग नहीं, उसका नाम अहिंसा, हों! फिर कुछ स्पष्टीकरण किया है, उसमें है, इसमें नहीं, हों! उसमें - मक्खनलालजी में।

भावार्थ : उपवास तीन प्रकार का है। उत्कृष्ट उपवास १६ पहर का है,... सोलह कहे न यह? **मध्यम उपवास १२ पहर का है, जघन्य उपवास ८ पहर का है। यथा (१) सप्तमी के दिन दोपहर का १२ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन दोपहर को १२ बजे पारणा किया - इस तरह १६ पहर हुए, यह उत्कृष्ट उपवास है। (२) सप्तमी के दिन सन्ध्या समय ५ बजे उपवास धारण किया...** शाम को व्यालु करके या खाये बिना, हों! दोनों होते हैं **और नवमी के दिन प्रातः ७ बजे पारणा किया। यह १२ पहर का मध्यम उपवास है।** दो रात्रि और एक दिन। **(३) जघन्य उपवास आठ पहर का है। अष्टमी के दिन प्रातः ८ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ८ बजे पारणा किया। यह ८ पहर का जघन्य उपवास हुआ। इस भाँति उपवास का वर्णन पूर्ण हुआ।**

मुमुक्षु : आठ बजे चाय-पानी पी कर करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आठ बजे ऐसे नहीं, यह लिखा है। सबेरे से। चाय-पानी पीकर क्या करे? सबेरे कुछ उठकर करे, ऐसा कहना है, यह तो।

मुमुक्षु : साढ़े पाँच बजे चाय पी ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : रात्रि को नहीं पीया जाता। रात्रि को आहार होता है? यह तो बात आ गयी। रात्रि में पानी भी नहीं होता, पतंगे गिरते हैं, जीवांत गिरती है, कीड़े-मकोड़े, जीवांत, बारीक, सूक्ष्म पतंगे ऐसे बारीक, ऐसे सूक्ष्म होते हैं कि पंख ही आवे इसके पेट

में और जरा वह भाग माँस का आवे। यह तो आत्मा का हित करने की बात है, भाई! यह बाहर के फुफाकारा मारना, समझ में आया? बाहर का मैं.. मैं.. ऐसा हो गया और हम ऐसे हो गये, हमने ऐसा किया और हमने ऐसा किया। कहा न? यह सोलह लाख का खर्च हुआ, वह शुभराग हो तो पुण्य होता है। उससे संवर-निर्जरा नहीं, ऐसा कहा। ऐसा मार्ग! यह राग से भिन्न पड़कर जितनी स्वभाव में एकाग्रता करे, उतना लाभ। यह बात है, इसका नाम अहिंसा और वीतरागमार्ग है।

गाथा - १५८

उपवास में विशेषतः अहिंसा की पुष्टि

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्।
भोगोपभोग विरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः।।१५८।।

इस व्रती के भोगोपभोगादि जनित एकेन्द्रियों।
की कही हिंसा विरत, भोगोपभोग से नहिं घात हो।।१५८।।

अन्वयार्थ : (किल) निश्चय से (अमीषाम्) इस देशव्रती श्रावक को (भोगोपभोगहेतोः) भोग-उपभोग के हेतु से (स्थावरहिंसा) स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा (भवेत्) होती है परन्तु (भोगोपभोगविरहात्) भोग-उपभोग के त्याग से (हिंसाया) हिंसा (लेशः अपि) लेशमात्र भी (न भवति) नहीं होती।

टीका : 'किलअमीषाम् (श्रावकानाम्) भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् (अतः उपवासे) भोगोपभोगविरहात् हिंसायाः लेशोऽपि न भवति' - अर्थ :- निश्चय से इन देशव्रती श्रावकों को भोगोपभोग के निमित्त से स्थावरहिंसा होती है, क्योंकि वे त्रसहिंसा के तो पूर्णरूप से त्यागी ही हैं। जब गृहस्थ श्रावक उपवास में समस्त आरम्भ-परिग्रह और पाँचों पापों का सम्पूर्ण त्याग कर देता है, तब उसे उपवास में स्थावरहिंसा भी नहीं होती। कारण कि भोगोपभोग का त्याग हो जाने से हिंसा का अंशमात्र भी नहीं रहा; इसलिए अहिंसा महाव्रत का पालन हुआ।।१५८।।

गाथा १५८ पर प्रवचन

उपवास में विशेषत: अहिंसा की पुष्टि.. १५८। अहिंसा में डाला न वापस! सबका मूल तो अहिंसा में डालते हैं न?

भोगोपभोगहेतो: स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्।
भोगोपभोग विरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसाया:।।१५८।।

यह है तो प्रोषध की व्याख्या, हों! अभी भोगोपभोग की अब आयेगी, परन्तु इसमें—**प्रोषध में ऐसा घटित होता है, यह बताना है। टीका : निश्चय से इन (देशव्रती) श्रावकों को भोगोपभोग के पदार्थों सम्बन्धी...** इसकी टीका **स्थावरहिंसा होती है,...** संसार के भोग–उपभोग में स्थावर हिंसा है। एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। आहा..हा..! कहो, खाने की चीज़, पीने की चीज़ में नमक डाले, पत्थर हो। भोग–उपभोग में समझे न? मकान चिनावे। सब पृथ्वी के एकेन्द्रिय जीव हैं। मकान चिनावे और पृथ्वी डाले और पानी के जीव डाले उसमें मिट्टी में। मिट्टी की दीवार करे, लो न! पानी। सचित्त एक बूँद में असंख्य जीव हैं। ऐसे भोग–उपभोग। एक बार भोगा जाये और बारम्बार भोगा जाये। मकान आदि बारम्बार भोगे जाते हैं और दाल–भात आदि एक बार भोगे जाते हैं। उसमें स्थावर की हिंसा होती है, लो!

गृहस्थ श्रावक त्रसहिंसा का तो पूर्णरूप से त्यागी ही हैं। देखा? जिसमें त्रस मरे, वह तो त्याग है, वह सिद्धि त्याग, हों! **जब गृहस्थ उपवास में समस्त आरम्भ–परिग्रह और पाँचों पापों का सम्पूर्ण त्याग कर देता है, तब उसे उपवास में स्थावरहिंसा भी नहीं होती।** पहली त्रसहिंसा करने का भाव तो है ही नहीं, त्याग है। स्थावरहिंसा का भी त्याग हुआ, ऐसा करके **अहिंसा महाव्रत का पालन हुआ।** लो समझ में आया? सम्यग्दृष्टि श्रावक को त्रस को मारने की वृत्ति तो होती नहीं। कोई आरम्भ–समारम्भ मात्र हो, परन्तु स्थावर जीव तो उसमें मरें ही सीधे। उन्हें भी प्रोषध के समय में वह हिंसा भी छूटकर अपने स्वरूप में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है, उसे त्रस–स्थावरहिंसा का त्याग होकर अहिंसा होती है। आहा..हा..! समझ में आया?

स्थिरता की बात है न अभी ? आत्मा में दृष्टि होने के पश्चात् स्थिरता करे, तब इस प्रोषध में त्रसस्थावर हिंसा का भी वहाँ त्याग हो जाता है; इसलिए उसे अहिंसाव्रत सच्चा पलता है। उसका नाम अहिंसाव्रत है। यह दुनिया अहिंसा, अहिंसा करती है, मुफ्त समझे बिना। समझ में आया ? ऐई ! वासुदेवभाई ! क्या यह अहिंसा क्या ? तीन, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तो मरे नहीं, मारने का भाव ही नहीं होता सम्यग्दर्शनसहित, परन्तु स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति - ये हरितकाय समझे न ? पृथ्वी के जीव, पानी के जीव, पानी की एक बूँद में असंख्य जीव। एक पृथ्वी का इतना टुकड़ा संचल की सचेत असंख्य जीव। अग्नि की कणी में असंख्य जीव, वायु में असंख्य जीव, वनस्पति में असंख्य। आलू में तो अनन्त जीव हैं, यह कहेंगे। (उसका) त्याग कहेंगे, यह गाथा में कहेंगे। अनन्त काय तो सदा के लिये खाये नहीं। स्थावर की हिंसा, त्रस की हिंसा, दो का प्रोषध में त्याग वर्तता है, इसलिए उसे अहिंसाव्रत कहने में आता है। आहा..हा.. ! **इसलिए उसे अहिंसा महाव्रत का पालन होता है।** लो ! लेश भी हिंसा नहीं करना। १५९।

रोम-रोम में जब ऐसी लट पड़ी हो और रोम-रोम में ऐसे गर्मी.. गर्मी.. गर्मी, अग्नि, अग्नि लगे। ऐसी ... हों ! अग्नि मानो पूरे शरीर में ताप मारे। क्या होता है, कुछ खबर नहीं पड़ती। शरीर में जलन.. जलन.. होती है। असाता का उदय आवे न ? एक क्षण सहा नहीं जाता, वह दिवस के दिवस उसमें व्यतीत करना पड़े। रोम-रोम में ऐसा कहते हैं, एक रोम में छियानवें रोग, शरीर में एक रोम में, हों ! ऐसा पूरा शरीर रोग से भरपूर है। शरीर वेदना की मूर्ति है। आत्मा आनन्द की मूर्ति है, यह वेदना की रोग की मूर्ति है। आहा..हा.. ! इसमें यह रोग जब पूरे प्रस्फुटित हों, पूरे तो प्रस्फुटित किसके ? परन्तु थोड़े बहुत भी प्रस्फुटित हों, सहन नहीं किये जा सकते, सहन नहीं किये जा सकते। चिल्लाहट (कर डाले) घर के पन्द्रह व्यक्ति हों, वे निश्चिन्तता से सोवे और यह अन्दर पीड़ा (भोगे)। फिर दूसरे पर द्वेष करे। (कोई) जागते नहीं, परन्तु कब तक सिर फोड़े तेरे साथ ? मरना हो तो मरेगा। अन्दर में उकताहट आवे।

एक बूढ़ा व्यक्ति कहता था। हमारे पास तो बहुत जवान लोग आते हैं न ? ऐई ! तुम्हारा वह मगन, मगन, ताराचन्दभाई का न ? सोमचन्द का मगन। बहुत... खबर है ? कहे

अरे! लड़का अब छूट जाये तो अच्छा। काका होते हैं न इसके? तुम्हारे पिता के? ताराचन्द भीमजी, बहुत वर्ष की बात है, हों! (संवत्) १९७८-७९ वर्ष की। बहुत रोग हो गया था न कुछ? मुम्बई का पानी... जवान व्यक्ति, स्त्री थी विधवा, नहीं? फिर चली गयी। अब यह लड़का छूटे तो अच्छा। जागरण करना पड़ता है। अब जागरण कितने हों? और निश्चित हो गया था कि यह बचनेवाला नहीं है। जब तक चलेगा, तब तक पैसे का खर्च और जागरण करना है। न करे तो लोक में दिक्कत उठे। यह तुम करते नहीं कुछ? यह दुःखी होता है, यह कुछ वैद्य को बुलाओ, कुछ ऐसा करो। न करना हो तो भी करना पड़े। यह संसार तो देखो! होली भरी है अकेली। निश्चित हो गया कि यह तो मरनेवाला है। अब जितना खिंचेगा, उतना खर्च और जागरण है अपना। अन्दर में हो जाये कि, भाई! झट छूटे तो अच्छा। वह कहे कि लड़का झट जन्मे तो अच्छा, तब यह कहे मरे तो अच्छा। दोनों राग और द्वेष है। कहीं नहीं वहाँ, यहाँ देख न, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

भगवान आत्मा। आहा..हा..! अकेला निवृत्त तत्त्व है। ऐसे तत्त्व की पहिचान करके स्थिरता का प्रयोग का काल है। यहाँ प्रोषध की बात चलती है न? समझ में आया? उपवास में भी निवृत्ति के लिये उपवास है। शुद्धोपयोग (के लिये है)। मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं आता? उपवास आदि करते हैं, वे ज्ञानी शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिये करते हैं। आता है या नहीं? आता है, लिखा है तो बहुत। यह तो अब निर्णय करना पड़ेगा रात्रि में। इस प्रकार है, ऐसे जँचता है या सब उल्टा है? कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

यह तो अपने लिये लाभ के समय का काल है परन्तु ऐसे अवसर में बराबर धन्धा अच्छा आ गया हो तो अष्टमी के दिन? कहो, उसमें ऐसा आ गया कि पाँच लाख की कमाई हो। अब मर जायेगा, सुन न! छोड़ न! कमाई होगी किसने कहा? आहा..हा..! आत्मा का तार आता है कि बापू! स्थिर, स्थिर, अन्दर स्थिर हो। देख, इसमें लाभ है तुझे, हों! यह निवृत्त नहीं होता। निवृत्ति लेकर और इस प्रकार से अहिंसा को पाले, उसे महाव्रत कहने में आता है।

गाथा - १५९

इसी प्रकार उपवास में अहिंसा महाव्रत की तरह अन्य चार महाव्रत भी पालन हो जाते हैं, यह बात बताते हैं :-

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्तेयम्।
नाब्रह्म मैथुनमुचः संगो नांगेपयमूर्छस्य।।१५९।।

है नहिं अनृत वच गुप्ति से, स्तेय नहिं आदान बिन।
मैथुन बिना अब्रम्ह नहिं, नहिं परिग्रह तन ममत बिन।।१५९।।

अन्वयार्थ : और उपवासधारी पुरुष के (वाग्गुप्ते) वचनगुप्ति होने से (अनृतं) असत्य वचन (न) नहीं है (समस्तादानविरहितः) सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से (स्तेयम्) चोरी (न) नहीं है (मैथुनमुचः) मैथुन त्यागी को (अब्रह्म) अब्रह्मचर्य (न) नहीं है और (अंगे) शरीर में (अमूर्छस्य) ममत्व न होने से (संग) परिग्रह (अपि) भी (न) नहीं है।

टीका : 'वाग्गुप्तेः अनृतं नास्ति, समस्तादानविरहितः स्तेयं नास्ति, मैथुनमुचः अब्रह्म नास्ति, अंगे अपि अमूर्छस्य संग नास्ति।' - अर्थ :- उपवासधारी पुरुष के वचनगुप्ति का पालन होने से सत्य महाव्रत का पालन होता है, बिना दी हुई समस्त वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग होने से अचौर्य महाव्रत का पालन होता है, सम्पूर्ण मैथुन कर्म का त्याग होने से ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन होता है तथा शरीर में ही ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है। इस प्रकार चारों महाव्रतों का पालन उपवास में हो जाता है।।१५९।।

गाथा १५९ पर प्रवचन

इसी प्रकार उपवास में अहिंसा महाव्रत की तरह अन्य चार महाव्रत भी पालन हो जाते हैं, यह बात बताते हैं... देखो, क्योंकि उस समय वचनगुप्ति आदि है, ऐसा कहते हैं।

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्तेयम्।
नाब्रह्म मैथुनमुचः संगो नांगेपयमूर्छस्य।।१५९।।

लो! **टीका – उपवासधारी पुरुष के वचनगुप्ति का पालन होने से...** वहाँ वचन बोलने का नहीं होता। आत्मा में अन्दर प्रयोग करने का है। **सत्य महाव्रत का पालन होता है,...** लो! देखा? आहा..हा..! आठ-आठ वर्ष के श्रावक, हों! यह प्रोषध करे, आत्मज्ञानी, लो! ओहो..हो..! राजकुमार हो, सम्यग्दर्शनसहित श्रावक के व्रत धारण किये हों, वह ध्यान में प्रोषध करे। अष्टमी को (चौदस के दिन) ओहो..हो..! परन्तु यह राज, देख-रेख है न सब? छोड़ न होली उसकी उसके घर, यहाँ हमारे शान्ति करना, इसमें उसका क्या काम है? समझ में आया? आहा..हा..! **महाव्रत का पालन होता है,...** देखा, असत्य की भाषा नहीं होती। **बिना दी हुई समस्त वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग होने से अचौर्य महाव्रत का पालन होता है,...** तब कहाँ किसी का बिना दिये लेना है। अन्तर के उपवास में आत्मा के समीप का प्रयोग करता है, वहाँ यह है नहीं। **सम्पूर्ण मैथुन कर्म का त्याग होने से ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन होता है...** कहो, समझ में आया? उसमें फिर यथाशक्ति कहीं डाला था, नहीं? और यहाँ सम्पूर्ण कहा। वापिस दोनों मेल होना चाहिए न? यह १५४ गाथा में डाला। **यथाशक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना। पश्चात् प्रातः काल चार बजे शैय्या छोड़कर जागृत हो जाना।** १५४ गाथा में अन्तिम शब्द थे। इतनी यथाशक्ति न हो तो मन, वचन, काया में जैसे बने वैसे निवृत्ति लेना। मन से भी यह विकल्प न आवे, ऐसा लेना। समझ में आया? १५४, पीछे है न? मन से भी ऐसा हो। वे कहते हैं न? सामायिक आठ कोटि से करना, भाई! लो! और यह विचार आया। वे कहे छह कोटि। अब भी आठ कोटि, छह कोटि... वहाँ यह कोटि छूटे और यह कोटि (न छूटे), ऐसा सामायिक समता में होता ही नहीं। कहो, वह विधि ही खोटी है। ऐई! ये छह कोटिवाले हैं और ये आठ कोटिवाले। छह कोटि, आठ कोटि ही खोटी है, यहाँ तो कहते हैं।

मुमुक्षु : नौ होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नौ ही कोटि है। ऐसे अन्तर में एकाग्र होने के लिये इतना भाग

खुला रखना है और इतना (रखना) उसमें कहाँ प्रश्न है ? आहा..! समझ में आया ? सामायिक के बहुत वर्ष पहले विचार आया था कि ये लोग छह कोटि, ये कहे आठ कोटि। परन्तु यह छह कोटि, आठ कोटि अर्थात् क्या ?

मुमुक्षु : समता।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक मन से छूट रखी है पाप की, ऐसा ? तो समता कहाँ आयी अन्दर ? जहाँ अन्तर में प्रयोग करना है, शान्ति का एकाग्र में, उसमें और किस कोटि से छूट रखकर करे ? आजीवन प्रत्याख्यान करे, उसमें फिर अमुक भंग होता है। समझ में आया ? सामायिक में, प्रोषध में... कहो, यह तो सब त्याग। आ गया है न ? मन, वचन, काया नहीं आया ? मन, वचन, काया—तीन कोटि से यह आ गया है, पहले आ गया है कहीं। नहीं आ गया ? मन, वचन, काया। १५३ **'कायमनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत्'** उपवास के दिन का कर्त्तव्य बना है न ? मन, वचन और काया तीनों निकाल दिये। तीनों गुप्ति है, ऐसा कहते हैं। जब तक मन का विकल्प रहे तो उतना उसे व्यवहार है परन्तु उसका प्रयोग तो अन्दर स्थिरता के लिये है। समझ में आया ? निर्विकल्प में न स्थिर रह सके, तो भी उसके प्रयोग में राग घटकर जितना एकाग्र होता है, उतना उसे बाहर शुभभाव रहता है।

तथा शरीर में ही ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है। लो ! प्रोषध के समय शरीर का भी ममत्व / आसक्ति नहीं है। आसक्ति की बात है न यहाँ ? एकत्वबुद्धि तो पहले से त्याग हो गयी है। **ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है।** आत्मा को कमाने के दिन की बात चलती है यह। आहा..हा..! आत्मा की लक्ष्मी की कमायी हो, आत्मलक्ष्मी का कमायी का काल, उसमें ऐसे इसे करना, यह (बात) चलती है। नुकसान का काल तो सब चला जाता है। लो ! भगवानभाई ! यह सामायिक और प्रोषध, देखो न ! सुना नहीं था प्रोषध ऐसा होगा। अपवास कर डाले और दो-दो व्यक्ति बातें करने...। इसे श्रद्धा में यह बात पहले लेनी चाहिए कि आत्मा रागरहित है। उसकी दृष्टि हो तो इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसमें शान्ति से विकल्परहित स्थिरता का नाम चारित्र कहने में आता है। न हो सके तो विकल्प है, वह व्यवहार है, वास्तव में तो पहला (स्थिरता) वह है। समझ में आया ?

गाथा - १६०

अब यहाँ कोई शंका करे कि जब श्रावक को भी महाव्रत है और मुनियों को भी महाव्रत है तो दोनों में अन्तर क्या है?

इत्थमशेषितहिंसा: प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम्।।१६०।।

यों सभी हिंसादि रहित, उपचार से महाव्रतिपना।
उसके परन्तु चरित्र मोह में, प्रगट संयम दशा ना।।१६०।।

अन्वयार्थ : (इत्थम्) इस प्रकार (अशेषितहिंसा) सम्पूर्ण हिंसाओं के रहित (स:) वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष (उपचारात्) उपचार से अथवा व्यवहारनय से (महाव्रतित्वं) महाव्रतपना (प्रयाति) पाता है, (तु) परन्तु (चरित्रमोहे) चारित्रमोह के (उदयति) उदयरूप होने के कारण (संयमस्थानम्) संयमस्थान अर्थात् प्रमत्तादि गुणस्थान (न लभते) नहीं प्राप्त करता।

टीका : 'इत्थं अशेषितहिंसा: स: (श्रावक:) उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति, तु चरित्रमोहे उदयति (सति) संयमस्थानं न लभते' – अर्थ :– इस प्रकार जिसके हिंसा अवशेष नहीं है,* ऐसा श्रावक उपचार से महाव्रती कहलाता है। वास्तव में वह महाव्रती नहीं है, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में युक्त होने से वह श्रावक महाव्रत संयम को प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ : वास्तव में जिसके प्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभ का अभाव हो गया है, वही महाव्रती संयमी कहलाता है परन्तु जिसके उन कषायों का अभाव तो नहीं हुआ है किन्तु उन द्रव्यरूप पाँचों पापों का अभाव हो गया हो तो उसको उपचार से महाव्रत है; वास्तव में महाव्रत नहीं है, क्योंकि पूर्ण संयम प्रमत्तगुणस्थान में ही प्रारम्भ होता है और वह प्रमत्त गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव बिना होता नहीं है। इस भाँति प्रोषधोपवास का वर्णन किया। यह प्रोषधोपवास सभी श्रावकों को करना चाहिए, क्योंकि इसमें पाँचों महापापों का त्याग हो जाता है तथा पाँचों

* गुजराती प्रति में 'जिसके हिंसा बाकी है'–ऐसा पाठ है और पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन गुजराती प्रति के आधार पर हैं।
–सम्पादक

इन्द्रियों के विषय तथा कषायों का दमन भी हो जाता है। जो गृहस्थ केवल मान-बड़ाई के लिये ही उपवास अंगीकार करता है और अपने कषायों का त्याग नहीं करता, उसका उपवास करना न करना समान ही है।।१६०।।

गाथा १६० पर प्रवचन

अब यहाँ कोई शंका करे कि जब श्रावक को भी महाव्रत है और मुनियों को भी महाव्रत है तो दोनों में अन्तर क्या है? मुनियों को महाव्रत है, महामुनि छठवें गुणस्थान में हैं और इसे (श्रावक को भी) तुम महाव्रत कहते हो। लेश भी नहीं न, थोड़ी भी हिंसा नहीं, उसमें से महाव्रत निकाला है।

इत्थमशेषितहिंसा: प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम्।।१६०।।

टीका : इस प्रकार जिसके हिंसा बाकी है,* **ऐसा श्रावक उपचार से महाव्रती कहलाता है।** समझ में आया? हिंसा बाकी है, ऐसा लिखा है। उसमें **इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओं के रहित वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष उपचार से अथवा व्यवहारनय से महाव्रतपना पाता है, परन्तु चारित्रमोह के उदयरूप होने के कारण संयमस्थान अर्थात् प्रमत्तादि गुणस्थान नहीं प्राप्त करता।** ऐसा है, देखो न! समझ में आया? पहला तो ऐसा लिया '**अशेषितहिंसा इत्थम्**' ऐसा है न? ऊपर का ऐसा किया, नीचे ऐसा किया, ऐसा कहता हूँ, दोनों में अन्तर है, ऐसा कहता हूँ, नहीं तो वहाँ तो ऐसा है कि **सम्पूर्ण हिंसाओं के रहित '**अशेषितहिंसा**'** ऐसा चाहिए। कुछ हिंसा रही नहीं। यहाँ नीचे किया है कि इस प्रकार जिसे हिंसा बाकी है, थोड़ी रही है, थोड़ा राग चारित्रमोह का है न? चारित्रमोह है न? तीसरी चौकड़ी। **ऐसा श्रावक उपचार से महाव्रती कहलाता है।** लो! तीसरी चौकड़ी है न? नग्न-दिगम्बर को जो तीसरी चौकड़ी गयी हो तो मुनि हो जाये, तीन कषाय का त्याग होकर आत्मा के आनन्द में झूलते हुए, वस्त्र का भी निमित्त जिसे नहीं हो। जंगल में वनवासी, वन के हाथी, संयमी हाथी।

* हिन्दी प्रति में 'जिसके हिंसा अवशेष नहीं है।'-ऐसा पाठ है। -सम्पादक

वास्तव में वह महाव्रती नहीं है,... क्योंकि उसे तीसरी चौकड़ी का उदय है। **क्योंकि प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में युक्त होने से वह श्रावक महाव्रत संयम को प्राप्त नहीं हो सकता।** निवृत्ति है, उपचार से महाव्रती कहलाता है। समझ में आया? वास्तव में है नहीं। **वास्तव में जिसके प्रत्याख्यानावरण...** तीसरी कषाय (चौकड़ी) मिटकर स्वरूप की स्थिरता हुई है, उसे महाव्रती कहा जाता है। देखो! यह ऐसा लिया है। तो पहले ऐसे ले लेवें कि यह महाव्रत है, इसलिए इसे तीन कषाय मिट गयी है।

मुमुक्षु : अबिनाभाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : अबिनाभाव किस प्रकार से? किसे? तीन कषाय मिटी हैं, उसे महाव्रत के विकल्प ऐसे ही होते हैं, ऐसा अबिनाभाव सम्बन्ध है। तीन कषाय मिटी और स्वरूप की स्थिरता बहुत हुई है, उसे ऐसे ही महाव्रत के विकल्प होते हैं, ऐसा अबिनाभाव सम्बन्ध है, परन्तु महाव्रत के विकल्प, यह महाव्रत है, इसलिए इसे अबिनाभाव सम्बन्ध से वहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। (ऐसा नहीं है।)

मुमुक्षु : एक ओर से लेना, दो ओर से लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो ओर से भी होवे तो ऐसा ले या दूसरे उल्टे किस प्रकार से ले? महाव्रत तो उपचार है, अनुपचाररूप से दर्शन, ज्ञान, चारित्र की स्थिरता हुई हो, तो उस महाव्रत को व्यवहारचारित्र कहा जाता है। वह तो पीछे निश्चयचारित्र हो तो। परन्तु निश्चयचारित्र के बिना अन्दर दर्शन-ज्ञान के कारण बिना अकेले महाव्रत के विकल्प व्यवहारचारित्र भी नहीं कहे जाते। वह भी कहाँ है महाव्रत? व्यवहार का भी ठिकाना (नहीं है)। ओहो..हो..!

भावार्थ : वास्तव में जिसके प्रत्याख्यानावरण... अर्थात् तीसरी कषाय। कषाय (नाश हुई और) स्थिरता इतनी जमी है मुनि को। आनन्द के क्षण में, सप्तम क्षण में, क्षण में छठा, सातवाँ क्षण में, छठा गुणस्थान आता है। क्षण में अतीन्द्रिय आनन्द में गुम हो जाते हैं। क्षण में ऐसा विकल्प उठता है। ऐसी दशा को भावलिंगी सन्त कहा जाता है, उसे तीसरी कषाय का नाश होता है। **प्रत्याख्यानावरण...** लो! प्रत्याख्यान का आवरण। भाषा ही स्पष्ट ऐसी है। प्रत्याख्यान को आवरण, प्रत्याख्यान को आवरण करनेवाला। यह

हटे तो प्रत्याख्यान हो। आत्मप्रत्याख्यान नहीं करता, इसलिए उसे यह प्रत्याख्यान आवरण कहने में आता है। सुन न! वह कहे ऐसे से लो, वह ऐसे से लो।

स्वरूप भगवान आत्मा (में) स्थिर होना चाहिए, वह स्थिर नहीं होता, इसलिए उसे तीसरी चौकड़ी रही है। बाहर में मजा आवे, हों! यह मजा आने का काल भी उसे नहीं रुचता। ऐसा लगे सुनने की बात भी मानो अन्दर क्या है? वह? अर र! एकदम, छोड़, छोड़ और स्थिर, स्थिर हो। अब इसमें कहाँ हमारे छोड़ना? सुन तो सही! परन्तु छोड़ने जैसा है, स्थिर होने योग्य है, ऐसा निर्णय तो कर। जिसे तीसरी कषाय मिटी है, वह महाव्रत है, ऐसा कहा जाता है।

परन्तु जिसके उन कषायों का अभाव तो नहीं हुआ है किन्तु उन द्रव्यरूप पाँचों पापों का अभाव हो गया हो... द्रव्यरूप, हों! बाहर से लो वह द्रव्यरूप आया, अन्दर स्थिरता नहीं है। **उसको उपचार से महाव्रत है; वास्तव में महाव्रत नहीं है,...** आहा..हा..! यह तो आर्यिका को महाव्रत कहने में आते हैं न? आर्यिका उपचार से।

सीताजी, आहा..हा..! हजारों रानियों की प्रमुख। अग्नि परीक्षा हुई, अग्नि परीक्षा हुई। अब घर चलो, रामचन्द्रजी कहते हैं। बस! हुआ रामचन्द्रजी, बस हुआ। तुम्हारे जैसे पुरुषोत्तम पुरुष को भी हमारे भाव का हृदय में दृढ़ता होने पर भी ऐसी परीक्षा लोकलाज के लिये की। यह संसार नहीं चाहिए। (रामचन्द्रजी कहते हैं) पटरानी बनाता हूँ। तुम्हारी परीक्षा... वह पटरानी अब गयी। सीधे वन में चली गयी। आर्यिका के निकट। आहा..हा..! बलदेव, तीन खण्ड के धनी वासुदेव का ऐसा भक्त, भक्त रामचन्द्रजी का वह लक्ष्मण भक्त तीन खण्ड का धनी। उन रामचन्द्र को सीता (कहती हैं)। अब बस हुआ। अरे! हमारे भाव क्या हैं, तुम्हारे हृदय में था। परपुरुष का विकल्प हमारे ज्ञान में, हमारे मन में नहीं होता, हों! यह हमें तो है, परन्तु तुम्हें विश्वास था। अरे! ऐसी परीक्षायें करायी अग्नि की? हाय.. हाय..! लक्ष्मण तो कहे अरे! प्रभु! बन्द करो, बन्द करो। माता को यह अग्नि की परीक्षा बन्द करो। नहीं, करनी पड़ेगी। लक्ष्मण सुन! परीक्षा देनी पड़ेगी, नहीं तो नहीं आ सकती। आहा..हा..! संसार का राग क्या काम करता है। मन में निश्चित है कि यह तो महा ब्रह्मचारी है, हों! लोक में, राज्य में मैं हूँ। लक्ष्मण बोलना नहीं। हाय.. हाय..! अरे! धूजते हैं लक्ष्मण, हों! बेचारे। इस अग्नि में क्या होगा? आहा..हा..! जहाँ ऐसे भगवान, णमो अरिहंताणं...

हे अग्नि! यदि हमने दूसरे का विकल्प किया हो तो शरीर को राख करना। ध्यान रखना! यह धर्म की और शासन की इज्जत जाती है। मुझे कुछ नहीं है। याद रखना, हों! यह पुकार प्रकृति के सामने ऐसी करती हैं, हों! ऐसी प्रकृति के सामने पुकार। यदि हमारा ब्रह्मचर्य पक्का हो तो अग्नि! ध्यान रखना, जलाना नहीं। शासन की निन्दा होगी। देखो न! सुमेल बैठ गया एकदम! देव आकर... बस है.. बस है.. संसार! यह स्वार्थ? हम वन में जायेंगे। आहा..हा..! वह श्वेत वस्त्र पहनती हैं और आर्यिका के निकट (जाती हैं), उपचार से महाव्रती कहलाती हैं, हों! समझ में आया?

बस! वन में लवलीन है। एक बार आहार के लिये गाँव में आवे। अरे! रानियों को सबेरे–शाम साधारण चले नहीं, गर्म–गर्म चाहिए, यह सब क्या मिलेगा? सब ठण्डा ही मिलता है। आत्मा के आनन्द का ताजा माल मिलता है। आहा..हा..! उसके समक्ष इस परीषह–वरीषह का ख्याल नहीं। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? क्षण में रानी, क्षण में आत्मा के आनन्द की भोगी। आहा..हा..! कहो, महाव्रत, यह तो उपचार महाव्रत आया न? इसलिए उसे उपचार महाव्रत कहा जाता है, ऐसा कहना है। बाकी अन्दर से बहुत त्याग है। मात्र कषाय का तीसरे भाग का भाग गया नहीं, इसलिए। बाकी तो महा आर्यिका है। ओहो..हो..! केशलोंच किया, एक वस्त्र सफेद (रखा)। अरे! यह जरी के वस्त्र तुम पहनती थीं। सबेरे कितने सुगन्धित वृक्ष के फूलों के ढेर घर में होते थे, कहाँ जाओगी? हम आनन्द में जायेंगे। आहा..हा..! उस घर में स्थिरता के लिये यह सब प्रयोग है। वह क्या कहलाता है? क्षुल्लिका, आर्यिका, आर्यिका है न? क्षुल्लिका नहीं? फिर, जो हो वह। कहो।

पूर्ण संयम प्रमत्तगुणस्थान में ही प्रारम्भ होता है और वह प्रमत्तगुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव बिना होता नहीं है। अर्थात् मुनि। **इस भाँति प्रोषधोपवास का वर्णन किया। यह प्रोषधोपवास सभी श्रावकों को करना चाहिए, क्योंकि इसमें पाँचों महापापों का त्याग हो जाता है तथा पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा कषायों का दमन भी हो जाता है। जो गृहस्थ केवल मान–बड़ाई के लिये ही उपवास अंगीकार करता है और अपने कषायों का त्याग नहीं करता, उसका उपवास करना न करना समान ही है।** दूसरे शिक्षाव्रत की बात हुई, तीसरे की बात करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १६१

तीसरा शिक्षाव्रत–भोगोपभोगपरिमाण

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ।।१६१।।

अणुव्रती के भोगोपभोग, निमित्त हिंसा अन्य नहिं।
ये भी स्वशक्ति वस्तु तत्त्व, सुजान तजने योग्य ही।।१६१।।

अन्वयार्थ : (विरताविरतस्य) देशव्रती श्रावक को (भोगोपभोगमूला) भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली (हिंसा) हिंसा होती है (अन्यत: न) अन्य प्रकार से नहीं होती, इसलिए (तौ) वह दोनों अर्थात् भोग और उपभोग (अपि) भी (वस्तुतत्त्वं) वस्तुस्वरूप (अपि) और (स्वशक्तिं) अपनी शक्ति को (अधिगम्य) जानकर अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार (त्याज्यौ) छोड़ने योग्य हैं।

टीका : 'विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा भवति। अन्यत: न इति हेतो: भावकेन वस्तुतत्त्वं अधिगम्य तथा स्वशक्तिं अपि अधिगम्य तौ अपि भोगोपभोगौ अपि त्याज्यौ' – अर्थ :– व्रत व अव्रत के धारी देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग पदार्थों सम्बन्धी हिंसा होती है, किन्तु अन्य प्रकार की कोई दूसरी हिंसा नहीं होती। इसलिए वस्तुस्वरूप जानकर अर्थात् इस वस्तु के भोगने में इतना दोष है, यह वस्तु भक्ष्य है, यह वस्तु अभक्ष्य है, ऐसा विचार करके, तथा अपनी शक्ति अर्थात् शरीर और परिणामों की शक्ति को जानकर जितना बन सके उतना भोगोपभोग का परिमाण करके शेष का त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ : जो एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं। जैसे दाल, भात, रोटी, पूड़ी, दूध, दही, पेड़ा, जलेबी, पानी, पुष्पमाला इत्यादि सभी भोग पदार्थ हैं। जो बार–बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं। जैसे कपड़ा, बर्तन, घर, खेत, गाय, बैल, जेवर, सवारी इत्यादि सभी उपभोग पदार्थ हैं। श्रावक को इन पदार्थों के सम्बन्ध से हिंसा होती है, इसलिए उसे इन हिंसा के कारणों का भी शीघ्र ही त्याग करना चाहिए।।१६१।।

प्रवचन नं. ६३ गाथा-१६१ से १६२ शुक्रवार, आषाढ़ शुक्ल ७, दिनांक १४.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है, इसकी १६१ गाथा।

तीसरा शिक्षाव्रत-भोगोपभोगपरिमाण प्रथम तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् कैसे स्थिरता का अंश आवे, उसकी बात है। समझ में आया? एक व्यक्ति ने अभी प्रश्न किया था, कोई आया था, श्वेताम्बर होगा। वह कहे, यह विषय की वासना घटती नहीं, इसका क्या करना? अभी आया था। व्याख्यान में गया था। पुस्तकें ले गया। श्वेताम्बर होगा। कहा, पहली बात यह है कि पर में सुखबुद्धि का मिटना हो, तो उसकी वासना मिटे अर्थात् आत्मा में आनन्दबुद्धि होवे तो वासना मिटे। वह बेचारा आया था। व्याख्यान सुना और कुछ पुस्तकें ले गया। बहुत अच्छी बात कहे, बहुत अच्छी बात!

देखो, भाई! ऐसे वासना मिटे, ऐसा नहीं है। आत्मा में आनन्द है—ऐसी बुद्धि पक्की हुए बिना, पर में सुखबुद्धि नहीं मिटती। आसक्ति रहे वह (अलग); यहाँ तो अभी सुखबुद्धि है। सेठी! आत्मा में आनन्द है, वह किसी प्रकार से अनन्त पुरुषार्थ से भी इसे निर्णय करना चाहिए। वह आनन्द नहीं विषयों में। जैसे मुर्दे के पास बैठे हों और सुख नहीं आता। सुख आता है? यह दृष्टान्त याद आ गया था, उस छप्पनियाँ का (छप्पनियाँ अकाल का) वहाँ हमारे छप्पनियाँ का था न? उमराला में बाहर नदी में निकलने का दरवाजा है। बहुत पहले खाते और... से गेहूँ आते। रात्रि को निकलने नहीं दे। शाम पड़े थोड़ा उजाला हो तो देखने निकलें। एक पड़ा हो मुर्दा, एक मरने की तैयारी और एक अभी थोड़ी देर हो, ऐसे सब एक साथ पड़े हों। पहला मर गया हो रात्रि में तो साथ जरा कुछ श्वास लेता हो। परन्तु क्या करे? उठ सके नहीं, ऐसे पाँच, छह व्यक्ति एक साथ सो रहे हों। छप्पनियाँ में राज की ओर से गेहूँ की घुघरी देते थे। खाकर, फिर पेटपानी बड़ा पेट जमे और मरे एक के बाद एक। उस मुर्दे के पास क्या रुचता होगा? और वह अन्धकार। कोई व्यक्ति नहीं। नदी का किनारा श्मशान का और इस ओर मुर्दे।

इसी प्रकार आत्मा में आनन्द है और पर में आनन्द नहीं। पर में मर गये मुर्दे हैं, शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा यह सब मुर्दा है, इसमें सुख नहीं है। ऐसी बुद्धि हुए बिना

उनका पक्ष यह नहीं छोड़ता, कहो, समझ में आया ? आत्मा में आनन्द है और इसके अतिरिक्त जितने पदार्थ—स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, इज्जत, कीर्ति, मकान, महल सब मुर्दे हैं। सुख के लिये मर गये हैं वे। उनमें सुख का जीवन नहीं, सुख की उनमें अस्ति नहीं। सुख की अस्ति उनमें नहीं तो सब मुर्दे हैं। बल्लभदासभाई ! गजब बात, भाई ! ऐई ! रतिभाई ! यह सब पैसेवाले रहे, देखो न ! इन्हें कितने लोग सब सुखी-सुखी बहुत कहते हैं। आहा..हा.. !

वह छप्पनियाँ का देखा है और वही याद आया। उसने कहा था न ? पूछा कि हमारे क्या करना ? श्वेताम्बर हूँ। हम दर्शन करने आये, परन्तु आपका नाम बहुत सुना तो मैं दर्शन करने आया। किसी साधु ने भी हमें कहा था। कोई अन्यमति बाबा होगा, कुछ आ गया होगा। कहे वहाँ जाओ... वहाँ जाओ.। कोई ऐसी ध्यान की युक्ति है कि कुछ ऐसे ध्यान करें ? ऐसी बात यहाँ नहीं, बापू ! ऐसा कोई शब्द-बब्द दे तो ऐसे ध्यान करें और बस, धर्म हो जाये। ऐसी वस्तु नहीं है, भाई ! यह सब गप्प लोग मारते हैं न ! कोई जाप करने का कहता है, तो वह विकल्प है, परन्तु वस्तु क्या है ? यह चैतन्य कौन है ? सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी..

कल दोपहर को आया था न, देखो ! बारम्बार कहते हैं न, ऐसा है। वह आता है न, मोक्षमार्गप्रकाशक में ? कि केवलज्ञानी को भी सात तत्त्व की श्रद्धा है। वह श्रद्धा कहीं चली गयी नहीं। तब उसका अर्थ क्या हुआ ? कि केवलज्ञानी को भी आत्मा आनन्दस्वरूप है, रागरहित है—ऐसा उन्होंने उस समय भी पहले माना था और इस समय भी ऐसा ही है। समझ में आया ? यह तो और कल भक्ति में याद आया था। कि यह बहुत बार कहता हूँ न ? केवली ने देखा हुआ आत्मा माने। परन्तु उन केवली ने स्वयं ही ऐसा माना है। शशीभाई !

मुमुक्षु : वर्तमान में ऐसा मानते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्तमान में, वे वर्तमान में ऐसा मानते हैं - यहाँ तो यह कहना है। सर्वज्ञ परमेश्वर सात तत्त्व की श्रद्धा में... उन्हें सम्यग्दर्शन है या नहीं ? तो सात तत्त्व की श्रद्धा / सम्यग्दर्शन तो नीचे है, वैसी वहाँ है। वह तो ज्ञान की विशेषता है, इसलिए स्पष्ट है इतना। केवलज्ञानी परमात्मा ने, वीतरागदेव ने भी अपने आत्मा की ऐसी श्रद्धा की है और अभी है। यह आत्मा परिपूर्ण आनन्दमूर्ति है। आस्रव था, वह इसमें नहीं था। यह अभी संवर-निर्जरापूर्वक टाला है, ऐसा उन्होंने भान किया है। समझ में आया ? आता है उसमें जरा, नहीं ? मोक्षमार्गप्रकाशक। सात तत्त्व का वहाँ उतारा है। समझ में आया ?

यह वस्तु है। सर्वज्ञ परमेश्वर, केवलज्ञानी ने असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का पुंज, आनन्दमूर्ति, अनन्त गुणसमाज, असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण पुंज–ऐसा जो आत्मा, सर्वज्ञ भी ऐसा ही प्रतीति में वर्तमान में केवलज्ञान होने पर भी, श्रद्धा में ऐसा ही वर्तता है। कहो, समझ में आया? ऐसे सम्यग्दृष्टि को धर्म में... पहले ही धर्म में उसे आत्मा, असंख्य प्रदेशी और अनन्त गुणपुंज और आनन्द उसमें ही है। अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं। इन्द्र के इन्द्रासन में नहीं। मुर्दे, वे सब मुर्दे हैं। मुर्दे के पास रहना और सुख से रहना, ऐसा हो सकता है? उसमें चैन नहीं, कहते हैं। आहा..हा..! शशीभाई! सम्यग्दृष्टि अपने आनन्द के जीवन के समक्ष दूसरे सबको मुर्दा मानता है कि इस मुर्दे में, मुर्दे में तो कहीं मेरा सुख है नहीं। मेरा जीवन पर में कहीं नहीं है। आहा..हा..! बल्लभदासभाई!

मुमुक्षु : भावनगर...

पूज्य गुरुदेवश्री : आज भावनगर आया है न! कहते हैं। भगवान आत्मा परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने ऐसा देखा और ऐसा इस समय मानते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : उन्हें प्रतीति है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें प्रतीति चली गयी है? उसमें नहीं लिखा? प्रतीति, अप्रतीति हो गयी है? प्रतीति मिथ्या मानी है? ये सब शब्द उसमें है। कहो, समझ में आया? देखो! यहाँ है, या कहाँ है? ३२३ पृष्ठ (नवाँ अधिकार) है। **फिर प्रश्न है कि छद्मस्थ को प्रतीति–अप्रतीति कहना सम्भव है, इसलिए वहाँ सात तत्त्वों की प्रतीति सम्यक्त्व का लक्षण कहा, सो हमने माना;...** समझे न? **परन्तु केवली–सिद्ध भगवान के तो सर्व का जानपना समानरूप है,...** सर्वज्ञ परमेश्वर, एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में जिनका ज्ञान विकास पूर्ण हो गया। समझ में आया? मानवता का विकास नहीं; इस आत्मा का विकास पूर्ण हो गया। आहा..! ऐसा जो भगवान सर्वज्ञ का आत्मा, उसे सर्व का जानपना समान है। **वहाँ सात तत्त्वों की प्रतीति कहना सम्भव नहीं है, और उनके सम्यक्त्वगुण पाया ही जाता है, इसलिए वहाँ उस लक्षण का अव्याप्तिपना आया?**

समाधान – जैसे छद्मस्थ के श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है,... छद्मस्थ का भावश्रुतज्ञान–अनुसार प्रतीति होती है; वैसे केवली और सिद्ध भगवान को... देखा? दोनों को। केवलज्ञान अनुसार ही प्रतीति होती है। भगवान केवली को और सिद्ध

परमात्मा को भी केवलज्ञान अनुसार ही प्रतीति होती है। **सप्त तत्त्वों का स्वरूप पहले ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना, वहाँ प्रतीति का परमावगाढ़पना हुआ।** ज्ञान निर्मल हुआ और प्रतीति परमावगाढ़ हुई। **इसी से परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती...** ऐई! प्रतीति-अप्रतीति का उत्तर दिया है। बहुत बात की है। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो टोडरमलजी ने हजारों शास्त्रों का दोहन भरा है। अब उन्हें भी कितने ही अपने मद के समक्ष अप्रमाणिक ठहराते हैं।

सो तो जैसा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ के हुआ था,... जैसा सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन में छद्मस्थ को पूर्ण शुद्ध अभेददृष्टि जो हुई थी, **वैसा ही केवली-सिद्ध भगवान के पाया जाता है;...** आत्मा का। अपने यहाँ आत्मा लेना है। **इसलिए ज्ञानावरणादि की हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक व केवली-सिद्ध भगवान के सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है।** ढोर-पशु को सम्यक्त्व हो या नारकी जीव को आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक निर्विकल्प वस्तु है, ऐसी प्रतीति, श्रद्धा सातवीं नरक के नारकी को हो, पशु को हो, वैसा ही समकित सिद्ध को होता है। समकित में कुछ अन्तर नहीं है। आहा..हा..! कहो, सेठी! यह मोक्षमार्गप्रकाशक तो तुम्हारे घर में (होगा)। ग्यारह हजार छपाये हैं।

देखो! **पूर्व-अवस्था में यह माना था कि संवर-निर्जरा से मोक्ष का उपाय करना। पश्चात् मुक्त अवस्था होने पर ऐसा मानने लगे कि संवर-निर्जरा से हमारे मोक्ष हुआ। तथा पहले ज्ञान की हीनता से जीवादिक के थोड़े विशेष जाने थे, पश्चात् केवलज्ञान होने पर उनके सर्व विशेष जाने; परन्तु मूलभूत जीवादिक के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ के पाया जाता है वैसा ही केवली के भी पाया जाता है...** देखो कितनी बात ली है! एक-एक बात सम्हाली है। **यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते हैं, तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं...** ठीक! **इसलिए सम्यक्त्वगुण में सप्त तत्त्वों ही का श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध...** अब अन्तिम लेते हैं, देखो!

केवली-सिद्धभगवान रागादिरूप नहीं परिणमित होते,... सर्वज्ञ परमेश्वर और सिद्धप्रभु, रागरूप नहीं होते और **संसार-अवस्था को नहीं चाहते; सो यह इस श्रद्धान का ही बल जानना।** वहाँ सम्यक्त्व सिद्ध किया। यहाँ जैसे श्रद्धा के बल से रागरूप

परिणमित होना, ऐसा है नहीं; ऐसी और ऐसी दशा वहाँ रही है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? केवली और सिद्ध भगवान दोनों संसार को नहीं चाहते और रागादिरूप नहीं होते। श्रद्धा, शुद्ध चैतन्यमूर्ति अभेद अखण्ड ऐसी प्रतीति आस्रवभाव आदि मुझमें नहीं, ऐसी प्रतीति; ज्ञान में साथ में है न? संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि की एक समय की पर्याय है। वह त्रिकाल द्रव्य में नहीं है। पर्याय में पूरा द्रव्य आया नहीं। ऐसी जो प्रतीति हुई है, वह प्रतीति परम अवगाढ़रूप से वहाँ वर्तती है। प्रतीति खोटी हुई है, ऐसा है नहीं। कहो, पूरा पैराग्राफ इसके लिये लिया है।

फिर तो कहा **सम्यग्दर्शन को तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्ष में इसका सद्भाव कैसे कहते हैं?** बाद में यह प्रश्न किया है। भाई! एक शाखा की बहुत शाखा, प्रशाखा होती है। शाखा वह की वह रहती है। एक वृक्ष में एक शाखा हुई, तो एक शाखा के आश्रय से बहुत शाखा होती है, वहाँ वह शाखा चली जाती है, ऐसा कुछ नहीं। इसी प्रकार आत्मा में पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वरूप के श्रद्धा–ज्ञान हुए, वह श्रद्धा–ज्ञान शाखा हुई। अब उसके आश्रय से अनेक प्रकार से ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि की पूर्ण दशा हुई। भले हुई, परन्तु वह शाखा तो ऐसी की ऐसी है। शशीभाई! आहा..हा..!

लोगों को अन्तर का अभ्यास नहीं, इसलिए सबको ऐसा लगता है कि यह क्या? वस्तु अन्दर है। आत्मकल्याण अन्तर में है, बाहर से कुछ नहीं होता। आहा..हा..! समझ में आया? कहो, किसी का कल्याण करना है या आत्मा का करना है? पहला प्रश्न ऐसा कहते हैं। पंचाध्यायी में तो कहा, भाई! पहले 'आयेयं' आत्महित करना। फिर और विकल्प होवे तो फिर आवे परहित का हो, परन्तु पहले आत्महित करना। उसमें पहला–अन्तिम... वह तो पर का हित तो, विकल्प आवे और होना (हो तो हो), वह भी पर का होना हो तो हो। कहीं तुझसे नहीं होता। शब्द तो ऐसा ही आवे न? पंचाध्यायी में आता है 'आयेयं कायं' पहले आत्महित करना, फिर परहित करना। ऐसा आवे, व्यवहार से भाषा ऐसी है।

आत्महित करने की बात है। आत्मा इस विकार के परिणाम और शरीर की जड़ आदि की क्रियायें, उनसे तो रहित है। ऐसा आत्मा अनन्त आनन्दसहित है – ऐसी प्रतीति होने पर, उसे कहीं इन्द्र के इन्द्रासन में या चक्रवर्ती की छियानवें हजार स्त्रियाँ हों तो भी कहीं सुखबुद्धि नहीं है। सुखबुद्धि पूरे लोक में से उड़ गयी है। आहा..हा..! रुचि–रुचि,

हों! आसक्ति रहे वह अलग, वह तो राग है। प्रेमरस नहीं। रस नहीं। मेरा आनन्द मुझमें है। अरे! इस आनन्द को चूककर, यह जरा राग होता है, उस दुःख में.. दुःख में... दुःख में आता हूँ – ऐसा मानता है। रोग, कल आया था न अपने? रोग –रोग मानता है। राग को रोग माने। धर्मी भोग के राग को रोग मानता है। मजा नहीं मानता। आहा..हा..! मजा माने तो तत्त्व की दृष्टि ही विपरीत हो गयी। क्योंकि राग और अजीव में सुख नहीं है और सुख माना तो तत्त्व की विपरीत दृष्टि हुई। कहो, बराबर है, सेठी!

आत्मा में शुभ–अशुभ राग और शरीर तथा ये सब पदार्थ, वह सुख इनमें नहीं है, तथापि वह सुख इनमें माना, वह तत्त्व से विरुद्ध हो गया, विपरीत दृष्टि हुई और मेरे सुख के लिये मुझे दूसरे आधार की आवश्यकता पड़े, यह भी आत्मा में स्वतन्त्र सुख है, (यह) श्रद्धा इसे नहीं रही। समझ में आया? यह करना है, कहते हैं। कौन सेवा–वेवा करता था? वात्सल्य न करो तो रूखे हो जाओगे, अमुक हो जाओगे। नहीं? ऐसा कहते थे न?

मुमुक्षु : ...छोड़ दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं मग्न नहीं। स्वयं को राग है, इसलिए व्यर्थ में पड़ा है। किसी की सेवा कौन करता है? व्यर्थ का। आहा..हा..!

यहाँ तो कहते हैं, देखो! यह श्लोक है न?

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ।।१६१।।

देशव्रती श्रावक को... इस आत्मा का ध्यान हुआ है – ऐसे धर्मी को... यह.. हिन्दी (पुस्तक) देना इन्हें। यदि हिन्दी समयसार होवे तो। भाई आये हैं। समयसार कहाँ है? पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है। हिन्दी है दूसरा? हिन्दी होगा, हिन्दी ही है न? ये सब हिन्दी हैं।

देशव्रती श्रावक... ऐसा कहते ही आत्मा को शुद्ध श्रद्धा में आनन्दमूर्ति है – ऐसा श्रद्धा में लिया है; इसलिए पर में आनन्द है, यह बुद्धि सब मुर्दे जैसी हो गयी है। अब आसक्ति रही है। आसक्ति में कमी करना और आत्मा में स्थिरता करने का नाम व्रत कहने में आता है। कहो, समझ में आया? धर्मी को सम्यग्दर्शन होने पर भी, परपदार्थ के प्रति सुखबुद्धि... दूसरे प्रकार से कहें तो परपदार्थ के आश्रय से संवरबुद्धि, निर्जराबुद्धि, सब

निकल गयी है। समझ में आया? हितबुद्धि, सुखबुद्धि सब गयी है, परन्तु परपदार्थ के प्रति अभी आसक्ति का भाव सम्यग्दृष्टि को होता है। वह न हो तब तो केवलज्ञान हो जाये। उस आसक्ति की कमी करने के लिये आत्मा में स्थिरता करना, और उसमें जो ऐसे व्रत के विकल्प आवें, उसे देशव्रती श्रावक कहने में आता है।

देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली... एक बार भोगने में आवे और बारम्बार भोगने में आवे, ऐसी चीज़। भोग अर्थात् समझे न? दाल, चावल, रोटी। नीचे भावार्थ में है। **जैसे दाल, भात, रोटी, पूड़ी, दूध, दही, पेड़ा, जलेबी, पानी, पुष्पमाला...** ये सब भोग कहलाते हैं। ये एक बार भोगने में आते हैं। फिर कहीं बारम्बार भोगने में आते हैं? पेड़ा एक बार खाने के बाद वह का वह पेड़ा दोबारा होता है? दाल, चावल, रोटी। रोटी एक बार खाने के बाद उसे दोबारा खा सकते हो? यह एक भोग कहलाता है। समझ में आया? पानी, दूध, दही, पेड़ा, जलेबी। लो, दही और पेड़ा दोनों साथ आये। **जलेबी, पुष्पमाला इत्यादि सभी भोग पदार्थ हैं।** ऐई! देखो! यहाँ तुम्हारे दही और पेड़ा दोनों शामिल आये। केला, केला खाते हैं या नहीं? दही? श्रीखण्ड – श्रीखण्ड। कहो, समझ में आया? इसमें?

और **जो बार–बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं। जैसे कपड़ा,..** वस्त्र तो बारम्बार भोगने में आता है। वह का वह वस्त्र एक बार भोगकर निकाल देगा? **कपड़ा,बर्तन, घर, खेत, गाय, बैल,...** स्त्री **इत्यादि सभी उपभोग पदार्थ हैं।** जो बारम्बार भोगने में आवे, ऐसी चीज़ वह है। समझ में आया? उसमें हिंसा होती है, कहते हैं। आत्मा का अनुभव भोग का छोड़कर जितना आसक्ति का अनुभव हो, उतनी हिंसा है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : कौन मर गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस आत्मा के प्राण मर गये। भगवान आत्मा आनन्द जीवन है। आनन्द उसका जीवन है, आनन्द उसका जीवस्वभाव है, आनन्द उसका प्राण है। आनन्द आत्मा के प्राण हैं। आनन्द के होनेवाली सत्ता, आनन्द का ज्ञान और दर्शन, ऐसे उस प्राणवाला जीवन है। उस प्राणवाले जीवन की पहले प्रतीति–भान किया, परन्तु फिर जितनी आसक्ति हो, इसलिए आनन्दप्राण उतने लुटते हैं, इसका नाम हिंसा कहने में आता है।

कनुभाई! यह तो सब व्याख्या भी अलग है। वहाँ तुम इतने दो वर्ष रहे, वहाँ सुनी भी नहीं होगी।

मुमुक्षु : वहाँ है कहाँ तो सुनें।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पढ़ने के लिये निवृत्त हुए होंगे या नहीं? ऐसा तुम्हें कुछ नहीं कहा। कहा कुछ बोलेगा अभी।

मुमुक्षु : ....इतने वर्ष तो होने चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा! वाह ठीक! इतने वर्ष होने के बाद निवृत्त होऊँगा, अभी तो निवृत्ति नहीं, ऐसा कहता है दलाल। यह तो अधिक वर्ष के बाद निवृत्त हुआ है न, तो फिर जवान अवस्था में निवृत्त हो जाये? परन्तु जवान और वृद्ध कहना किसे? आहा..हा..! किस काल में देह छूटेगी, इसका निर्णय है? निर्णय लाया है? आहा..हा..!

'धर्मराजा' के पास एक व्यक्ति दान लेने आया था। यह कथा में आता है न? यह धर्मराजा थे न? भीम के भाई! दान लेने आया दान। धर्मराजा कहे – आज नहीं, कल आना। इसलिए फिर भीम ने नगाड़ा बजाया – नगाड़ा बजाया, ओहो..! मेरे भाई को कल का भरोसा आ गया लगता है। समझ में आया? आज नहीं, कल आना। इसलिए कल तक जीने का तो निश्चित हो गया लगता है इन्हें। नगाड़ा बजाया। क्यों? 'भीम' ऐसा क्यों? कि यह दान देने का इनकार करते हो और कहते हो कि आज नहीं कल, तो कल अभी जीने का है या नहीं, यह निर्णय किया लगता है मेरे भाई ने तो। विश्वास हो गया लगता है कि कल (जीना है)। काल की एक समय की किसे खबर है? आहा..हा..! कहाँ की कहाँ देह छूटती है, देखो न!

अभी कहते हैं, 'महुआ' में एक लड़का बेचारा खड़ा था और गोली वहाँ गयी, लो! उसे मारना नहीं था। कोई सबेरे कहता था। अपने को कहाँ खबर होती है। बातें, करें वे सुनते हैं। उसमें नहीं था। दूर था। मारता था वह ऐसे और यहाँ (इसे गोली लगी)। आयुष्य पूर्ण हो, तब कैसे निमित्त होते हैं। कुदरत क्या करती है! उसकी पर्याय.. अब उसका आयुष्य पूरा हुआ था, वह गोली लगी। वे थे तब लगी नहीं। यह बेचारा किसलिए खड़ा होगा? कहीं से आकर खड़ा होगा? परन्तु भाई! इसकी स्थिति ही पूरी हो गयी, बापू! नहीं

तो होवे नहीं। आहा..हा..! एक समय में शरीर, कर्म पूरा बदलकर परमाणु अन्यत्र जाने हों। कौन रोके? कौन करे? भाई! समय का भरोसा किसका? कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि भोग–उपभोग में पाप–हिंसा होती है। है न? देखो! अर्थ में (लिखा है)। हिंसा होती है। अन्य प्रकार से नहीं होती अर्थात् हिंसा की दूसरी कोई रीति नहीं है – ऐसा कहते हैं। एक बार और बारम्बार भोगने में आवे, ऐसी चीज़ में आसक्ति होती है, वह आसक्ति हिंसा है। हिंसा दूसरे किसी प्रकार से नहीं है। दूसरे जीव मरे या न मरे, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं। देखो! **अन्य प्रकार से नहीं होती 'अन्यत: न'** अस्ति–नास्ति अनेकान्त किया। समझ में आया? अपना भगवान आत्मा, उसके दर्शन–ज्ञान आनन्द और उसका अस्तित्व। उसका अस्तित्व है न? सत्ता साथ में। ऐसा पूरा अस्तित्व है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द और अस्तिरूप पूरी सत्ता। ऐसे चार प्राण कहे न? इसलिए उसका अर्थ यह कि ज्ञान, दर्शन जो उपयोग है, उसके साथ आनन्द का अस्तित्व है। उसका अर्थ वह अपना प्राण।

ऐसा जानना–देखना और आनन्द का अस्तिरूप जो अपना भावप्राण है, उसे श्रद्धा में लिया कि सुख अन्यत्र नहीं है, यहीं है परन्तु फिर भी जब तक आसक्ति रहती है, श्रावक को, समकिती को जब तक वीतरागता न हो तो आसक्ति (रहती है)। वह आसक्ति–भोग–एक बार भोगी हुई चीज़ में, दाल, चावल, रोटी, पूड़ी इत्यादि में। खाने की जो लालसा रहती है, वही हिंसा है। आहा..हा..! समझ में आया? और वह बारम्बार भोगने में आवे। कौन? वस्त्र, बर्तन, घर, मकान, बड़े–बड़े बंगले, खेत, जमीन। खेत में बाहर हवा के लिये बाँधते हैं न? जमीन बड़ी हो, गाय, बैल, स्त्री, हाथी, घोड़ा।

मुमुक्षु : मोटर नहीं आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय मोटर नहीं होगी। मोटर अब है। यह मोटर–बोटर बारम्बार भोगने में आवे, ऐसी चीज़ में जो आसक्ति रहती है, उसे हिंसा कहते हैं। समझ में आया? अपना जीवन पर के अवलम्बन से जितनी आसक्तिरूप रहे... पर के अवलम्बन से माने, वह तो मिथ्यात्वरूपी बड़ी हिंसा है। मेरा जीवन पर के अवलम्बन से है, यह तो मान्यता ही मिथ्यात्व की है, यह तो बड़ी हिंसा है। इसके अतिरिक्त अपने आनन्द और ज्ञान और अस्तित्व के प्राण में, पर की आसक्ति यह.. यह.. ऐसी वृत्ति जाती है, वह भी उस

अपने अस्तित्व के प्राण का अभाव-उतना नाश करता है। समझ में आया? आहा..हा..!

'जीवीजाण्यूं नेमिनाथे जीवन' आता है न? पूजा में आता है। अपने भक्ति करते हैं, उसमें। 'जीवीजाण्यूं ऐणे' चालीस धनुष, नहीं? दस धनुष-चालीस हाथ। ऐसे राजकुमार चल निकले। विवाह में गये थे, हों! विवाह में ऐसे गये। सारथी! यह हिरणों की पुकार क्या है? विवाह में गये। वासुदेव, बलदेव साथ में हैं। वासुदेव, बलदेव साथ में। कृष्ण और बलदेव। करोड़ों लोग साथ में। उनके रथ और सेना हाथी, उनके घोड़े और शृंगार की क्या बात? वासुदेव के राज। उसमें भगवान तीर्थंकर की बारात। श्रीकृष्ण बड़े। साथ में हैं बड़े। सफेद और ऊँचे ऐसे देखते हैं। अरे! यह सम्यग्दृष्टि, तीन ज्ञान के धनी हैं। सारथी! यह कलबलाहट (शोरगुल) किसका है? प्रभु ने हिरण बाँधे हैं, हिरण बाँधे हैं, श्रीकृष्ण ने हिरण बाँधे हैं। आपके विवाह में लोगों के लिये। अरे! सारथी! रथ वापिस मोड़। यह डोर (लगाम) वापिस खींच, भाई! आहा..हा..! ऐई! बल्लभदासभाई! मुझे यह हिंसा पोषाती नहीं! भाव में राग है और उसकी बात है, हों! अरे! यह विवाह का राग, अरे! प्राणियों की यह हिंसा? वैराग्य.. वैराग्य.. रोम-रोम से वैराग्य। वस्त्र हैं या नहीं इसका पता नहीं। रोम-रोम में वैराग्य! यह वस्त्र त्याग की तैयारी हो गयी। कहो, मलूपचन्दभाई! वासुदेव और बलदेव जिनके भाई हैं। उन्हें सामग्री, साधन की, सम्पत्ति की मकानों की कमी क्या होगी? समझ में आया? बस, सारथी!

उस माहात्म्य की याद आती है। तुम्हारे 'विछीया' में नहीं? ऐई! प्रेमचन्दभाई! तुम्हारे विछीया में लड़कों ने नेमिनाथ का नहीं किया था? रात्रि को संवाद किया था। सारथी! वापिस मुड़ो। आहा..हा..! क्या है? इसका अर्थ कि आसक्ति अब वापिस मोड़। बाहर में आसक्ति नहीं। मेरा स्वभाव.. देखो! भान है। क्षायिक समकिती हैं। निश्चित हो गया है कि यह देह मेरी अन्तिम है। अन्तिम देह है। और हम अब इस भव से मुक्ति में जानेवाले हैं। यह विवाह का प्रसंग, यह प्राणी हमारी बारात के लिये, हिरण की (पुकार)। वह हमें शोभा नहीं देता। इस शृंगार में ऐसे शृंगार नहीं होते। उतार, रथ मोड़। ले जा जूनागढ़। आहा..हा..! जूनागढ़ तो था वहाँ। अन्दर ले गये। गिरनार। ले जा, ऊपर तलहटी में ले जा। आहा..हा..!

राजुलमति ऐसे राह देखती है। हमारा विवाह.. हमारा विवाह (होगा) राजुलमति

को बहिनें कहती हैं – बहिन! देखो! यह नेमिनाथ आते हैं। देखो! वह घोड़ा। सबका ऐसा अलग प्रकार का रंग होता है। बड़ा वह तो अरबों रुपये का घोड़ा था। वासुदेव का घोड़ा है न? उसके प्रत्येक की ध्वजा अलग होती है, उसका वह अलग होता है। वह तो अलौकिक है न! दैवी पुरुष है न, सब दैवी पुरुष हैं। वासुदेव, बलदेव, नेमिनाथ भगवान सब दैवी पुरुष... उतर गये मनुष्यरूप से। बाकी दैव जैसे पुरुष हैं। सब मुक्तिगामी हैं। यह देखो! वह रथ आता है न? हाँ, वह नेमिनाथ का है। ऐसे जहाँ रथ वापिस मुड़ता है, आहा..! क्या होता है यह ? क्या हुआ यह ? बहिन! कुछ हुआ लगता है। तब समाचार देते हैं कि रथ वापिस मुड़ा। इसने फिर आसक्ति घटायी, छोड़ो! जिस रास्ते भगवान नेमिनाथ गये, उस रास्ते मैं जाती हूँ। वस्तु का भान तो था, आसक्ति हिंसा है। हमें अब वह न हो.. आहा..हा..! वैराग्य में सराबोर हो गयीं, भान सहित, हों! यह तो सम्यग्दर्शनसहित की बात चलती है। ऐई! इसके बिना वैराग्य सच्चा नहीं हो सकता।

पुण्य और पाप के दोनों विकल्प समान बन्ध के कारण हैं। ऐसा निर्णय किये बिना सच्चा वैरागी नहीं कहलाता। यह पुण्य–पाप में आ गया है न? वैराग्य उसे कहते हैं कि शुभ और अशुभ विकार, पुण्य और पाप के भाव दोनों हिंसा, दोनों दुःखरूप हैं। ऐसा जिसने अन्तर में स्वभाव सन्मुख होकर, पर से हट गया है, उसे वैराग्य कहने में आता है। यह तो सब वैराग्य श्मशान और मोहगर्भित वैराग्य। जरा–सा मर गया और ऐसे दुःख हुआ, वह कहीं वैराग्य नहीं, बापू!

यहाँ कहते हैं धर्मी जीवों को उन **भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली हिंसा होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती...** अर्थात्? जो वह भोग–उपभोग का भाव है, वह हिंसा है, ऐसा। **अन्य प्रकार से नहीं होती...** ऐसा कहते हैं। वह भावहिंसा है। दूसरे प्रकार से हिंसा नहीं है। पर मरे, न मरे, उसके साथ वस्तु नहीं (हिंसा नहीं)। समझ में आया? **इसलिए वह दोनों अर्थात् भोग और उपभोग भी वस्तुस्वरूप और अपनी शक्ति को जानकर...** देखो! दोनों शब्द रखे हैं। वस्तुस्वरूप अर्थात् **'वस्तुतत्त्वं'** वस्तु का भाव, ऐसा। वस्तु का भाव अर्थात् आसक्ति कैसी है, वस्तु के स्वरूप का तो भान है, परन्तु आसक्ति है, (वह) कैसी है? उसमें कैसा पाप है? ऐसा जानकर, उसमें स्वशक्ति प्रमाण, ऐसा वापिस (कहा है)। वस्तु स्वरूप की खबर है, भाई! यह तो वर्तमान में जो रागादिभाव

चलते हैं, उनकी कितनी हिंसा है ? क्या है ? यह छूटने के कैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उनका वह ज्ञान करता है। समझ में आया ? स्वशक्ति (जानकर), वापिस हठ नहीं। अपनी शक्ति को जानकर शक्ति को जाने कि इतना मुझमें राग का त्याग होगा, अधिक होगा नहीं। समझ में आया ? आहा..हा.. !

जिसने जीकर जीवन जाना और जिसने जीवन में केवलज्ञान प्राप्त किया। आहा..हा.. ! वे जीवन के जीनेवाले जीवन। उस जीवन का सुखद फल केवलज्ञान। सादि-अनन्त अनन्त मुक्ति। 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में...' आता है न 'सादि-अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख में..' देखो ! जिसने आत्मा का भान करके आसक्ति की कमी की और आसक्ति जिसने सर्वथा छोड़ी। कमी की वह श्रावक है; अभाव किया वह मुनि है। उसके फल में सादि-अनन्त समाधिसुख। अनन्त दर्शन-ज्ञानसहित। कहो, समझ में आया ? 'अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा'। आहा..हा.. ! ऐसी मुनिदशा। आसक्ति सर्वथा घटायी और आनन्द के जीवन में जीऊँगा और उसमें भी उसके फलरूप समाधि अनन्त पाऊँगा, वह अवसर कब आयेगा ? देखो ! यह भावना धर्मी की होती है। कितना पैसावाला होऊँ और इज्जत कितनी प्राप्त करूँ, कितने पुत्रवाला होऊँ ?—ऐसी भावना उन्हें नहीं होती। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

यह जानकर **अपनी शक्ति अनुसार छोड़ने योग्य हैं।** लो ! अपनी शक्ति का माप देखकर, देखादेखी नहीं, हठयोग से नहीं। अपनी शक्ति के माप प्रमाण यह भोग-उपभोग पदार्थों के प्रति आसक्ति यथाशक्ति घटाने योग्य है।

टीका : देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग पदार्थों सम्बन्धी हिंसा होती है,... देखो ! **किन्तु अन्य प्रकार की कोई दूसरी हिंसा नहीं होती।** दूसरे प्रकार से उसकी हिंसा नहीं होती, ऐसा कहते हैं। **वस्तुस्वरूप जानकर तथा अपनी शक्ति को जानकर...** उस समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखता है न ? **भोगोपभोग का त्याग कर देना चाहिए।**

भावार्थ : जो एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं। यह पहले कहा जा चुका है। **जैसे दाल, भात, रोटी, पूड़ी, दूध, दही, पेड़ा, जलेबी,...** और केला।

केला उसमें साथ में लिया जाये न? केला भी फिर से खाये नहीं जाते हैं, नहीं? **जलेबी, पानी, पुष्पमाला इत्यादि सभी भोग पदार्थ हैं। जो बार–बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं। जैसे कपड़ा, बर्तन, घर,...** यह इंडीपैन यह सब इसमें आता होगा या नहीं? शास्त्र, चश्मा... समझ में आया? **घर, खेत, गाय, बैल,...** हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुत्र, पुत्री **इत्यादि सभी उपभोग पदार्थ हैं। श्रावक को इन पदार्थों के सम्बन्ध से हिंसा होती है,...** इन पदार्थों में आसक्ति होती है। इसलिए सम्बन्धी का अर्थ यह। आहा..हा..! इसके पदार्थ के सम्बन्ध से यह हिंसा होती है। अस्थिरता का सम्बन्ध जितना करे, उतनी हिंसा है। आहा..हा..! कैसी हिंसा की व्याख्या की! ठेठ से।

मुमुक्षु : पहले से अन्त तक एक ही प्रकार...

पूज्य गुरुदेवश्री : एक प्रकार। ऐसा ही होता है न?

इसलिए श्रावकों को इन हिंसा के कारणों का भी शीघ्र ही त्याग करना चाहिए। अब इनमें मूल अनन्त काय के त्याग की बात पहली लेते हैं।

गाथा - १६२

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्।।१६२।।

है एक का भी घात इच्छुक, अनन्तों का घात ही।
नित करे इससे अहिंसक को, अनन्त कायिक त्याज्य ही।।१६२।।

अन्वयार्थ : (ततः) कारण कि (एकम्) एक साधारण शरीर को–कन्दमूलादिक को (अपि) भी (प्रजिघांसु) घात करने की इच्छा करनेवाला पुरुष (अनन्तानि) अनन्त जीवों को (निहन्ति) मारता है, (अतः) इसलिए (अशेषाणां) सम्पूर्ण (अनन्तकायानां) अनन्त काय का (परिहरणं) परित्याग (अवश्यं) अवश्य (करणीयम्) करना चाहिए।

टीका : 'एकं अपि प्रजिघांसुः अतः अनन्तानि निहन्ति ततः अशेषाणां अनन्तकायानां अवश्यं परिहरणं करणीयम्' – अर्थ :– एक कन्दमूल सम्बन्धी जीव को

खाने की इच्छा करनेवाला गृहस्थ उस जीव के साथ-साथ उसके आश्रय रहनेवाले साधारण अनन्त जीव हैं, उन सभी का घात करता है इसलिए साधारण अनन्तकायवाली जितनी वनस्पतियाँ हैं, *उन सभी का अवश्य त्याग करना चाहिए।

भावार्थ : वनस्पति साधारण और प्रत्येक इस तरह दो प्रकार की होती है। इसमें से साधारण वनस्पति का त्याग तो गृहस्थ श्रावक को सर्वथा ही कर देना चाहिए तथा यथाशक्ति प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करना चाहिए। अब यहाँ प्रत्येक और साधारण के सभी भेद-प्रभेद स्पष्टरूप से कथन किये जा रहे हैं।

पाँच स्थावरों में से पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय इन चार में तो निगोद के जीव रहते नहीं, केवल एक वनस्पतिकाय में ही रहते हैं। उसके प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं। जिस शरीर का एक ही स्वामी हो, उसे प्रत्येक कहते हैं और जिस शरीर के अनन्त स्वामी हों, उसे साधारण कहते हैं। प्रत्येक के भी दो भेद हैं। सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जो निगोद सहित हो अर्थात् जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव रहते हों, उसे सप्रतिष्ठित कहते हैं। जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय अनन्त जीव न रहते हों अर्थात् निगोद सहित न हो, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

साधारण वनस्पति का लक्षण :- जिसको तोड़ने पर समान भंग हो, जिसके पत्तों में जब तक तन्तु रेखा और नसाजाल न निकले हों, जिसकी मूल, कन्द, कन्दमूल, छाल, पत्ते, छोटी डाली, फूल, फल और बीज में-उसके तोड़ते समय-समान भंग हो जाय, तबतक वह सभी साधारण वनस्पति है और जब उनमें समान भंग न हो, तब वही वनस्पति प्रत्येक हो जाती है। यद्यपि साधारण वनस्पति तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति-इन दोनों में अनन्त जीव हैं तो भी साधारण वनस्पति के शरीर में जितने जीव हैं, वे सभी उस शरीर के स्वामी हैं और उस वनस्पति के तोड़ने-काटने पर उन सभी जीवों का घात होता है और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के एक शरीर में शरीर का स्वामी तो एक ही है किन्तु उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव हैं, वे सभी स्वामी नहीं हैं।

* उन सभी का त्याग अर्थात् उन सम्बन्धी राग का त्याग, वह भी मिथ्या अभिप्राय के त्यागरूप और स्वाश्रय के ग्रहणरूप सम्यग्दर्शन के बिना 'यथार्थ रीति से व्यवहार त्याग' नहीं कहला सकता। धर्मीजीव को त्रस व स्थावर जीव के भेद जानना चाहिए। द्वीइन्द्रिय आदि से पंचेन्द्रिय तक जीवों को त्रस तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर कहते हैं। (स्थावर जीव को एकेन्द्रियपना है)

उस शरीर के स्वामी के मरने–जीने के साथ उन समस्त जीवों के मरने–जीने का कोई सम्बन्ध नहीं है। बस यही दोनों में भेद है। इसलिए गृहस्थ श्रावक को साधारण वनस्पति का सर्वथा ही त्याग करना चाहिए और सप्रतिष्ठित प्रत्येक का भी त्याग करना चाहिए क्योंकि एक साधारण वनस्पति के एक शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। इसलिए जब हम एक आलू खाते हैं, तब अनन्तानन्त जीवों का घात करते हैं।

अब यहाँ एक साधारण वनस्पति का विचार किया जाता है। जैसे एक आलू या अदरख इत्यादि साधारण वनस्पति का विचार करें तो उसमें लोक के जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुने शरीर हैं, उन सर्व शरीरों के पिण्डों को 'स्कन्ध' कहते हैं, (जैसे अपना एक शरीर है)। और उस एक स्कन्ध में असंख्यात लोक–प्रमाण 'अण्डर' हैं, (जैसे अपने शरीर में हाथ, पैर आदि उपाँग हैं)। और एक अण्डर में असंख्यात लोकप्रमाण 'पुलवी' हैं, (जैसे अपने हाथ में उँगलियां हैं)। और एक पुलवी में असंख्यात लोकप्रमाण 'आवास' हैं (जैसे एक उँगली में तीन पोरे होते हैं) और एक आवास में असंख्यात लोक–प्रमाण निगोद 'शरीर' हैं (जैसे एक पोरे में अनेक रेखायें हैं) और एक निगोद शरीर में सिद्ध–राशि से अर्थात् अनन्त मुक्तात्माओं से–अनन्तगुने जीव हैं अर्थात् सिद्धालय में जो अनन्त सिद्ध जीव विराजमान हैं, उनसे भी अनन्तगुने जीव एक निगोद शरीर में हैं। (जैसे एक उँगली की रेखा में असंख्यात प्रदेश हैं) इस प्रकार एक आलू अथवा साधारण हरीके (आलू–अदरख इत्यादि के) टुकड़े में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। अतः ऐसी वनस्पतियों का शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिए।।१६२।।

गाथा १६२ पर प्रवचन

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्।।१६२।।

कारण कि एक साधारण शरीर को–कन्दमूलादिक को भी घात करने की इच्छा करनेवाला... एक आलू, एक शकरकन्द, एक लहसुन, एक प्याज, उसका एक टुकड़ा, खाने की इच्छा करनेवाले को हिंसा है। समझ में आया ? अभी इस लड़के को पूछा था। अपने विद्यार्थी को। अनन्त काय किसे कहा जाता है ? एक व्यक्ति नहीं बोला। नया

है। पमुभाई ने बचाव किया। पमुभाई नहीं आये न? वे कहे यह नया है, नया है। पमुभाई आये हैं न? बात उनकी सच्ची। यह नया है। पमुभाई खड़े थे। मुझे तो आया था न? (इसलिए पूछा)। यह नया है, यह कहेगा। परन्तु वह बराबर बोल नहीं सका। समझ में आया?

क्या कहते हैं **एक साधारण शरीर को-कन्दमूलादिक को भी घात करने की इच्छा करनेवाला पुरुष अनन्त जीवों को मारता है,...** कहो, लहसुन का ढोकला, लहसुन की कली तेल में, घी में तलकर खाते हैं न? आलू की पतरी (चिप्स) क्या कहलाता है वह? यह आलू की करते हैं। गोल-गोल चक्कर कुछ घी में या तेल में तलते हैं न? पतरी-पतरी। खाने में लगे कैसी अन्दर? कहते हैं कि जितने जीव के समूह अधिक, उतनी यहाँ आसक्ति का भाव मारने का है, वह सब हिंसा है। मिठास-मिठास लगती है। आलू में लगती है। कन्दमूल, आलू में भी शरीर के ऐसे रजकण हैं न? आत्मा तो ठीक परन्तु एक शरीर में अनन्त जीव, उसके शरीर के परमाणु के अन्दर में मिठास ले, करैला खाये और शकरकन्द (खाये), उसके शरीर के रजकणों में... एक शरीर में अनन्त जीव हैं। ऐसे-ऐसे असंख्य शरीर ही नजर पड़ते हैं। एक शरीर तो नजर पड़ता नहीं। शकरकन्द इतना हो। शकरकन्द आता है न? यह लोग नहीं खाते? शक्करिया-शक्करिया। तुम्हारे बहुत होते हैं।

मुमुक्षु : शकरकन्द अलग और शक्करिया अलग?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस शक्करिया को शकरकन्द कहते हैं, उसे सूरणकन्द कहते हैं। इसे शक्करिया कहते हैं। बहुत खाये। शिवरात्रि हो तो रोटियाँ छोड़कर वह खाये। उल्टे बड़ा पाव। एक शरीर में अनन्त जीव। आहा..हा..! कहते हैं कि एक कन्दमूल खाने की इच्छा करनेवाला। आलू, शकरकन्द। बटाटा समझते हो, भाई! आलू-आलू। यहाँ तो आत्मा का भान है परन्तु अब इस कन्दमूल की आसक्ति का भाव है, इतनी तीव्र हिंसा है। गृहस्थों को इतनी आसक्ति तो छोड़ना चाहिए। एक इच्छा के लिये अनन्त जीवों का संहार! कोई कहे कि वे तो उनके आयुष्य (प्रमाण मरते हैं)। यह कौन इनकार करता है, परन्तु यह तेरा भाव वह है न? आहा..हा..! समझ में आया? उसके सम्बन्ध की बात है न?

अनन्त जीवों को मारता है,... देखो, मारता है (ऐसा कहा)। और (एक ओर) कहते हैं मार नहीं सकता। भाव है न? इसलिए यहाँ मरता है तो मारता है, ऐसा कहने में

आता है। भाई! व्यवहार के कथन ऐसे होते हैं। आहा..हा..! देखो! यह कल्पना नहीं, हाँ, काई में एक शरीर में निगोद के अनन्त जीव हैं, भाई! उसे इस ज्ञान की विशालता इतनी है कि अनन्त ज्ञेयों को ज्ञान जाने। इतनी तो आत्मा के ज्ञान की महत्ता और महानता है। अनन्त–अनन्त एक शरीर में जीव, ऐसे असंख्य शरीर, असंख्य शरीर। असंख्य चौबीसी के जितने शरीर। समझ में आया? पूरे लोक में आकाश के प्रदेश हैं, उनसे असंख्यगुने निगोद के शरीर, तो इतने प्रदेश में असंख्यात चौबीसी के समय जितने प्रदेश हैं। इतना–इतना पूरा लोक, इतने प्रदेश, उससे असंख्यगुने निगोद के शरीर और एक–एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुने जीव। वे यहाँ ज्ञान की महत्ता बताते हैं। तेरा ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण और ज्ञान (ज्ञेय) लोकालोकप्रमाण। इस लोक में इतने जीव आये न? इतने जो ज्ञेय हैं, उतने प्रमाण ज्ञान हैं। ज्ञान इतना बड़ा, उन्हें जान सकता है, ऐसा कहते हैं। फिर निर्णय किया कि वे जीव हैं। मुझे मारना नहीं चाहिए। आसक्ति, राग नहीं करना चाहिए। राग आस्रव है। करनेयोग्य नहीं है। स्वभाव में स्थिर होने पर भी, जो आस्रव आता है, राग होता है, वह पर की आसक्ति के कारण होता है। समझ में आया?

अनन्त जीवों को मारता है, इसलिए सम्पूर्ण 'अशेषाणां' है न? **अनन्त काय का परित्याग अवश्य करना चाहिए।** आहा..हा..! जीभ की थोड़ी लोलुपता और आसक्ति के कारण, अनन्त जीवों का संहार छोड़ देना चाहिए। समझ में आया? एक रोम ऊँचा करे, वहाँ ऐसे चिल्लाने लगे। शरीर से सहन होता नहीं, महाराज! अन्दर गर्मी... ऐसी शरीर खान है। दूध को और रोटी को उल्टी बनावे ऐसी, विष्टा बनावे, ऐसी यह एक मशीन है। कहते हैं ऐसे अनन्त जीव को मारना अवश्य छोड़ना चाहिए।

क कन्दमूल सम्बन्धी जीव को खाने की इच्छा करनेवाला गृहस्थ उस जीव के साथ–साथ उसके आश्रय रहनेवाले साधारण अनन्त जीव हैं, उन सभी का घात करता है... कहो, समझ में आया? **इसलिए साधारण अनन्तकायवाली जितनी वनस्पतियाँ हैं, उन सभी का अवश्य त्याग करना चाहिए।** नीचे लिखा है इसका, एकड़ा है। **उन सभी का त्याग अर्थात् उन सम्बन्धी राग का...** ऐसा स्पष्टीकरण किया है। इन अनन्तकाय कन्दमूल आदि को मारना नहीं। उसका जो राग है, उसका त्याग। उसे नहीं मारा – ऐसा कहने में आता है।

वह भी मिथ्या अभिप्राय के त्यागरूप और स्वाश्रय के ग्रहणरूप सम्यग्दर्शन के बिना 'यथार्थ रीति से व्यवहार त्याग' नहीं कहला सकता। यहाँ कितने ही प्रसन्न हो जाते हैं न, कि हम यह नहीं खाते, हम नहीं खाते, हम त्यागी हैं। समझ में आया? **मिथ्या अभिप्राय के त्यागरूप और स्वाश्रय के ग्रहणरूप सम्यग्दर्शन...** मिथ्या अभिप्राय का जिसे त्याग नहीं है और जिसे सम्यग्दर्शन का ग्रहण नहीं है, उसके **बिना 'यथार्थ रीति से व्यवहार त्याग' नहीं कहला सकता।** समझ में आया? आत्मा अन्तर सच्चिदानन्द प्रभु! शाश्वत्। सत् अर्थात् शाश्वत्। सच्चिदानन्द शब्द है न? सत् अर्थात् शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द। शाश्वत् आनन्द और ज्ञान, शाश्वत् आनन्द, ज्ञान के भान बिना और मिथ्या अभिप्राय के त्याग बिना पर का त्याग-राग का त्याग, वह व्यवहार से भी त्याग नहीं कहा जा सकता। समझ में आया?

धर्मीजीव को त्रस व स्थावर जीव के भेद जानना चाहिए। द्वीइन्द्रिय आदि से पंचेन्द्रिय तक जीवों को त्रस तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर कहते हैं। उनको त्रस कहते हैं। कहो, समझ में आया?

भावार्थ : वनस्पति साधारण और प्रत्येक इस तरह दो प्रकार की होती है। इसमें से साधारण वनस्पति का त्याग तो गृहस्थ श्रावक को सर्वथा ही कर देना चाहिए... कन्दमूल, आलू, शकरकन्द, लहसुन, प्याज यह तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त जीव। कितने अनन्त? अनन्त चौबीसी के समय जितने अनन्त। सिद्ध से भी अनन्तगुने, लो न! **तथा यथाशक्ति प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करना चाहिए।** दूसरी वनस्पति है, यह देखो न! करेला, तुरिया उसमें भी जीव है न? उसमें एक टुकड़े में असंख्य जीव हैं। उसमें एक टुकड़े में असंख्यात शरीर हैं। एक शरीर में एक जीव है, ऐसे असंख्य जीव हैं। नागरबेल का पक्का पान, यह करेला, तुरिया, टींडोरा, परवल, दूसरा क्या कहलाता है वह? कण्टोला... कहो, समझ में आया? भुजिया बनाते हैं न, यह किसके? क्या कहलाता है। अरबी के नहीं। वे दूसरे पत्ते। धनिया, अजमा। वे लाल पत्ते नहीं आते? पहले बनाते थे। पोई पोई। पोई के बहुत बनाते थे। पोई के पत्ते आते हैं। पहले पोई के बनाते थे। हमें याद है न छोटी उम्र का। अजमा का तो पता था, पोई का होता था। लाल पोई होती है न।

काटे तो अन्दर में लाल होती है, बाहर हरी होती है। पोई के पत्ते के भुजिया, हों! पहले गाँवों में बहुत बनाते थे। मीठे लगते हैं न? वे जीव कितने मर गये, उसकी दरकार नहीं। पोई के बनाते थे, खबर है? पोई की बेल होती है, पत्ते होते हैं। कहो, समझ में आया? उसके भी कोई बनाते हैं, वह क्या कहलाता है? गलो। गलो के पत्ते के बनाते हैं। कड़वा और निरोगी बहुत होता है न? गलो। यह गलो नहीं होता? तुम्हारे ढेर पड़ा है यहाँ? बहुत ले जाते हैं। नीम के ऊपर गलो होता है उसके पत्ते। एक पत्ते का एक इतना टुकड़ा लो। बारीक मुलायम हो तब तो एक टुकड़े में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्तगुने जीव। नये-नये अंकुर फूटे, तब तो अनन्त जीव होते हैं। फिर जब धीरे-धीरे नरम पड़ जाये तो प्रत्येक हो जाता है और उसके आश्रित फिर अनन्त रहते हैं। पहले तो शुरुआत में अकेले अनन्त होते हैं। आहा..हा..!

गहन-गहन गम्भीर बात है। वीतराग की बात, द्रव्य की बात तो ऐसी, क्षेत्र की ऐसी, काल की ऐसी, जीव संख्या की ऐसी, जीव के गुणों की संख्या की ऐसी, पर्याय की ऐसी। कोई कोई बात ही कोई (ऐसी गहन है)। आहा..हा..! अकेला स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव। जगत का यह स्वभाव है कि अनन्त जीव वहाँ होते हैं। उन्हें नहीं मारना। **तथा यथाशक्ति प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करना चाहिए। अब यहाँ प्रत्येक और साधारण के सभी भेद-प्रभेद स्पष्टरूप से कथन किये जा रहे हैं।**

पाँच स्थावरों में से पृथ्वीकाय,... यह पृथ्वी होती है न? मिट्टी के जीव। इस 'जिथरी' के पत्थर। मिट्टी पृथ्वी एक कण में असंख्य जीव होते हैं। पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीव है। समझ में आया? पानी **जलकाय,...** एक पानी की बूँद में असंख्य जीव हैं। असंख्य। एक बूँद में छींटा होता है न? छींटे में असंख्य जीव हैं। **वायुकाय,...** यह हवा-पवन। **अग्निकाय...** एक कणी। दियासलाई सुलगाते हैं न? उसमें असंख्य जीव हैं। **इन चार में तो निगोद के जीव रहते नहीं,...** इन चार में निगोद नहीं हैं। वहाँ प्रत्येक है। **केवल एक वनस्पतिकाय में ही रहते हैं।** निगोद तो एक वनस्पति का ही भाग है।

उसके प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं। वनस्पति के। **जिस शरीर का एक ही स्वामी हो, उसे प्रत्येक कहते हैं...** यह नीम, पीपल, पत्र यह एक शरीर। आम नहीं, हों! एक-एक पत्ता हो, उसमें असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में एक

जीव, उस एक शरीर का एक स्वामी, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। उसमें पूर्व के माँ-बाप, और बहुत लड़के मरकर बैठे हैं। अनन्त भव किये, उसमें कुछ वहाँ अन्दर पड़े हैं। उन्हें सेंककर खावे उसमें। आहा..हा..! बोलते नहीं कि भाई! हम तुम्हारे पुत्र थे। आहा..हा..!

अनन्त भव के पर्यटन के काल में इसने क्या भाव नहीं किये? परिभ्रमण। उसमें ऐसे-ऐसे सम्बन्धी अनन्त बार हो गये हैं। जिसे स्त्रीरूप से माना, वह माँ रूप से हो गयी है। माँ रूप से माना, वह स्त्रीरूप से हो गयी है। किसे कहना इसमें माँ और किसे कहना स्त्री? समझ में आया? ऐसे मर-मरकर भी उस वनस्पति में पड़े हैं। समझ में आया? **और जिस शरीर के अनन्त स्वामी हों...** शरीर एक और स्वामी अनन्त, **उसे साधारण कहते हैं।** निगोद अथवा साधारण। **प्रत्येक के भी दो भेद हैं। सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव रहते हों, उसे सप्रतिष्ठित कहते हैं।** यह वनस्पति होती है न पहली, फिर नरम पड़ती जाये तो प्रत्येक होती जाये और उसके साथ अनन्त शामिल रहा करे। **जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय अनन्त जीव न रहते हों अर्थात् निगोद सहित न हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।** प्रत्येक अर्थात् एक शरीर में रहनेवाला एक जीव, उसके भी दो भेद। एक शरीर में एक जीव रहनेवाला हो और उसके साथ दूसरे अनन्त भी हों। उन अनन्त जीवों के जन्म-मरण के साथ एक जीव को जन्म-मरण का सम्बन्ध नहीं है तथा एक जीव के मरण जीवन के साथ अनन्त का सम्बन्ध नहीं है, उसे सप्रतिष्ठित कहने में आता है और निगोद के तो एक जीव मरे वहाँ अनन्त साथ में मरें, उसे साधारण कहने में आता है। कहो, समझ में आया? इसकी भी पहिचान करके, यथासम्भव आसक्ति घटाना, क्योंकि आसक्ति वह हिंसा है और दृष्टि के भानपूर्वक आसक्ति घटाने को यहाँ व्रत कहने में आता है। उसे यहाँ व्रत कहने में आता है। विशेष कहेंगे......

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६४ गाथा-१६२ से १६७ सोमवार, आषाढ़ शुक्ल ११, दिनांक १७.०७.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय चलता है। श्रावक के व्रत का स्वरूप क्या? उसमें यहाँ भोग-उपभोग व्रत का स्वरूप चलता है। जिसे आत्मा में अत्यन्त राग और परद्रव्य रहित भास हुआ है, आत्मा का अनुभव हुआ है। मुझमें तो राग और परद्रव्य कभी नहीं है - ऐसे भावभान जीव को जो आसक्ति बाकी है, उस आसक्ति की कमी करना, इससे बाह्य की चीज़ें उसे घटती हैं, उसे नहीं मारता है, ऐसा व्यवहार से कथन करने में आता है।

एक बार भोगा जाये और बारम्बार भोगा जाये, उस वस्तु की मर्यादा है, परिमित मर्यादा है। बहुत रखने से आसक्ति विशेष है; इसलिए उसकी कमी करना, यह बात चलती है। उसमें अनन्त काय को तो इसे मारना नहीं अर्थात् इस प्रकार का राग तो इसे छोड़ना चाहिए। अनन्त काय। कन्दमूल की व्याख्या आ गयी। स्थावर की व्याख्या आ गयी। अब देखो, साधारण। साधारण वनस्पति का लक्षण। कि जो छोड़ने योग्य चीज़ है, उसे पहले जानना चाहिए न? अनन्त जीव जिसमें है, वह क्या है? वह वस्तु क्या है - ऐसा इसे जानना चाहिए। जानकर भी उसके प्रति राग और आसक्ति छोड़ना, उसे सम्यग्दर्शनसहित का त्याग कहने में आता है। समझ में आया? साधारण अनन्त काय का लक्षण कहते हैं।

जिसको तोड़ने पर समान भंग हो,... उसकी पहिचान देते हैं। यह गोम्मटसार का कथन है। जो किसी चीज़ को, ऐसे वनस्पति की बात है, हों! ऐसे तोड़ने पर समान टुकड़ें हो। **जिसके पत्तों में...** उसके पत्ते छोटे होते हैं। **जब तक तन्तु रेखा...** बारीक रेखा पत्तों में निकली हुई न दिखे, तब तक उसमें अनन्त काय है। कोमल, बारीक पत्ते। इस पीपल के, नीम के कोई भी पत्ते कोमल-बारीक हों, जिसमें तन्तु रेखा होती है न? अन्दर बारीक रेखा (होती है)। उस नस की जल निकली न हो, तब तक उस पत्ते में भी अनन्त जीव हैं।

जिसकी मूल,... मूल, गहरा मूल बहुत कोमल होता है। **कन्द,..** बाहर का।

कन्दमूल, छाल,... यह भी पहले शुरुआत की छाल भी तोड़ते समय समान भंग हो जायें, तब तक वह साधारण वनस्पति है। बारीक छाल, बहुत पतली छाल होती है न ऊपर? ऐसी छाल हो कि जिसे तोड़ने पर समान भंग हो जाये, छिलका होकर उल्टी सीधी न टूटे, ऐसी छाल में भी अनन्त जीव हैं, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? **पत्ते,...** यह पत्ते का आ गया। **छोटी डाली,...** नीम में, पीपल में, आम में छोटी डाली निकलती है न? बारीक-बारीक पहली डाली (निकलती है), उसमें अनन्त काय है। ऐसे तोड़ने पर समान भंग हो जाये। समान ऐसे एकदम टूट जाये समान। समझ में आया? उसमें अनन्त जीव हैं। उसे श्रावकों को भानसहित भूमिका में उसे मारने की आसक्ति छोड़ना। समझ में आया?

फूल,... फूल ऐसे बारीक-कोमल होते हैं। जैसे इस नीम के। ये फूल अनन्त काय हैं। एक नीम का फूल इतना राई जितना टुकड़ा लो, उसमें अनन्त जीव हैं। जिसके दो भंग करने पर समान टुकड़े हो जायें। दूसरे भी ऐसे बहुत कोमल फूल होते हैं। यह क्या कहते थे पहले? वह बिहार में नहीं? वे फूल बीनते थे। महुडा के, महुड़ा के - महुड़ा के। जब बहुत कोमल-बारीक हों, तब अनन्त काय होते हैं। ये गरीब लोग सबेरे महुड़ा बीनने जाते थे बेचारे। बिहार में तो दुष्काल है न? गरीब लोग टोपला लेकर, पूरी सड़क पर जो महुड़ा हों, उसके फूल गिरें। इतने बारीक-कोमल, बहुत कोमल शुरुआत के हों तो अनन्त जीव होते हैं।

फूल, फल... फल भी ऐसे होते हैं। अन्दर जब बारीक-कोमल फल निकलें, बहुत ही बारीक, उसमें भी अनन्त जीव हैं। **और बीज...** उसका बीज भी जब तक बहुत कोमल हों और टूटकर समान टुकड़ें हो, **उसके तोड़ते समय-समान भंग हो जाय तबतक वह सभी साधारण वनस्पति है...** यह लक्षण श्वेताम्बर में भी... में है। समझ में आया? यह तो अनन्त काय को पहिचानने के लक्षण बताये न? ऊपर कहा न? लक्षण। जिसकी इसे दया पालने का भाव है, हिंसा का त्याग करना है, उसे इसे पहिचानना चाहिए। पहिचाने बिना किसके प्रति राग छोड़ेगा और किसके प्रति राग करेगा? उसकी तो इसे खबर नहीं। समझ में आया? **वह सभी साधारण वनस्पति है।**

और जब उनमें समान भंग न हो... जरा सा आगे जाये। थोड़ा प्रत्येक हो जाये,

फिर आगे छोटा, फूल, फल, पत्ते जरा मोटे हो जायें, **तब वही वनस्पति प्रत्येक हो जाती है। यद्यपि साधारण वनस्पति तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति–इन दोनों में अनन्त जीव हैं...** पहले जो साधारण कही, उसमें भी अनन्त जीव हैं और शुरुआत में पत्ते आदि फूटने पर पहली अनन्त होती है और फिर प्रत्येक हो जाती है। प्रत्येक के आश्रित भी कितने ही अनन्त (जीव) होते हैं।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति–इन दोनों में अनन्त जीव हैं तो भी साधारण वनस्पति के शरीर में जितने जीव हैं, वे सभी उस शरीर के स्वामी हैं... यह एक इतना अन्तर है, कहते हैं। एक शरीर में अनन्त जीव जो साधारण हैं, उन सब अनन्त जीवों का एक स्वामी है, एक स्वामी है। आत्मा शरीर का स्वामी होगा न? इसमें लिखा है शरीर का स्वामी। अर्थात् सबका शरीर एक है, ऐसा (आशय है)। समझ में आया? एक शरीर में अनन्त। एक आलू हो, उसका इतना छोटा एक टुकड़ा लो, उसमें से असंख्य शरीर, उसमें का एक शरीर, उसमें अनन्त जीव, उन सब अनन्त जीवों का एक शरीर शामिल है, श्वास इकट्ठा है, आहार इकट्ठा है। कहो, समझ में आया? ऐसे–ऐसे अनन्त अवतार किये इसने। दुनिया जीव माने और स्वयं जीव हूँ, इन दोनों की दोनों को खबर नहीं होती, ऐसी स्थिति में अनन्त बार गया। कहते हैं, जब मनुष्यपना मिला और स्व–पर का विवेक हुआ, तो पर के प्रति, ऐसे जीव अनन्त हों, उन्हें मारने की वृत्ति छोड़ना चाहिए – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

और उस वनस्पति के तोड़ने पर... देखो! शरीर में जितने जीव, उन सबके शरीर का स्वामी है। **और उस वनस्पति के तोड़ने–काटने पर उन सभी जीवों का घात होता है...** क्योंकि अनन्त हैं। ऐसे तोड़ने पर सब अनन्त एक साथ मरते हैं। **सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के एक शरीर में शरीर का स्वामी तो एक ही है किन्तु उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव हैं, वे सभी (उस शरीर के) स्वामी नहीं हैं।** इसलिए शरीर के साथ आयुष्य, आहार ऐसा सम्बन्ध नहीं है। **उस शरीर के स्वामी के मरने–जीने के साथ उन समस्त जीवों के मरने–जीने का कोई सम्बन्ध नहीं है।** दोनों स्वतन्त्र हैं, ऐसा कहना है। सप्रतिष्ठित में एक साधारण जीव हो, उसके आधार से वह मरे–जीवे और इस शरीर का जीव मरे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों स्वतन्त्र हैं,

ऐसा कहना है। **बस यही दोनों में भेद है। इसलिए गृहस्थ श्रावक को साधारण वनस्पति का सर्वथा ही त्याग करना चाहिए...** आलू, शकरकन्द, लहसुन, प्याज यह सब छोड़ना चाहिए। क्या कहलाता है वह ? शूरणकन्द। समझ में आया ? गीली हल्दी, अदरक, गीली अदरक होती है न ? वह सब अनन्त काय है। गाजर, शक्करिया। उस गाजर में भी जहाँ रग है वहाँ वह, परन्तु रगरहित अकेला भाग है, वह सब अनन्त काय है। अनन्त काय का अकेला रसकन्द है।

और सप्रतिष्ठित प्रत्येक का भी त्याग करना चाहिए... जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रित दूसरे अनन्त रहे होते हैं, उसका भी त्याग करना चाहिए। **क्योंकि एक साधारण वनस्पति के एक शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। इसलिए जब हम एक आलू खाते हैं, तब अनन्तानन्त जीवों का घात करते हैं।** कहो, एक आलू का टुकड़ा खाये, लहसुन का टुकड़ा खाये तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्तानन्त जीव मरते हैं।

मुमुक्षु : दूसरे पकाकर दें और खाये तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पकाकर खाता है परन्तु पकाया किसके लिये है ? भाई ! अब साधु की बात नहीं, लो। बहुत साधु ऐसा कहते हैं कि किसी के लिये पकाया हो, उसमें हम तो निर्दोष हैं, इसलिए हमें चलता है। यह तेरापंथी है और वह प्याज खाता है। प्याज के डली ले आवे। किसी ने बनाया है न, हम तो निर्दोष है। शहद खावे। महापाप है, महापाप। शहद की एक बूँद में महापाप। औषधि में भी शहद का अनुपातरूप से भी नहीं लेना चाहिए। समझ में आया ?

अब यहाँ एक साधारण वनस्पति का विचार किया जाता है। जैसे एक आलू लो, इस आलू के जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुने शरीर हैं,... ऐसा लगे... समझे न ? जैसे जितने आकाश प्रदेश हैं, उसमें असंख्यातगुने शरीर हैं। जितने आकाश के प्रदेश की संख्या, उसकी अपेक्षा असंख्यगुने निगोद के शरीर हैं। इतनी एक टुकड़े में असंख्यात आकाश के प्रदेश हैं, उस आकाश के प्रदेश से असंख्यगुने उसमें शरीर हैं। बहुत हो गये, हों ! असंख्य चौबीसी के समय जितने तो उसमें आकाश के प्रदेश जितने। उससे असंख्यगुने निगोद के शरीर हैं। कितना सूक्ष्म शरीर ! ओहो.. ! समझ में आया ?

उन सर्व शरीरों के पिण्डों को 'स्कन्ध' कहते हैं,... उन सब शरीर के पिण्ड

को स्कन्ध कहते हैं। अब स्कन्ध लिया। अब उसके सब भाग करते हैं। **(जैसे अपना एक शरीर है)। और उस एक स्कन्ध में असंख्यात लोक-प्रमाण 'अण्डर' हैं,...** अण्डर उसका नाम देते हैं। बहुत भाग। **(जैसे अपने शरीर में हाथ, पैर आदि उपाँग हैं)** ऐसे। **एक अण्डर में असंख्यात लोकप्रमाण 'पुलवी' हैं, (जैसे अपने हाथ में उँगलियां हैं)। और एक पुलवी में असंख्यात लोकप्रमाण 'आवास' हैं...** स्थान हैं। **(जैसे एक उँगली में तीन पोरे होते हैं) और एक आवास में असंख्यात लोक-प्रमाण निगोद 'शरीर' हैं (जैसे एक पोरे में अनेक रेखायें हैं) और एक निगोद शरीर में सिद्ध-राशि से अर्थात् अनन्त मुक्तात्माओं से-अनन्तगुने जीव हैं...** बड़ी राशि। कहो, समझ में आया?

(जैसे एक उँगली की रेखा में असंख्यात प्रदेश हैं) इस प्रकार एक... अनन्त जीव एक इतने में अनन्त... अनन्त... अनन्त जीवों का ढ़ेर पड़ा है। आलू, शकरकन्द, लहसुन, प्याज। समझ में आया? यह मूली। मूली होती है न? मूली का कांद। उसके बीच की वह क्या कहलाती है? डण्डी। बीच की डण्डी होती है और पत्ते के अलावा कोमल। ऐसे टुकड़े ऐसे करो तो समान रीति से टूटते हैं। समझ में आया या नहीं?

मुमुक्षु : कांद अलग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कांद-कांद। क्या अलग? इसे खबर नहीं। यह मूली होती है न मूली?

मुमुक्षु : मूली के नीचे... भाग है वह।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ठीक। वह तो अनन्त काय है परन्तु उसके बीच में हरे-हरे कोमल पत्ते के अतिरिक्त डण्डी जिसे कहते हैं। खबर नहीं? यहाँ तो हमने तो पहले देखी थी।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : गांजा-बांजा नहीं। उस मूली का बीच का भाग निकले, बहुत कोमल निकले। पत्ते आसपास हों। बीच का भाग निकले वह हरा, कोमल ऐसी समान डण्डी होती है। यह तो सब खबर है न, इतनी खबर नहीं? हमने उस दिन का जाना है। अभी ४५ वर्ष से तो हाथ में लिया ही नहीं कुछ।

मुमुक्षु : कोंपल को।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोंपल नहीं। नहीं... नहीं... कुछ समझे नहीं। वह तो पत्ते। वह बीच में से बहुत लम्बी निकलती है वह।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह... बोलते हों। परन्तु वह अनन्त काय है। आहा..हा..! पत्ते नहीं। पत्ते में प्रत्येक है। पत्ते हैं वे तो प्रत्येक हैं, परन्तु बीच में एक हरी डण्डी निकलती है। इतनी खबर नहीं? इन सबको क्या हुआ है? बीच में डण्डी होती है, यह सुना नहीं? कान्दा होता है वह तो अनन्त काय है। कान्दा में भी कितने ही प्रत्येक होते हैं। रग होती है न कान्दा में? कान्दा में रग होती है। यह रग है, वह प्रत्येक है, परन्तु अन्दर दूसरा है, वह अनन्त काय है, परन्तु उसके पत्ते वे प्रत्येक हैं। पहले बहुत बारीक होते हैं परन्तु बीच में अकेली हरी डण्डी हो, उसमें पत्ते न हो। हरी डण्डी कठिन (होती है)। समझ में आया? यह तो पहले तब ५५-५६-५७-६० वर्ष पहले। फिर खाता था कौन? कन्दमूल खाते नहीं थे। समझ में आया? फिर कन्दमूल-बन्दमूल खाया नहीं। कन्दमूल नहीं, अचार नहीं, रात्रि भोजन नहीं। तीनों में डण्डी होती है, वह पहले देखी है न? पहले उस समय खायी है। मूली के साथ मीठी लगती है। तोड़े तो समान टुकड़े हो जाते हैं। समझ में आया? उसमें अनन्त जीव हैं। खबर नहीं होती उसमें भान बिना के...। हो गया। क्या इसमें अनन्त कहाँ हैं और कैसे हैं, उसकी खबर नहीं होती, उसे हिंसा की खबर नहीं होती, श्रद्धा की खबर नहीं होती कि ये अनन्त जीव हैं। इतना आत्मा में ज्ञान करने की ताकत है। ऐसे अनन्त ज्ञान का धनी यह आत्मा है। ऐसा है यहाँ। समझ में आया? जैन को तो पहले से ये खबर होती है।

मुमुक्षु : पुराने समय में।

पूज्य गुरुदेवश्री : लो ठीक! ऐई! ऐसी तो भाई! हमें पहले से छोटी उम्र में खबर है। पाठशाला जाते थे, तब से खबर थी। दस-बारह-पन्द्रह वर्ष से। ऐई! समझ में आया? कि यह अनन्त काय कहलाता है, डण्डी ऐसी कहलाती है, अमुक यह कहलाता है, अमुक यह कहलाता है।

(जैसे एक उँगली की रेखा में असंख्यात प्रदेश हैं) इस प्रकार एक आलू में अथवा एक आलू के टुकड़े में... राई जितने में **अनन्तानन्त जीव रहते हैं। अत: ऐसी वनस्पतियों का शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिए।** कहो, समझ में आया? यह अनन्त जीव हैं न! तो उसमें फिर शरीर ही कौन जाने ऐसे बँधे हैं। मिठास कुछ उसके जीव की नहीं। उसके शरीर का दल ही ऐसा है, मीठा लगता है सबको। आलू का, अमुक का, अमुक का, शकरकन्द का, लहसुन, प्याज, लो न! ऐसे शरीर का पिण्ड ही ऐसे बँधे हैं। उनके रजकण की ऐसी पर्याय है। लोग ऐसा कहते हैं कि बहुत जीव, उनकी बहुत मिठास। जीव की मिठास कहाँ है? शरीर तो वे बहुत जीव हैं, उनके शरीर का बन्धारण ही ऐसा है। आहा..हा..! समझ में आया?

जिसे आत्मा का जीवन सुधारना है, ऐसा कहते हैं। उसे आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञायकमूर्ति है, ऐसा दृष्टि में आने पर भी, आसक्ति का त्याग न हो, तब तक उसे जीवन का सुधार–स्थिरता नहीं होती। आहा..हा..! समझ में आया? लो, यह बात १६२ में की।

गाथा - १६३

आगे विशेषरूप से बताते हैं :-

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्।।१६३।।

है बहुत जीवों का जनम, स्थल अत: मक्खन तजो।
यों जो भि हैं आहार शुद्धि, के विरुद्ध सभी तजो।।१६३।।

अन्वयार्थ : (च) और (प्रभूतजीवानाम्) बहुत जीवों का (योनिस्थानं) उत्पत्तिस्थानरूप (नवनीतं) मक्खन अथवा लौनी (त्याज्यं) त्याग करने योग्य है। (वा) अथवा (पिण्डशुद्धौ) आहार की शुद्धि में (यत्किचित्) जो किञ्चित् भी (विरुद्धं) विरुद्ध (अभिधीयते) कहा गया है (तत्) वह (अपि) भी त्याग करने योग्य है।

टीका : 'च प्रभूत जीवानां योनिस्थानं नवनीतं त्याज्यम् वा पिण्डशुद्धौ यत्किंचिते

विरुद्धं अभिधीयते तत् अपि त्याज्यं'। - तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान (दही में से निकली हुई-अग्नि पर बिना तपाई हुई-लौनी) जो मक्खन-ताजा मक्खन भी-त्याग करने योग्य है और आहारशुद्धि में जो कुछ भी निषिद्ध है, वह सभी छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ : आचारशास्त्र में जो पदार्थ अभक्ष्य और निषिद्ध बताये हैं, उन सबका त्याग करना चाहिए। जैसे कि चमड़े में रखा हुआ अथवा चमड़े का स्पर्श किया हुआ जल, तेल, घी, हींग तथा नल का पानी इत्यादि सभी अशुद्ध है अत: नहीं खाना चाहिए। एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनिट से अधिक समय का रखा हुआ कच्चा दूध, एक दिन उपरान्त का दही, बाजार का आटा, अनजाना हुआ फल, बैंगन, सड़ा हुआ अनाज, बहुबीजवाली वस्तु-नहीं खाना। मर्यादा उपरान्त के समय का आटा खाना नहीं चाहिए। (अचार, मुरब्बा, घुना हुआ अन्न, दहीबड़ा, अत्यन्त तुच्छफल, इत्यादि जो भी वस्तुएँ शास्त्र में निषिद्ध हैं, उनका त्याग करना चाहिए।) बत्तीस अंगुल लम्बा, चौबीस अंगुल चौड़ा मोटा स्वच्छ वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके पानी छानना चाहिए और वही छना हुआ जल पीने तथा अन्य काम में प्रयोग करना चाहिए। उस छाने हुए कच्चे पानी की मर्यादा ४८ मिनट की है। छाने हुए पानी में यदि लौंग, इलायची, गोल मिरच इत्यादि कूटकर डाल दी जाय और वह इतनी मात्रा में डाली जाय कि पानी का रंग और स्वाद बदल जाय तो उस जल की मर्यादा दो पहर अर्थात् छह घण्टे की है और जिस पानी को इतना उबाला जाय कि उसमें उछाला आने लगे उस औटाये हुए पानी की मर्यादा २४ घण्टे की है, उसके पश्चात् वह भी किसी काम में नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार पानी को उपयोग में लेना चाहिए तथा पानी का गालन भी, जिस कुएँ आदि से पानी लाया गया हो, उसी कुएँ आदि में डालना चाहिए-अन्य में नहीं। (आटा की मर्यादा शीतऋतु में सात दिन, ग्रीष्म में पाँच दिन तथा बरसात में तीन दिन की है तत्पश्चात् ग्रहण नहीं करना।) इस तरह श्रावक को अपनी भोग-उपभोग की सामग्री में विवेक रखकर त्याग और ग्रहण करना चाहिए।

गाथा १६३ पर प्रवचन

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्।।१६३।।

और बहुत जीवों का उत्पत्तिस्थानरूप नवनीत अर्थात् मक्खन त्याग करने योग्य है। ताजा मक्खन भी बहुत ऐसी गृद्धि उपजावे ऐसा होता है। माँस जैसा दिखाव लगे न, यहाँ तो समुच्चय मक्खन का त्याग ही करना। **अथवा आहार की शुद्धि में...** वह मक्खन खाना नहीं। यहाँ तो आठ–आठ दिन के मक्खन का घी करते हैं। ऐई... ! वासुदेवजी ! तुम्हारे भैंसें थी, तो क्या होता होगा ? यह नहीं बोले। ये तो पहले भैंसे नहीं थी ? ये रखते न, पहले बहुत पाप किये हैं, इसने, हों ! इसे कहाँ सुनायी देता है ? इसे यह कुछ खबर भी नहीं होती। श्रद्धा भी नहीं होती। ये भैंसें और गोबर तो बहुत रखते। बाद में उसका मक्खन (करे)। एक–दो घड़ी बाद मक्खन में बहुत अनन्त जीव हों। सम्मूर्च्छन, हों ! निगोद के। दो दिन, चार दिन का एकत्रित किया हुआ घी अकेला अभक्ष्य है।

मुमुक्षु : यह तो सोमवार को ही घी करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आठ दिन का। सोमवार को घी करे। हीराभाई ! सुना है ? क्या कहा यह ? तुम्हारे इस वासुदेव को कहा कि तुम भैंसें रखते थे न ? भैंसें–भैंसें, तब मक्खन–बक्खन निकालते थे न घी ? कितने दिन में निकालते थे ?

मुमुक्षु : निकालकर तुरन्त कर डालते, रखते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहते हैं, मक्खन रखकर जितने जीव हों, उसमें कितने ही रेबारी और ग्वाले तो आठ दिन में करते हैं। इतनी मेहनत कौन करे ? एक–एक भैंस का थोड़ा–थोड़ा प्रतिदिन का। अग्नि–कण्डा जलाना। एकसाथ में अग्नि और सब हो जाये। ऐई ! महिलाओं को बहुत लोभ होता है, वापस।

यहाँ कहते हैं **आहार की शुद्धि में जो किञ्चित् भी विरुद्ध कहा गया है, वह भी त्याग करने योग्य है।** यह सब अर्थ में कहेंगे, हों ! **तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान जो मक्खन–ताजा मक्खन भी–त्याग करने योग्य है और आहारशुद्धि में जो कुछ भी निषिद्ध है, वह सभी छोड़ देना चाहिए।** इसका स्पष्टीकरण देते हैं, हों ! **आचारशास्त्र में जो पदार्थ अभक्ष्य और निषिद्ध बताये हैं, उन सबका त्याग करना चाहिए। जैसे कि चमड़े में रखा हुआ अथवा चमड़े का स्पर्श किया हुआ जल,...** लो ! यह कुएँ में से कोश द्वारा निकालते हैं न ? चमड़े का कोश। चमड़े का कोश और डोल,

चमड़े का डोल होता है। बोख समझते हो? डोल। चमड़े का डोल, चमड़े का क्या कहलाता है वह बड़ा? कोश। वह पानी नहीं पिया जाता, ऐसा कहते हैं। बहुत प्यास लगी हो और तुरन्त पानी निकले, लाओ पी लें, रास्ते में पीवे, हों! कुएँ में से पानी निकलता हो।

हम छोटी उम्र में जाते न! 'उमराला' से गारियाधार जाना हो तो फिर दस बजे भोजन करना हो, खाना साथ में लिया हो, कुँआ चलता हो, वहाँ जाकर पी लेते। भोजन करके वह पानी पीवे। वहाँ कहाँ पानी साथ में रखे? बाहर गाँव जाना हो। सबेरे से निकले। तब रेल नहीं थी। सबेरे निकले तो शाम को पहुँचे। हम तो बहुत बार उमराला से गारियाधार कहे है... बीच में आवे, वहाँ बाहर रहें। छाछ-बाछ की बहुत आवश्यकता पड़े तो बनिये के यहाँ जायें तो बेचारा छाछ दे। बाहर गाँव चले, एको (बैलगाड़ी) हो, एक बैल हो, दो व्यक्ति बैठे हों। एको उसे कहते हैं न! एको अर्थात् एक बैल। ऐसा। वह सबेरे चले तो शाम तक पहुँचे। अन्धेरे में, हों! बाहर गाँव चलना अर्थात्? रास्ते में खाना हो, तब उससे कहे - ध्यान रखना, जहाँ कुँआ आवे न, दस-साढ़े दस होने को आवे, वहाँ पड़ाव डाले, बैठे खाकर, ढेबरा (खाने की चीज़) हो, अचार हो; वह पानी पीवे। यह तो अपने यह सब किया है न? सब खबर है। उमराला में, हमारी बहिन यहाँ गारियाधार रहती थी और बहुत बार जाते थे तथा गारियाधार से उमराला आते थे तो भी बारह घण्टे। समझ में आया?

उस **चमड़े में रखा हुआ अथवा चमड़े का स्पर्श किया हुआ जल,...** पानी नहीं चाहिए। उसमें चमड़े के कन्दवर्णा जीव बहुत होते हैं और उसमें सब शामिल पानी में मर जाते हैं। कहो, यह तुम्हारे नल में डालते हैं न? चमड़े का वाइसर। बाइसर अर्थात् गुजराती क्या? पेकिंग। यह पेकिंग करने का वह। मजबूत रखने का ऐसा। ऐई! देवानुप्रिया! क्या नाम उसका? तुम्हें नहीं आता? वकील होशियार है न? मजबूत रखने का होवे न। वह (पानी) पीना नहीं चाहिए। देखो!

नल का पानी... देखो, आया इसमें। इसमें नल का पानी, उसमें बारीक-बारीक मछलियाँ, कहीं सड़ा करके कहीं से आती हों। और नल में चारों ओर काई हुई हो। काई में बारीक जीवांत हो गयी हो, उसमें एकदम पानी जीवांत लेकर आता है। ठेठ नल से देखो न! मुम्बई में तो कहाँ से पानी आता है, देखा? बहुत गाँव से आता है। इतनी बड़ी। लोग

खड़े रहें इतनी कोठी में से पानी निकलता है। मनुष्य पूरा खड़ा रहे, इतनी बड़ी कोठी में पानी चला आ रहा होता है।

मुमुक्षु : इसके बिना पानी पूरा नहीं पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए पहले तो साधु मुम्बई जाते ही नहीं। समझ में आया? सब भ्रष्टतावाला। अच्छा श्रावक भी मुम्बई नहीं जाता।

मुमुक्षु : अब मुम्बई बिना मजा नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा भ्रष्टतावाला। एकान्त नहीं मिले, निवृत्ति नहीं मिले, जंगल जाना हो तो पाखाने जाना पड़े। सब त्रस मरते हैं। कहो, रतिभाई! सुना? पेट भरने के लिये यह सब पाप करना पड़े। अकेला पाप। ऐसा पाप नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

चमड़े में रखा हुआ... क्या? वह पानी। **चमड़े का स्पर्श किया हुआ घी,...**

मुमुक्षु : अब तो प्लास्टिक में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्लास्टिक होगा। परन्तु पहले चमड़े में आता था न? कुडला, कुडला आता था। कुडले में घी आता था। पानी भी उसमें आता था। ये सब लोग पानी रखते हैं न? ये पानीवाले गारा करे। मसक सब चमड़े की होती है। उसमें पानी हो। यह पाडा पानी भरकर लाते हैं न? वह चमड़े का होता है। मारवाड़ में पानी दूर हो, तो यह पाडा भरकर आवे। पखाल। चमड़े की बड़ी पखाल होती है। दो–दो मण, चार–चार मण की... पाडा भरकर आवे। उसमें से बनिया पानी ले। वह नहीं लेना, अस्पर्श है। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : इसमें जीना या नहीं जीना?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव को जीव का आहार, जीव बिना जीवे नहीं, ऐसा श्लोक आता है। समझ में आया? जीव को जीव का आहार, जीव बिना जीव जीवे नहीं। फिर क्या? एक शब्द पड़ा रहा, तीसरा शब्द क्या? जीव को जीव का आहार, जीव बिना जीव नहीं। पले इतना पालना, यह चौथा पद है। तीसरा पद आता नहीं? यह तो पहले लोग बहुत बोलते थे।

मुमुक्षु : वे जीव चले गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : चले गये ? जीव को जीव का आहार, जीव बिना जीवे नहीं। यह तीसरा पद रह गया। ऐई ! भगवानभाई ! आता नहीं ? उत्तम का आचार, लो यह शब्द आया। पले उतना पालना। परन्तु तुमको तीसरा बोल याद आया नहीं न ? वह आता है, हों ! हमें तो पहले से बहुत बीता है, देखा और सुना है। 'जीव को जीव का आहार, जीव बिना जीव जीवे नहीं, उत्तम का आचार पले उतना पालना।' ऐसा आता है। यहाँ तो बहुत छोटी उम्र में बहुत-बहुत के संग भी बहुत किये हैं, हों ! पढ़ा भी बहुत, संग भी किया। बाबा भी देखे, बहुत देखा।

कहते हैं कि ऐसे चमड़े में रखा हुआ घी या चमड़े के स्पर्शवाला घी। चमड़े में रखा हुआ तेल, कुडले में या उसे स्पर्श किया हुआ तेल। **चमड़े में रखा हुआ हींग इत्यादि सभी अशुद्ध है...** कहो, समझ में आया ? भाई ! इसे यह जानना तो चाहिए न ? हिंसा कहाँ होती है ? इसे हिंसा का त्याग, राग-भाग। राग के त्याग में इस हिंसा का त्याग कहने में आता है। उसे जानना तो चाहिए न ! जीव के स्थान... नहीं आता ? नियमसार में आता है। मुनियों को जीव के स्थान, कुल, योनि जो है, उसे जानना चाहिए। कहाँ-कहाँ जीव उत्पन्न होते हैं ? कितने होते हैं ? कैसे होते हैं ? यह जानना चाहिए।

मुमुक्षु : अहिंसा व्रत में पहले...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आवे ही न ! नियमसार में आता है। आवे ही न परन्तु... यथास्थान यह बात है। किस जीव की कहाँ उत्पत्तिस्थान ? कितने जीव कहाँ रहे ? त्रस किस प्रकार कौने में रहें, ऐसे प्रकार इसे पहले जानना चाहिए। समझ में आया ?

अतः नहीं खाना चाहिए। (एक मुहूर्त्त अर्थात्) ४८ मिनिट से अधिक समय का रखा हुआ कच्चा दूध,... दूध, दूध। ४८ मिनिट से अधिक रखा हुआ कच्चा दूध अभक्ष्य हो जाता है। सब बहुत कठिन पड़ता है यह। **एक दिन उपरान्त का दही,...** यह भी सब अभक्ष्य है। समझ में आया ? वह नहीं खाना। **बाजार का आटा,...** बाजार के आटे का कहाँ मेल होता है ? दस दिन का, पन्द्रह दिन का, बीस दिन का। यह चने की बड़ी थैलियाँ आती हैं न ? हलवाई के यहाँ चने के आटे की थैलियाँ दो महीने की हों, तीन महीने की हों, उसमें लटें पड़ी हुई हों। उस आटे के भुजिया बनाये हों। वह भुजिया बनिया ले आवे। फुरसत में बैठा हो न तब थोड़ा आध सेर, पाव सेर, फूलबड़ी ले लाओ, जाओ।

समझ में आया ? वह मैदा, मैदा आती है न ? पहले बनिया मैदा नहीं लेते थे। हलवाई की मैदा नहीं खाते थे। ऐसी मैदा बारीक हो और ऐसी जीवांत हो।

मुमुक्षु : घर में बनावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। हलवाई की दुकान से मैदा लावे ही नहीं। मैदा दो महीने, छह महीने की पड़ी हो। छह–छह महीने तक बोरियाँ भरी हों। मील की मैदा, छह–छह महीने तक भरी हुई हो। अकेली लटें। समझ में आया ? स्व–पर विवेक हुआ है, उसे पर में कहाँ–कहाँ हिंसा है, उसका ज्ञान करके उससे बने उतनी यथाशक्ति छोड़ना चाहिए। समझ में आया ?

अनजाना हुआ फल,... यह अनजाना फल हो, वह पता न हो कैसा फल है, लो ! समझ में आया ? यह क्या कहा ? यह आठ फल आते हैं न ? ऊम्बर। ऊम्बर के फल एक जगह पड़े थे। अपने 'तलाश्री' गये थे न तब ? (संवत्) २०१३ के वर्ष। मार्गशीर्ष कृष्ण ८, कुन्दकुन्दाचार्य का दिन था न तो बाहर गये थे। वहाँ बाहर गये थे, वहाँ ऐसे फल पड़े हुए। मैंने कहा यह क्या होगा ? हमने कभी देखे हुए नहीं। यह फल कैसे यहाँ पड़े हुए ? फल बहुत पड़े हुए। ऊपर वृक्ष। दिशा को जाने का जंगल था वहाँ (थे)। हाथ में ऐसे लिया वहाँ अर र र ! अकेली जीवांत होगी अन्दर। अनजाने फल। इतनी जीवांत। (तलाश्री) नहीं ऐसा। बाद में दिशा में जाया जाता होगा। तब दो तीन बार जाना पड़ा था। !

अनजाना हुआ फल, बैंगन,... बैंगन–बैंगन। बैंगन की टोपी में ऊपर बहुत जीवांत होती है। बैंगन, ऊपर टोपी होती है न ? क्या कहलाती है वह ? डीटा (टोपा) होता है न ? डीटा को टोपी होती है, टोपी के अन्दर जीवांत बहुत होती है। बारीक–बारीक कंथवा। त्रस मरे त्रस और बैंगन में तो अन्दर भी बहुत जीवांत होती है। इन स्थानकवासी में बैंगन की सब्जी की बहुत छूट। हम पहले–पहले चैत्र में बिछीया गये। कण्ठ तो बहुत अच्छा था, फिर वहाँ से बिगड़ गया। चैत्र महीने में बिछीया में गये थे। गर्म–गर्म रोटियाँ, गुड़ और बैंगन की सब्जी। तथा चैत्र महीना (संवत्) १९७५ का वर्ष था, लो ! उसमें फिर मुझे व्याख्यान पढ़ने का (था)। कण्ठ में फेरफार हो गया। गर्मी का दिन, बाजरे की रोटियाँ आवे, बैंगन की सब्जी लेते और गुड़। प्रेमचन्दभाई ! यह तुम्हारे गाँव का है, यह तुम्हें भी खबर नहीं होगी। पिचहत्तर के साल। कहो समझ में आया ?

कहते हैं ऐसे **बैंगन, सड़ा हुआ अनाज,...** सड़ा हुआ अनाज। गेहूँ, बाजरा जिसमें लटें, जीवांत आदि पड़ी हुई हो। यह मूँग-मूँग। मूँग में दाने-दाने में अन्दर घुन पड़ा हुआ हो। मूँग के बारीक घुन। मग समझते हो? मूँग। छुए तो उसमें घुन पाँच सेर, दस सेर... होवे, महिलाओं का लोभ मिटे नहीं कि लाओ थोड़ा-थोड़ा उड़ाकर साफ करके लाओ खाते हैं। उसमें बहुत घुन पड़े होते हैं। मूँग की सब्जी आती है, हों! उसके अन्दर घुन दिखता है। शरीर हल्का होता है न इसलिए सब्जी हो उसमें से टूटे। सब्जी के ऊपर मरे हुए घुन दिखते हैं। समझ में आया? देखो! ऐसी बात तो किसी समय यहाँ निकले, तब निकले। यह कहीं यों ही अनजानी निकलती है? द्रव्यानुयोग चलता हो तो उसमें यह बात कहाँ निकले? ऐई! समझ में आया? क्या कहा?

बहुबीजवाली वस्तु नहीं खाना। बहुबीज... बहुबीज, अकेला **मर्यादा उपरान्त के समय का आटा खाना नहीं चाहिए।** देखो! जिसमें त्रस का भोजन आवे तो वह तो माँस कहलाता है। उसका तो इसे विवेक रखना चाहिए। फिर **बत्तीस अंगुल लम्बा, चौबीस अंगुल चौड़ा मोटा स्वच्छ वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके पानी छानकर जल पीना चाहिए।** ऐसा कहते हैं। इतने विशेषण हैं कि एक तो दोहरा किया हुआ, दूसरा स्वच्छ वस्त्र, वापिस मैला घानी जैसा हो, वह तो उल्टा उसमें जीवांत हों। तीसरा, मोटा वस्त्र। फिर बहुत पतला हो और दोहरा रखे तो वह नहीं। **बत्तीस अंगुल लम्बा, चौबीस अंगुल चौड़ा मोटा स्वच्छ वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके पानी छानना चाहिए और वही छना हुआ जल पीना चाहिए।**

भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। जैसे बने वैसे पर की आसक्ति छूटे, हिंसा से छूटने की व्याख्या है। द्रव्यहिंसा होने से उसे यहाँ राग होता है न इतना? भावहिंसा। भावहिंसा छोड़ने को इसे द्रव्यहिंसा छोड़नी चाहिए। वह मूल रह गया और ऊपर की बात रह गयी अकेली फिर। परन्तु वापिस इस मूल दृष्टिसहित भी ये भाव श्रावक को आये बिना नहीं रहते। समझ में आया? यह तो वीतराग का मार्ग केवलज्ञानी परमात्मा ने कहा हुआ तत्त्व का मार्ग है। इसे स्व-पर के विवेक काल में भी ऐसी हिंसा-अहिंसा का विवेक होना चाहिए। समझ में आया?

उस छाने हुए कच्चे पानी की मर्यादा ४८ मिनट की है। देखा! कच्चा पानी

भी ४८ मिनिट, हों। वापिस ऐसा। **छाने हुए पानी में यदि लौंग, इलायची, गोल मिरच इत्यादि कूटकर डाल दी जाय और वह इतनी मात्रा में डाली जाय...** चूरे का **कि पानी का रंग और स्वाद बदल जाय तो उस जल की मर्यादा दो पहर अर्थात् छह घण्टे की है और जिस पानी को इतना उबाला जाय...** पानी का उबाल–उभरा अपने कहते हैं। पानी का उभरा कहते हैं न? पानी का आया। ऊफान–ऊफान, नीचे अग्नि होती है और वहाँ से ऐसा लग जाये कि पानी ऐसे ऊपर उछले। **उसमें उछाला आने लगे उस औटाये हुए पानी की मर्यादा २४ घण्टे की है...** गर्म पानी चौबीस घण्टे के बाद नहीं पीना। देखो नीचे है। **उबाले हुए पानी की मर्यादा पूरी होने के पश्चात् वह पानी किसी काम में नहीं लेना, ऐसी आज्ञा है।** समझ में आया? आवे तो उसमें सब आवे। ऐसा कुछ अकेला दर्शनशुद्धि। परन्तु दर्शनशुद्धि, उसे स्थिरता के अंश, आसक्ति का त्याग, राग का त्याग, उसके निमित्त कैसे – ऐसी बात आवे न? कहो, समझ में आया? बिना (कारण) अनन्त–अनन्त जीव के घात करे। समझ में आया? भाव में दरकार न हो, ऐसा कहते हैं भाई! जीवन का सुधार, बापू! राग की कमी और ऐसे बिना प्रयोजन अनन्त जीव आदि मर जायें, उसमें तुझे कुछ लाभ नहीं है और दूसरे प्रकार से भोजन चल सकता है तो ऐसे अनन्त जीवों को मारने का भाव होना नहीं चाहिए, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार पानी को उपयोग में लेना चाहिए तथा पानी का गालन भी, जिस कुएँ आदि से पानी लाया गया हो, उसी कुएँ आदि में डालना चाहिए... एक कुएँ के पानी की जीवाणी दूसरे कुएँ में डाले तो जीव मर जाये।

मुमुक्षु : टंकी में से पानी निकाले, उसमें जीवाणी कहाँ रखे?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी लोग कुएँ का पानी पीते हैं। टंकी का नहीं पीते। यह बाहर आचार के कितने ही हैं, वे कुएँ का पानी पीते हैं। भाई! यह तो ऐसा है कि जिसे जीवन में... वह मुम्बई और सब पाप के घर, उपाधि, मोहपुरी है। श्रीमद् ने कहा है, मोहमयी नगरी। आहा..हा..! यह सुमनभाई को घूमते–घूमते वहाँ आया वापस, पहले वहाँ था, नहीं? (संवत्) २०१७ में हम वहाँ आये थे, तब तुम्हारे घर उतरे थे न! फिर चले गये। मद्रास, कलकत्ता गये। वापिस वहाँ आये। परन्तु निकट तो सही। क्या कहलाता है? अमेरिका से निकट। कहो, समझ में आया?

इस तरह श्रावक को अपनी भोग-उपभोग की सामग्री में विवेक रखकर त्याग और ग्रहण करना चाहिए। ऐसा। यह तो त्याग-ग्रहण की बात है न? विकल्प की बात है न? समझ में आया? दृष्टि में तो त्याग-ग्रहण है नहीं परन्तु जब तक वस्तु स्थिर नहीं हुई, तब तक चारित्र की अपेक्षा ग्रहण-त्याग का विकल्प वहाँ होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तो आता है न? उसमें भी था न? टोडरमलजी में - चरणानुयोग में नहीं आता? चरणानुयोग में नहीं पीछे, आठवाँ न? क्या कहलाता है वह? आठवाँ (अधिकार, मोक्षमार्गप्रकाशक), उसमें सब आया है। वहाँ कहते हैं, आठवाँ न?

मुमुक्षु : इस चरणानुयोग में पहली दो लाईन...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इस चरणानुयोग की पहली दो लाईन है न, देखो! **चरणानुयोग में जिस प्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो, वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है, वही है; उसके साधनादिक उपचार से धर्म हैं। इसलिए व्यवहारनय की प्रधानता से नाना प्रकार उपचार-धर्म के भेदादिकों का इसमें निरूपण किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्म में तो कुछ ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है,...** इस पर लेना है यहाँ तो। क्योंकि निश्चयधर्म में ज्ञातादृष्टा और जितना स्थिर हुआ, उसमें तो ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है। **और इसके निचली अवस्था में विकल्प छूटता नहीं है; इसलिए इस जीव को धर्मविरोधी कार्यों को छुड़ाने का और धर्मसाधनादि कार्यों को ग्रहण कराने का उपदेश इसमें है।** यह उपदेश दो प्रकार से है। एक व्यवहारसहित उपदेश, अकेला व्यवहार। ऐसी यहाँ बात है। यह तो जरा ग्रहण-त्याग का था, इसलिए इस पर मस्तिष्क चल गया। ग्रहण-त्याग समझे न?

गाथा - १६४

विशेष कहते हैं:-

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया।।१६४।।

धीमान निज शक्ति विचारें, उचित भोग भि छोड़ दें।
यदि नहीं छोड़ सकें सभी तो, यथोचित सीमा करें।।१६४।।

अन्वयार्थ : (धीमता) बुद्धिमान पुरुष (निजशक्ति) अपनी शक्ति (अपेक्ष्य) देखकर (अविरुद्धाः) अविरुद्ध (भोगाः) भोग (अपि) भी (त्याज्याः) छोड़ देवे और जो (अत्याज्येषु) उचित भोग–उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें (अपि) भी (एकदिवानिशोपभोग्यतया) एक दिवस–रात की उपभोग्यता से (सीमा) मर्यादा (कार्या) करनी चाहिए।

टीका : 'धीमता निजशक्तिं अपेक्ष्य अविरुद्धाः अपि भोगाः त्याज्याः तथा अत्याज्येषु अपि एक दिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्या।' – अर्थ :– बुद्धिमान श्रावक अपनी शक्ति का विचार करके, श्रावक के लिये खाने योग्य पदार्थ है, उसे भी जितना बन सके उतना छोड़ देवे और जो सर्वथा न छोड़ सके तो उसमें भी एक दिन, एक रात, एक सप्ताह, एक पक्ष, आदि की मर्यादा करके क्रम–क्रम से छोड़े (अर्थात् यह भोग मुझे इतने ही काल में भोगना है, अन्य काल में मेरे त्याग है, ऐसी मर्यादा कर लेवे)।।१६४।।

गाथा १६४ पर प्रवचन

विशेष कहते हैं:– १६४

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया।।१६४।।

देखो निजशक्ति... निजशक्ति सब जगह रखते हैं, हों! **बुद्धिमान पुरुष 'धीमता'** ज्ञानी को, धर्मात्मा को। **अपनी शक्ति देखकर...** शक्ति देखकर। हठ करे, ऐसा नहीं। शक्ति का प्रमाण देखकर। **अविरुद्ध भोग...** जो अपने को त्याग नहीं है, ऐसा **अविरुद्ध भोग भी छोड़ देवे...** उसमें भी कमी करना चाहिए। पहले सब तो विरुद्धवाले हैं। वे सब पाप और अमुक कहे न? परन्तु जो इसे योग्य है, आहार ले सकता है, ऐसा अविरुद्ध भोग की भी कमी करनी चाहिए। भोग–उपभोग पदार्थों की कमी करना चाहिए। समझ में आया?

और जो उचित भोग–उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें भी एक दिवस–रात की उपभोग्यता से मर्यादा करनी चाहिए। इसे मर्यादा करनी चाहिए कि भाई! एक दिन मुझे अमुक ही (लेना), विशेष नहीं। एक दिन यह विशेष नहीं। ऐसा करना। **'धीमता निजशक्तिं अपेक्ष्य अविरुद्धा: अपि भोगा: त्याज्या: तथा अत्याज्येषु अपि एक दिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्या।'**

अर्थ :– बुद्धिमान श्रावक अपनी शक्ति का विचार करके, (श्रावक के लिये) खाने योग्य पदार्थ है, उसे भी... पहले चमड़े के स्पर्शित घी, दूध, पानी आदि तो खानेयोग्य नहीं कहे, परन्तु खानेयोग्य जो पदार्थ हैं, वे भी छोड़े। **सर्वथा न छोड़ सके तो उसमें भी एक दिन, एक रात, एक सप्ताह, एक पक्ष, आदि की मर्यादा करके क्रम–क्रम से छोड़े।** कहो, समझ में आया?

गाथा – १६५

अब विशेष कहते हैं:–

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या।।१६५।।

उन पूर्वकृत सीमा में अपनी, शक्ति देख प्रति दिवस।
कर तात्कालिक और भी, सीमा में सीमा यथोचित।।१६५।।

अन्वयार्थ : (पूर्वकृतायां) पहले की हुई (सीमनि) मर्यादा में (पुन:) फिर से (अपि) भी (तात्कालिकी) उस समय की अर्थात् वर्तमान समय की (निजां) अपनी (शक्तिम्) शक्ति को (समीक्ष्य) विचार कर (प्रतिदिवसं) प्रत्येक दिन (अन्तरसीमा) मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा (कर्त्तव्या भवति) करना योग्य है।

टीका : 'पुनरपि पूर्वकृतायां सीमनि तात्कालिकीं निजां शक्तिम् समीक्ष्य प्रतिदिवसं अन्तर सीमा कर्त्तव्या भवति।'–अर्थ:– पहले जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि क्रम से त्याग किया था, उसमें भी अपनी वर्तमान शक्ति देखकर घड़ी, घण्टा, पहर इत्यादि की

थोड़ी–थोड़ी मर्यादा करके जितना त्याग बन सके, उतना त्याग करना। इस प्रकार अपने भोग–उपभोग की सामग्री के पदार्थों की संख्या तथा जितने काल की मर्यादा कम कर सके, उतनी अवश्य कम करना चाहिए। इसी में आत्मा का *कल्याण है।।१६५।।

गाथा १६५ पर प्रवचन

अब विशेष कहते हैं:–

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या।।१६५।।

देखो! **'कर्त्तव्या'** है न यहाँ तो? कर्तव्य है। शुभ अपेक्षा से तो व्यवहार कहकर कल्याण है, ऐसा लिखेंगे। **पहले की हुई मर्यादा में...** पहले मर्यादा की हो न? आजीवन की और इतनी चीज़ की। आजीवन की और इतनी चीज़ की। **फिर से भी उस समय की अर्थात् वर्तमान समय की अपनी शक्ति को विचार कर प्रत्येक दिन मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा करना योग्य है।** पन्द्रह द्रव्य रखे हों, अमुक–अमुक चीज़ चलेगी ऐसे, हों! उसमें भी हमेशा थोड़ी कमी करना चाहिए।

पहले जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि क्रम से त्याग किया था, उसमें भी अपनी वर्तमान शक्ति देखकर घड़ी,... एक घड़ी यह नहीं चलेगा। जाओ, एक घड़ी तक मुझे सब त्याग। ऐसा, **घण्टा, पहर इत्यादि की थोड़ी–थोड़ी मर्यादा करके जितना त्याग बन सके, उतना त्याग करना। इस प्रकार अपने भोग–उपभोग की सामग्री के पदार्थों की संख्या तथा जितने काल की मर्यादा...** दो। देखा न? पदार्थों की संख्या और **जितने काल की मर्यादा कम कर सके, उतनी अवश्य कम करना चाहिए। इसी में आत्मा का...** व्यवहार से भला कहने में आता है। **कल्याण...** ऐसा लिखा है न? नीचे स्पष्टीकरण करना पड़ा।

---

* यहाँ भूमिकानुसार ऐसा राग आता है, उसका ज्ञान कराने के लिये उपदेशवचन है। आत्मा का कल्याण तो अन्तरंग में निजकारणपरमात्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धि=वीतरागभाव है। वहाँ अशुभ से बचने के लिये जो शुभराग आता है, उसे उपचार से=व्यवहार से भला कहने की रीति है।

यहाँ भूमिकानुसार ऐसा राग आता है,... सम्यग्दृष्टि को राग तो होता है। **उसका ज्ञान कराने के लिये उपदेशवचन है। आत्मा का कल्याण तो अन्तरंग में निजकारणपरमात्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धि=वीतरागभाव है।** कल्याण तो आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्दकन्द के आश्रय से जितनी शुद्धि, उतना वीतरागभाव प्रगटे, उतना ही कल्याण है। निश्चय से तो यह ही कल्याण है, परन्तु व्यवहार में **वहाँ अशुभ से बचने के लिये जो शुभराग आता है, उसे उपचार से=व्यवहार से भला कहने की रीति है।** भला है न! व्यवहार से तो कहना पड़े।

चरणानुयोग में व्यवहार कर्तव्य है, व्यवहार करना चाहिए, ऐसा व्यवहार अच्छा है, यह व्यवहार भला है। ऐसा ही कहे न? समझ में आया? निश्चय दृष्टि में तो व्यवहार कर्तव्य ही नहीं, करनेयोग्य नहीं। आता है वह अलग बात है। गजब... समझ में आया? '**णियमेण कर्तव्यं**' आता है न? निश्चय से तो स्वरूप-भगवान आत्मा की दृष्टि-ज्ञान और एकाग्रता, वही निश्चय से करनेयोग्य कर्तव्य है, परन्तु व्यवहार से यह मर्यादा, चार व्रत में ऐसे भाव होते हैं। इसलिए इसे व्यवहार से कर्तव्य है, ऐसा कहने में आता है। व्यवहार और निश्चय के वाक्य तथा उसके अर्थ न समझे तो गड़बड़ करे। देखो! व्यवहार करनेयोग्य है और व्यवहार कल्याण का कारण है। अशुभ से बचने को वह आता है। अब दूसरे भी ऐसे ही सीखे हैं। उपदेश देने लगे हैं न! हम अशुभ से बचने की यह बात करते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दूसरे ऐसा कहते हैं। उसने ऐसा कहा था। अशुभ से बचने के (लिये कहते हैं)। पहले बेचारा अशुभ से तो बचे। परन्तु बात यह है कि वास्तविक दृष्टि बिना अशुभ से बचता भी नहीं यह। जहाँ अशुभ महामिथ्यात्व पड़ा है,... आहा..हा..! ऐसा मार्ग!

मुमुक्षु : अणुव्रत हैं, वे अणुबम से बचने का उपाय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अणुबम से बचने का उपाय है। यह कल भाषण किया होगा। ठीक है, संसार तो ऐसा ही चलेगा। लोगों को विस्मय हो कि इसने भारी काम किया है। परन्तु मिथ्यादृष्टि को अणुव्रत कैसे? जहाँ दृष्टि का भान नहीं, उसे अणुव्रत कैसे? वीतरागमार्ग में यह तो सम्यग्दर्शनसहित की बात चलती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : पाँचवें गुणस्थान की....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; पाँचवे की ओर स्वरूप की दृष्टि है तथा तदुपरान्त आंशिक स्थिरता भी हुई है। दूसरी कषाय का अभाव (हुआ है), उसकी भूमिका में ऐसा राग, उसमें उसकी तीव्रता घटाना और राग मन्द हो, उसकी यह बात चलती है।

मुमुक्षु : उसे आगे कैसे बढ़ना, इसकी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी बात है। है भाई! दुनिया तो अनेक बेरंगी दुनिया है। ऐसा ही संसार चलेगा।

गाथा - १६६

विशेष बताते हैं:-

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्।।१६६।।

यों हुआ सीमित भोग से, संतुष्ट भोग बहुत तजे।
यों बहुत हिंसा से रहित, उसके अहिंसा विशेष है।।१६६।।

अन्वयार्थ : (यः) जो गृहस्थ (इति) इस प्रकार (परिमितभोगैः) मर्यादारूप भोगों से (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट होकर (बहुतरान्) बहुत से (भोगान्) भोगों को (त्यजति) छोड़ देता है (तस्य) उसके (बहुतरहिंसाविरहात्) अधिक हिंसा के त्याग से (विशिष्टा अहिंसा) विशेष अहिंसाव्रत (स्यात्) होता है।

टीका : 'यः इति परिमितभौगैः सन्तुष्टः बहुतरान् भोगान् त्यजति तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्ट अहिंसा स्यात्।'–अर्थः– इस प्रकार जो श्रावक भोग–उपभोग के पदार्थों से सन्तुष्ट होता हुआ बहुत से भोगोपभोग के पदार्थों के छोड़ देता है उसके बहुत हिंसा न होने से विशेषरूप से अहिंसाव्रत होता है।

भावार्थ : जो श्रावक भोग–उपभोग के पदार्थों को मर्यादापूर्वक त्याग करता ही रहता है, उसके उतने ही अंशों में सन्तोष प्रगट होकर लोभादि कषाय के त्यागरूप

सम्यक् अहिंसा प्रगट होती है। उस भोग-उपभोग के निमित्त के अवलम्बन करने से हिंसारूप भाव होते थे, उनका त्याग होने से भावहिंसा नहीं हुई और पर जीवों की हिंसा न होने से द्रव्यहिंसा नहीं हुई तथा उतने ही अंशों में लोभ कषाय का त्याग हो जाने से भावहिंसा भी नहीं हुई। इसलिए (अकषाय-ज्ञातास्वरूप में सावधान ऐसे) त्यागी मनुष्य को अवश्य ही विशेष अहिंसा होती है। इस प्रकार भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे शिक्षाव्रत का वर्णन किया।।१६६।।

गाथा १६६ पर प्रवचन

विशेष बताते हैं:- १६६

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्।।१६६।।

लो! यहाँ उतारा है। **जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादारूप भोगों से...** जितनी मर्यादा की, थोड़े काल और इतना द्रव्य। **सन्तुष्ट होकर...** उसमें सन्तुष्ट हुआ, **बहुत से भोगों को छोड़ देता है...** भोगनेयोग्य भोगों को भी राग घटाकर छोड़ता है। **उसे अधिक हिंसा के त्याग से... 'बहुतरहिंसाविरहात्' अधिक हिंसा के त्याग से विशेष अहिंसाव्रत होता है।** लो! इसे राग की बहुत मन्दता होने पर बहुत अहिंसाव्रत व्यवहार से होता है और राग अत्यन्त घटकर जितनी स्थिरता हुई है, वह तो मूल अहिंसा है।

टीका - इस प्रकार जो श्रावक भोग-उपभोग के पदार्थों से... एक बार भोगने में आवे, वह भोग और बारम्बार भोगने में आवे, वह उपभोग। **सन्तुष्ट होता हुआ बहुत से भोगोपभोग के पदार्थों को छोड़ देता है...** एक बार भोगने में आये, बारम्बार भोगने में आये, (उन्हें) कम कर डालता है। आसक्ति घटाता है। वृत्ति के वेग को मन्द करता है। **उसके बहुत हिंसा न होने से...** बहुत हिंसा न होने के कारण **विशेषरूप से अहिंसाव्रत होता है।** समझ में आया?

भावार्थ - जो श्रावक भोग-उपभोग के पदार्थों को मर्यादापूर्वक त्याग करता ही रहता है... ओहो...! देखो न! देह छूटने के बाद तो पानी भी नहीं लिया

जायेगा। कोई लेगा नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : इच्छा हो तो भी नहीं लिया जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा हो तो भी नहीं लिया जायेगा, उल्टी होगी, नहीं डालोगे, उछाला मारेगा। नहीं सहन कर सकेगा। पानी भी सहन नहीं कर सके ऐसा अब रहा नहीं। अन्दर तृषा बहुत हो। आहा..हा..! समझ में आया? ऐसी स्थिति खड़ी हो, उससे पहले इसे आसक्ति घटाना चाहिए, ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं?

समाधिशतक में आता है न? अभ्यास करना चाहिए। पहले से इसे राग घटाना चाहिए। फिर प्रतिकूलता के समय में तेरी सहनशीलता बनी रहेगी। समाधिशतक में आता है। समझ में आया? जिसने सहनशीलता का अभ्यास नहीं किया, पर का अभाव करके कितना मैं रह सकता हूँ? तो वह जब प्रसंग आयेगा तब, दब जायेगा। जरा सा कम पड़ेगा... डॉक्टर इनकार करता है। क्या? अनाज नाड़ी को स्पर्श कराना नहीं अब। हाय... हाय...! ऐई! पोपटभाई! अनाज नाड़ी को स्पर्श कराना नहीं, ऐसा कहे, हों! अन्दर फेरफार है। पानी देना। मौसम्बी देना, अमुक देना। यह कहे हाय... हाय... हाय...! अब मुझे अनाज नहीं? हाँ, आजीवन नहीं। डॉक्टर कहे कि अब स्थिति ऐसी गम्भीर हो गयी है, इसे अनाज छुआना नहीं। आहा..हा..! ऐसी व्याधि होती है न कुछ? शरीर पीला हो जाये। क्या कहते हैं? पाण्डु, पाण्डु रोग। उसे पानी देना नहीं।

एक जवान व्यक्ति था। (संवत्) १९७६ के साल में वहाँ देखा था। 'गोपाणी' का दामाद था। जवान व्यक्ति था। पानी नहीं दिया। बहाना निकालकर, दिशा का बहाना निकाल कर पानी तो आवे या नहीं? तो पी लूँगा। पानी नहीं... पानी नहीं। तो कहे तुरन्त मर जायेगा। पानी दोगे तो तुरन्त मर जायेगा। जवान शरीर था। 'गोपाणी', शिवलालभाई के बड़े भाई थे। संवत् १९७६ के साल की बात है। पहले 'धांग्रधा' गये थे, फिर मर गया। यह कहे–डॉक्टर ने पानी से इनकार किया है। हाय..हाय..! पानी से इनकार किया। उसमें करना क्या? जवान शरीर, योद्धा जैसा। एकदम पीला हो गया। अन्त में मुझे जंगल जाना है, ऐसा करके थोड़ा पानी लाओ, पानी लाओ, ऐसा करके पीया तो मर गया। पानी पीकर मर गया। ए... सेठी! आहा..हा..! यदि पहले से प्रैक्टिस की हो तो ऐसे काल में उसे सहनशीलता हो। अब पानी बिना रह नहीं सका हो, अनाज बिना एक समय रह नहीं सका

हो, उसमें जब ऐसा योग बने तब... हो गया। अरे! हाय..हाय..! आक्रन्द.. आक्रन्द..। समझ में आया? पहले से राग की, आसक्ति की कमी करके अभ्यास करना चाहिए। सल्लेखना आयेगा, अब इसके बाद आयेगा। वह यही आता है न?

श्रावक भोग-उपभोग के पदार्थों को मर्यादापूर्वक त्याग करता ही रहता है उसके उतने ही अंशों में सन्तोष प्रगट होकर... देखो! सन्तोष। **अहिंसा...** (अन्दर) **प्रगट होती है, उन वस्तुओं के जीवों की हिंसा न होने से द्रव्यहिंसा नहीं हुई..** जितना अन्दर राग घटाया है, उतनी भावहिंसा घटी और बाहर भी उतनी द्रव्यहिंसा नहीं करता। **तथा उतने ही अंशों में लोभ कषाय का त्याग हो जाने से...** देखो! आसक्ति में से इतना लोभ घटा न? **भावहिंसा भी नहीं हुई।** अहिंसा प्रगट हुई, कहा। हिंसा नहीं होती।

इसलिए (अकषाय-ज्ञातास्वरूप में सावधान ऐसे)... समझ में आया? **(ज्ञातास्वरूप में सावधान ऐसे) त्यागी मनुष्य को अवश्य ही विशेष अहिंसा होती है।** अवश्य विशेष अहिंसा होती है। **इस प्रकार भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे शिक्षाव्रत का वर्णन किया।** पाँच अणुव्रत का, तीन गुणव्रत का तथा तीन शिक्षाव्रत का। ग्यारह का हुआ। अब अन्तिम रहा।

गाथा - १६७

अब चौथा वैयावृत्त (अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं:-

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः।।१६७।।

नित यथाजात दिगम्बरों को, गुणी दाता विधि से।
निज पर अनुग्रह हेतु, वस्तु विशेष अंश अवश्य दे।।१६७।।

अन्वयार्थ : (दातृगुणवता) दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा (*जातरूपाय-अतिथये) दिगम्बर मुनि को (स्वपरानुग्रहहेतोः) अपने और पर के अनुग्रह के लिये

* जातरूपा=जन्मप्रमाण (निर्दोष) जैसे रूप में था वैसा अर्थात् नग्न दिगम्बर, अथवा उत्तम गुणों सहित अतिथि। अतिथि=जिसके आगमन की तिथि का नियम न हो।

(द्रव्यविशेषस्य) विशेष द्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तु का (भाग:) भाग (विधिना) विधिपूर्वक (अवश्यम्) अवश्य ही (कर्त्तव्य:) करना चाहिए।

टीका : 'विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय अतिथये स्वपरानुग्रह–हेतो: अवश्यं भाग: कर्त्तव्य:।' –अर्थ:– नवधाभक्तिपूर्वक तथा दातार के सप्तगुणों से संयुक्त श्रावक है, उसको दान देने योग्य वस्तुओं का जो गुणवान पात्र है उनको अपने तथा पर के उपकार के लिये अवश्य दान करना चाहिए।

भावार्थ : श्रावक जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करते हैं, उन्हें अपने धन में से थोड़ा–बहुत धन चार प्रकार के संघ के दान निमित्त अवश्य निकालना चाहिए और उसे उसका विधिपूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा करने से उसके धन का सदुपयोग होगा, कर्मों की निर्जरा होगी और चतुर्विध संघ अपने तप की वृद्धि करेंगे।।१६७।।

गाथा १६७ पर प्रवचन

अब चौथा वैयावृत्त (अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं:– लो। सल्लेखना का बाद में आयेगा। वैयावृत्त कहो या अतिथिसंविभागव्रत कहो। ऐसा कहते हैं। अतिथि–जिसकी तिथि नहीं – ऐसे साधु को (दान) देने का भाव, वह बारहवाँ व्रत है। कहो, समझ में आया? हमेशा खाता है, धर्मी की भावना ऐसी होती है। ओहो..! धर्मात्मा हमारे घर में कहाँ से? हमें कब ये पावन करें! ऐसी उसे भावना होती है। **(अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत..**

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतो: कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भाग:।।१६७।।

दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ... इसकी व्याख्या आयेगी। **दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ 'जातरूपाय'** जन्मे प्रमाण जैसे रूप में थे, वैसे नग्न दिगम्बर अथवा उत्तम गुणोंसहित, ऐसा। **'जातरूपाय'** अतिथि। अतिथि अर्थात् जिनके आगमन की तिथि का नियम नहीं। ऐसे मुनि को **अपने और पर के अनुग्रह के लिये 'स्वपरानुग्रहहेतो:'**

विशेष द्रव्य का... द्रव्य विशेष - खास द्रव्य का, **देने योग्य वस्तु का भाग...** भाग करे भाग। अतिथिसंविभाग है न? अपनी चीज में से बनायी हो उसमें से, थोड़ी कोई ले, मुनि आवे, पधारे तो। ओहो..! धन्य भाग्य! समझ में आया? भरत चक्रवर्ती भी वे स्वयं राह देखते थे। छह खण्ड का धनी। आहार के समय बाहर आकर खड़ा रहे। कोई मुनि, कोई मुनि (आवे), उसमें कोई ऊपर से आव जाये। ऐसा अधिकार आता है। **विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिए।** विधिपूर्वक अर्थात् उनके लिये बनाया नहीं, स्वयं के लिये बनाया हो, वह भी मुनि के यथायोग्य विधि से देना, उसे यहाँ अतिथिसंविभाग व्रत कहने में आता है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

अपने हित को मत भूलना

भाई! संसार तो असार है। संसार की ओर ढलते हुए जितने अशुभ या शुभपरिणाम हैं, वे सब असार हैं। चैतन्यतत्त्व, राग से पार है, उसका बोध करके, उसके वेदन की जो शान्ति है, वह सारभूत है। हे जीव! ज्ञान-वैराग्य की भावना उग्र करके तू ऐसे शान्तरस का पान कर। कदाचित् कोई दुःखद घटना हो गयी हो तो उस समय भी तीव्र वैराग्य द्वारा सारभूत चैतन्य की ऐसी भावना भाना कि जिससे तेरे रत्नत्रय की वृद्धि हो।

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके, वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परमवैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना। सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना। अरे, यह तो आराधना और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है... वहाँ अपने हित को मत भूलना।

— *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

प्रवचन नं. ६५ गाथा-१६७ से १७० मंगलवार, आषाढ़ शुक्ल १२, दिनांक १८.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, १६७ गाथा, फिर से लो न! श्रावक है (वह) अतिथिसंविभागव्रत, ऐसा बारहवाँ व्रत पालता है – ऐसा कहते हैं।

वैयावृत्त कोष्ठक में **(अतिथि संविभाग) शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं:–** तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत और पाँच अणुव्रत, उनकी यह अन्तिम गाथा है।

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः।।१६७।।

अन्वयार्थ : दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा... है न? दाता के गुणवाला गृहस्थ। अर्थात् सम्यग्दृष्टि तो है। यहाँ उसकी बात है न? भाई! जिसे सम्यग्दर्शन अर्थात्, आत्मा (में) अन्तर्मुख उपयोग से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है। समझ में आया? उसे बहिर्मुख में बारह व्रत के विकल्प हों, उसकी स्थिरता भी अन्तर के उपयोग में स्थिर की है।

पूरा वीतराग का मार्ग ऐसा है। वह और सबेरे से अन्दर से शब्द उठा था कि अन्तर्मुख होने का मार्ग ही एक वीतराग का है। इसके अतिरिक्त, वीतराग के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं होती। समझ में आया? फिर शब्द तो खोजता था। श्रीमद् में से निकलता है। उसमें आता है।

मुमुक्षु : अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह आता है परन्तु पहले एक शब्द था सही, परन्तु यह तो कहा, उनका शब्द सबेरे कहा था न? कहीं यह तो आया था। बात तो अन्दर दूसरी आयी थी।

वीतराग का पूरा कथन, वस्तु अखण्ड पूर्ण है, उस ओर का उपयोग अन्तर्मुख उपयोग, वह उनका मार्ग है। समझ में आया? आत्मा अनन्त आनन्द ज्ञान-दर्शन स्वभाव

परिपूर्ण है, उसका अन्तर्मुख उपयोग श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, वह अन्तर्मुख उपयोग की प्रतीति है; सम्यग्ज्ञान, वह अन्तर उपयोग का ज्ञान है; चारित्र, वह अन्तर उपयोग की परिणति है। सेठी! फिर बाह्य वृत्ति जितनी उठे, यह बारह व्रत और पंच महाव्रत, यह सब बहिर्मुख व्यवहारभाव बन्ध का कारण है। दीपचन्दजी! यह तो एक लिया। वह आया अवश्य था। वह शब्द इसमें है या नहीं? यह खोजता था। परन्तु उसमें ३१ वें वर्ष में प्रायः पहली लाईन है।

केवल अन्तर्मुख होने का सत्पुरुष का मार्ग सर्व दुःख क्षय का उपाय है। ये शब्द उन्होंने किसी-किसी समय डाले हैं परन्तु... समझ में आया? केवल अन्तर्मुख होने का सत्पुरुष का मार्ग सर्व दुःख क्षय का उपाय है परन्तु वह किसी-किसी जीव को समझ में आता है। पोपटभाई! आत्मा अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान की मूर्ति है, पूर्ण वीतरागस्वरूप आत्मा है, समरसस्वरूप है, उसमें अन्तर्मुख के उपयोग से ही इसका मार्ग शुरु होता है। धर्म की शुरुआत, मध्य और पूर्णता अन्तर्मुख - केवल अन्तर्मुख उपयोग (से होती है)। बाहर में जितना विकल्प दया, दान, व्रत, भक्ति की वृत्ति उठती है, वह सब बन्ध का कारण है; वह मोक्ष का मार्ग नहीं। सेठी! और वह एक वीतराग में ही होता है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग में (नहीं होता) क्योंकि परिपूर्ण एक आत्मा अखण्डानन्द पूर्ण शुद्ध वस्तु में, उसमें से उसमें उपयोग करने से जो पर्याय प्रगट हो, अर्थात् पूर्ण वह और उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान या सम्यग्ज्ञान आदि प्रगट हो, वह चीज़ तो सर्वज्ञ में और इस आत्मा में ऐसा हो, वहीं हो सकता है। समझ में आया इसमें?

अकेली आत्मवस्तु एक समय में पूर्ण आनन्दकन्द, ज्ञानमूर्ति है। उस पूर्णस्वरूप शक्ति का पूरा सत्व, वह अनन्त, एक-एक गुण अनन्त शक्तिवान, ऐसे अनन्त गुणवाला तत्त्व है, उसका अन्तर आश्रय करना अर्थात् अन्तर्मुख उपयोग करना, वही यह एक ही वीतराग का मार्ग है। बहिर्मुखता में जितनी वृत्ति रहे, यह करूँ, छोड़ूँ, लूँ-दूँ, ये सब वृत्तियाँ पुण्यबन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया?

केवल अन्तर्मुख होने का... ऐसा शब्द इसमें से निकलता है या नहीं - ऐसा हुआ था। सबेरे तो अन्दर से आया था। समझ में आया? भाई! यह एक वीतरागमार्ग ही ऐसी चीज़ है कि यह अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। क्यों? कि जो कुछ पूर्ण निर्दोषता, पूर्ण वीतरागता, पूर्ण पवित्रता प्रगट करना चाहता है और उसका.. यहाँ पूर्णता के लक्ष्य से

शुरुआत का प्रश्न हुआ था। शान्तिभाई ने रास्ते में किया था। इस पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत। उस समय तो पूर्णता का लक्ष्य अर्थात् पूर्ण दशा प्रगट करना, उसके लक्ष्य से शुरुआत ऐसा था, परन्तु उस पूर्णता की दशा...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु फिर भी वह पूर्णता की दशा प्रगटे वह लक्ष्य है, परन्तु फिर भी वह पूर्णता प्रगटे कहाँ से ? स्वयं त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप पूर्ण है। पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. एक समय में सत्व, तत्त्व पूरा आत्मा, उसमें से वह दशा सम्यग्दर्शन–ज्ञान, चारित्र और उसमें से पूर्णता प्रगट हो। किसी निमित्त से और व्यवहार से प्रगट (न) हो, ऐसा वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वीतरागियों ने यही कहा है और वीतराग का आशय पूरे बारह अंग का यह है।

मुमुक्षु : दिव्यध्वनि का यही सार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा भगवान की वाणी का, तीर्थंकरदेव का आशय (यह है)। वस्तु परिपूर्ण चीज़ है। जिसकी खान में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान (परिपूर्ण भरे हैं), उस लड़के को पूछा था। अभी जरा आया था न, कहा, यह ज्ञान और... क्या कहलाता है यह ? दाना रहता है वह कोठी। कोठी में गुड़ रहे, वैसे आत्मा में ज्ञान रहता होगा न ? ये सब लड़के तो मैट्रिक पढ़े हुए थे। कुछ खबर नहीं एं.. एं.. एं.. हो गया।

जैसे कोठार में... कोठी होती है न कोठी ? मिट्टी की। डिब्बा लो। उसमें जैसे गुड़ भरें, वैसे आत्मा में ज्ञान और आनन्दगुण होगा न ? कुछ समझे नहीं। समझ में नहीं आया ? यह तो संयोग है। यह तो आत्मा स्वयं ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। आत्मा में रहे हैं, ऐसा कहना वह तो व्यवहार का वचन है। समझ में आया ?

आत्मा अनन्त–अनन्त बेहद शक्तिसम्पन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा, अनन्त–अनन्त बेहद आनन्दस्वरूप आत्मा, अनन्त–अनन्त बेहदस्वरूप–बलस्वरूप आत्मा। अनन्त–अनन्त शान्त अरागी समरसस्वरूप आत्मा, अर्थात् चारित्र। समझ में आया ? ऐसे–ऐसे अनन्त बेहद स्वभावस्वरूप आत्मा, वह परिपूर्ण वस्तु है और वह महासत है। उसका अन्तर उपयोग करने से पूरे वीतरागमार्ग का और पूरे बारह अंग का सार, अन्तर्मुख उपयोग से आत्मकल्याण होता है, यह मार्ग एक सर्वज्ञ वीतराग में ही होता है। पोपटभाई ! समझ में आया ? सेठी ! देखो ! यहाँ भी यह शब्द निकला है। अम्बालाल पर (पत्र लिखा है) केवल

अन्तर्मुख होने का सत्पुरुषों का मार्ग, अन्तर्मुख होने का मार्ग सर्व दु:ख क्षय का उपाय है, इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : अन्तर्मुख...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, वस्तु। वस्तु एक समय में शुद्ध ध्रुव पूर्ण है, उस पर उपयोग करने का नाम अन्तर्मुख उपयोग है। अन्तर अर्थात् अन्दर; मुख अर्थात् उसके सन्मुख। आहा..हा..!

मुमुक्षु : वस्तु ही अन्तर है तो अन्तर्मुख से ही प्राप्त होगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर वस्तु परन्तु एक समय की पर्याय में वस्तु पूरी नहीं, राग में नहीं, निमित्त में नहीं। अब इसे करना क्या? इसे कहाँ से करना है? निमित्त में वस्तु नहीं, राग में नहीं, एक समय की अवस्था में पूर्ण वस्तु पूरी नहीं और पूरी के पूर्ण में नजर डाले बिना पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट होगी नहीं। कहो, न्यालचन्दभाई! आहा..हा..! मार्ग कठिन परन्तु जगत को। यह तो वे बेचारे सब कहते हैं न, आध्यात्मिक हैं, ऐसा सबेरे आया था न? राजनैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक का उद्धार करनेवाले हैं। अरे! भगवान! भगवान! सुन तो सही प्रभु! तू क्या कहता है यह? इस पर से चला था। समझ में आया? अब अध्यात्म का नाम आता है सब। इस मार्ग में राजनीति को भी लाभ हो, सामाजिक का भी सुधार हो, अध्यात्म का उद्धार हो। ठीक भाई! आहा..हा..!

आत्मा अनन्त गुण की खान, महापदार्थ, परमेश्वर पदार्थ आत्मा है। वह वस्तु ही परमेश्वर आत्मा है। उसकी अन्तर्मुख, अन्तर्मुख-स्वसन्मुख। अन्तर्मुख कहो, स्वसन्मुख कहो, अन्तर में एकाग्रता कहो, ऐसी स्थिति से वीतरागता और केवलज्ञान तथा मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। मार्ग यह है। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : तो इसका - धर्म का प्रचार कब करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्या कहा यह? किसकी लगायी है यह? धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र वे कैसे प्रगट हों? कि त्रिकाली वस्तु में अन्तर उपयोग करने से। आहा..हा..! जहाँ है, वहाँ से आवे या जहाँ नहीं, वहाँ से आते हैं? है एक सेकेण्ड के

असंख्य भाग में... पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. वस्तु, बेहद स्वभाव की मूर्ति की दृष्टि करे कहो या अन्तर्मुख उपयोग करे कहो, उस अन्तर्मुख होने का उपाय एक ही सर्व दुःख के भय का और संसार के अभाव का उपाय है। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि और श्रावक को यह दृष्टि प्रगट हुई है। उसकी बात चलती है। उसे श्रावक कहते हैं कि जिसे आत्मा के अन्तर पूर्ण वस्तु है, उसकी ओर का उपयोग होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, स्वरूप–आचरण की दशा अन्तर्मुख के आश्रय से प्रगट हुई है, उसे श्रावक कहने में आता है। यह वाड़ा के श्रावक की बात नहीं, यह तो वस्तुस्थिति की बात है। आहा..हा..!

परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ, उसे श्रावक कहते हैं कि वस्तु पूर्ण शुद्ध और आनन्द और पूर्ण समरसी आत्मा के अन्तर का उपयोग करने से सम्यग्दर्शन हो, अन्तर उपयोग करने से ज्ञान हो, अन्तर एकाग्रता होने पर चारित्र हो। बस, यह एक मार्ग है। ऐसी मार्गदशा श्रावक को पहले प्रगटी हुई होती है। उसे अब बारह व्रत में अतिथिव्रत की व्याख्या चलती है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : श्रावक का आचरण तो बराबर, श्रावकपना क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावकपना यह। पहले कहा वह। वह तो सब आ गया है और फिर यह बात चलती है।

दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा... अर्थात् सम्यग्दृष्टि को है। सम्यग्ज्ञानी, स्वसन्मुख की दृष्टि–ज्ञान प्रगट हुए हैं। स्वरूप के स्व–सन्मुख का उपयोग और आचरण भी थोड़ा प्रगट हुआ है। समझ में आया? उस **दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा...** ऐसे सम्यग्दृष्टि को, दाता के सात गुणवाला होना (चाहिए)। यह कथन आयेगा। और **दिगम्बर मुनि को 'जातरूपाय'** अपने से अधिक सन्त दिगम्बर हैं, जिन्हें अन्दर से आत्मा के आनन्द का उछाला मारता है। दिगम्बर मुनि अर्थात् अकेले वस्तु छोड़ दिये और नग्न (हो गये), ऐसा नहीं। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द की इतनी प्रगट दशा हुई है, अन्तर्मुख उपयोग द्वारा जिन्होंने अनन्त–अनन्त आनन्द का अनुभव जिन्हें प्रत्यक्ष स्वसंवेदन में वर्तता है, उन्हें मुनि कहने में आता है। वे मुनि बाह्य में नग्न होते हैं। समझ में आया? नग्न हो, इसलिए मुनि हैं ऐसा नहीं। ऐसे मुनि हों, उनकी दशा नग्न होती है। समझ में आया?

कहते हैं, जातरूप के दो अर्थ नीचे किये हैं। **जातरूपा=जन्मप्रमाण (निर्दोष) जैसे रूप में था वैसा अर्थात् नग्न दिगम्बर,...** उसे देते हैं। एक तो महा सम्यग्दृष्टि स्वयं है और महामुनि। अन्तर आनन्द, निर्विकल्प आनन्द का जिन्हें उग्र अनुभव है। निर्विकल्प आनन्द का उग्र अनुभव है, उन्हें मुनि कहने में आता है। उन मुनि को यहाँ जातरूपा कहा है। उन्हें एक बार आहार-पानी दे। **अथवा उत्तम गुणों सहित अतिथि।** जातरूपाय है न? उत्तम गुणोंसहित। **जिसके आगमन की तिथि का नियम न हो।** अकस्मात् मुनि आ चढ़ते हैं। सन्त-दिगम्बर किसी को कहे बिना, आमन्त्रण बिना आ जाते हैं। महासन्त आत्मध्यान आनन्द का कन्द जिन्हें खिला है। असंख्य प्रदेश में आनन्द, अतीन्द्रिय, निर्विकल्प आनन्द के झरने बहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया?

ऐसे मुनि को **अपने और पर के अनुग्रह के लिये...** अपने लाभ के लिये, उतना अशुभभाव टलता है न! पर के अनुग्रह के हेतु से **विशेष द्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तु का...** विशेष द्रव्य अर्थात् खास द्रव्य। उन्हें जो योग्य हों ऐसे। इसलिए विशेष द्रव्य कहा। उसका **भाग विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिए।** नीचे।

टीका :- नवधाभक्तिपूर्वक... सम्यग्दृष्टि आत्मा के आनन्द का वेदन करनेवाला, परन्तु थोड़ा आनन्द का वेदन है, वह श्रावक है। बहुत आनन्द का वेदन है, वे मुनि हैं। समझ में आया? **नवधाभक्तिपूर्वक तथा दातार के सप्तगुणों से संयुक्त श्रावक है, उसको दान देने योग्य वस्तुओं का...** दान देने योग्य वस्तु कहा न? **'द्रव्यविशेषस्य' जो गुणवान पात्र है...** सामने गुणवान पात्र है। आत्मा का सम्यक् अनुभव हुआ है, आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हुआ है, उसके उपरान्त अन्दर में बहुत शान्ति आनन्द की स्वसंवेदन की वीतरागदशा प्रगट हुई है, उसे श्रावक आहार, पानी भक्ति से देता है। कहो, समझ में आया? बात सब कठिन पड़ गयी लोगों को।

उनको अपने तथा पर के उपकार के लिये अवश्य दान करना चाहिए। ऐसा भाव श्रावक को शुभभाव (आता है)। है शुभ, पुण्य। वह कहीं संवर-निर्जरा नहीं है। भावलिंगी सन्त को और मुनि को आहार दे तो भी संवर-निर्जरा नहीं है। संवर-निर्जरा तो अन्तर उपयोग से जितना भाव आश्रय प्रगटे, उतना संवर-निर्जरा। बहिर्मुख उपयोग जाये उतना संवर-निर्जरा नहीं परन्तु आस्रव है। कहो, समझ में आया इसमें?

भावार्थ : श्रावक जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करते हैं,... न्यायपूर्वक। अन्यायपूर्वक उसे होता नहीं। सम्यग्दृष्टि को न्यायपूर्वक ही लक्ष्मी आदि होती है। अभी देखो न, सब सट्टा और क्या कहलाता है सब ? काला बाजार।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो, बहुत तो ऐसा मानते हैं कि हम श्रावक हैं, पाँच-पचास लाख कमायें और लाख-दो लाख खर्च कर डालें; इसलिए धर्म का पद मिल जाये। पोपटभाई ! जाओ, धूल में भी नहीं। अब तेरे दो लाख-पाँच लाख अन्याय से कमाये हों और धर्मदृष्टि की तो खबर नहीं। श्रावक किसे कहना, सम्यग्दर्शन किसे कहना – इसकी तो खबर नहीं। श्रावक कहाँ से लाया ? समझ में आया ? अभी तो सम्यग्दर्शन किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। सम्यग्दर्शन तो नहीं होता।

मुमुक्षु : देव-गुरु को माना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। देव-गुरु को मानने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। वे तो परद्रव्य हैं। आत्मा अखण्डानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त आनन्द की मूर्ति आत्मा है, उसकी अन्तर में प्रतीति होकर भान हुआ, आनन्द के स्वादसहित प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। दीपचन्दजी ! आहा.. हा.. ! जगत को सत्य बात ऐसी कठिन जैसी हो गयी है। लोगों ने दूसरा ही रास्ता पूरा (जोड़ दिया है)। जो मार्ग ही नहीं, उस मार्ग को ही मार्ग मनवा लिया है। मार्ग तो वीतराग का अकेला आत्मद्रव्य के स्व-उपयोग से होता है। समझ में आया ?

ऐसे **श्रावक जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करते हैं, उन्हें अपने धन में से थोड़ा-बहुत धन चार प्रकार के संघ के दान निमित्त अवश्य निकालना चाहिए...** साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका सच्चे समकिती हों, उनके लिये कुछ भाग, लक्ष्मी में दान-शुभभाव से निकालना चाहिए। **उसे उसका विधिपूर्वक दान देना चाहिए।** फिर आहार-पानी को विधिपूर्वक (देना)। मुनि को पैसा तो कहाँ चलता है ! **उसके धन का सदुपयोग होगा, कर्मों की निर्जरा होगी...** निर्जरा तो कहीं इससे नहीं होती। परन्तु उस क्षण में आत्मा के शुद्धस्वभाव का जितना आश्रय वर्तता है, उससे निर्जरा होती है और आहार-पानी देने का भाव तो मात्र पुण्यबन्ध का कारण है, पुण्यभाव है, शुभभाव है।

पराश्रय जितनी वृत्ति, वह सब शुभभाव है। यह धर्म के नाम से, हों! स्त्री, पुत्र, परिवार के लिये जाये, वह सब पापभाव है। समझ में आया? गजब मार्ग, भाई!

और चतुर्विध संघ अपने तप की वृद्धि करें। ऐसा आहार देना। ऐसा कहते हैं। निमित्त से व्यवहार की बात है न। **(आये हुए योग्य अभ्यागत को प्रतिदिन भोजनादिक का दान करके पश्चात् स्वयं भोजन करे, ऐसा श्रावकों का नित्यकर्म है,...)** कर्म अर्थात् कार्य। **(उसे अतिथिसंविभाग कहते हैं।)** लो!

मुमुक्षु : कोष्ठक में डाला अर्थात्...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अन्यत्र से डाला है। इसमें लिखा है।

गाथा - १६८

नवधा भक्ति के नाम : -

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः।।१६८।।

प्रतिग्रहण उच्चस्थान, पादप्रक्षाल पूजन नमन मन।
वच तन रु भोजन शुद्धि, नवधा भक्ति विधि जानो नियत।।१६८।।

अन्वयार्थ : (च) और (संग्रहम्) प्रतिग्रहण (उच्चस्थानं) ऊँचा आसन देना (पादोदकं) चरण धोना (अर्चनं) पूजा करना (प्रणामं) नमस्कार करना (वाक्कायमनः शुद्धिः) मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि रखना (च) और (एषणशुद्धिः) भोजन शुद्धि-इस प्रकार आचार्यों ने (विधिम्) नवधाभक्तिरूप विधि (आहुः) कही है।

टीका : 'संग्रहम्, उच्चस्थानं, पादोदकं, अर्चनं, प्रणामं, वाक्शुद्धिः, कायशुद्धिः, मनशुद्धिः, एषणशुद्धिः, इति विधिम् आहुः।' -१- संग्रह अर्थात् पड़गाहन करना, मुनिराज को बड़े आदरपूर्वक भोजन के लिये विनती करते हुए अपने घर में प्रवेश कराना, २- उच्चस्थान अर्थात् घर में ले जाकर उन्हें उच्च आसन पर बैठाना, ३- पादोदक अर्थात् प्रासुक-निर्दोष जल से चरण धोना, ४- अर्चन अर्थात् उत्तम अष्ट द्रव्य से उनकी पूजा करना अथवा केवल अर्घ चढ़ा देना, ५- प्रणाम अर्थात् पूजन के बाद

नम्रीभूत होकर नमस्कार करना और तीन प्रदक्षिणा देना, ६– वाक्शुद्धि अर्थात् विनयपूर्वक वचन बोलना, ७– कायशुद्धि अर्थात् अपने हाथ और शरीर शुद्ध रखना तथा उनकी सेवा करना, ८–मनशुद्धि अर्थात् मन शुद्ध करते हुए दान देने में भक्ति और सेवारूप परिणाम रखना–खोटा परिणाम न करना। ९– एषणशुद्धि अर्थात् आहार की शुद्धि रखना, आहार की सभी वस्तुयें निर्दोष रखना। इस प्रकार नवधाभक्तिपूर्वक ही दान देने का विधान कहा है, अत: इसी तरह आहारदान देना चाहिए। यह नवधाभक्ति मुनिमहाराज के लिये ही है, अन्य के लिये तो योग्यतानुसार होनी चाहिए।

(भावार्थ : जो उत्तम पात्र हैं अर्थात् मुनिराज हैं, उन्हें इन नव प्रकार के विधानपूर्वक ही दान देना चाहिए। शेष जो मध्यम और जघन्य पात्र हैं, उनके दान में यथायोग्य हीनाधिक अपना तथा पात्र का गुण विचारकर विधान करना। और जो अपात्र हैं, उनके लिये प्रतिग्रहादि विधान नहीं करना क्योंकि विषय–कषाय–संयुक्त अश्रद्धानी–पापी जीवों का आदर–सत्कार करने से महापाप उत्पन्न होता है और उनके पाप की अनुमोदना आती है। अत: अपात्रों को भक्ति नहीं करना। यदि कोई अपात्र दीन–दुखी और पीड़ित दिखाई पड़े तो दया करके उसका दु:ख निवारण कर देना परन्तु उसका (धर्मबुद्धि से) आदर–सत्कार नहीं करना)।।१६८।।

गाथा १६८ पर प्रवचन

नवधा भक्ति के नाम :– देखो! यह तो सम्यक्निश्चय के भानसहित और निश्चय की परिणतिवाले, ऐसे मुनि को आहार देने की विधि की व्याख्या यहाँ चलती है। जो मुनि अभी मुनि ही नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम पुण्य हैं, उन्हें धर्म मनाते हैं, उनसे धर्म होता है (–ऐसा प्ररूपित करते हैं), वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया? और जो श्रावक भी स्वयं ये दया, दान, व्रत के शुभभाव हैं, आस्रव हैं, उनसे मुझे धर्म होगा – ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह श्रावक नहीं। यहाँ तो श्रावक सम्यग्दृष्टि है और सम्यग्दृष्टि उपरान्त जिसे विशेष आनन्द की स्थिरता प्रगट हुई है, वे श्रावक आदि विशेष, उन्हें वह आहार–पानी भक्ति से दे। यह देने का भाव तो शुभ है, परन्तु उस समय स्वाश्रयपना प्रतिसमय बढ़ता जाता है न? उसे क्षण में स्व–आश्रय बढ़ता है, उतनी निर्जरा

है। अन्य भाव जो परलक्ष्य से हुआ, उतना पुण्यबन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : अभ्यागत अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यागत अर्थात्, ये संस्कृतवाले हैं, भाई! करो अभ्यागत का अर्थ। अभि-आगत अर्थात् क्या?

मुमुक्षु : खमावेला?

पूज्य गुरुदेवश्री : खमावेला!

मुमुक्षु : भिखारी आवे, उसे अभ्यागत कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह तो सहज सामने आये हैं, अभि+आगत। सन्मुख होकर आये हैं। अहो! धन्य भाग्य हमारे घर! श्रावक हो, क्षुल्लक हो, आर्यिका हो है न? परन्तु वे सब आत्मज्ञानी, आत्मदर्शी, आत्मा का अनुभव करनेवाले हों, उन्हें यहाँ क्षुल्लक, साधु और श्रावक कहने में आता है। बाकी वाड़ा के श्रावक को भगवान श्रावक नहीं कहते। ऐ.. दीपचन्दजी! आहा..हा..!

अभ्यागत उसे कहा जाता है। वह भिखारी अभ्यागत नहीं। अभ्यागत व्यक्ति आता है न, कहते हैं न? अभ्यागत हो, दरिद्र बेचारा गरीब मनुष्य। उसे आहार दे, वह अभ्यागत। (ऐसा नहीं।) यह तो सामने आये हैं। आहा..हा..! धन्य अवतार! धन्य जीवन इनका। जिन्हें वर्तता है, अपने जीवन को भी जिसने उज्ज्वल किया है। जीवन को आत्मा के अवलम्बन से जिसने उज्ज्वल किया है। आहा..हा..! और उस उज्ज्वलता में विशेष स्थिरता नहीं रह सकती, इसलिए आहार के लिये क्षुधा हैं तो आये हों भिक्षा के लिये। सामने श्रावक भी सम्यग्दृष्टि, अपने स्वरूप की दृष्टि का भान है परन्तु स्थिर नहीं हो सकता, इतनी अधिक उसके पुरुषार्थ की उग्रता नहीं है; इसलिए उसे ऐसे बारह व्रत में अतिथिसंविभाग आदि का भाव आये बिना नहीं रहता।

नवधा भक्ति के नाम :- १६८ गाथा।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः।।१६८।।

प्रतिग्रहण... इसका अर्थ करेंगे। नीचे लो न सीधे टीका का।

टीका – संग्रह अर्थात् पड़गाहन करना,... पधारो.. पधारो.. पधारो। टीका का। समझ में आया? है न टीका? **मुनिराज को बड़े आदरपूर्वक भोजन के लिये विनती करते हुए अपने घर में प्रवेश कराना,...** इसका नाम पड़गाहन है। पधारो! तिष्ठ.. तिष्ठ.. तिष्ठ। बहुत आदरपूर्वक, आनन्दपूर्वक... जिन्हें आनन्द वर्तता है। आहा..हा..! समकिती श्रावक है, उसे थोड़ा अतीन्द्रिय आनन्द वर्तता है। मुनि हैं, उन्हें निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनन्द वर्तता है। एक अन्दर स्थिर नहीं हो सके। आहार की वृत्ति उत्पन्न हुई है। वीतरागी महामुनि हैं। अन्तरदशा। शुद्ध उपयोग जिन्हें, शुद्ध उपयोग जिनने अंगीकार किया है। शुद्धोपयोग। अट्ठाईस मूलगुण आदि विकल्प है, वह तो शुभभाव पुण्य है। ऐसा जिसने उपयोग अंगीकार किया है। वह अभी स्थिर नहीं हो सकते। आहार लेने का आये हैं, तो उन्हें बहुत आदरपूर्वक (आहार देता है)। भिखारी को देते हुए आदर नहीं होता, ऐसा कहते हैं। वह तो अनुकम्पा होती है। क्षुधावन्त आदि को दे तो अनुकम्पा है। (यह तो) अहो, पधारो प्रभु! हमारे अनाज में से ग्रास मिले, हमारा जीवन सफल है, ऐसा व्यवहार से कहते हैं। समझ में आया? देखो! किया, फिर?

२– उच्चस्थान अर्थात् घर में ले जाकर उन्हें उच्च आसन पर बैठाना, ३–पादोदक अर्थात् प्रासुक–निर्दोष जल से चरण धोना,... निर्दोष पाद–उदक। **४–अर्चन अर्थात् उत्तम अष्ट द्रव्य से उनकी पूजा करना...** यह सब बाहर के छिलके रह गये, अन्दर की वस्तु नहीं होती। सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र नहीं होता। बाहर की क्रिया के छिलके रह गये। सेठी! वह भी समझने जैसे।

क्षुल्लक के लिये उसके लिये बनाया हुआ भोजन नहीं चलता – उद्देशिक। क्षुल्लक हो उसे। उसके लिये चौका बनाया हुआ हो, क्षुल्लक को नहीं चलता। और यह तो साधु के लिये चौका किया हो, उसके लिये, ले, वह व्यवहार है नहीं। व्यवहार सब पापमय व्यवहार है, पुण्यमय नहीं, पापमय है। यह तो धर्म के साथ के पुण्यमय की बात है। क्षुल्लक हो तो उद्देशिक का त्याग है। उसके लिये बनाया होता है, उसका त्याग है। वह प्राण जाने पर भी नहीं लेता। मुनि को तो उनके लिये बनाया हुआ (आहार) करे, चौका बनाया हो तो खबर है, यह तो मेरे लिये बनाया है, दो–चार इकट्ठे होकर सबेरे से खड़े होकर पकाते हैं।

मुमुक्षु : मन्दिर में....

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर में पकाते हैं। कुएँ का पानी निकालकर, ऐसे खींचकर। अत्यन्त पाप है।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मात्मा सम्यक् आत्मा की जिसे दृष्टि आनन्द की हुई है। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है, ऐसी जिसे दृष्टि हुई, श्रावक को विशेष स्थिरता नहीं। जिन्हें विशेष स्थिरता अन्दर जम गयी है, **उनकी पूजा करना अथवा केवल अर्घ चढ़ा देना,...** लम्बा समय...

५- प्रणाम अर्थात् पूजन के बाद नम्रीभूत होकर नमस्कार करना और तीन प्रदक्षिणा देना, ६- वाक्शुद्धि अर्थात् विनयपूर्वक वचन बोलना,... विनयपूर्वक नम्रता से बोलना। **७- कायशुद्धि अर्थात् अपने हाथ और शरीर शुद्ध रखना ८- मनशुद्धि अर्थात् मन शुद्ध करते हुए दान देने में भक्ति और सेवारूप परिणाम रखना-खोटा परिणाम न करना। ९- एषणाशुद्धि अर्थात् आहार की शुद्धि रखना,...** आहार उनके लिये बनाया हुआ हो नहीं। अपने घर में बना हुआ हो, उसमें देने योग्य हो, अपने लिये घर में सहज बना हुआ हो, उनका लक्ष्य नहीं, उनका भान नहीं। अपने लिये बना हुआ हो, उसमें से (दे), तब बोले न कि आहारशुद्धि। नहीं तो वह तो झूठ बोलता है। आहार तो उनके लिये बनाया है और आहारशुद्धि (बोलता है), तो स्वयं झूठ बोलता है। वह कहे तुम्हारी बात सच्ची, (इस तरह) झूठे की अनुमोदना करे। आहारशुद्धि है नहीं और आहारशुद्धि बोलता है। वह कहता है कि यह आहारशुद्धि है, मैं लूँ, लाओ। झूठे को अनुमोदन देता है।

मुमुक्षु : पंचम काल में चलता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम काल में चले ऐसा मार्ग? यह तो वीतराग का मार्ग है। केवलज्ञानी परमेश्वर का (मार्ग है) यह कहीं ऐरे-गैरे, साधारण मानते हैं, उनकी बात नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। सीमन्धर प्रभु विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकर इस अनुसार कहते आये हैं। पोपटभाई! देखो! यह क्या कहा? देखो न! एषणाशुद्धि क्या कही?

आहार की शुद्धि रखना, आहार की सभी वस्तुयें निर्दोष रखना। उनके लिये

बनायी हुई एक भी चीज़ (देना नहीं)। पानी की एक बूँद भी असंख्य जीव मरे तब होती है। एक बूँद पानी की इतना, जल के असंख्य जीव। तो उसमें से दस सेर, पाँच सेर, उनके लिये गर्म करे, वह तो महापाप है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : है कहाँ अभी ? यह तो मार्ग की बात है। अभी है कहाँ ? अभी तो साधु ही कहाँ है और ऐसे देनेवाले भी कहाँ हैं ? यह तो मार्ग ऐसा भगवान का है। यह वीतराग परमेश्वर केवली का मार्ग है। दीपचन्दजी ! निर्दोष आहार। उनके लिये एक पानी की बूँद न बनायी हुई हो। जलबिन्दु। स्वयं के पीने के लिये पानी दस सेर, पाँच सेर बनाया हो, उसमें से (दे)।

मुमुक्षु : पानी के बिना आहार नहीं बनता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं बनता। इसलिए आहार उनके लिये बनाया हो तो पाप है। आहार उद्देशिक हुआ। वह नहीं लिया जाता.. है न ? मार्ग तो ऐसा है।

मुमुक्षु : आहार तो निर्दोष होना चाहिए न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार तो निर्दोष होना चाहिए न ? अपने घर में बनाया हुआ हो, उसमें मुनि आ जायें। भक्तिभाव से, प्रेम से (दे)। मुनि भी सच्चे मुनि। जो उद्देशिक लेते हों, वे मुनि सच्चे नहीं हैं। यह तो मार्ग है, वीतराग का मार्ग है। किसी पक्ष का मार्ग है ? आहा..हा.. !

पहली तो वर्तमान दृष्टि की ही अभी खबर नहीं। सम्यग्दर्शन क्या है, उसकी खबर नहीं। मूल चीज़ की खबर नहीं। देव-गुरु-शास्त्र को मानो, नवतत्त्व को मानो, (वह) सम्यक्त्व। ऐसा है नहीं। भगवान उसे सम्यग्दर्शन नहीं कहते। वह तो राग है। ऐसा तो, ऐसी श्रद्धा करके नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया है। वह सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन तो आत्मा अखण्ड पूर्ण शुद्ध चैतन्य के अन्तर में उपयोग होकर, घोलन होकर, एकाग्र होकर जो दृष्टि प्रगट हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। चौथा गुणस्थान अभी नहीं हो, उसे पाँचवाँ और छठा आया कहाँ से ? समझ में आया ? आहा..हा.. ! अहो ! स्वस्वभाव-सन्मुख का मार्ग, एक ही वीतराग ने वर्णन किया है। इसलिए निश्चयमोक्षमार्ग को मार्ग

कहा है न? व्यवहार को मार्ग वास्तव में नहीं कहा। उसका हेतु यह है। समझ में आया? भाई! मोक्ष का मार्ग... आहा..हा..!

परम वस्तु, महापवित्रधाम भगवान आत्मा परमेश्वर की मोक्षपर्याय की अपेक्षा यह मेरा पदार्थ बड़ा, मेरे लिये बड़ा है। परमेश्वर की पर्याय तो केवलज्ञान की उनकी रही, उनमें। मुझे क्या? मेरा आत्मा तो देवाधिदेव मेरा तत्त्व है। आहा..हा..! पूर्ण शुद्ध चैतन्यद्रव्य पूरा, जिसमें से अनन्त केवलज्ञान का प्रवाह बहे, ऐसा पूरा तत्त्व, उसका अन्तर उपयोग करके दृष्टि, ज्ञान और रमणता हो, उसे धर्म कहते हैं। आहा..हा...!

यह पहले आया, उसमें से मस्तिष्क चलता था। सबेरे उठा तब से चलता था। प्रातः चार बजे। आहा..हा..! मार्ग तो अकेला अन्तर्मुख होना। जघन्य से वह उत्कृष्ट, ऐसा मार्ग लोगों को अन्दर में जँचता नहीं। अन्दर प्रयत्न क्या है? उसका उन्हें माहात्म्य नहीं आता। अन्दर चीज़ यह महापदार्थ... महापदार्थ.. क्या है उसे!! आहा..हा..! ऐसा महाभगवान, महाचैतन्यप्रभु आत्मा है। प्रभु का प्रभु आत्मा है। प्रभु तो एक इसका गुण है। एक गुण, आत्मा में प्रभुत्व नाम का तो अनादि-अनन्त एक गुण है और वह आत्मा प्रभु का प्रभु है। ऐ... सुमनभाई! वहाँ कभी सुना नहीं होगा। थोड़ी निवृत्ति लेने का भाव हुआ। कहो, समझ में आया? वहाँ पाप, पाप और पाप सब चारों ओर था। ऐसा सुनने का वहाँ कहाँ था? और पढ़े तो अपने आप तो यह कहाँ समझ में आये ऐसा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्समागम बिना (समझ में नहीं आता)। यह वस्तु ऐसी ही कोई है कि इसका पेट इतना गहरा है और है सरल, परन्तु बात इतनी कठोर है कि इसे जरा सुनना मुश्किल पड़े।

अकेला भगवान पूरा ऐसा परिपूर्ण प्रभु है न! आहा..हा..! जहाँ परिपूर्णता एक समय में शक्तिरूप पूरा तत्त्व है, परिपूर्ण है, एक है, अभेद है, अखण्ड है। उसमें उपयोग लगाना ही कल्याण का कारण है। बाकी कुछ अंश भी कल्याण का कारण अन्यत्र से है नहीं। समझ में आया? जो खान में हो, वह खोदे, जिसकी खान में हो उसमें से निकले या जो खान में न हो उसमें से निकले? तो पर में है आत्मा की शक्ति? देव, गुरु, शास्त्र और उनमें है? यहाँ पुण्य-पाप का विकल्प राग उठता है, उसमें खान है? और एक समय की

पर्याय में भी खान है ? एक समय की पर्याय तो पूरी पलट जाती है। पूरी खान जो अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा द्रव्य, उसका अन्तर्मुख उपयोग करके एकाग्र होकर अनुभव करे, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा..! (अन्तर्मुख उपयोग) करे, तब उसे ज्ञान होता है और उस स्वरूप में लीनता, आनन्द का भोजन उग्ररूप से रमे, करे, उसे चारित्र कहते हैं। भगवान यह सच्चा कहते हैं, इसके अलावा सबको सच्चा नहीं कहते। कहो, दीपचन्दजी! यह सब वहाँ सोलापुर में सुना नहीं होगा।

एषणाशुद्धि... आहा..हा..! **आहार की सभी वस्तुयें निर्दोष रखना।** भाषा है न ? एक–एक, पानी भी निर्दोष रखना चाहिए। उनके लिये एक बूँद बनावे तो देनेवाला सदोष, लेनेवाला सदोष। बिन्दु समझे ? जल। यह तो पाँच–पाँच सेर, दस–दस सेर। क्या कहलाता है वह ? कमण्डल। उसमें उनके लिये पानी गर्म करके डालना, वह महापाप है। लेनेवाले को पाप है और देनेवाले को पाप है। वह धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य भी नहीं। मिथ्यात्व का पाप है।

मुमुक्षु : श्रावक तो गर्म पानी पीते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक पीते नहीं परन्तु उनके लिये बनाते हैं। बस, उद्देशिक हो गया। अभी मुनिपना व्यवहार से भी पाल सके ऐसी स्थिति नहीं है। ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है ही नहीं। क्या हो ? किसे कहें परन्तु यह बात ? यहाँ तो आहार की विधि, वस्तु सब निर्दोष रखना, लो! इस प्रकार रखना अर्थात् करके नहीं, हों! ऐ.. सेठी! सेठी ने भी ऐसे घोटाले किये हैं सब। इसके घर में... था। तुम नहीं थे यहाँ ? ये थे ? तब थे ? हाँ.. हाँ... थे। वे आये थे तब। तुम्हारे घर में किया था। मीठे व्यक्ति धीरे–धीरे अन्दर से।

इस प्रकार नवधाभक्ति पूर्वक ही आहारदान देना चाहिए। यह नवधाभक्ति मुनिमहाराज के लिये ही है, अन्य के लिये तो योग्यतानुसार हीनाधिक है। पूरी तो वहाँ ही है। महामुनि सन्त वीतराग के लिये नवधाभक्ति होती है। दूसरे को योग्य थोड़ी–थोड़ी (होती है) नवधा सबके लिये नहीं होती।

गाथा - १६९

अब दातार के सात गुण बताते हैं:-

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः।।१६९।।

इस लोक फल इच्छा रहित, क्षान्ति अछल अनसूयता।
अविषादता हर्षित, निरभिमानी कहे गुण दातृता।।१६९।।

अन्वयार्थ : (ऐहिकफलानपेक्षा) इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न रखना, (क्षान्ति) क्षमा अथवा सहनशीलता, (निष्कपटता) निष्कपटता, (अनसूयत्व) ईर्षारहित होना, (अविषादित्वमुदित्वे) अखिन्नभाव, हर्षभाव और (निरहंकारित्व) अभिमान रहित होना (इति) इस प्रकार यह सात (हि) निश्चय से (दातृगुणाः) दातार के गुण हैं।

टीका : 'हि ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिः, निष्कपटता, अनसूयत्वं, अविषादित्वं, मुदित्वं, निरहंकारित्वम् इति सप्त दातृगुणाः सन्तिः'। -अर्थः- १-ऐहिकफल अनपेक्षा -दान देकर इस लोक सम्बन्धी यश-सौभाग्य आदि अथवा अच्छे भोगोपभोग की सामग्री मिलने आदि की इच्छा न करे। २-क्षान्ति - दान देते समय क्षमाभाव धारण करे। ३-निष्कपटता- कपट न करना-बाहर में भक्ति करे और अन्तरंग में परिणाम खराब रखे, ऐसा नहीं करना। ४-अनसूयत्व- दूसरे दातार के प्रति ईर्षाभाव-दुर्भाव न रखना अर्थात् अपने घर मुनिराज का आहार न हो और दूसरे के घर हो जाय तो दूसरे के प्रति बुराभाव न करना। ५-अविषादित्व-विषाद न करना अर्थात् हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी, वह हमने उनको यों ही दे दी, अथवा हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी वह हम नहीं दे सके, ऐसा खिन्न परिणाम न करे। ६-मुदित्व-दान देकर हर्ष बहुत करे अर्थात् अत्यन्त आनन्दित होवे। ७-निरहंकारित्व-अभिमान न करना अर्थात् हम बड़े दातार हैं, ऐसा मन में अभिमान न करना। इस प्रकार यह *सात गुण दातार के हैं वह प्रत्येक दातार में

---

* रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा १३३ में दाता के सात गुण इस भाँति हैं-१-भक्तिधर्म में तत्पर रहकर, पात्रों के गुणों के सेवन में लीन रहकर पात्र को अंगीकार करे, प्रमादरहित, ज्ञानसहित, शान्तपरिणामी हुआ पात्र की भक्ति में प्रवर्त्ते। २-तुष्टि-देने में अति आसक्त, पात्रलाभ को परम निधान का लाभ माने। ३-श्रद्धा, ४-विज्ञान, ५-अलोलुप, ६-सात्त्विक, ७-क्षमा।

अवश्य होना चाहिए। इस भाँति नव प्रकार की भक्तिपूर्वक तथा सात गुण–संयुक्त जो दातार दान देता है, वह दान विशेष फल प्रदान करता है। यदि यह गुण दातार में न हों तो वह दिया हुआ दान बहुत फल देनेवाला नहीं होता।।१६९।।

गाथा १६९ पर प्रवचन

अब दातार के सात गुण बताते हैं:–

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणा:।।१६९।।

१६९ (गाथा)। जानना चाहिए। यह टीका लो, टीका।

टीका – 'हि ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्ति:, निष्कपटता, अनसूयत्वं, अविषादित्वं, मुदित्वं,... प्रमोद–प्रमोद। **निरहंकारित्वम् इति सप्त दातृगुणा: सन्ति:'। –अर्थ:– १–ऐहिकफल अनपेक्षा–दान देकर इस लोक सम्बन्धी अच्छे भोगोपभोग की सामग्री मिलने आदि की इच्छा न करे।** सम्यग्दृष्टि श्रावक को नवधाभक्तिसहित, सात गुणसहित महामुनि आदि धर्मपात्र जीव को देकर, इस लोक में लोग मुझे अच्छा कहेंगे.. लोग वाह.. वाह.. ! तुम भारी पुण्यशाली, ऐसी आशा रखे नहीं। भोग–उपभोग की सामग्री मुनि को आहारदान दूँगा तो अपने को कुछ मिलेगा, पैसा मिलेगा। समझे न ? यह लड़के अविवाहित हैं तो विवाह होगा, अमुक होगा, ऐसी आशा नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि को पुण्य की आशा नहीं तो फिर दूसरी आशा कहाँ रही ? सम्यग्दृष्टि को पुण्यभाव आता अवश्य है, होता अवश्य है, परन्तु उसकी भावना उसे नहीं होती कि पुण्य हो। वह तो बन्धन का कारण है। आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द में कैसे एकाग्र होकर शुद्धता प्रगट करूँ, यह सम्यग्दृष्टि की भावना होती है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! चाहे तो अकेला हो। (लेनेवाला और) देनेवाला दोनों पवित्र हैं। एक की पवित्रता थोड़ी है तथा एक की पवित्रता बहुत है। उसे आहार देकर **इस लोक सम्बन्धी अच्छे भोगोपभोग की सामग्री मिलने आदि की इच्छा न करे।** लोग अच्छा कहेंगे, कुछ पैसा मिलेगा, परलोक में कुछ ठीक होगा। यह तो इस लोक में पहले लिया। ठीक, कहो,

समझ में आया? भोगोपभोग। एक बार भोगे और बारम्बार भोगे। मकान मिलेगा, इज्जत मिलेगी, और कोई अच्छा भागीदार मिलेगा। कोई अपने को जानेगा कि आहा..! यह तो मुनि को आहार देनेवाला है। ऐसी आशा रखना नहीं।

२-क्षान्ति - दान देते समय क्षमाभाव धारण करे। क्रोध नहीं करना। शान्ति.. शान्ति... रखना। ऐसा करके उत्तेजना न करे। क्षमा रखे।

३-निष्कपटता-कपट न करना-बाहर में भक्ति करे और अन्तरंग में परिणाम खराब रखे ऐसा नहीं करना। बाहर में भक्ति से कहे, पधारो। अन्दर में कपट रखे, यह तो पापभाव होता है। ऐसा नहीं हो सकता।

४-अनसूयत्व-दूसरे दातार के प्रति ईर्षाभाव-दुर्भाव न रखना अर्थात् अपने घर मुनिराज का आहार न हो और दूसरे के घर हो जाय तो दूसरे के प्रति बुराभाव न करना। वह तो निर्धन और उसके यहाँ (गये) और हम लाखोंपति, हमारे यहाँ आहार नहीं। ऐसा करके द्वेष करे, ऐसा नहीं करना। उसके घर में हो तो भाई! पुण्यवन्त प्राणी है। उसमें क्या है? वह तो अनुमोदन करने योग्य है। मेरे घर में हो या उसके घर में हो। ऐसा उसे विवेक और बहुमानपना होता है। समझ में आया? मेरे यहाँ नहीं हुआ, उसके यहाँ हुआ। आहार न होने से नहीं।

५-अविषादित्व-विषाद न करना अर्थात् हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी, वह हम नहीं दे सके, इत्यादि खिन्न परिणाम न करे। मेरी उतावल हो गयी, वह चीज़ अच्छी थी, वह रह गयी और दूसरी रह गयी। शान्ति रखना, शान्ति रखे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो रह गया हो कोई ऐसा, ऐसा। भाई! एक प्रकार का देने का प्रसंग है। जो चीज़ जानेवाले हो, वह जाये न! यह बात तो ऐसी है। दे कौन और ले कौन? भाव इसका शुभ था। जो वस्तु जाने हो, वह जाती है और यहाँ पड़ने की हो वह पड़ती है। पुद्गल के परमाणु की पर्याय कौन करे? एक परमाणु भी यहाँ से ऐसे जाना, वह करे कौन? मूढ़ मानता है कि मैंने यह आहार दिया, यह आहार देने की क्रिया मैंने की। आहार के परमाणुओं को मैंने दिया, यह तो मिथ्यादृष्टि है, वह तो जड़ का स्वामी हुआ।

मुमुक्षु : ....देता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...देता नहीं परन्तु यह बलजोरी से मानता है। बलजोरी से मानता है न? पैसा लो। पैसे के स्वामी पैसे हैं। पैसे का स्वामी कहीं तुम नहीं हो, तो यह कहे हमारे पैसे हैं। तुम्हारे कहाँ से आ गये? जड़ के हैं न! पैसा तो जड़ है।

मुमुक्षु : पैसे में कुछ नाम लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे में लिखा नहीं। उसमें अजीव का लक्षण है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अजीव का लक्षण है। पैसे का, नोट का, सोने का, चाँदी का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श लक्षण है। सेठ का नाम है यह? यह पैसे का है? पैसा इसका है? धूल का? ए... राजमलजी! अब यह व्यापार-ब्यापार धन्धा-बन्दा करेंगे न?

मुमुक्षु : अधिकार तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका अधिकार है? पैसा तुम्हारा है तो अधिकार है? वह तो अजीवतत्त्व है। पहले से श्रद्धा में सम्यग्दर्शन में लिया है, सम्यग्दर्शन में लिया है कि अजीवतत्त्व की कोई भी क्रिया मेरी नहीं है, क्योंकि अजीव मुझमें नहीं है और मैं अजीव में नहीं हूँ। मैं अजीव में नहीं तो अजीव की क्रिया हठ की, खाने की, पीने की क्रिया, वह तो मेरी है ही नहीं। वह तो जड़ की क्रिया है। आहा..हा..! खाना, पीना, उठना, बैठना, लड़ना, झगड़ना, बोलना, वह सब जड़ की क्रिया है। आत्मा की है? वह तो मिट्टी की, धूल की, पुद्गल की है। अन्दर शुभ / पुण्य का राग होता है, वह राग मन्द (हो), वह जाने कि यह शुभभाव है, बस इतना। वह स्वयं से। वह पुण्य-बन्ध है। उसे भी निश्चय से तो आदर नहीं करता। सम्यग्दृष्टि पुण्य का आदर नहीं करता। पुण्यरहित पवित्रता का आदर करता है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : उसे पुण्य बहुत बँधता है और उत्कृष्ट बँधता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उसे ही उत्कृष्ट बँधता है। चाहिए नहीं, उसे उत्कृष्ट बँधता है; चाहिए, उसे हल्का बँधता है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? क्या कहते हैं?

विषाद न करना... खिन्नता नहीं करना। **६–मुदित्व–दान देकर बहुत हर्ष न**

करे।* बहुत हर्ष न करे ऐसा कहते हैं। बहुत ऐसे। आहा..हा..! फट न जाये (अभिमान में न चढ़ जाये) ऐसा कहते हैं। बहुत हर्ष। ओहो..हो..! क्या है बहुत? जो हुआ वह तो शुभभाव था और बन गया। बहुत हर्ष न करे, ऐसा कहते हैं। जोश हो जाये - कितनों को तो ऐसा हो जाता है कि आहा..हा..! ऐसा किया होता तो। पैर ऐसे-ऐसे हों, और ऐसे-ऐसे हों। परन्तु क्या किया मानो? आहा..! हम तो ऐसे, हमारे घर में.. परन्तु क्या है? वह तो शुभभाव है। उसमें कितना प्रमोद और कितनी (महिमा)... प्रमोद न करे तो दोष, प्रमोद विशेष करे तो (ऐसा कहे)।

मुमुक्षु : वीतरागभाव है, उसमें राग की बात है।

मुमुक्षु २ : प्रमोद करे - ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो ऐसी है यह। करना लिखा है, वह बराबर है। वह बात तो ऐसी चाहिए। परन्तु बहुत हर्षभाव नहीं करना। मुदित हर्षभाव और विद्वानपना इस प्रकार सात दाता के गुण। मूल तो प्रमोद अर्थात् थोड़ा हर्ष करना, परन्तु बहुत ऐसा जोश नहीं करना। यह बात बराबर है। कितनों को तो ऐसे सहन नहीं होता। मान दिया सहन नहीं होता, अपमान किया सहन नहीं होता। जरा सा यदि महिमा करे तो फूल कर.. हुआ, बस। ओहो..हो..! जरा सा अपमान हो तो हाय.. हाय..! मर गया। पोपटभाई! कितनों को झेलने की शक्ति नहीं होती।

जिसे सम्यग्दर्शन है, उसे विकल्प आया है, उसकी जिसे ग्रहणबुद्धि नहीं, ज्ञातारूप से जानता है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। व्यवहार आता अवश्य है, वह जानने के लिये है, आदरने के लिये, निश्चय से आदरने के लिये व्यवहार होवे तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। सूक्ष्म तत्त्व है, भाई! वीतरागमार्ग ऐसा है, यह तो वीतरागता। जिसमें वीतरागता और निर्दोषता खड़ी हो, वह मार्ग है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस कृषिकार को अनाज पर दृष्टि है, घास पर नहीं। खड़ (घास का गुजराती शब्द)। समझे? घास-फूस। कृषिकार को घास-फूस पर दृष्टि नहीं है।

* ***मूल हिन्दी प्रति में इस प्रकार लिखा है - ६-मुदित्व-**दान देकर हर्ष बहुत करे अर्थात् अत्यन्त आनन्दित होवे।*

अनाज कितना पका है, उस पर दृष्टि है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को अन्तर शुद्धता पर दृष्टि है। पुण्य के विकल्प वे तो घास–फूस हैं। होते हैं।

मुमुक्षु : दोनों साथ में होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि साथ में नहीं। दृष्टि उसमें नहीं। आहा..हा..! राग पर दृष्टि हो तो पर्यायबुद्धि हो गयी। पर्यायबुद्धि तो मिथ्यादृष्टि है। अगम प्याला मार्ग का है, भाई! इसे पहले अन्दर में बैठाये तो सही। बराबर बैठाकर फिर अन्तर में जाये तो उसे खबर पड़े कि यह मार्ग यह है, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? वस्तु क्या है, इसकी बात नहीं। फिर कहे विकल्प घटाओ, शमन करो। ऐसे भी कहाँ शमन करे और कहाँ जाये? ऐसे के ऐसे। दुनिया को खबर नहीं होती और ऐसा लगे कि यह भी एक मार्ग लगता है, हों!

पूर्ण अस्तित्व की मौजूदगी के जोर बिना इस ओर का विकल्प घटता ही नहीं। समझ में आया? जिसमें विकल्प नहीं, ऐसे तत्त्व के आश्रय बिना विकल्प घटते / टूटते ही नहीं। वस्तु कितनी है, कैसी है यह मूल बात नहीं मिलती। राग घटाओ, विकल्प कम करो, पाप कम करो परन्तु कम करके जाना कहाँ? कहाँ दृष्टि? कोई वस्तु है अन्दर? यह कुछ हमें खबर नहीं। हो गया। वह तो मूढ़ है। आत्मा भगवान एक समय में पूर्ण पवित्र नाथ है, उसकी अन्तर्दृष्टि रखकर, फिर शुभभाव हो, उसे जाने। यह दृष्टि ही जहाँ नहीं और अकेला शुभभाव का आदर करे, वह संसार.. संसार.. संसार.. है। कठिन बात है, भाई! वीतरागमार्ग की यह (बात); इसलिए लोगों को कठिन पड़ती है न? व्यवहार से हो, ऐसे से हो (ऐसा आवे तो कहे), हाँ... यह मार्ग सही।

७–निरहंकारित्व–अभिमान न करना अर्थात् हम बड़े दातार हैं... समझ में आया? बहुतों को हो जाता है। कितनों को तो ऐसे दूसरों की अपेक्षा कुछ विशेष यदि कहे और यदि विशेष जो उसके घर हुआ.. आहा..हा..! वहाँ तो मानो क्या हो गया मेरे घर में!

यह सात गुण दातार के हैं... लो, समझ में आया? **रत्नकरण्डश्रावकाचार..** नीचे लिखा है। नीचे नोट है। **गाथा १३३ में दाता के सात गुण इस भाँति हैं– १–भक्तिधर्म में तत्पर रहकर,...** तत्पर रहकर क्यों कहा?

मुमुक्षु : तत्पर रहकर, अभी वाक्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तत्पर रहकर,... ठीक। **पात्रों के गुणों के सेवन में लीन रहकर पात्र को अंगीकार करे,...** पूरी भक्ति की व्याख्या की है। **धर्म में तत्पर रहकर,...** देखो! यह भाषा! तत्पर रहकर। आत्मा के शुद्धस्वभाव में तत्पर रहकर, अपने गुणों के सेवन में लीन होकर, **पात्र को अंगीकार करे, प्रमादरहित, ज्ञानसहित, शान्तपरिणामी हुआ...** प्रमादरहित, ज्ञानसहित, शान्तपरिणामी हुआ। **पात्र की भक्ति में प्रवर्त्ते।** लो, इतनी व्याख्या यह की। भक्ति की व्याख्या इतनी बड़ी, लम्बी की। मैंने कहा इसमें आठ बोल आ जायेंगे।

२-तुष्टि-देने में अति आसक्त, पात्रलाभ को परम निधान का लाभ माने। लो! प्रमोद की व्याख्या... आहा..हा..! मुदित, यह भी मुदित का अर्थ ठीक है। **पात्रलाभ को परम निधान का लाभ माने। ३-श्रद्धा,...** उसे विश्वास होवे न! ये मुनि हैं, पात्र हैं। **४-विज्ञान,...** विज्ञान चाहिए, वह मूढ़ नहीं होता। **५-अलोलुप,...** लोलुपतावाला नहीं होता। **६-सात्त्विक,...** कोमल स्वभाव हो, नरम स्वभाव हो और **७-क्षमा।** ऐसे बोल वहाँ लिये हैं।

वह प्रत्येक दातार में अवश्य होना चाहिए। सम्यग्दर्शनसहित ऐसे दाता के गुण उसमें होना चाहिए। समझ में आया? **इस भाँति नव प्रकार की भक्तिपूर्वक तथा सात गुण-संयुक्त जो दातार दान देता है, वह दान विशेष फल प्रदान करता है। और जो इसके अतिरिक्त दान देता है, वह बहुत फल देनेवाला नहीं होता।** कदाचित् साधारण पुण्य बाँधे, परन्तु यह तो पवित्रतासहित पुण्य बाँधे।

गाथा - १७०

किन वस्तुओं का दान करना चाहिये यह अब बताते हैं:-

रागद्वेषासंयममदद्:खभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्।।१७०।।

जो वस्तुएं मद राग द्वेष, रु दुख असंयम भयादि।
को नहिं करें वे देय, करतीं सुतप स्वाध्याय वृद्धि हि।।१७०।।

अन्वयार्थ : (यत्) जो (द्रव्यं) द्रव्य (रागद्वेषासंयममददु:खभयादिकं) राग, द्वेष, असंयम, मद, दु:ख, भय आदि (न कुरुते) नहीं करता हो और (सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्) उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाला हो (तत् एव) वही (देयं) देने योग्य है।

टीका : 'यत् (वस्तु) रागद्वेष असंयम मद दु:ख भयादिकं न कुरुते तत् एव सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरं द्रव्यं देयं।' –अर्थ :– जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दु:ख और भय की उत्पत्ति का कारण न हो तथा जो वस्तु तप व शास्त्रस्वाध्याय को बढ़ानेवाली हो, उसी का ही दान करना चाहिए। जिस द्रव्य का दान देने से अपने कर्मों की निर्जरा हो और पात्र–जीवों को तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि हो ऐसे द्रव्य का ही दान श्रावक को देना चाहिए। किन्तु ऐसा गरिष्ठ भोजन आदि नहीं देना चाहिए जिससे आलस्य आदि की वृद्धि हो। ऐसा उत्कृष्ट दान चार प्रकार का है। १– आहारदान– क्षुधा निवारण के लिये तथा शरीर की स्थिरता के लिए आहार देना प्रथम दान है। २– औषधदान– रोगादि की पीड़ा दूर करने के लिए दवा देना द्वितीय दान है। ३–ज्ञानदान– अज्ञान का नाश और ज्ञान का विकास करने के लिए शास्त्र आदि का देना तृतीय ज्ञानदान है। ४–अभयदान– भय निवारण करना तथा जंगल में झोंपड़ी, वसतिका, धर्मशाला आदि बनवाना, अँधेरे मार्ग में प्रकाश की व्यवस्था इत्यादि करवाना चतुर्थ दान है। (अथवा–भिक्षा, उपकरण, औषध, प्रतिश्रय के भेद से चार प्रकार का दान है। भिक्षा अर्थात् आहार, उपकरण अर्थात् धर्म के लिये उपकारी शास्त्रादि, औषध अर्थात् रोग मेटने के लिए दवा, प्रतिश्रय अर्थात् वसतिका–इनका दान देना योग्य है।) इस प्रकार आत्मकल्याण के निमित्त दान देना वही वास्तविक दान है परन्तु जिन वस्तुओं के दान देने से संसार के विषय आदि तथा रागद्वेष की वृद्धि हो ऐसा दान नहीं देना चाहिए।

भावार्थ : (जैसे पृथ्वी, मकान, घोड़ा, हाथी, गाय, सोना, चांदी, स्त्री, शस्त्र इत्यादि जो वस्तुएँ रागादिभाव की उत्पन्न करनेवाली हों अथवा कामोद्दीपनादि विकार भावों को उत्पन्न करनेवाली हों अथवा विषादिक वस्तुएँ जो दु:ख देनेवाली हों, उनका दान नहीं देना चाहिए क्योंकि वह सब कुदान हैं। इनका दान देने से हलकी गति के बन्ध के अलावा और कुछ नहीं होता, अतः ऐसा कुदान नहीं करना चाहिए)।।१७०।।

गाथा १७० पर प्रवचन

किन वस्तुओं का दान करना चाहिये यह अब बताते हैं:-

रागद्वेषासंयममद्दु:खभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतप: स्वाध्याय वृद्धिकरम्।।१७०।।

ऐसा ही होता है न! यहाँ तो व्याख्या व्यवहार से सिद्ध क्या करे? जो वस्तु ऐसी देना कि सामनेवाले को राग-द्वेष उत्पन्न न हो। द्वेष न हो, असंयम न हो, मद न हो, दु:ख न हो, करता नहीं ऐसा। समझ में आया? यह पैसा दे, उसके मकान दे, कहते हैं और जमीन। उसमें क्या? वह तो सब पाप है। यह तो **'रागद्वेषासंयममददु:खभयादिकं'** करता न हो वह। और यह नकार का हो या हकार का। **'सुतप: स्वाध्याय वृद्धिकरम्' उत्तम तप...** आत्मा का ध्यान आदि और **तथा स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाला हो...** लो, देखा! मुनि को तो ध्यान और स्वाध्याय दो ही होते हैं न? दो ध्यान। अन्तर शुद्धोपयोग का ध्यान, आनन्द में रहना, यही मुनि का मुख्य मार्ग है। उसमें न रह सके तो शास्त्र की स्वाध्याय करे। **वृद्धि करनेवाला हो, वही देने योग्य है।** ऐसे आहार और पानी ऐसे देने योग्य हैं। उसमें कोई नुकसान हो, ऐसे देने योग्य नहीं।

जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दु:ख और भय की उत्पत्ति का कारण न हो तथा जो वस्तु तप व शास्त्रस्वाध्याय को बढ़ानेवाली हो, उसी का ही दान करना चाहिए। यह तो निमित्त की व्याख्या है, हों! परपदार्थ इसे कुछ बढ़ाता नहीं, परन्तु उस बढ़ने में निमित्त कौन है, उसकी व्याख्या चलती है। बढ़ता है तो उसके स्वभाव के कारण बढ़ता है। वह कहीं आहार-पानी से नहीं बढ़ता, परन्तु व्यवहारनय के कथनों में ऐसा वहाँ निमित्त हो, उसे वहाँ शुद्धि की वृद्धि स्वयं के कारण होती हो तो उसे उसके निमित्त कहने में आता है। इसका विशेष भावार्थ लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६६ गाथा-१७० से १७१ बुधवार, आषाढ़ शुक्ल १३, दिनांक १९.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। अमृतचन्द्राचार्य महाराज दिगम्बर सन्त ९०० वर्ष पहले हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्रों की कितनों की टीका करनेवाले, स्वयं ने यह बनाया है। 'तत्त्वार्थसार' बनाया है, यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (बनाया है, इसमें) श्रावक का अधिकार चलता है। गाथा १७० का भावार्थ।

अतिथिसंविभागव्रत की बात चलती है न? अतिथिसंविभागव्रत की चलती है। बारहवाँ व्रत। धर्मी को बारहवाँ संन्यासव्रत जो है, वह अतिथिव्रत है। संन्यास बाद में आयेगा। उसे प्रथम वस्तु आत्मा जो है, वह कर्म और कर्म के निमित्त से होते पुण्य-पाप के भाव से रहित एक वस्तु हूँ-असंख्यप्रदेशी वस्तु हूँ, त्रिकाली अनादि-अनन्त रहनेवाला हूँ और अनन्त गुणवाला हूँ - ऐसा पहले ज्ञान करके और पश्चात् अन्दर में द्रव्य पर लक्ष्य देने से (स्थिरता प्रगट होती है)। समझ में आया? मैं एक आत्मा एक वस्तु हूँ, प्रदेश असंख्य है, त्रिकाल रहनेवाला हूँ, अनन्त जिसके गुण हैं - ऐसा एक द्रव्य आत्मा, सर्वज्ञ ने कहा है, तदनुसार नय, निक्षेप आदि से पहले निर्णय किया हो। ऐसा आत्मा का निर्णय होकर, स्वसन्मुख की दृष्टि करके जो सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसे श्रावक की पहली भूमिका सम्यग्दर्शन कहने में आता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : कुल में जन्में इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुल में कौन जन्मता है? जन्मता है ही कहाँ? पर्याय में जन्मता है। पर्याय में उत्पन्न होता है। पर्याय में उत्पन्न जहाँ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुए बिना, इसे श्रावक की भूमिका का पहला योग्य पात्र भी कहने में नहीं आता। कहो, समझ में आया?

वस्तु आत्मा, वस्तु एक; प्रदेश असंख्य; रहना अनन्त काल; गुण का अनन्त भाव का समूह; उनकी पर्यायें अनन्त—ऐसे पहले ज्ञान सर्वज्ञ के साथ शास्त्र से, सत् समागम

से जानकर, फिर वस्तु के अन्तर में अभेद चैतन्य पर दृष्टि देने से, जो सम्यग्दर्शन निर्विकल्प होता है, उसे श्रावक के पहले की, पहली भूमिका कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? फिर स्वरूप में विशेषरूप से वस्तुस्वभाव का आश्रय लेकर स्थिरता का अंश जो विशेष शान्ति का प्रगट हुआ है, उसे यह बारह व्रत के व्यवहार विकल्प होते हैं, उनका यह वर्णन चलता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह विकल्परहित है या विकल्पसहित है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्परहित भी है और विकल्पसहित भी है, दो है। जितना आत्मस्वभाव के आश्रय से, स्वस्वभाव के आश्रय से स्थिरता का अंश हुआ, वह विकल्परहित है। वास्तविक दशा वह है। उसमें ऐसे विकल्प होते हैं। समझ में आया ? उसे व्यवहारचारित्र रूप से अन्तर की स्थिरता को प्रसिद्धरूप से बतानेवाला है, इसलिए उसे व्यवहारचारित्र कहा है। यह दान देना आदि वह विकल्प है, शुभराग है। समझ में आया ? दूसरे को आहार देने का भाव; आहार देने की क्रिया तो स्वतन्त्र जड़ की है। यह आत्मा आहार दे सके या खा सके, यह तो वस्तु में है ही नहीं। वे तो जड़ के परमाणु हैं। आत्मा को आत्मा के भानसहित भाव हो, विशेष धर्मात्मा देखकर आहार देने का भाव, शुभभाव (आवे), उसकी यह बात चलती है। समझ में आया ? ओहो..हो.. ! अभी सल्लेखना का व्रत कहेंगे, हों !

भावार्थ : जिस द्रव्य का दान देने से अपने कर्मों की निर्जरा हो... अर्थात् कुछ दान देने से कर्म की निर्जरा नहीं (होती) परन्तु उस काल में अपने शुद्धस्वरूप की ओर एकाग्रता का स्वदान देता है, उससे निर्जरा है। उसे परद्रव्य के दान में विकल्प व्यवहार से कहने में आता है (कि) इससे निर्जरा होती है। ऐसा है। सेठी ! और फरमाओ - ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! आत्मा अनन्त-अनन्त शान्तरस और गुण का पिण्ड प्रभु है, जिसकी मति-श्रुतज्ञान की एक समय की अवस्था भी छह द्रव्य को जानने की ताकतवाली है, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय की ताकत गुण और अनन्त गुण का रूप ऐसा आत्मा, अन्तर में जहाँ विकल्परहित दृष्टि से भान में, प्रतीति में, अनुभव में आया, उसे जो स्व आश्रय विशेष होकर स्थिरता का अंश होता है, उससे निर्जरा कहने में आती है। क्या है ? सेठी !

मुमुक्षु : दान देने से...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दान देने में यह है। वह व्यवहारनय का वाक्य है। उसमें से निश्चय निकालना चाहिए।

मुमुक्षु : देना–लेना...

पूज्य गुरुदेवश्री : देना–लेना कोई आत्मा कर नहीं सकता। एक रजकण, पॉइन्ट, एक रजकण है, वह ले नहीं सकता, दे नहीं सकता, वह तो स्वतन्त्र द्रव्य है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब क्या लिया जाता है? आहार लिया जाता होगा इतना बड़ा? इतना आहार लिया जाये। यह कहा था? कहाँ गया तुम्हारा? गया सुमनभाई! वह सुमनभाई और कनुभाई दो पालीताणा गये थे। परमाणु का नहीं कर सकता, स्कन्ध का आत्मा कर सकता है (ऐसा किसी ने कहा)। आहा..हा..! कौन करे? भाई!

अभी ही रास्ते में बात हुई थी। सुदृष्टितरंगिणी में आता है न? एक गिरी–गुफा में छह मुनि बैठे होते हैं, गुफा में छह मुनि। वीतरागी मुनि होते हैं। वे बैठे होते हैं, उन्हें पर की कुछ नहीं और उठे हों तो पर की कुछ नहीं कि ये पाँच मुनि साथ में हैं न! ध्यान में से निकले और विकल्प आया कि उठूँ, तो चले। अन्य पाँच की उन्हें दरकार / अपेक्षा नहीं है। वीतरागी मुनि हैं न? मुनि किसे कहते हैं? वीतरागदशा... आहा..हा..! जिन्हें अन्दर में से अतीन्द्रिय आनन्द उछल गया है, प्रगट हो गया है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द में जहाँ उग्र रमणता है, उसे मुनि कहने में आता है। उन्हें तो दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है। ऐसे छह मुनि गुफा में बैठे हों, तो कब उठेंगे? किसके कारण वे कोई हैं नहीं। छहों स्वतन्त्र। उठे तो उठे, बैठे तो बैठे। छहों स्वतन्त्र हैं।

इसी प्रकार इस चौदह ब्रह्माण्ड की गुफा में छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं। वीतरागभाव में जैसे (मुनि) स्वतन्त्र हैं, किसी की अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार किसी द्रव्य को, किसी द्रव्य की परिणति में, पर्याय में बदलने में अपेक्षा नहीं है। आहा..हा..! गुफा का दृष्टान्त दिया है।

छह मुनि बैठे हैं। मुनि वीतराग.. आहा..हा..! उपशमरस में स्थिर होकर पिण्ड हो गये, पिण्ड – जम गये हैं। अन्तर शान्ति का रस। अतीन्द्रिय आनन्द के तो ऐसे पिण्ड

अन्दर दशा में सुधारस अमृतरस झरता है। मुनि किसे कहें? आहा..हा..! अमृतरस, अतीन्द्रिय अमृतरस, ऐसी दशा का जहाँ रमण है। कहते हैं कि वे छह मुनि बैठे हैं, किसी को किसी की पड़ी नहीं है। समझ में आया? आँख बन्द करके ध्यान में बैठे होते हैं। विकल्प उठा तो चल निकले और बैठे तो बैठे, परन्तु स्वयं के कारण से। पर की अपेक्षा नहीं।

इसी प्रकार इस चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर भगवान ने छह द्रव्य जाति से देखे हैं। वे प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र स्वयं से परिणम रहे हैं। किसी की किसी को अपेक्षा नहीं है। अरे! अपेक्षा न हो तो जैनधर्म तो अपेक्षित है? वह तो निमित्त का ज्ञान कराने को बात है। समझ में आया? आहा..हा..! वस्तु स्वयं अपने काल में–स्व काल में प्रत्येक आत्मा या परमाणु, अपनी पर्याय से परिणम रहे हैं। उन्हें पर के सामने मुँह देखने की... क्या कहते हैं? ताकना। दूसरे का मुँह ताककर परिणमते हैं, ऐसा नहीं है। कौन निमित्त को ताके?

मुमुक्षु : निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को कुछ नहीं। निश्चय से किसी को कुछ है नहीं।

मुमुक्षु : ....व्यवहार से....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो व्यवहार का ज्ञान, कौन निमित्त था – उसका ज्ञान करने के लिये बात है। निमित्त–निमित्त पृथक्ता की सिद्धता बतलाते हैं। पराधीनता नहीं बतलाता। एक रजकण इस आँख की पलक चलती है, वह आत्मा से नहीं। यह ऐसे हिलती है, वह आत्मा से नहीं। आत्मा माने कि मुझसे हिली तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव है। उसे वीतराग के तत्त्वों की श्रद्धा की खबर नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? किसे दे–ले?

यहाँ तो लेना–देना काल में श्रावक के जो परिणाम वर्तते हैं, उनका क्या स्वरूप, यह वर्णन करते हुए देते–लेते हैं, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? वीतरागमार्ग, भाई! आहा..हा..! इस शरीर के रजकण में रहा हुआ आत्मा स्वतन्त्र परिणमता है। कुछ लेना–देना (नहीं)। शरीर की पर्याय को आत्मा के लिये (अपेक्षा) नहीं और आत्मा की पर्याय की अपेक्षा शरीर की पर्याय को नहीं।

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। कब की बात क्या? अभी।

मुमुक्षु : मुनि हो तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि क्या ? सदा। अज्ञानी न माने तो ऐसा है। शरीर के रजकण-रजकण स्वयं के कारण से 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्' तो नया-नया उत्पाद अवस्था के कार्य को एक-एक परमाणु कर रहा है। कोई दूसरे परमाणु की उसे अपेक्षा नहीं, आत्मा की अपेक्षा नहीं। आत्मा को उसके परिणमन की अपेक्षा नहीं। उसका परिणमन उसमें, आत्मा का आत्मा में है। समझ में आया ? कहो, पोपटभाई ! तुम्हारे छह व्यक्ति हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ठीक। यह तो छह पुत्र, उन छह द्रव्य की अपेक्षा से मस्तिष्क में बात आयी। कहो, समझ में आया ? 'कोना छोरुं ने कोना वाछरुं, कोना मां ने बाप ? अन्ते अन्त काले जाऊ एकलूं छोड़ि ने सकलनूं साथ।' छोड़कर ही बैठा है, अभी छूटे हुए ही हैं, भाई ! आहा..हा.. !

अकेला भगवान आत्मा, कर्म और शरीर से निराला अपना परिणमन है और आत्मा का अन्तर शुद्धस्वरूप का भान होने से, राग से भी निराला जिसका परिणमन है। अज्ञानी को सब कर्म के रजकणों के मध्य में रहा हुआ तत्त्व, अपने ही परिणमन से वह स्वयं पर से पृथक् परिणम रहा है और रजकण आदि भी आत्मा की अपेक्षा बिना स्वतन्त्र पृथक् परिणम रहे हैं और आत्मा का शुद्धस्वरूप पवित्र, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन हुआ, तब तो राग जो निकट में उत्पन्न होता है, उस काल में, उससे स्वतन्त्र परिणमन शुद्ध होता है। पहले तो निकट में ऐसे थे। समझ में आया ? सेठी ! क्या कहा ? दूसरी बार कहूँ तो और उससे अधिक सूक्ष्म निकला। यह कहीं मेल है। क्या निकले यह ?

अनादि से आत्मा अपने अस्तित्व में ही परिणम रहा है। किसी के अस्तित्व की अपेक्षा रखकर नहीं परिणमता तथा दूसरे अस्तित्व होनेवाले दूसरों की अपेक्षा रखकर नहीं परिणमते। इस प्रकार अनादि से हो रहा है। इसलिए अभी भी शरीर और कर्म के रजकण उनकी पर्यायरूप से परिणमते हैं, आत्मा के कारण से नहीं और आत्मा अपने कारण से परिणमता है, पर के कारण से नहीं। एक बात।

इसीलिए तो यहाँ अब श्रावक की बात चलती है, तो श्रावक को पहले सम्यग्दर्शन हुआ होता है, उसमें वह पर से तो भिन्न परिणमन है, ऐसा तो भान पहले साधारण है, परन्तु

मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है; इसलिए मेरा परिणमन राग से रहित, अरागी परिणमन वह मेरा है। समझ में आया? उसे ऐसा जो राग आता है, उसकी व्याख्या का स्वरूप बताते हैं। अरे! कहो, समझ में आया?

यह द्रव्य का दान देने से अपने कर्म की निर्जरा (होती है)। दान के समय ग्रहण-त्याग का विकल्प है, वह शुभ है, उससे पुण्य बँधता है परन्तु उसके पीछे उसी समय में पहले समय की अपेक्षा शुद्धता का आश्रय विशेष वर्तता है, इसकी निर्जरा होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उस राग के पीछे अर्थात् स्वरूप के आश्रय से स्थिर हो वह। राग रह गया ऐसा और स्थिरता रह गयी ऐसी।

और पात्र जीवों को तप, स्वाध्याय इत्यादि की वृद्धि होती... है। निमित्त से बात है न, यह तो निमित्त से बात है। जो इसे स्वाध्याय आदि करता है, उसे आहार आदि निमित्त कहलाता है। **वैसे द्रव्यों का ही दान श्रावक को देना चाहिए। जिससे आलस्य इत्यादि की वृद्धि हो, ऐसे गरिष्ठ भोजन इत्यादि का दान नहीं देना।** बहुत तोलदार, वजनदार, घी, अकेला मक्खन और अकेली कठिन चीज़ हो, पचे नहीं ऐसी, ऐसा आहारदान देना नहीं। कहो, समझ में आया?

ऐसा उत्कृष्ट दान चार प्रकार का है। १- आहारदान- शरीर की स्थिरता के लिए आहार देना प्रथम दान है। वह शुभ विकल्प है। उसमें यह निमित्त है, इसलिए आहारदान की व्याख्या की है।

२- औषधदान- रोगादि की पीड़ा दूर करने के लिए औषध देना द्वितीय दान है। वह है शुभविकल्प। दान परद्रव्य के लक्ष्य से जो क्रिया होती है, उसमें है तो विकल्प ही, परन्तु स्वभाव का उस समय शुद्धता का आश्रय पहले समय की अपेक्षा विशेष आगे की ओर बढ़ा है न? इस अपेक्षा से निर्जरा गिनकर दान में निर्जरा होती है, ऐसा कहने में आता है। बड़ा अन्तर है। पर के आश्रय से निर्जरा नहीं होती। समझ में आया? तीर्थंकरदेव को आहार देनेवाले को निर्जरा नहीं होती। आहार देने की वृत्ति निर्जरा का कारण नहीं है। वह पुण्य-बन्ध का कारण है। समझ में आया?

जितना भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दमूर्ति अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय जितना उग्ररूप से होता है, उतना उसे शुद्धपना, संवर–निर्जरा और मुक्ति का उपाय होता है। कहो, समझ में आया? कल पहले कहा था न? केवल अन्तर्मुख उपयोग वह सर्व दुःख क्षय होने का कारण है। तीन काल–तीन लोक में एक ही सिद्धान्त है। भगवान आत्मा अपनी स्वरूप सम्पदा को अपने वर्तमान उपयोगरूपी आचरण द्वारा प्रगट करता है, वही अन्तर उपयोग, वही शुद्धता का कारण है। समझ में आया? जितना बहिर्उपयोग जाता है (उतना) बन्धन, बन्धन और बन्धन। दान का उपयोग भी पर उपयोग है; स्व उपयोग नहीं। स्व उपयोग–स्व आचरण नहीं। इतना वह पर आचरण राग का है। ओहो..हो..! क्या है?

मुमुक्षु : थोड़ा–सा कठिन पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन कहाँ है? जो है ऐसा है। कठिन कहो या हल्का कहो। जैसा है वैसा है। वस्तु तो ऐसी है। दूसरे प्रकार से मानें तो उसके घर में से बाहर मिथ्यात्व में चला जायेगा। समझ में आया? आहा..हा..! आगे सल्लेखना में कहेंगे। सल्लेखना भी कहते हैं न... परन्तु सल्लेखना पहले से विचारकर निर्णय करे। मुझे मृत्यु के समय समाधि से मरना है। ऐसा एक प्रकार का निर्णय करे। पहले से, हों! जो बारह व्रत के विकल्प हैं ऐसा.. अहो! देह छोड़ने के अवसर पर मेरी समाधि मुझे रहे। देह के एक–एक रजकण (पलटेंगे) और उस समय को आने की अब देरी नहीं है। जिसे ५०–५०, ६०, ७० (वर्ष) निकल गये, उन्हें देरी है? छगनभाई! आहा..हा..! कहो, ७०–७०, ७५, ७८, ८०, ८४ निकले उन्हें तो अब उनका चौथा भाग भी निकलनेवाला नहीं है। इतना तो निर्णय फिर थोड़ा–बहुत कहकर उसे इतना निकालना। सेठी! बराबर है? ८० का चौथा भाग भी अब तुम्हारे निकलनेवाला नहीं है।

मुमुक्षु : वह तो रहना हो तो रहे। जाने दो न उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब यह कहना है कि अल्प काल में शरीर छूटनेवाला है, उसके लिये पहला समाधि का निर्णय करना चाहिए। आहा..हा..! समझ में आया? स्वभाव सन्मुखता की उग्रता का पुरुषार्थ पहले से तैयार चाहिए। आहा..हा..! उस समय फिर अन्तड़िया ऐसे है और यह हो। मुझे सुनाओ। क्या सुनायें तुझे? तिरने का तो तेरे स्व–आश्रय से काम है। हम सुनावें उसमें तुझे क्या? तुझे तो उस समय शुभभाव होगा।

मुमुक्षु : वह ध्यान देगा तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लक्ष्य करे तो न!

मुमुक्षु : ....सुनने को मिलेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर क्षण में ऐसे बहुत शिथिल पड़ जाता है न? भाई! शरीर की स्थिति (छूटनेवाली हो) उस समय ऐसे तैयार, अन्दर से याद आवे कि आहा..! आत्मा शान्त, आनन्द सुना था न हमने? वीतरागस्वरूप सुना था न, उसे यह विकल्प क्या? ऐसे स्मरण आकर स्थिर होने का नाम सुनना कहलाता है। इस सुनने का फल यह है। कोई हाल डाले ऐसा नहीं। पूरे चार मण का शरीर रजकण-रजकण पलटेंगे। पैर का रजकण कुछ, आँख का रजकण कुछ, नाक का रजकण कुछ, यहाँ दर्द आयेगा, यहाँ कुछ होगा, यह होगा और यह होगा। यह तो हो उसे। न हो उसे साधारण होकर जाये परन्तु फेरफार तो होगा या नहीं? यह रजकण में से निकलना है। यहाँ १००-१००, ५०, ७०, ८० वर्ष इसमें रहा है। यहाँ कहीं देह का स्थायी मुकाम नहीं है। आहा..हा..!

कहते हैं, ऐसे मुनियों को देखकर उसे प्रमोद आता है। ओहो..! धन्य जीवन ऐसा! मेरा भी जीवन कब (ऐसा होगा)? श्रावक ऐसी भावना भाता है। इसलिए आहारदान की वृत्ति उसे उत्पन्न होती है। ये मुनि अर्थात् अन्तर आनन्दकन्द में (झूलनेवाले)! आहा..हा..! धन्य परमेश्वर हैं ये तो! मुनि अर्थात् परमेश्वर। इन्हें चार ज्ञान के धारक गणधरदेव नमस्कार करते हैं। णमो लोए सव्वसाहूणं। गणधर महाविदेहक्षेत्र में विराजमान सीमन्धर प्रभु के गणधर हैं। जब शास्त्र रचना करते हैं, तब वे स्वयं णमो लोए सव्वसाहूणं (उच्चारण करते हैं)। हे सन्तों! तुम्हारे चरण में मेरा नमस्कार। आहा..हा..! उन गणधर का जिन्हें नमस्कार पहुँचे, वह मुनिदशा कैसी! बापू! आहा..हा..! वह परमेश्वर पद है, भाई! लोगों को खबर नहीं। मात्र वस्त्र छोड़कर बैठे नग्न, वह तो अनन्त बार (किया है)। इससे तो अनन्त बार ऊँचे / नौवें ग्रैवेयक गया, तब तो अनन्त ऊँचा शुभभाव ऐसा किया कि उसके जैसे मिथ्यादृष्टि को-दूसरे को शुभभाव होता नहीं। परन्तु भगवान आत्मा की सम्हाल किये बिना उपयोग अन्तर में जोड़े बिना, भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु को अन्तर में-उपयोग में लाये बिना (रंचमात्र भी सुख नहीं हुआ)। आहा..! समझ में आया? अपने ज्ञान के व्यापार के

आचरण में भगवान को लाये बिना या भगवान आत्मा में उपयोग जोड़े बिना कहीं शान्ति नहीं है। समझ में आया ? कहीं समाधि नहीं है।

ऐसे सगे-सम्बन्धी सब खड़े हों, रोते हों, आँख में से आँसू (बहते जा रहे हों), यहाँ मेरा कुछ नहीं, रजकण नहीं। अब तू रो या न रो, यहाँ कौन सामने देखनेवाला है। समझ में आया ? परन्तु जिसने ऐसा अभ्यास पहले से किया होगा, उसे उसका फल वहाँ आयेगा। अभ्यास ही किया नहीं। यह क्या है ? छूटा हुआ है, और क्षेत्र अवगाहन से छूटेगा, उस समय की मेरी दशा कैसी होगी ? समझ में आया ? यह पहले से सम्यग्दृष्टि भावना भाता है। मेरा कब समाधिमरण होगा ? शान्ति.. शान्ति.. शान्ति..

छह-छह डिग्री का बुखार आया हो। छह डिग्री। डिग्री कहते हैं न ? भूल जाते हैं वापस। छह डिग्री का बुखार, सात डिग्री का बुखार, सिर पर गीली पट्टी रखते हैं। अब पट्टी-बट्टी रखे वहाँ कहाँ पट्टी जले ऐसा है ? वहाँ अन्दर पट्टी कहाँ खिले ऐसा है ? सिर फट जाये, भाईसाहेब ! परन्तु आत्मा को फाड़ (प्रगटकर) न अब। सिर फट जाये, वह तो उसके घर रहा, वह तो जड़ में है। ऐ.. पोपटभाई ! आहा..हा.. !

देखो ! यहाँ तो श्रावक बारहवें व्रत में भी मुनि को आहार देने के उल्लास में वृत्ति आती है, उस समय अपने स्वभावसन्मुख की जितनी स्थिति है, उतनी निर्जरा है। बाकी यह व्यवहार दान, पुण्य का कारण है। **३-ज्ञानदान- अज्ञान का नाश और ज्ञान का विकास करने के लिए...** परन्तु यह सब शुभविकल्प है, हों ! शास्त्रदान दे या उपदेश करे, उसमें कुछ निर्जरा, संवर-फंवर नहीं है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : तो पुण्य की परम्परा कारण...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; परम्परा कारण धूल में भी नहीं। राग होता है, वह परम्परा (कारण) किस प्रकार होगा ? राग का अभाव करके दृष्टि में वह राग तो जहर है – ऐसा माना है। जहर, परम्परा अमृत का कारण होगा ? वह तो निमित्त से कथन आया है। उसने वर्तमान अशुभ छोड़ा है, दृष्टि में उसे हेय जानता है, स्थिरता करके छोड़ देगा; इसलिए परम्परा उसे कहने में आया है। अभी तो राग से कुछ लाभ माने, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे परम्परा कहाँ से आया ?

भगवान आत्मा अनन्त गुणसमाज वीतरागभाव से (स्थित है)। क्योंकि एक गुण जैसा वीतरागचारित्र स्वभाव है। अन्तर शाश्वत् स्वभाव, हों! ऐसे अनन्त गुण को निमित्तरूप है, इसलिए सभी भाव वीतरागभाव से सब गुण हैं। उनमें यह विकल्प आया, उसे परम्परा से लाभ करेगा, (यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है)। निज उपयोग की उग्रता के बिना आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पहले सम्यक् का उपयोग जगा है, परन्तु फिर भी निज उपयोग की उग्रता द्वारा लाभ है। कहो, समझ में आया? लाख बात की बात.. आता है न? छहढाला में नहीं आता? छहढाला में आता है। 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ, छोड़ि जगत द्वन्द्व फन्द...' आता है न? ऐसा कुछ आता है। भूल गये। फिर क्या? 'निज आतम उर ध्याओ।' सब छोड़कर ऐसे आओ। समझ में आया? यह ज्ञानदान है।

४-अभयदान-जंगल में झोंपड़ी, वसतिका, धर्मशाला आदि... मुनि के लिये बँधावे नहीं, हों! कोई धर्मात्मा हो, श्रावक आदि हो या कोई दुःखी प्राणी हो, जंगल में मरने पड़ा हो, ऐसी स्थिति हो, वहाँ आगे झोंपड़ी, वसतिका, धर्मशाला इत्यादि (बनावे)। मनुष्य कोई अन्तिम स्थिति में मरने पड़ा हो, तो उसे वहाँ से गाँव में लाने को दो, चार, पाँच कोश दूर पड़े तो उस जगह दया का भाव ऐसा होता है। समझ में आया? **अँधेरे मार्ग में प्रकाश की व्यवस्था इत्यादि करवाना...** बेचारा दुःखी प्राणी अन्धकार में निकल नहीं सके, उस समय ऐसा अभयदान का शुभभाव आता है। कहो, समझ में आया?

इस प्रकार आत्मकल्याण के निमित्त दान देना वही वास्तविक दान है... लोभ के लिये और कुछ लाभ के लिये बाहर मिलेगा, ऐसा नहीं, यह कहते हैं। **परन्तु जिन वस्तुओं के दान देने से संसार के विषय आदि तथा रागद्वेष की वृद्धि हो, ऐसा दान नहीं देना चाहिए। जैसे पृथ्वी का दान, मकान, घोड़ा, हाथी, गाय, सोना, चांदी, स्त्री इत्यादि...** का दान करना, वह तो पाप है। **जिनसे राग-द्वेष की वृद्धि हो, उसे ही कुदान कहते हैं। ऐसा दान करने से हल्की गति के बन्ध के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं होता, इसलिए ऐसा कुदान नहीं करना चाहिए।** लो,

गाथा - १७१

अब पात्रों का भेद बताते हैं :-

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।१७१।।

हैं पात्र तीन प्रकार शिव, हेतु गुणों संयुक्त ही।
अविरत सुदृष्टि देशविरति, सकल विरति जिन कही।।१७१।।

अन्वयार्थ : (मोक्षकारणगुणानाम्) मोक्ष के कारणरूप गुणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों के (संयोगः) संयोगवाला (पात्रं) पात्र (अविरत-सम्यग्दृष्टिः) व्रतरहित सम्यग्दृष्टि (च) तथा (विरताविरतः) देशव्रती (च) और (सकल-विरतः) महाव्रती (त्रिभेद) तीन भेदरूप (उक्तम्) कहा गया है।

टीका : 'मोक्षकारणगुणानां संयोगः पात्रं त्रिभेदं उक्तम् सकलविरतः च विरताविरतः च अविरतसम्यग्दृष्टि च इति।' -अर्थः- मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप संयोग जिसमें पाया जाय, वह पात्र कहलाता है। वह उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं।

भावार्थ : सकलचारित्र और सम्यक्त्वसहित महामुनि उत्तम पात्र हैं, देशचारित्र और सम्यक्त्वसहित श्रावक मध्यम पात्र हैं और व्रतरहित सम्यक्त्वसहित श्रावक जघन्य पात्र हैं। जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, वही पात्र कहे जाने योग्य है। सम्यग्दर्शन के अभाव में किसी प्रकार की पात्रता नहीं हो सकती; इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि पात्र नहीं है, अपितु उत्तम कुपात्र है, क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। अब यहाँ विचारने की बात यह है कि पात्र का भेद व्यवहारसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से? यदि निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाय तब तो उत्तम पात्र की पहिचान करना साधारण जन की बुद्धि के बाहर की बात है, और यदि व्यवहारसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाय तो प्रथम गुणस्थानवाला जीव भी व्यवहारसम्यग्दृष्टि हो सकता है और वह उत्तम पात्र की गणना में आ सकता है। इसलिए

द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र हो सकता है और यही ठीक भी लगता है। कारण कि पात्र की पहिचान करना श्रावक का कार्य है। श्रावक जिस बात की जितनी परीक्षा कर सकता है, उतनी ही करेगा; अतः द्रव्यलिंगी को भी (व्यवहार) पात्रता हो सकती है। इसलिए व्यवहारसम्यग्दर्शन से पात्रों की परीक्षा करके उनको यथायोग्य विनय, आदरपूर्वक दान देना योग्य है (अर्थात् जो पात्र व्यवहार-रत्नत्रय से संयुक्त हो, उसे यथायोग्य विनयपूर्वक दान देना उचित है।) इसके अतिरिक्त दुःखी जीवों को करुणाभाव से दान देना चाहिए, भक्तिभाव से नहीं। (क्योंकि उन मिथ्यादृष्टि पापी जीवों की विनय से विनयमिथ्यात्व होता है तथा उनके पाप की अनुमोदना से स्वयं भी उनके समान पापी होता है।)

जो दुखी नहीं हैं, अपनी आजीविका करने में समर्थ हैं, व्यसनी व्यभिचारी हैं, उन्हें दान नहीं देना चाहिए। उनको दान देने से अनेक पाप उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें दान कदापि न देवे। उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोगभूमि, मध्यमपात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि और जघन्यपात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है। और अपात्र को दान देने से नरकादि गति की प्राप्ति होती है।

जैसे कि रयणसार में कहा है कि:-

''सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जई विमाण सोहा सव्वस्स जाणेहं।।२६।।''

अर्थ : सत्पुरुषों को दान देना तो कल्पवृक्ष की तरह शोभायमान है अर्थात् शोभा भी होती है और मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है। तथा लोभी, पापी पुरुषों को दान देना मुर्दे के विमान की तरह शोभा है अर्थात् शोभा तो होती है परन्तु दुःख भी होता है। जैसे मुर्दे की ठठरी का विमान बनाकर उसे सजाकर निकालने से लोक में कीर्ति और शोभा तो होती है परन्तु घर के धनी (स्वामी) को दुखदायक होता है, इसी प्रकार लोभी, अपात्र को दान देने से लोक में यश तो होता है परन्तु दातार को महान पाप उत्पन्न होता है और उसका फल बुरा मिलता है, अच्छा नहीं मिलता। ऐसा जानकर पात्र-अपात्र का विचार करके ही दान देना योग्य है।।१७१।।

गाथा १७१ पर प्रवचन

अब पात्रों का भेद बताते हैं:– मूल पाठ में तो अविरति को शामिल डाला है, परन्तु अर्थ में फिर अन्तर किया है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।१७१।।

पात्र किसे कहते हैं? **'मोक्षकारणगुणानाम्' मोक्ष के कारणरूप गुणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों के संयोगवाला...** तीनों जिसमें साथ में हो – सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो, सम्यक्चारित्र हो। आत्मा अखण्डानन्द प्रभु पूर्ण शुद्ध आनन्द, उसका सम्यग्दर्शन हो, उसके सन्मुख का अनुभव (हो), उसका ज्ञान हो और उसमें अन्तर उपयोग की रमणता (हो) – इन तीनों को सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का संयोग अर्थात् एकता कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

ऐसे पात्र... पाठ तो ऐसा ही है न सीधा। ऐसे तीन के संयोगवाले पात्र। पश्चात् फिर स्पष्टीकरण करे कि सम्यग्दृष्टि.. परन्तु उसे भी चारित्र है। स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान में भी है। सम्यग्दृष्टि को जैसे निर्विकल्प प्रतीति है, स्वसंवेदनज्ञान है; वैसे स्वरूपाचरणचारित्र का अंश स्वरूपाचरण का (भी है)। देशसंयम चारित्र और वह नहीं। स्वरूप के आश्रय से अनन्तानुबन्धी कषाय मिटी है, इतनी दृष्टि और इतनी स्थिरता का अंश साथ में होता है। समझ में आया? अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रमोह की प्रकृति है। आत्मा की जहाँ श्रद्धा–अनुभव हुआ, तब दर्शन / प्रतीति हुई कि यह पूर्ण निर्विकल्प है, परन्तु वापस स्थिरता का अंश हुआ न साथ में? विशेषरूप से स्थिर हुआ न? जितना स्थिर हुआ है, वह स्वरूपाचरणचारित्र नाम का अंश है। देशसंयम और सर्वसंयम चौथे गुणस्थान में नहीं है। अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान में होता है। सेठी!

मुमुक्षु : स्वरूपाचरणचारित्र जो है, वह...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, स्वरूप में स्थिरता। देखो! पहले अनादि काल की स्थिरता राग–द्वेष में थी। बराबर है? क्या? पुण्य और पाप कषायभाव में स्थिरता थी। श्रद्धा

यह भी थी कि मैं राग हूँ, ज्ञान भी वहाँ था, टिकना भी वहाँ था; तो मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र तीनों थे। अब जहाँ दृष्टि आत्मा पर आयी कि मैं तो ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप हूँ; ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई तो उसका ज्ञान भी उस ओर का हुआ, तो उसमें राग-द्वेष में स्थिरता थी, वह स्थिरता इस ओर हुई। स्वभाव में स्थिरता का अंश हुए बिना उसे स्वरूपाचरण नहीं हो सकता और अनन्तानुबन्धी का अभाव नहीं हो सकता।

अथवा उस द्रव्य के जितने गुण हैं, उसमें आ गया न ? यह न्याय कल दिया था। वस्तु अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड है। अनन्तानन्त। समझ में आया ? ऐसे अनन्तानन्त गुण का एक रूप द्रव्य वस्तु है। अब जब द्रव्य / वस्तु में एकता हुई, द्रव्यदृष्टि हुई, एकता हुई, इस ओर एकता हुई, उपयोग उसमें एकाकार हुआ, तब जितने गुण हैं, उनका अंश विकास न हो तो वह द्रव्यदृष्टि नहीं होती। समझ में आया ?

भगवान आत्मा, भगवान केवली ने सर्वज्ञ परमेश्वर ने-वीतरागदेव ने ऐसा देखा है। अनन्त गुण, उनका एकरूप वह द्रव्य, वह तो आज सबेरे जरा ऐसा लिया था कि द्रव्य एक, प्रदेश असंख्य, रहना अनादि-अनन्त, समय का काल, गुण अनन्तानन्त, पर्याय अनन्तानन्त। एक पर्याय के अविभागप्रतिच्छेद अनन्तानन्त। ऐसा द्रव्य का स्वरूप वह सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र तीन काल में नहीं हो सकता। ऐसा न हो तो वस्तु न हो। समझ में आया ? लगे हैं न अभी कि सब यह। वह उपदेश करता है वह ऐसा है। सोनगढ़ जैसा उपदेश है, ऐसा कितने ही लगाते हैं। अरे भगवान! यह सोनगढ़ का नहीं, यह तो वस्तु के स्वरूप का है।

वस्तु ही जहाँ भगवान आत्मा, द्रव्य से एक, क्षेत्र से असंख्य प्रदेशी, काल से एक समय की अवस्था कहो या त्रिकाल रहो, हो गया। त्रिकाल रहनेवाला, अनादि-अनन्त रहनेवाला ऐसा आत्मा, उसे दृष्टि में-पर्याय में लेना है। पर्याय को दृष्टि में क्या ? पर्याय तो पर्याय है। पर्याय में त्रिकाल अनादि-अनन्त, एकरूप असंख्य प्रदेशी, उसके अनन्त गुण का एक रूप, ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि सम्यक् हुई, तो जो अनन्त गुण का एक-एक अंश व्यक्तरूप न हो तो श्रद्धा जहाँ व्यक्तरूप से सम्यक् नहीं होती तो एक भी गुण नहीं होता, परन्तु जहाँ श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा नाम का गुण जो अन्दर है, उसकी जहाँ सम्यग्दर्शन की व्यक्त पर्याय हुई तो अनन्त गुणों की एकता के कारण समस्त गुणों की एकता का अंश निर्मल प्रगट हुआ। समझ में आया ? मूल तत्त्व का ज्ञान ही घट गया पूरा। द्रव्यानुयोग का।

यह द्रव्यानुयोग, हों! दूसरी भले धारणा.. वस्तु कौन है परन्तु यह वस्तु? मैं कौन और कितने क्षेत्र में, कितने गुण से और कितने काल? पोपटभाई! आहा..हा..!

मैं एक वस्तु। कितना क्षेत्र? असंख्य प्रदेशी चौड़ा। आहा..हा..! कितने काल का? कि अनादि-अनन्त का। कितने गुण का? कि अनादि-अनन्त समय की अपेक्षा अनन्तानन्त गुण का। ऐसा अभी ज्ञान में भी झेलना इसे कठिन पड़ता है, उसे ऐसा आत्मा अन्तर में दृष्टि करके, उपयोग अन्तर में झुकाना, महापुरुषार्थ है। भाई! ये कहीं बातें नहीं हैं। समझ में आया? और उस निःशंक श्रद्धा का अनुभव हो। ओहो..हो..!

एक अंगुल के असंख्य भाग में ऐसा जो एक आत्मा कहा, ऐसे अनन्त आत्मा हैं यहाँ। यहाँ इस इतने क्षेत्र में। स्वयं रहा है वहाँ। एक अंगुल के असंख्य भाग में ऐसा आत्मा जो कहा—असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुणवाला, त्रिकाल रहनेवाला, ऐसे अनन्त आत्मा तो इतने अंगुल के असंख्य भाग में हैं। इससे अनन्तगुणे वहाँ परमाणु हैं। त्रिकाल रहनेवाले दोनों द्रव्य हैं। पर्याय एक समय की है। यह वस्तु है। इतना तो ज्ञान की एक समय की पर्याय में स्वीकारता आवे, ऐसी इसकी शक्ति है। ऐसी शक्ति की जहाँ छह द्रव्य की स्वीकृति नहीं, उसे एक द्रव्य पूरा जो एक पर्याय जितना द्रव्य नहीं। समझ में आया? यह तो अजब-गजब (उत्तम) बातें हैं, भाई! आहा..हा..! परमेश्वर का साक्षात्कार। आहा..हा..! गुलाँट खाता है। पर्याय ऐसे झुकी हुई है, वह ऐसे झुकती है। अनन्त-अनन्त गुण की जहाँ एकत्वता हुई; राग की जो एकता थी, वह स्वभावसन्मुख की एकता हुई। अनन्त गुण निर्मल अंश प्रगट न हो तो वह सम्यग्दर्शन नहीं है, वह द्रव्यदृष्टि नहीं है। समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : किसी की सहायता...

पूज्य गुरुदेवश्री : सहाय-बहाय किसी की नहीं। निःसहाय सब। सहाय-फहाय किसकी है? भगवान किसी की सहायता लेता होगा? परमेश्वर किसकी सहायता ले? आहा..हा..! समझ में आया? बापू! यह तो धीरज का खेल है। यह कहीं बाहर का खेल नहीं कि लड्डू खा जाओ या यह कर डालना। बहुत धीरज से ऐसी स्वीकृति करके उसके उपयोग में अन्तर में लेना। कहते हैं कि संसार है ही नहीं। आहा..हा..! जिस वस्तु में संसार नहीं, ऐसी दृष्टि हुई, वहाँ उसके साथ अनन्त गुणों का अंश (प्रगट होता है)। शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद, सब अनन्त गुण साथ में प्रगट होते

हैं। उसे सम्यग्दर्शन कहने में आता है। अभी खबर भी नहीं होती कि सम्यग्दर्शन किसे कहना ? सेठी ! यह तुम सब जयपुर के पुराने लोग कहलाते हो। एक तो जयपुर पुराना, उसमें फिर ये पुराने लोग। अब ? आहा..हा.. ! यह बात बहुत कम हो गयी है, भाई ! समझ में आया ? ओहो..हो.. !

भगवान अनन्त गुण की महिमावाला पदार्थ है। जिसके एक-एक गुण की महिमा का पार नहीं होता, पार नहीं होता। स्वभाव को क्या कहना ! स्वभाव की महिमा का क्या कहना ! ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का प्रभु ! भगवान अनन्त गुण, उसकी एक समय की दशा में... यहाँ तो वह स्वरूपाचरण सिद्ध करना है, हों ! आत्मा में चारित्र नाम का गुण है, वह भी आंशिक प्रगट न हो तो अनन्त गुण की दृष्टि हुई ही नहीं। अभी बड़ा विवाद चलता है। चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण नहीं होता, अमुक नहीं होता - ऐसा बड़ा उस चौपानिया में (विवाद आता है)। कुछ भान नहीं होता, भाई ! किसे कहना ? समझ में आया ? मूल बात की ही खबर नहीं, वे शास्त्र के अर्थ करके जगत को बताते हैं। क्या हो ? समझ में आया ?

पात्रों के भेद में यह। देखो ! तीन **गुणों के संयोग जिसमें हो, ऐसे पात्र। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि...** लो ! वह सम्यग्दृष्टि है। भले व्रत नहीं परन्तु वह जघन्य पात्र है। समझ में आया ? **'विरताविरत:'** श्रावक मध्यम पात्र है। सम्यग्दृष्टि श्रावक, आत्मानुभववाला और स्वरूप की शान्ति अनन्त गुण की प्रगट हुई है, वह तो चौथे प्रगट हुई है परन्तु पाँचवें में तो, चौथे गुणस्थानवाला सर्वार्थसिद्धि का जो देव है, उसकी अपेक्षा श्रावक पाँचवें गुणस्थानवाले को तो अन्दर बहुत शान्ति प्रगट हुई है। शान्ति... दूसरी कषाय मिटकर शान्ति प्रगट हुई है। कहो, समझ में आया ? वह मध्यम पात्र है।

'सकलविरत:' महाव्रती मुनि। महा आत्मध्यानी, ज्ञानी शुद्धोपयोग रमणता में कोई महाव्रत का शुभविकल्प आया है, तथापि उन तीन का उन्हें संयोग है। वे तीन भेदरूप कहे हैं। लो !

टीका : 'मोक्षकारणगुणानां संयोग:' पहले में क्या था ? **'मोक्षकारणगुणानां संयोग:'** वह भी ऐसा था, हों ! **'संयोग: पात्रं त्रिभेदं उक्तम् सकलविरत: च विरताविरत: च अविरतसम्यग्दृष्टि च इति।'** ऐसा लिया, हों ! ऐसे इतने शब्द बदले। पहले वे लिये, उत्तम से शुरु किया। समझे न ? इसमें पहले पाठ प्रमाण लिया। यह तो जरा जानने के लिये।

मुमुक्षु : पहला पाठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला लिया है। ऊँचे से। ऐसे मेल खाता होगा? शब्दार्थ के पीछे।

मुमुक्षु : भाव का...

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव का ऐसा कहो न, नहीं तो यह तो...

'मोक्षकारणगुणानां संयोग: पात्रं त्रिभेदं उत्तम्' यहाँ तक तो समान है। यहाँ से भेद किया है। **'सकलविरत: च विरताविरत: च अविरतसम्यग्दृष्टि च'** ऐसे भाव की उत्कृष्टता अपेक्षा से अन्तर किया है। **मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान...** देखो..! यहाँ तो एक ही प्रकार, हों! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान। बाद में दो लेंगे, वह तो विकल्प से... **तीनों का संयोग जिसमें पाया जाय...** तीन की एकता। **वह पात्र कहलाता है। वह उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं।**

सम्यक्त्वसहित महामुनि उत्तम पात्र हैं,... सम्यग्दृष्टिसहित जो पंच महाव्रतधारी, स्वरूप की अनन्त शान्तिवाले हैं, वे उत्तम पात्र गिनने में आते हैं। **सम्यक्त्वसहित देशव्रत पालनेवाला श्रावक मध्यम पात्र है...** आत्मा के अनुभव के भानसहित देशव्रत के स्थिरतावाले और देशव्रतवाले को मध्यम पात्र गिनने में आता है। और **व्रतरहित सम्यक्त्वसहित श्रावक जघन्य पात्र हैं।** व्रतरहित है, समकितसहित श्रावक को... देखो! उसे भी श्रावक तो कहा, हों! देखो! भाषा ली है। इसमें पाठ में तो कुछ है नहीं। इन्होंने स्पष्टीकरण किया है। ठीक है। ऐसा कहा जाता है न! कहो, यह तो श्रावक शब्द आया न, इसलिए।

जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, वही पात्र कहे जाने योग्य है। वास्तव में तो पात्र, जिसे मोक्ष होने की तैयारी है, जिसे मोक्ष लेने की तैयारी है, उसे ही पात्र कहने में आता है। समझ में आया? **सम्यग्दर्शन के अभाव में किसी प्रकार की पात्रता नहीं हो सकती..** जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ किसी प्रकार की पात्रता नहीं है, वह तो अनादि का (मिथ्यादृष्टि है)। फिर व्यवहार समकित लेंगे, हों! व्यवहार का! **इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि पात्र नहीं है, अपितु उत्तम कुपात्र है,...** पंच महाव्रत चुस्त पालता हो, उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी लेता न हो, चौका बनाकर आहार लेता न हो

परन्तु होता है मिथ्यादृष्टि; सम्यग्दृष्टि नहीं, आत्मा का भान नहीं, परन्तु ऐसे निर्दोष आहार-पानी लेता है। आगम प्रमाण पंच महाव्रत पालता है, प्राण जाये तो भी उसके लिये बनाये हुए चौके का आहार मर जाये तो भी नहीं ले, ऐसे साधु को—मिथ्यादृष्टि को द्रव्यलिंगी कहने में आता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भान नहीं। ग्यारह अंग पढ़ा परन्तु अन्तर्दृष्टि नहीं करता। गहरे-गहरे ऐसा है कि यह सब मुझे मोक्ष का साधन है। यह व्रत पालता हूँ, वह मोक्ष का साधन है, यह निर्दोष आहार लेता हूँ, वह मोक्ष का साधन है। वह तो सब राग की क्रिया है। राग की क्रिया को मोक्ष का कारण मानता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? फिर आहार लेने-देने की विधि और व्यवहार डालेंगे। क्योंकि आहार लेने-देने की विधि तो व्यवहार है न? दूसरे को परखना हो तो नहीं परख सकता।

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि दोषरहित आचरण पालन कर सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नौवें ग्रैवेयक गया, तुमने सुना नहीं? अभी तक इतने वर्ष क्या बिताये? यह इतने वर्ष से क्या सुनते हो? नौवें ग्रैवेयक गया। प्राण जाये तो उसके लिये आहार न ले। दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगाने आये तो डिगे नहीं। उसके बिना शुक्ललेश्या कहाँ से आयी? नौवें ग्रैवेयक में किस प्रकार गया? नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' यह सुने, परन्तु जरा भी विचार की शक्ति नहीं। कहो, अभी कहते हैं कि मुनि ऐसा पालन कर सकते होंगे? वह तो प्राण जाये, शरीर को तोड़कर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे, ऐसा पालन करे। होवे मिथ्यादृष्टि। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आत्मा का अन्तर अनुभव-दृष्टि, राग से भिन्न स्वरूप है, उसका भान किया नहीं। ऐसी शुक्ललेश्या... शुक्ललेश्या कि ऐसे चमड़ी निकालकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, तथापि शुक्ललेश्या के भाव मिथ्यादृष्टि के हैं। सेठी! यह तो स्थिर हो जाये ऐसा है। आहा..हा..! बाहर की क्रिया इतनी सब। शुक्ललेश्या के बिना नववें ग्रैवेयक में जाये नहीं। शुक्ललेश्या, हों! शुक्लध्यान नहीं। शुक्लध्यान तो सम्यक्त्वी को ही होता है। शुक्ललेश्या

भव्य–अभव्य मिथ्यादृष्टि दोनों को होती है। शुक्ललेश्या, शुभभाव... आहा..हा..! दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगावे तो डिगे नहीं, ऐसा व्यवहार ब्रह्मचर्य। निश्चय आत्मा का भान नहीं होता। समझ में आया ?

वास्तव में तो मिथ्यात्व, वह हिंसा है – ऐसा एक बार कहा था न ? विपरीत मान्यता है वह। पुण्य की क्रिया, व्रत की क्रिया है, वह पुण्य है, वह धर्म का कारण है, यह (मान्यता) मिथ्यात्व है। उसे यह मिथ्या मानना वह असत्य है, वह चोरी है, वह मैथुन है, वह परिग्रह है, पाँच है। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति से विरुद्ध मान्यता, वह पुण्य के, आस्रव के, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, उनसे मेरा कल्याण होगा—उस पुण्य से कल्याण माननेवाला मिथ्यात्व महाहिंसा है। आत्मा की हिंसा कर रहा है। महा आत्मा के लिये सत् को असत् कर रहा है। महा चोरी करता है। अपने स्वरूप के प्राण वहाँ लुट जाते हैं। राग के साथ मैथुन है। राग के साथ एकत्वबुद्धि, वही मैथुन है और वही महामिथ्यात्व का परिग्रह है। चौदह परिग्रह हैं या नहीं ? अभ्यन्तर चौदह परिग्रह। उन चौदह परिग्रहों में मिथ्यात्व पहला परिग्रह है, अब उस पहले परिग्रह की खबर नहीं होती और बाह्य परिग्रह छोड़कर बैठे। दीपचन्दजी ! ये उतावले हो गये थे, शीघ्रता से एकदम। मुनि हो जाना.. मुनि हो जाना.. बस, दिगम्बर मुनि हो जाना। जंगल में पशु घूमते हैं वैसा।

मुमुक्षु : इसके... लिये कुछ...

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना पुण्य तो होवे न ! कुछ लेकर आये हों तो हो। उसके साथ पुण्य वह कहाँ... आहा..हा..! यहाँ तो कहते हैं, **द्रव्यलिंगी मुनि पात्र नहीं है अपितु उत्तम कुपात्र है,...** समझ में आया ?

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : व्रत आदि हैं सही न, पंच महाव्रत पालता हो, निर्दोष पालता हो, हों ! उसके लिये आहार–पानी चौका बनाकर ले तो, महाव्रत व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। वह तो व्यवहार महाव्रत का भंग / खण्ड है। उसमें हिंसा करे, झूठ बोलता है। अन्य कहे कि आहार शुद्ध है, यहाँ आहार अशुद्ध है। झूठ बोले वह तो चलता है। उसे महाव्रत के व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। यह तो महामुनि हों, दिगम्बर मुनि, उनके लिये पानी की–जल की बूँद हो, एक इतनी दे तो (ले) नहीं। समझ में आया ? पानी जीव है। हमारे

लिये, पीने के लिये या धोने के लिये नहीं लेंगे, नहीं लेंगे। एक पानी का जल-इतनी बूँद। यह तो पाँच सेर-पाँच सेर, दस-दस सेर पानी गरम करके दे। उनके लिये बनाया हुआ होता है। वीतरागमार्ग से बिलकुल विरुद्ध मार्ग है, व्यवहार भी विरुद्ध है। निश्चय की दृष्टि की तो खबर नहीं। यह तो वीतरागमार्ग है, यह कहीं पोपाबाई का राज नहीं है। आहा..हा..! जिन्हें इन्द्र मानते हैं, गणधर मानते हैं। चार ज्ञान के (धारक) सन्त जिसे स्वीकार करते हैं, तीन ज्ञान के (धारक) इन्द्र जिन्हें स्वीकार करते हैं, यह वह मार्ग कहीं पामर जैसा है? आहा..हा..! समझ में आया?

कहते हैं, **क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। अब यहाँ विचारने की बात यह है कि...** जरा अर्थकार (कहते हैं)। **कि पात्र के भेद व्यवहारसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से?** बाहर में तो पहिचान व्यवहार से होती है न, ऐसा कहते हैं। निश्चय की पहिचान तो किसी समय किसी को होती है। **यदि निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाय तब तो उत्तम पात्र की पहिचान करना, वह कुपात्र* की बुद्धि के बाहर की बात है,...** यह और दूसरी भाषा। लेखन में अन्तर है। खबर है। यह भाषा ऐसी नहीं है। साधारण बुद्धि के बाहर की बात है, ऐसा लेना। उत्तम पात्र की... लिखावट लिखी हो, उस प्रमाण लिख डाले, वापस यह मेल कहाँ खाता है यह? **उत्तम पात्र की पहिचान करना...** साधारण, सामान्य मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात है। इतना लेना चाहिए।

और यदि व्यवहारसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाये तो प्रथम गुणस्थान -वाला जीव भी व्यवहारसम्यग्दृष्टि हो सकता है... नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा। शास्त्र की-आगम की पक्की श्रद्धा और पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूलगुण पक्के। इसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। निश्चयरहित का व्यवहार। है तो व्यवहाराभास। निश्चय के बिना व्यवहार हो नहीं सकता परन्तु व्यवहारनय से, व्यवहार के उपचार से उसे कहा जाता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करता है, नौ तत्त्व को बराबर मानता है परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं है। समझ में आया?

तो प्रथम गुणस्थानवाला जीव भी व्यवहारसम्यग्दृष्टि हो सकता है और

* हिन्दी प्रति में 'साधारण जन की बुद्धि के बाहर की बात है' - ऐसा पाठ है। -अनुवादक/सम्पादक

वह उत्तम पात्र की गणना में आ सकता है। व्यवहार की अपेक्षा से। परन्तु उसके व्यवहार–श्रद्धा स्पष्ट, हों! ज्ञान स्पष्ट और आचरण स्पष्ट हो, उसे यहाँ व्यवहार गिनने में आता है। जिसके व्यवहार आचरण का ठिकाना नहीं, उसे तो व्यवहार कहीं गिनने में ही नहीं आता। द्रव्यलिंगी भी नहीं, कुलिंगी है। वस्त्र–पात्र रखकर मुनिपना माने, वह कुलिंगी है और वस्त्र–पात्र छोड़कर भी उसके लिये बनाये हुए आहार–पानी ले वह भी कुलिंगी है। समझ में आया?

इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र हो सकता है... व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है। **और यही ठीक भी लगता है।** कहते हैं **कारण कि पात्र की पहिचान करना श्रावक का कार्य है।** शास्त्र में तो पहिचान करने की विधि चली है, वहाँ पहिचान कर सके, ऐसा धवल में पाठ चला है परन्तु एकदम पहिचान न करे; इसलिए व्यवहार से बात लेना। यह तो अष्टपाहुड में भी आता है न, व्यवहार वह व्यवहार का शरण है अर्थात् क्या कि एक गुण से दूसरे गुण से, दर्शन और ज्ञान से निर्णय करना। इस प्रकार का व्यवहार है। व्यवहार होता है।

श्रावक जिस बात की जितनी परीक्षा कर सकता है, उतनी ही करेगा, अत: द्रव्यलिंगी को भी (व्यवहार) पात्रता हो सकती है। इसलिए व्यवहारसम्यग्दर्शन से पात्रों की परीक्षा करके उनको यथायोग्य विनय,... व्यवहारसम्यग्दर्शन सच्चा हो, निश्चय न हो, उसके जन्म–मरण का अन्त उसे नहीं आता। परन्तु बाहर में जिसकी दर्शन की, ज्ञान की, आचरण की व्यवहारशुद्धि सच्ची हो, तो उसे **व्यवहारसम्यग्दर्शन से पात्रों की परीक्षा करके उनको यथायोग्य विनय, आदरपूर्वक दान देना योग्य है। इसके अतिरिक्त दु:खी जीवों को...** भक्तिभाव बिना **करुणाभाव से दान देना चाहिए,...** भक्तिभाव बिना। यह सब पुण्यबन्धन का कारण है। पुण्यबन्ध है न? समझ में आया? निश्चय अन्तर वस्तु की खबर पड़ी परन्तु व्यवहार में अन्तर न हो तो भी सम्यग्दृष्टि सच्चा निश्चय समकित दृष्टि या श्रावक ऐसे मिथ्यादृष्टि को भी व्यवहार में बराबर श्रद्धा–ज्ञान और आचरण सच्चे हों तो विनय करे, भक्ति करे और समझे कि पुण्य है। उसमें कुछ धर्म तो है नहीं। निश्चय तो है नहीं। निश्चय तो स्व आश्रय है। समझ में आया?

विशेष कहेंगें अब... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६७ गाथा-१७१ से १७५ गुरुवार, आषाढ़ शुक्ल १४, दिनांक २०.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। इसकी १७१ की गाथा में थोड़ा अन्तिम भाग है। दान का अधिकार है न? दान का। कहाँ आया? सेठी! वहाँ उस ओर नहीं, इस ओर है, इस ओर है। कल हो गया न, २४ घण्टे हो गये सही न। इस ओर है। क्या चलता है यह? श्रावक का अतिथिसंविभागव्रत। साधु के लिये... अतिथि साधु है न? उन्हें आहार-पानी निर्दोष दे। समझ में आया? आहार-पानी इत्यादि।

वह श्रावक पहले कैसा हो? पहले उसकी दृष्टि चैतन्य शुद्ध आत्मा है - ऐसा अन्तर अनुभव हुआ हो। समझ में आया? चैतन्यस्वरूप, चैतन्यस्वरूप आत्मा। कोई रागरूप या विकाररूप, पररूप नहीं। मैं तो एक ज्ञान-चैतन्य-दर्शनस्वरूप आत्मा हूँ— ऐसा अन्तर अनुभव दृष्टि में सम्यग्दर्शन हुआ हो। वह आत्मा उसके राग का भी कर्ता हूँ या क्रिया का कर्ता हूँ-ऐसा नहीं होता। ऐसे जीव को अन्दर स्थिरता न हो तब... श्रावक को बहुत बार अन्दर में स्थिरता नहीं हो, परन्तु उसके स्वरूप का भान और स्वरूप की स्थिरता का त्रिकाल अंश सदा होता है। उसमें उपयोग सदा नहीं लगा हो, तब उसे ऐसे अतिथि आदि मुनियों को दान देने का विकल्प उठता है। शुभराग-शुभराग है। है वह पुण्य; धर्म नहीं। समझ में आया? परन्तु ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। दृष्टि में तो उस रागरहित ही आत्मा हूँ, ऐसा भान है परन्तु स्थिरता में स्वरूप में स्थिर नहीं, इसलिए उसे ऐसे बारह प्रकार के तप आदि, सल्लेखना आदि की बात करेंगे। ऐसे विकल्प उसे होते हैं।

महामुनि दिगम्बर सन्त, जिन्हें आत्मा के अन्तर आनन्दस्वरूप का प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द का वर्तता है, उसे मुनि कहने में आता है। समझ में आया? ऐसे मुनि आदि, क्षुल्लक आदि, ऐलक आदि को प्रेम से, भक्ति से आहार-पानी दे, ऐसा उसका भाव श्रावक को होता है। कहो, समझ में आया? इसके अतिरिक्त कोई दुःखी प्राणी हो, उसे अनुकम्पा से, भाव अनुकम्पा से दे। भक्ति से नहीं। धर्मात्मा को भक्ति से दे। धर्मात्मा के

अतिरिक्त दुःखी प्राणी को अनुकम्पा से दे, ऐसा भाव श्रावक को होता है। भान होता है कि यह भाव शुभ है, यह पुण्य है; धर्म नहीं, परन्तु धर्म के स्वरूप में वीतरागता प्रगट नहीं हुई; इसलिए ऐसा भाव आये बिना (रहता नहीं)। अशुभ से बचने को, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। बाकी उस क्षण में, एक समय उसे ऐसा भाव आता है। समझ में आया?

कहते हैं कि धर्मात्मा को दान देने का भाव होता है और या दुःखी को अनुकम्पा से होता है, परन्तु **जो दुःखी नहीं हैं,...** ऐसा कहते हैं अब। किसे नहीं देना? है न अन्तिम पैराग्राफ? **अपनी आजीविका करने में समर्थ हैं,..** सामने प्राणी अपने शरीर का निर्वाह करने को समर्थ है। **व्यसनी, व्यभिचारी हैं, उन्हें दान नहीं देना चाहिए।** ऐसे को दान नहीं देना चाहिए अर्थात् यह दान की विधि का वह भाग उसे नहीं है।

मुमुक्षु : बीमार हो उसे दे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अनुकम्पा है। कौन, कौन बीमार? वह तो अनुकम्पा में गया, परन्तु मात्र व्यसनी है, व्यभिचारी है, आजीविका करने में समर्थ है, ऐसा कहा न? समर्थ है, ऐसा कहा न? रोगी उस समय समर्थ नहीं है। रोगी है, वह तो बेचारा अनुकम्पा का पात्र है। समझ में आया? इसलिए तो रखा है न? **जो दुःखी नहीं हैं, अपनी आजीविका करने में समर्थ हैं, व्यसनी और व्यभिचारी हैं...** ऐसा रखा है न? बहुत सरस बात रखी है।

मुमुक्षु : ....करुणाभाव आ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ कहा? परन्तु वह तो रोग के कारण करुणा है। आजीविका करने को समर्थ है, उसमें अनुकम्पा कहाँ से आवे? लट्ठ जैसा शरीर, पच्चीस वर्ष का शरीर निरोग शरीर है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु करे कहाँ से ऐसी? वह आजीविका करे। पच्चीस वर्ष का युवक निरोग शरीर है। ऐसा ज्ञात होता है कि अभी मजदूरी करे तो रुपया, दो रुपया ले आवे – ऐसा है। शरीर निरोग है, कुछ है नहीं। भूख लगी हो और क्षुधा हो, ऐसा कोई आवे, वह और अलग बात हुई। उस समय आजीविका करने में वह समर्थ नहीं है। ऐसा अत्यन्त

निरोगी है, तथापि व्यभिचारी है, व्यसनी है। आठ आना रुपया कमाना हो तो तुरन्त कमा सकता है। अब ऐसे को देना, वह तो पाप है - ऐसा कहते हैं। ऐई... पोपटभाई! विवेक तो करना पड़ेगा या नहीं?

मुमुक्षु : ...दु:खी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:खी नहीं, ऐसा कहा है। वह वापिस आजीविका करने में समर्थ है, ऐसा कहा है न? उस समय बेचारा दु:खी हो और फिर भले कषायी हो, परन्तु उस समय दु:खी हो तो अनुकम्पा आवे। उसका ऐसा अनुकम्पा का शुभ हो उतना। कोई बेचारा बहुत दु:खी है, अभी मरेगा, क्षुधा लगी है। वह शुभभाव है। पुण्य की बात है। धर्म-बर्म नहीं।

उनको दान देने से अनेक पाप उत्पन्न होते हैं, अत: उन्हें दान कदापि न देवे। उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोगभूमि,... मिलती है। देखो! यहाँ तो फल मिलता है, कहते हैं। अन्दर आत्मा नहीं मिलता। **उत्तम पात्र को दान देने से...** शुभभाव होने से, **उत्तम भोगभूमि,...** जमीन के अवतार होते हैं। यह देवकुरु, उत्तमकुरु। **मध्यमपात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि, और जघन्यपात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है।** ५६ है एक। अन्तर्द्वीप। **अपात्र को दान देने से नरकादि गति की प्राप्ति होती है।** चार रखे हैं। माँस खानेवाला हो, शराब पीनेवाला हो, लम्पटी हो, निरोगी हो, दु:खी न हो - ऐसे को देना, पैसे आदि की मदद करना, (उसे नरकगति की प्राप्ति होती है)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसका विचार करना, ऐसा कहते हैं।

जैसे कि रयणसार में कहा है कि:- लो, यह गाथा दी है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में दी है न यह?

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जई विमाण सोहा सव्वस्स जाणेहं।।२६।।

सत्पुरुषों को दान देना तो... सत्पुरुष धर्मदृष्टि है। फिर भले सम्यग्दृष्टि हो,

श्रावक हो, मुनि हो, ऐलक हो, क्षुल्लक हो। समझ में आया? उसे योग्य यथा प्रकार से **दान देना तो कल्पवृक्ष की तरह शोभायमान है...** दान देने से शोभा भी होती है। कल्पतरु का वृक्ष ऐसे कैसा शोभित होता है! **मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है।** शुभभाव होता है, उसमें से मनवांछित अर्थात् क्या? कि स्वर्ग आदि मिलते हैं।

लोभी, पापी पुरुषों को दान देना मुर्दे के विमान की तरह शोभा तो हो... शृंगार करे। अर्थी का शृंगार करते हैं न? चारों ओर चार नारियल, नीचे लटकावे, ऊपर साटन का कपड़ा ढँके। अटलस कहते हैं न? तुम्हारे क्या कहते हैं? साटन। शाल उड़ाते हैं। यह देखा था न एक बार। खीमचन्दभाई गुजर गये, फोटोग्राफी। हम बाहर थे, इतनी बड़ी.. (संवत्) १९८९ के साल। खीमचन्द फोटोग्राफी। हम वहाँ वनेचन्द के आरोग्य भवन में नदी के किनारे थे। मुर्दा ऐसे नदी के उस किनारे निकला। बहुत लोग, बनिया दशाश्रीमाली। साठ हजार का नया मकान बनाया और वास्तु करने की तैयारी। वहाँ वास्तु हो गया दूसरे गाँव। दूसरे गाँव, गाँवन्तरु हो गया। ऐसे दूर से दिखता था। मुर्दे पर साटन डाली हुई। चक... चक... चक... (होवे)। इस किनारे से उस किनारे। राजकोट का नदी का किनारा बड़ा है न? यह क्या? कौन है यह? कोई गृहस्थ मर गया है या क्या हुआ यह? लोग भी बहुत थे। वहाँ तो फिर गुलाबचन्द आये। गुलाबचन्द पारेख है न? वहाँ जलाते थे, वहाँ थोड़े समय आये। कहा, खीमचन्दभाई गुजर गये हैं। फोटोग्राफी। ८४ वर्ष की आयु धारी थी। ८४ वर्ष में गुजर जाऊँगा। वहाँ अंक बदल गया। ४८ वर्ष में छूट गये। सेठी! गाँव में १९८९ का चातुर्मास था, लोग बहुत आते थे। तीन–तीन हजार लोग आते थे। वे भी दो–तीन बार आये होंगे। १९८९ में साठ हजार का मकान बनाया। वास्तु लेंगे। महाराज का योग है, सब कहते हैं, वह बात सच्ची है। और एक ज्योतिषी ने कहा है कि मुझे ८४ वर्ष की आयु है। वहाँ तो मकान का उसका कोई परिचित जूनागढ़ का दीवान। कहे, इसे बताओ। वहाँ एकदम हार्ट में दर्द हुआ। बस सोये, डॉक्टर को बुलाने गये, निपट गया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कुछ है। फिर बहुत खबर नहीं। थोड़ी–बहुत खबर पड़ी। वह मुर्दा वहाँ निकला था। लगभग दोपहर को। देखो! यह शोभा। घर की स्त्रियों, महिलाओं का क्या होता होगा? ऊपर अच्छी साटन डाली हुई। गृहस्थ व्यक्ति थे न स्वयं।

शोभा (लगे)। आहा..हा..! गरीब लोगों को तो ऐसा होगा कि आहा..हा..! यह क्या? मुर्दे पर ऐसा? परन्तु उसके घर के धणी को? पुराने में अर्थ में भी अन्तर है। धणी (मालिक) चाहिए। अपने पुराने में लिखा है कि धनवान। धनी... धनवान लिखा है। नये में धणी है।

दान देना मुर्दे के विमान की तरह शोभा तो हो... ऊपर फूल डालेंगे, लो न, डालते हैं न? मुर्दे पर फूल के हार डालते हैं और ऐसे शृंगार कर... आहा..हा..! परन्तु उसकी स्त्री और पुत्र हों, उन्हें क्या होता है? चालीस वर्ष का मर गया है, मान्य व्यक्ति हो, विमान ठीक से शृंगारे, घर के लोगों को दुःख होता है। **जैसे मुर्दे की ठठरी का विमान बनाकर उसे सजाकर निकालने से लोक में कीर्ति और शोभा तो होती है परन्तु घर के धणी (स्वामी) को दुखदायक होता है,...** घर के स्वामी को दुःख होता है।

इसी प्रकार अपात्र इत्यादि को दान देने से संसार में लोग तो महिमा करते हैं... देखा! उसका कहा न? कीर्ति हो ऐसी। **परन्तु उसका फल बुरा मिलता है,...** दुनिया ऐसा कहे, ओहो..हो..! पापी को ऐसे व्यसनी को, व्यभिचारियों को पोषण देने में कुछ लाभ नहीं है।

गाथा - १७२

दान देने से हिंसा का त्याग होता है:-

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्।।१७२।।

नित दान में मिटता समझ, यह लोभ हिंसा परिणति।
अतएव अतिथि दान दाता, मान हिंसा त्यागि ही।।१७२।।

अन्वयार्थ : (यतः) कारण कि (अत्र दाने) यहाँ दान में (हिंसायाः) हिंसा की (पर्यायः) पर्याय (लोभः) लोभ का (निरस्यते) नाश करने में आता है, (तस्मात्) इसलिए (अतिथिवितरणं) अतिथिदान को (हिंसाव्युपरमणमेव) हिंसा का त्याग ही (इष्टम्) कहा है।

टीका : 'यत: अत्र दाने हिंसाया: पर्याय: लोभ: निरस्यते तस्मात् अतिथि वितरणं हिंसाव्युपरमणं एव इष्टम्।' –अर्थ:– इस दान में, हिंसा का एक भेद जो लोभ है, उसका त्याग होता है, क्योंकि लोभ छूटने पर अपनी वस्तु दी जाती है, इसलिए अतिथि पात्र को दान देना हिंसा का ही त्याग है।

भावार्थ : वास्तव में जब अपने अन्तरंग कषाय जो लोभ है, उसका त्याग होने पर ही अपने परिणाम बाह्य वस्तु को वितरण करने के होते हैं, इसलिए लोभ–कषाय का त्याग ही वास्तविक दान है और वह लोभ–कषाय भावहिंसा का एक भेद है, इसलिए जो सत्पुरुष दान करते हैं, वे ही वास्तव में अहिंसाव्रत का पालन करते हैं।।१७२।।

गाथा १७२ पर प्रवचन

दान देने से हिंसा का त्याग होता है:– सम्यग्दृष्टि को... यह श्रावक की बात चलती है। श्रावक को पहले सम्यग्दर्शन, रागरहित अहिंसक स्वभाव मेरा पूर्ण शुद्ध ज्ञान है। ज्ञान, आनन्द है, इसलिए वह अहिंसकस्वरूप ही है, वीतरागस्वरूप ही है – ऐसी दृष्टि हुई है, परन्तु जब तक पूर्ण वीतरागतारूपी अहिंसा दशा हुई नहीं, तब उसे ऐसा दानादि का भाव देने का आता है। उसमें लोभ घटता है। लोभ घटता है, उतनी हिंसा घटती है और अहिंसा बढ़ती है। समझ में आया? कषायभाव, वह हिंसा है और स्वभाव की दृष्टि से कषाय की कमी (हो), वह अहिंसा है। अहिंसा की व्याख्या ही पूरी पहले से ठेठ तक ली है।

हिंसाया: पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्माददतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्।।१७२।।

अन्वयार्थ : कारण कि यहाँ दान में हिंसा की पर्याय लोभ... हिंसा का नाम। लोभ वह हिंसा का नाम ही है। क्रोध, मान, माया, लोभ, वे सब हिंसा की ही पर्यायें हैं, हिंसा के ही भाव हैं। समझ में आया? **हिंसा की पर्याय लोभ का नाश करने में आता है, इसलिए अतिथिदान को...** अतिथि मुनि तो सन्त हैं। कब आयेंगे, अनजाने आते हैं। नग्न मुनि हैं, दिगम्बर सन्त हैं, वनवास में होते हैं, वन में रहते हैं। समझ में आया? तब सच्चे साधु तो वन में रहते थे। वीतरागमार्ग के सन्त, केवलज्ञानी ने कहे हुए ऐसे

स्वीकारे हुए जंगल में–वन में सन्त रहते थे। महा अद्भुत जिनकी दशा! योगदशा जिनकी! अन्दर में योग बहुत उग्र जोड़ा है। जंगल में से कोई अकस्मात गाँव में चढ़ आवें, उन्हें तिथि नहीं होती। अतिथि। तुम्हारे यहाँ अतिथि का नाम दिया है।

'यतः अत्र दाने हिंसायाः पर्यायः लोभः निरस्यते तस्मात् अतिथि वितरणं हिंसाव्युपरमणं एव इष्टम्।'–अर्थः–इस दान में हिंसा का एक भेद जो लोभ है... देखो! हिंसा का एक भाग है लोभ। **उसका त्याग होता है,...** आत्मा का भान है, मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ – ऐसा तो भान है। नहीं तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं, तो श्रावक अभी नहीं। अन्दर वह राग जो तीव्र था, उसे ऐसे सन्तों को आहार आदि मुनि को देने में राग घटता है, उतना अहिंसाभाव प्रगट होता है। वैसा हिंसा का भाग ऐसा लोभ घटता है। कहो, समझ में आया इसमें? **इसलिए अतिथि पात्र को दान देना हिंसा का ही त्याग है।** लो! यहाँ तो पहले से ही एक बात उठायी है। दान में, अस्थिरता में से जितना राग घटे, उतनी उसे अहिंसा है।

वास्तव में जब अपने अन्तरंग कषाय जो लोभ है... देखो! **उसका त्याग होने पर ही...** अन्तरंग की कषाय राग की तीव्रता का (त्याग) होता है – ऐसा कहते हैं। **अपने परिणाम बाह्य वस्तु को वितरण करने के होते हैं,...** देने में। **इसलिए लोभ–कषाय का त्याग ही वास्तविक दान है...** वास्तविक दान तो यह है – ऐसा कहते हैं। वह क्रिया तो शरीर की, परमाणु की है। परमाणु की आहार की होनेवाली हो, वह होती है। कहो, समझ में आया? कषाय का त्याग ही वास्तविक दान है। वास्तव में तो अन्दर लोभ घटा है। निर्लोपता जितनी स्वभाव के आश्रय से–लक्ष्य से प्रगट हुई है, उतना उसे दान भाग कहने में आता है। यह सम्प्रदान है।

सम्प्रदान अर्थात्? स्वयं अपनी शुद्धता की दशा का दान, स्वयं स्वयं को दे। ऐई! देवानुप्रिया! शुद्धता का दान। सम्प्रदान आता है न, छह कारक? कर्ता, कर्म, करण.. समझे न? सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। सम्प्रदान अपना शुद्धस्वभाव भगवान, आत्मा का महिमावन्त स्वभाव, ऐसी जो दृष्टि हुई है, उसमें विशेष स्वरूप में–शुद्धता में कषाय घटाकर एकाग्र होता है, वह शुद्धता की पर्याय प्रगट हुई, वह स्वयं ने रखी, उसका नाम दान है।

मुमुक्षु : यह व्रत कितने में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्रत निश्चयव्रत अन्तर का है। स्वरूप में लिपट गया, वह व्रत। विकल्प उठा है, उतना अशुभ से बचा है, उतना शुभ है। समझ में आया? वास्तव में व्रत का अर्थ यह है कि स्वरूप की दृष्टि होकर स्वरूप में स्थिरता होना, उसका नाम वास्तविक व्रत कहने में आता है। जितना विकल्प उठे, उसे व्यवहारव्रत, उपचारव्रत, भेदरूपव्रत उसे कहने में आता है। समझ में आया? आत्मा अन्तर शुद्ध चैतन्यमूर्ति के अन्तर उपयोग को अन्तर में समाहित और एकाग्र करे, बस यही दान है और यही मार्ग है, और यही निवृत्तिरूपी परिणति है। समझ में आया? शुभ होता है, यह बात तो करते हैं। उस समय ऐसा भाव होता है।

यहाँ तो कहते हैं **लोभ–कषाय का त्याग ही वास्तविक दान है...** बाहर की क्रिया ऐसी हो परन्तु अन्दर लोभ न घटाये, सन्तोषता न हो और लोभ नहीं घटाये तो दान कैसा? वह तो बाहर की क्रिया हुई, वह तो जड़ की क्रिया। आहार लेने–देने की वह तो शरीर की क्रिया, जड़ की क्रिया है; वह कहीं आत्मा की नहीं है। आहा..हा..!

और वह लोभ–कषाय भावहिंसा का एक भेद है,... लोभ की वृत्ति है, वह भावहिंसा का एक प्रकार है। **इसलिए जो सत्पुरुष दान करते हैं, वे ही वास्तव में अहिंसाव्रत का पालन करते हैं।** लो ठीक। धर्मात्मा... आत्मा शुद्धस्वरूप चैतन्य है, वह रागरूप नहीं, कर्मरूप नहीं, शरीररूप नहीं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इसी प्रकार इनरूप नहीं और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। ऐसी बहुत ही संक्षिप्त में संक्षिप्त अन्तर्दृष्टि में अनुभव में लेकर, विस्तार का ज्ञान विशेष न हो, समझ में आया? अनन्त गुण का और ऐसा विशेष ख्याल न हो परन्तु यह चैतन्यस्वरूप ही वह आत्मा है। जानने–देखनेवाला, वही आत्मा है—ऐसी अभेद की दृष्टि करके अनुभव करे, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं और उस सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकपना नहीं हो सकता। इस सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना नहीं हो सकता। समझ में आया?

क्योंकि श्रावक को मुनिपना तो जो वस्तु शुद्ध चैतन्यस्वभाव, ऐसा जो दृष्टि में अनुभव हुआ है, उसमें स्थिरता के प्रकार का श्रावक और मुनिपने का भाग है। समझ में आया? कोई शरीर की क्रिया और वह कहीं श्रावकपना है नहीं। वस्तु भगवान आत्मा अकेला ज्ञायकस्वभाव, शुद्ध चैतन्य स्वभावी वस्तु। स्वभावी वस्तु अर्थात् वस्तु ही वह

अभेद है। ऐसा अन्तर में ज्ञान (हुआ कि) यह तो अकेला ज्ञान की मूर्ति ही आत्मा है। ऐसा भान करके, फिर स्वरूप में अन्तर में जैसा जाना था कि यह शुद्ध चैतन्य है, उसमें स्थिरता की क्रिया हो, उसका नाम व्रत और वास्तविक चारित्र कहने में आता है। इसके बिना सच्चे व्रत और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकते। कहो, समझ में आया? यह १७२ हुई। अहिंसाव्रत कहा इसे, लो! इस वैयावृत्त्य में मुनि को अतिथिव्रत में भी अहिंसा निकाली। अब, १७३ गाथा।

गाथा - १७३

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति।।१७३।।

नहिं अन्य पीड़ें मधुकरी, वृत्ति सहित गुणवान भी।
घर आए अतिथि को नहीं दे, लोभयुत कैसे नहीं?।।१७३।।

अन्वयार्थ : (यः) जो गृहस्थ (गृहमागताय) घर पर आये हुए (गुणिने) संयमादि गुणों से युक्त और (मधुकरवृत्त्या) भ्रमर समान वृत्ति से (परान्) दूसरों को (अपीडयते) पीड़ा न देनेवाले (अतिथये) अतिथि साधु को (न वितरति) भोजनादि नहीं देता, (सः) (वह (लोभवान्) लोभी (कथं) कैसे (न हि भवति) न हो)?

टीका : 'यः गृहमागताय गुणिने परान् अपीडयते अतिथये न वितरति सः लोभवान् कथं न भवति।' -अर्थः- अपने आप स्वयमेव घर पर आये हुए तथा रत्नत्रयादि गुण सहित और भ्रमर जैसी वृत्ति से दाता को कष्ट न पहुँचानेवाले अतिथि मुनिमहाराज इत्यादि हैं, उनको जो गृहस्थ-श्रावक दान नहीं देता, वह लोभ-हिंसा संयुक्त कैसे न हो? अवश्य होगा ही। (क्योंकि अन्तरंग महाकृपण बुद्धि के कारण ही तीव्र लोभ पाया जाता है, इसीलिए अतिथि को दान देने के भाव नहीं होते।)

भावार्थ : जिस प्रकार भौंरा सभी फूलों की वास लेता है परन्तु किसी भी फूल को पीड़ा नहीं पहुँचाता; उसी प्रकार मुनि महाराज आदि अतिथि भी किसी भी श्रावक गृहस्थ को किसी भी प्रकार की बाधा-पीड़ा न पहुँचाते हुए आहारादिक ले लेते हैं, उनसे यह नहीं कहते कि तुम मेरे लिये भोजन बनाओ अथवा भोजन दो। परन्तु श्रावक जब

स्वयं आदर–भक्तिपूर्वक बुलाता है, तब वह थोड़ा सा रूखा–सूखा शुद्ध प्रासुक जो भी आहार मिल जाय, वह ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए जो श्रावक ऐसे महा–सन्तोषी व्रतियों को भी दान नहीं देता, वह अवश्य हिंसा का भागीदार होता है और उसके अतिथिसंविभागव्रत कदापि नहीं होता।।१७३।।

गाथा १७३ पर प्रवचन

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति।।१७३।।

अन्वयार्थ :जो गृहस्थ घर पर आये हुए संयमादि गुणों से युक्त और... संयमादि अर्थात् दिगम्बर मुनि, सन्त हों या श्रावक, क्षुल्लक–ऐलक आदि हो, इत्यादि। ब्रह्मचारी आदि सम्यक्त्वी। ऐसे **और भ्रमर समान वृत्ति से...** आदि गुणवान कहे न? भ्रमर समान वृत्ति मुख्यरूप से मुनि को है। भ्रमर जैसे मधुकर लेता है न? पुष्प का पराग... पराग। वैसे मुनि तो दिगम्बर सन्त जंगल में से आते हैं, जहाँ कोई निर्दोष आहार मिले, वहाँ थोड़ा आहार ले लेते हैं। उनके लिये किया हुआ हो और बनाया हुआ आहार साधु नहीं लेते। लेवे तो वे साधु नहीं हो सकते। कहो, मधुकरवृत्ति, देखो न! भ्रमर किसी को पीड़ा दिये बिना फूल में से सुगन्ध ले। वैसे मुनि, सच्चे सन्त, आत्मज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा, वनवास में बसनेवाले जंगल में से आहार के लिये–भिक्षा के लिये आते हैं। जहाँ निर्दोष आहार–पानी हों, उन्हें संकोच (कमी) नहीं पड़ती, उसे नया बनाना नहीं पड़ता, ऐसा होवे तो थोड़ा ले लेते हैं। कहो, समझ में आया? ऐई दीपचन्दजी! यह क्या पद्धति है।

यहाँ तो इसके लिये सबेरे चाय, दूध, आहार, पानी बनावे। आज अमुक जगह रस निकाला है, यह निकाला है। वह तो व्यवहार श्रद्धा में भी उसका ठिकाना नहीं है, क्योंकि व्यवहार साधुपना चाहिए, ऐसा नहीं और साधुपना माने तथा मनवाता है, वह तो गृहीत मिथ्यात्व है। सेठी! यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यह कहीं किसी व्यक्ति के लिये नहीं, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। समझ में आया?

भ्रमर समान वृत्ति से... भाषा कैसी ली है! **'मधुकरवृत्या'** भ्रमर ऐसे घूम

-घूमकर थोड़ा-थोड़ा रस ले। **दूसरों को पीड़ा न देनेवाले...** दूसरे को बिल्कुल संकोच न हो। बाद में बनाना पड़े, उसे कम खाना पड़े, ऐसा नहीं ले। देखो! समझ में आया? इस प्रकार का तो हमारे बहुत अनुभव है। उस समय पड़े थे न उसमें? किसी के लिये बनाया हुआ हो, वह थोड़ा उसे हुआ कि ये तीन व्यक्ति हैं, तो रोटी तो वापस बारह-तेरह है। अब ये तीन-चार दें तो फिर इन्हें कम पड़ेगा। वे महाराज कहे - हम नहीं बनायेंगे, हों! हमें बनाना नहीं। हम चला लेंगे परन्तु तुम इतने भूखे रहते हो इसका क्या? इसके लिये वह नहीं लिया जाता। समझ में आया? वह कहे, हम चार-चार रोटी खाते हैं। रोटियाँ १३-१४ हैं, उसमें से चार देते हैं। नहीं, तुम्हें कमी होगी, तुम्हें बाद में (बनाना पड़ेगा)। उसके बदले गाँव का कुछ खाने का ले आओ, वह नहीं होता। ऐसी वृत्ति होती है। देखो।

दिगम्बर मुनि, जंगलवासी, सच्चे सन्त, आत्मध्यान में मस्त हैं। आते हैं, कहते हैं। उन्हें आहार-पानी तो उनके लिये बने हुए हों तो उन्हें ख्याल आवे कि यह तो मेरे लिये बने हुए हैं। वह प्राण जाये तो भी नहीं ले। यह तो हमारे लिये बनाया है। कहो, दीपचन्दजी! तुम यदि साधु हुए होते तो तुम भी ऐसी की ऐसी गड़बड़ करते।

मुमुक्षु : बच गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बच गये। ये दिगम्बर मुनि होनेवाले थे, लो! दिगम्बर। नग्न, वस्त्र त्यागकर। मिथ्यादृष्टि। वस्तु की तो खबर नहीं होती। अभी आत्मा क्या? धर्म क्या? ज्ञान क्या, राग क्या? पर क्या? क्या क्रिया करने से धर्म होता है? क्या क्रिया का अभिमान करने से मिथ्यात्व होता है? इसकी कुछ खबर नहीं होती। ऐसे के ऐसे अनन्त बार ऐसा मिथ्या साधुपना लिया है। उसमें आत्मा को नुकसान हुआ है परन्तु लाभ नहीं हुआ।,

यहाँ तो कहते हैं, **अतिथि साधु...** देखो! ऐसा शब्द है न? तिथि की खबर नहीं। **भोजनादि नहीं देता,...** वितरण नहीं करता। उसे न दे तो वह लोभी क्यों न कहलाये? उसमें लोभ की कमी की, वह लोभी क्यों (नहीं कहलाये), ऐसा कहा। उस ओर।

'यः गृहमागताय गुणिने' 'गुणिने' ऐसा शब्द है, देखा! **'परान् अपीडयते अतिथये न वितरति सः लोभवान् कथं न भवति।' अपने आप स्वयमेव घर पर आये हुए...** ऐसा कहे महाराज! आज हमारे यहाँ पधारना। ऐसा कहे वहाँ जाये नहीं। समझ में आया? लेने गये हों तो जाये नहीं।

मुमुक्षु : लाभ देने आओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, लाभ देने आओ, लाभ देने आओ। लाभ देने अर्थात् तुम्हें आहार–पानी का लाभ ले जाओ, ऐसा इसका अर्थ है। सब विपरीत लाईन और उल्टा आचरण है। वीतरागमार्ग से अत्यन्त विपरीत है।

अपने आप स्वयमेव घर पर आये हुए... देखो, मुनि तो अपने आप घर आवे। बिना लेने गये, बिना जाने, बिना पूछे, काल का निश्चित किये बिना। **रत्नत्रयादि गुण सहित...** है न वापस। **'गुणिने ?' 'गृहमागताय'** का अर्थ किया। **'गृहमागताय'** वे घर में आये हैं। ऐसा कहा न पहले तो ? सामने जाकर घर में लाये नहीं। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : पड़गाहन करके फिर...

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर पड़गाहन किसका किया ? अपने आप आवे, तब वहाँ से पड़गाहन होता है। आज आना। मेहमान है और योग है आज। रस–पूड़ी का योग है और बराबर यह है। महाराज ! पधारना। यह रस–पूड़ी का योग, ऐसा न कहे वह। महाराज ! आज पधारना। आहार–पानी का लाभ देना, बस। आहा..हा.. ! उन नग्न–मुनि को ऐसा है न ! उनके लिये साथ में गाड़ी घूमे, माल घूमे, कोयला घूमे, यह मार्ग नहीं है, भाई ! ऐसा कहते हैं। यह मार्ग साधु का नहीं है। देनेवाले को ऐसों को देना, वह भी मार्ग नहीं है।

रत्नत्रयादि गुणसहित... है। देखा ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय, आदि–क्षमादि गुणसहित हैं। जिन्हें आत्मा का दर्शन / सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र / वीतरागता प्रगट हुई है। ऐसे आदि गुणवाले हों, उन्हें **भ्रमर जैसी वृत्ति से दाता को कष्ट न पहुँचानेवाले...** यह सब व्याख्या की है। **भ्रमर जैसी वृत्ति से...** जैसे भ्रमर किसी को दुःख नहीं देता। थोड़ा रस ले लेता है। **दाता को कष्ट न पहुँचानेवाले अतिथि मुनिमहाराज इत्यादि हैं,...** इत्यादि में फिर क्षुल्लक, ऐलक, ब्रह्मचारी आदि लेना। **उनको जो गृहस्थ–श्रावक दान नहीं देता, वह लोभ–हिंसा संयुक्त कैसे न हो ? अवश्य होगा ही।** उसे लोभ की पर्याय है, उतनी हिंसा है – ऐसा कहते हैं।

जिस प्रकार भ्रमर सभी फूलों की वास लेता है परन्तु किसी भी फूल को पीड़ा नहीं पहुँचाता... यह तो पहले श्लोक में ही आता है। उन लोगों के (श्वेताम्बर के) दशवैकालिक में। 'णमो मंगलं...' भ्रमरो... आता है न ? नय... दूसरी गाथा में आता

है। 'जहा'... जैसे वृक्ष के फूल में... भ्रमर आकर रस लेता है... पुष्प को... देता नहीं। उस पर बैठता नहीं। ऐसे अद्धर से उड़ जाता है... ... अपना पान / रस पीता है, ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार साधु की पहली पाँच गाथा है न? दशवैकालिक में।

उसी प्रकार मुनि महाराज आदि अतिथि भी किसी भी श्रावक गृहस्थ को किसी भी प्रकार की बाधा-पीड़ा न पहुँचाते, उनसे यह नहीं कहते कि तुम मेरे लिये भोजन बनाओ...

मुमुक्षु : अपना कर्तव्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनावे। श्रावक का कर्तव्य किसका है यह? घर के लिये हो, उसमें से दे। बस, एक रोटी हो तो एक रोटी, जो हो वह दे।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो है न! संसार ऐसे ही चलता है। यह तो वस्तु इसमें ऐसी है, तद्नुसार स्पष्ट तो होना चाहिए न? अथवा दो, ऐसा नहीं कहते। हमारे लिये भोजन बनाओ और हमें भोजन दो, ऐसा भी नहीं कहते। यह याचना करना कहलाता है। माँगनेवाला-भिखारी हुआ। हमें आहार दो। भिखारी है।

मुमुक्षु : ....तो दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...दो, वह भिखारी है। मुनि माँगे? माँगे? मुनि तो ऐसे, आहा..हा..! वीतरागी सन्त होते हैं। ऐलक, क्षुल्लक होते हैं, (उनकी भी) महावीतरागदशा है। समझ में आया? आहा..हा..! ऐसे माँगते नहीं हैं।

परन्तु श्रावक जब स्वयं आदर-(भक्तिपूर्वक) बुलाता है... देखा! आदरपूर्वक बुलाता है, वहाँ गये हों तब। वह कहेगा। ... कहा था न पहले? गृह में आये हों और आदरपूर्वक बुलावे। यहाँ आये हों, इसके गृह में आये हों, ऐसा कहा। **'गृहमागताय'** ऐसा पाठ आ गया है न? घर में आये हैं, तब आदर से बुलाता है, बस ऐसा। कहो, समझ में आया? **तब वह थोड़ा सा रूखा-सूखा शुद्ध प्रासुक...** इतने विशेषण प्रयोग किये हैं। सम्यक्त्वी श्रावक, सम्यक्त्वी सन्त-मुनि आदि को **थोड़ा...** सब दे तो स्वयं को बनाना पड़ेगा। **रूखा...** अर्थात् बहुत रसप्रद नहीं, ऐसा कहते हैं। समझे न? **सूखा शुद्ध**

प्रासुक... निर्दोष भले ऐसा हो, ऐसा कहते हैं। भले रूखा-सूखा परन्तु यदि निर्दोष हो तो वह दे, ऐसा कहना है। वापिस वह ही दे, ऐसा कुछ नहीं। यहाँ तो शुद्ध प्रासुक, ऐसा हो तो भी ऐसा दे, ऐसा कहना है और ऐसा न हो तो दूसरा अप्रासुक कोई चीज़ दे, ऐसा नहीं – ऐसा कहना है। उनके लिये बनायी हुई अच्छी चीज़ हो, वह नहीं ले। अपने लिये बनाया हुआ भले ऐसा सादा हो, सादा भोजन हो – ऐसा कहते हैं। भले थोड़ा दे। वापिस स्वयं उसमें से...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....भरता है पेट में। पेट में क्या ?

सूखा और शुद्ध प्रासुक – यहाँ तो वजन यहाँ है। शुद्ध निर्दोष भले सूखा हो, रूखा हो और थोड़ा हो, ऐसा कहते हैं। मूल तो ऐसा कहना है। यह शब्द वहाँ लगा देना। **जो भी आहार मिल जाये वह ग्रहण कर लेते हैं।** वह दे ऐसा और वह भी ग्रहण कर ले। **इसलिए जो श्रावक ऐसे महा-सन्तोषी व्रतियों को भी दान नहीं देता...** व्रती को। **वह अवश्य हिंसा का भागीदार होता है...** देखो! अब आया, देखो!

गाथा - १७४

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।।१७४।।

अपने लिए कृत दे मुनि को, भोज्य प्रीति हर्ष युत।
है लोभ शिथिलित दान यों, होता अहिंसामय सतत।।१७४।।

अन्वयार्थ : (आत्मार्थं) अपने लिए (कृतम्) बनाया हुआ (भक्तम्) भोजन (मुनये) मुनि को (ददाति) देवे (इति) इस प्रकार (भावितः) भावपूर्वक (अरतिविषाद-विमुक्तः) अप्रेम और विषादरहित तथा (शिथिलितलोभः) लोभ को शिथिल करनेवाला (त्यागः) दान (अहिंसा एव) अहिंसा स्वरूप ही (भवति) है।

टीका : 'आत्मार्थं कृतं भक्तम् मुनये ददाति इति भावितः त्यागः अरतिविषाद-

विमुक्तः शिथिलितलोभः अहिंसैव भवति'। -अर्थः- जो श्रावक अपने लिये बनाया हुआ भोजन वह मैं 'मुनि महाराज को देता हूँ' इस प्रकार त्यागभाव को अंगीकार करके, दान देने में अरति-पश्चात्ताप, विषाद आदि दोषों का त्याग करके जिसका लोभ शिथिल हुआ है, ऐसे श्रावक के अवश्य अहिंसा होती है।

भावार्थ : इस अतिथिसंविभाग-वैयावृत्त शिक्षाव्रत में द्रव्य-अहिंसा तो प्रगट ही है क्योंकि दान देने से परजीव की क्षुधा-तृषा की पीड़ा मिटकर दुःख दूर होता है तथा दातार लोभकषाय का त्याग करता है, इसलिए भाव-अहिंसा भी होती है अर्थात् दान देनेवाला पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन करता है। इस प्रकार सात शीलव्रतों का वर्णन पूरा हुआ।।१७४।।

(यहाँ तक श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन पूरा हुआ।)

गाथा १७४ पर प्रवचन

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।।१७४।।

अपने लिए बनाया हुआ... देखा! यह आया। साधु के लिये इशारे से भी थोड़ा अधिक डाल आयेगा तो वह नहीं। अपने चार लोग हैं और ये साधु आये हैं, तो अपने थोड़ा अधिक पकायेंगे तो दे सकेंगे, नहीं तो नहीं दे सकेंगे। अन्दर थोड़ा पानी डालना, थोड़ा आहार डालना। वह नहीं। वह सब दोषित है। ऐसा गृहस्थ नहीं करे और मुनि वह ले नहीं। **अपने लिए बनाया हुआ भोजन...** अर्थात् आहार-पानी। **मुनि को देवे इस प्रकार भावपूर्वक अप्रेम और विषादरहित...** वापिस ऐसा कि अरे...! यह देना पड़ा, ऐसा नहीं। समझ में आया? **लोभ को शिथिल करनेवाला...** सन्तोषी। लोभ को मन्द करनेवाला। अच्छे में अच्छी चीज़ हो, परन्तु दे, तब लोभ न करे कि भाई! इसमें से इतनी कमी करो। समझ में आया? **दान अहिंसा स्वरूप ही है।** लो! यह भगवान आत्मा अकषायस्वरूप है, ऐसी दृष्टि हुई और पश्चात् पर्याय में जितना अकषायभाव प्रगट किया। अकषाय लोभरहित, सन्तोषसहित की शान्ति आदि प्रगट की, इतना वह अहिंसा भाव है। **अहिंसा**

स्वरूप ही है। लो! ओहो..हो..! जहाँ हो, वहाँ अहिंसा लगायी है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ज्ञान की मूर्ति, वह स्वयं ही अहिंसकस्वरूप त्रिकाल है। अर्थात् कि उसमें राग और विकार नहीं है। ऐसी अनुभवदृष्टि हुई है, फिर अस्थिरता के जो राग का हिंसा भाग था, उसे स्वरूप में लीन होकर अन्तर एकाग्र (होकर), जितना सन्तोष प्रगट करता है, उसे वास्तव में अहिंसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? यहाँ तो सबमें अहिंसा निकाली है। अणुव्रत में, तीन गुणव्रत में, चार शिक्षाव्रत में।

टीका : अपने लिये बनाया हुआ भोजन वह मैं 'मुनि महाराज को देता हूँ' इस प्रकार त्यागभाव को अंगीकार करके,... ठीक। लोभ का त्याग। लोभ के **त्यागभाव को अंगीकार करके, तथा शोक और विषाद का त्याग करके...** यह अधिक देना पड़ा, अरे! यह मुझे ऐसा हुआ। अमुक हुआ, ऐसा नहीं। **जिसका लोभ शिथिल हुआ है, ऐसे श्रावक के अवश्य अहिंसा अन्तर में होती है।** यह जितना शुभराग रहा, उतनी भले हिंसा, परन्तु उसमें से अशुभराग मिटा है न? उतनी स्वभाव की स्थिरता हुई है, उतनी अहिंसा वास्तव में कहने में आती है।

भावार्थ : इस अतिथिसंविभाग–वैयावृत्त शिक्षाव्रत में द्रव्य–अहिंसा तो प्रगट ही है... द्रव्य–अहिंसा तो प्रगट है। क्योंकि परप्राणी की उसमें हिंसा नहीं होती। बारहवें व्रत में, हों! **क्योंकि दान देने से परजीव की क्षुधा–तृषा की पीड़ा मिटकर...** मुनि आदि की। **तथा दातार लोभकषाय का त्याग करता है...** दाता है, वह लोभ का अभाव करता है। **इसलिए भाव–अहिंसा भी होती है...** पर को द्रव्य हिंसा भी नहीं हुई और दु:ख नहीं हुआ तथा अपने को भी भाव–हिंसा नहीं हुई। भाव–अहिंसा हुई। **दान देनेवाला पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन करता है। इस प्रकार सात शीलव्रतों का वर्णन पूरा हुआ।** लो, यहाँ तक श्रावक के बारह व्रत का वर्णन पूरा हुआ।

अब सल्लेखना। सम्यग्दृष्टि श्रावक है, वह आत्मा की भावना भाता है। अहो! मेरा... पहले से, हों! उस प्रकार का व्रत अर्थात् निर्णय करता है। मृत्यु के समय मेरा समाधिमरण कैसे हो? मैं आनन्द में–आनन्द में रहूँ और देह छूटे, ऐसी भावना श्रावक को पहले से होती है। उसे तो यहाँ आगे व्रत कहेंगे। शील शब्द है न? **'पालयेत् इदम् शीलं'** १७६ गाथा में है न? **'शीलं'** इसका अर्थ व्रत करेंगे। ओहो..हो..!

देह-वाणी कर्म से भिन्न हूँ—ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ है, उसे एक क्षेत्र में साथ रहने के काल में भी भान है। अब छूटने के काल में उसे विशेष समाधि चाहिए - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मेरा आत्मा, देह से भिन्न-अत्यन्त भिन्न है। यह तो श्रावक को पहले से भान होता ही है। नहीं तो वह श्रावक नहीं कहलाता। शरीर से भिन्न, कर्म से भिन्न, इन पुण्य-पाप के भाव से भिन्न। वह भिन्न है, ऐसा दर्शन और ज्ञान (हुआ है)। वे भिन्न पड़ने के काल में... क्योंकि यह सन्धि है, दूसरे भव की। भव की सन्धि है, उस अवसर पर, भव के अभाव का भाव जितना रखे, उतनी समाधि होती है। समझ में आया?

एक भव छूटकर दूसरे भव में जाना। अभी तो श्रावक है न? मुक्ति तो नहीं, परन्तु इस भव की सन्धि यह छूटे और अन्यत्र जाये, उसमें उसे भवरहित हूँ, भव के भावरहित हूँ—ऐसा तो भान है परन्तु अस्थिरता का भाग है, उसमें शान्ति... शान्ति.. (रखता है)। शरीर में दुःख आवे, कफ आवे, शूल आवे। समझ में आता है न? छूटने के काल में। उसे पहले से अभ्यास है। ससन्मुख की दृष्टि की स्थिरता द्वारा देह छूटे, ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि की, जैसे बारह व्रत हैं, वैसे इस प्रकार का यह एक नियम है। ऐसा कहते हैं। शील कहेंगे। शील, पहले से, हों! उस समय, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाँधो। किसे खबर है क्षण की? यह तो ज्ञानी-मुनि को भी क्षण की खबर नहीं होती। उसमें क्या है? मुनि महा एकावतारी होते हैं। खबर नहीं होती, कब शरीर छूटेगा। पहले से शरीर छूटने के काल में मेरा समाधिमरण हो, ऐसी पहले से भावना होती है। आहा..हा..! वहीं के वहीं ऐसे अस्थिरता में चिपटा रहे, स्थिरता न रहे तो कहते हैं समाधिमरण नहीं होता। समझ में आया? शान्ति... शान्ति... शान्ति...

सल्लेखनाधर्म व्याख्यान

गाथा - १७५

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित पाँच अणुव्रतों को धारण करके सात शीलव्रतों का पालन करके अन्त में सल्लेखना अंगीकार करना चाहिए।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या।।१७५।।

मरणान्त में सल्लेखना, यह एक ही धन धर्म को।
मुझ साथ लेने में समर्थ, सभक्ति भाओ मान यों।।१७५।।

अन्वयार्थ : (इयम्) यह (एका) एक (पश्चिमसल्लेखना एव) मरण के अन्त में होनेवाली सल्लेखना ही (मे) मेरे (धर्मस्वं) धर्मरूपी धन को (मया) मेरे (समं) साथ (नेतुम्) ले जाने में (समर्था) समर्थ है, (इति) इस प्रकार (भक्त्या) भक्तिसहित (सततम्) निरन्तर (भावनीया) भावना करनी चाहिए।

टीका : 'इयम् एकैव मे धर्मस्वं मया समं नेतुम् समर्था इति इतौः पश्चिम–सल्लेखना भक्त्या सततं भावनीया।' –अर्थः– यह मात्र अकेली सल्लेखना ही मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है, इसलिए हर एक मनुष्य को इस अन्तिम सल्लेखना अथवा समाधिमरण की भक्तिपूर्वक सदा भावना करना चाहिए।

भावार्थ : संसार के कारण मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषाय हैं और उन्हीं के निमित्तकारण आहार आदि परिग्रह में इच्छा है। (स्वसन्मुखता के बल के द्वारा) इन सभी का घटाना ही सल्लेखना कहलाता है। यह सल्लेखना भी दो प्रकार की है। एक क्रम–क्रम से त्याग करना और दूसरी सर्वथा त्याग करना (अर्थात् अनुक्रम से आहार का कम करना अथवा सर्वथा त्याग करना काय–सल्लेखना है तथा क्रोधादि कषाय का घटाना

अथवा त्याग करना कषाय-सल्लेखना है।) अत: विचार करके श्रावक को अपने मरण के अन्त समय अवश्य ही सल्लेखना करनी चाहिए। मैंने जीवनपर्यन्त जो पुण्यरूप कार्य किया है तथा धर्म का पालन किया है, उस धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने को यह एक सल्लेखना ही समर्थ है। अब यदि मरण समय संन्यास धारण करेंगे तो सर्व धर्म परलोक में मेरे साथ जायगा और जो यहाँ परिणाम भ्रष्ट हो गये तो दुर्गति में गमन होगा, इसलिए ऐसी भावनापूर्वक श्रावक को अवश्य ही समाधिमरण करना योग्य है।।१७५।।

गाथा १७५ पर प्रवचन

सल्लेखना धर्म। यह सत् लेखना धर्म। नीचे अर्थ किया है। नीचे, नोट **सत्=सम्यक् प्रकार से,...** नीचे **लेखना=कषाय को क्षीण-कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।** देखा? आत्मदर्शन सहित। सत् है न सत्? सल्लेखना सम्यक् प्रकार से, लेखना अर्थात् कषाय को क्षीण (करना) लोभ.. लोभ.. लोभ.. लोभ.. लोभ.. इच्छा। आसक्ति की इच्छा को कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। समझ में आया? देह छूटने का काल तो आयेगा या नहीं? यह तो शरीर के साथ में रहने की अवधि है। भगवान आत्मा भिन्न है। अत्यन्त भिन्न चीज़ है। यह तो अमुक अवधि है। अवधि पूरी होगी, तब एकदम छूट जायेगा। सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसे देह के छूटने के काल से पहले, मेरा देह समाधि शान्ति से छूटे—ऐसा उसे बारम्बार प्रयत्न, प्रयोग और भावना होती है। कहो, समझ में आया? है न यहाँ अन्दर? देखो!

उसके अभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। काय के कृश करने को बाह्य... कहलाता है। शरीर जीर्ण हो। **अन्तरंग क्रोधादि कषायों के कृश करने को अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।** मरण के अवसर से पहले इसे आत्मा के भानसहित लक्ष्य से राग घटाना, इच्छा को मिटाना। मुझे अब कुछ कामकाज है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पहली इच्छा हो उसमें ऐसा करना, ऐसा करना पड़ेगा, यह पढ़ना पड़ेगा, विचारना पड़ेगा, ऐसा करना पड़ेगा, ऐसा कुछ अब नहीं। ऐसी भावना पहले से।

कुछ इच्छा नहीं, कुछ करने का नहीं। ऐसी मुझे कुछ करने की इच्छा भी नहीं है –ऐसी पहले से भावना करे तो मरण के समय उसे समाधि–मृत्यु होती है, नहीं तो ऐसे फँस जायेगा। आत्मा का भान न हो और भान होने पर भी ऐसी स्थिरता प्रगट न करे... समझ में आया? कहो, देह छूटने का समय तो आयेगा या नहीं? या ऐसे का ऐसा रहेगा अब? चौरासी गये। ८५वाँ चलता है न? कितना चलता है? पिच्यासी। समाचार–पत्र में लिखा गया है। कल उसमें पढ़ा था। इस चौथ को उद्घाटन है। उसमें था कहीं, गुजराती में कहीं था। आत्मधर्म में था, मेरे पास नहीं आया था। वहाँ किसी का पड़ा था। चौथ, यह भाद्र चौथ आयी है न? यह सुमनभाई आये हैं न? दो वर्ष से अमेरिका गये थे। पहले उस समय नहीं थे। तुम्हारे कारण देरी हुई है सब।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहे कि मुम्बई से तो आयेगा। ठीक। यह और प्रश्न कैसा? परन्तु यह कितने वर्ष गये? देखो न कितने? न्यालभाई! न्यालभाई को पिच्यासी वर्ष। देखो, इन्हें पिच्यासीवाँ वर्ष चलता है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात नहीं यहाँ। यह तो अब सब छोर अच्छा आया। गया उसे याद करना नहीं। अब नया करना। आहा..हा..! अरे! कहाँ बापू!

मैं कौन हूँ भाई! कहाँ हूँ? मैं तो मेरे ज्ञान–आनन्दस्वरूप में हूँ। ऐसा पहले इसे निर्णय करना चाहिए। मैं नहीं राग में, नहीं शरीर में, नहीं कर्म में, नहीं स्त्री, पुत्र, या घर में। आहा..हा..! ऐसी दृष्टि करके फिर शान्ति से, शान्ति से (देह छोड़े)। विकल्प भले कदाचित् रहे। समझ में आया? निर्विकल्प उपयोग न हो वहाँ, तथापि कषाय को–लोभ को कृश किया होता है न, तो शान्ति से देह छूटती है। समझ में आया? ऐसी भावना (भाता है)। जिन्हें उम्र हुई, परन्तु जिसे उम्र नहीं हुई, उसे उम्र की खबर है कि कब होगा? ऐई, मलूपचन्दभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो यह। वृद्ध पहले जाये या कौन जाये, यह कुछ खबर है? निश्चित किया है?

मुमुक्षु : ढाल तो कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी कैसी ढाल और कैसे... आहा..हा..! देखो न! यह बेचारे माँ-बाप बैठे हों और लड़का चला जाता है। बीस-बीस वर्ष के चले जाते हैं। उसे छूटना न हो, हों! छूटना माना नहीं तो छूटना कैसे हो? वह पृथक् भगवान, मैं पृथक् हूँ, मुझे और देह को क्या? यह तो मिट्टी है। इसके कारण ये रजकण का ढेर हुआ है। मेरा नहीं, उसमें मैं नहीं। मैं तो भिन्न चीज़ हूँ। ऐसे अभिप्राय को अन्तर में लाकर और भिन्न करके तथा जब दृष्टि-अनुभव करे, तब मरने के अवसर पर में भव की सन्धि... ऐसा एक शब्द कहीं-श्रीमद् में है। भव के सन्धि के काल में ऐसे भाव से मरे, ऐसा कुछ पत्र एक जगह है। पीछे में होगा कहीं। भव की सन्धि काल में, ऐसा कुछ है। ऐसे भव के अभाव के भाव रखकर देह छोड़े, उसे फिर भव एकाध, दो हों; विशेष नहीं हो सकते। समझ में आया? किस जगह हो, यह क्या खबर पड़े। इस ओर है एक जगह। सब कहीं याद होता है? यह रहा। भव के अभाव, भव की सन्धि है। यह भव और उस भव की सन्धि है न? उस समय जिसका समाधि शान्त-मरण जिसका हुआ, उसे फिर विशेष भव नहीं होते। समझ में आया? यह इसमें थोड़ा-थोड़ा स्पष्टीकरण आयेगा। यह बाद में करेंगे। क्या कहा?

सल्लेखना का स्वरूप। देखो! १७५

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या।।१७५।।

'पश्चिम' अर्थात् अन्तिम-अन्त का। **'पश्चिम'** अर्थात् मरण के अन्त में। **'पश्चिम'** अस्त होता है, ऐसा। अन्तिम। सम्यग्दृष्टि श्रावक मृत्यु के लिये क्या विचारता है? ओहो..! **यह एक 'पश्चिमसल्लेखना' मरण के अन्त में होनेवाली सल्लेखना ही मेरे 'धर्मस्वं' धर्मरूपी धन...** यह धर्मरूपी धन है। धूल में भी कहीं नहीं और शरीर में भी नहीं। सब पर रह गया। धर्मी समकित दृष्टि को तो अपना धर्मरूपी धन है। आत्मा वीतरागी स्वरूप का अन्तर अनुभव किया, ज्ञान किया और स्थिर होता है, वह धर्मरूपी धन है, कहो, समझ में आया?

धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले जाने में... मेरे साथ ले जाने के लिये। वह धूल

कोई साथ नहीं आनेवाली है। पैसा, स्त्री, पुत्र, इज्जत, कीर्ति सब धूल–धमाका यहीं अस्त हो जायेंगे। मेरे अस्त होने के काल में अर्थात् देह के अन्तिम काल में। **ले जाने में समर्थ है...** अहो! मेरा धर्मरूपी धन मेरे साथ आयेगा। यह आत्मा राग से, पर से भिन्न करके जाना, अनुभव किया और स्थिर हो, इतना आत्मा का धन साथ में आनेवाला है। बाकी कुछ धूल भी साथ में नहीं आनेवाला। हैरान होकर मर जायेगा। समझ में आया? **इस प्रकार भक्ति सहित...** भक्ति अर्थात् बहुत प्रेमसहित ऐसी भावना करे, ऐसा कहते हैं। **निरन्तर भावना करनी चाहिए।** देखा! जिसने आत्मा भिन्न जाना, माना, अनुभव किया है, उसे मरने के काल में अत्यन्त पृथक् शान्ति से देह छूटे, ऐसी निरन्तर भक्तिसहित, प्रेमसहित, ऐसा कहते हैं। ऐसा नहीं कि अरे रे! अब मरण आयेगा और ऐसा होगा। प्रेमसहित, मानो, ओहो! वास्तविक अवसर आया है। मरण महोत्सव, मरण का महोत्सव। समझ में आया? 'जगत को मरण का भय, मेरे मन आनन्द की लहर' ऐसा करते हुए देह छूटे। उसको अरे! यह क्यों आया? ऐसा होगा। मरण किसे कहें? आत्मा मरता नहीं, आत्मा जन्मता नहीं, आत्मा को आयुष्य का जीवन नहीं।

आत्मा भगवानस्वरूप है, उसकी शुद्धता का भान, उसे शुद्धता के भानसहित देह छूटे, ऐसी भक्तिसहित हमेशा भावना करे, यह श्रावक का ही हमेशा का इस प्रकार का जैसे बारह व्रत हैं, वैसा इस प्रकार का नियम है, शील है। इस प्रकार का एक शील स्वभाव है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

सम्यक्त्व के सन्मुख जीव

हे भगवान! जिसे आप प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके प्रति भक्ति है, आपके द्वारा प्रतिपादित आत्मा की बात को जो रुचिपूर्वक सुनता है; वह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव करेगा ही; अतः वह जीव भी कम बुद्धिवाला नहीं है। गृहीत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो वह जीव भी बहुत आगे है। भले ही वर्तमान में उसे आत्मानुभव नहीं है, तथापि वह अनुभव की तैयारीवाला है; अतः वह जीव भी बहुत उत्कृष्ट है। *—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-१७*

प्रवचन नं. ६८ गाथा-१७५-१७६ शनिवार, आषाढ़ कृष्ण १, दिनांक २२.०७.१९६७

आज श्रावण कृष्ण एक है (गुजराती) आषाढ़ कृष्ण एक अर्थात् शास्त्र की श्रावण कृष्ण एक है। यह पूर्णिमा है, पूर्णिमा अर्थात् पूर्ण माह, अमावस्या अर्थात् अर्द्ध माह। अपने अभी ऐसा चलता है कि अमावस्या को महीना पूरा होता है, बाकी वास्तव में तो अमावस्या अर्थात् अर्द्ध माह, पूर्णिमा अर्थात् पूर्ण। आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को आषाढ़ महीना पूरा हुआ। श्रावण कृष्ण एक। आज महीने का पहला दिन। चातुर्मास का दिन, ऋतु का दिन। भगवान की वाणी आज श्रावण कृष्ण एकम को खिरी। भगवान महावीर परमात्मा को वैशाख शुक्ल दसवीं को केवलज्ञान हुआ था। परन्तु ६६ दिन तक वाणी नहीं निकली। दो महीने और छह दिन। विपुलाचल पर्वत पर भगवान की वाणी आज श्रावण कृष्ण एकम को गौतम गणधर की उपस्थिति में (खिरी)। गौतम आये और भगवान की वाणी खिरी। वह आज का दिव्यध्वनि का दिन है। उसमें से गणधरदेव ने आज अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्व और बारह अंग की रचना की।

भगवान की वाणी ६६ दिन से बन्द थी, वह आज वाणी खिरने पर गणधरदेव की शक्ति अन्दर बहुत। पहले तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि थे, परन्तु वे पात्र जीव आये और उसमें से उन्हें बहुत समृद्धि प्रगट हुई। भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया और गणधरदेव ने आज द्रव्यश्रुत की रचना की। समझ में आया?

मुमुक्षु : आज सुना और आज ही रचना की।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज। सुनकर आज रचना की। कहीं तुम्हारे जैसे देरी लगे वैसा नहीं होता वहाँ। फिर से कहो, फिर से कहो, ऐसा नहीं होता वहाँ। सेठी! महातीर्थंकर जैसी उनकी वाणी और गौतम गणधर जैसे पात्र। उसमें क्या कहना?

मुमुक्षु : अन्तर्मुहूर्त में।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना कर डाली। भगवान की वाणी एक साथ निकली। ओम ध्वनि। आज श्रावण कृष्ण एकम्, विपुलाचल पर्वत। पाँच पर्वत हैं न ? राजगृही नगरी में पाँच पर्वत हैं। वहाँ परमात्मा केवलज्ञान तो प्राप्त हुए थे, छियासठ दिन से, परन्तु उस पात्र के बिना दिव्यध्वनि नहीं खिरी – ऐसा शास्त्र में व्यवहार से बोला जाता है। बाकी दिव्यध्वनि निकलने का काल ही आज श्रावण कृष्ण एकम था। भावश्रुत का उपदेश। केवलज्ञान तो कोई उपदेश दे ? भावश्रुत का उपदेश दिया, ऐसा कहने में आता है।

गणधरदेव ने रचना की। उसमें से षट्खण्डागम परम्परा से जो रहे, धरसेनाचार्य महाराज दिगम्बर सन्त मुनि, गिरनार की गुफा में रहते थे। दिगम्बर मुनि। उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की। वह भगवान की दिव्यध्वनि को अनुसरण कर वह सब वाणी है। बारह अंग की रचना उनकी वाणी है। श्वेताम्बर ने रचे हैं, वे तो स्वयं की कल्पना से रचे हैं, वे कहीं भगवान की वाणी नहीं है। समझ में आया ? दिगम्बर में से श्वेताम्बर निकले, दो हजार (वर्ष पहले), वे अपनी कल्पना से सब बनाये हैं। यह तो भगवान की वाणी जो त्रिलोकनाथ परमेश्वर की वाणी निकली, उनमें से बारह अंग रचे, उसके अनुसार बाकी जो थोड़ा रहा, वह धरसेनाचार्य यहाँ सौराष्ट्र में गिरनार पर चन्द्रगुफा में रहते थे और उन्होंने उन दो साधुओं को (शिक्षा दी)। यह धवल आदि टीका है। कहो, वह भगवान की दिव्यध्वनि का आज का दिन है। शासन की उत्पत्ति का (दिन है)। गणधर भी आज ही उत्पन्न और बारह अंग की रचना भी आज ही हुई। भगवान की वाणी भी आज ही निकली। सब आज की उत्पत्ति का दिन है। समझ में आया ? शास्त्र में तो बहुत अधिक आता है... नक्षत्र था, यह... मुहूर्त था। उस समय वाणी निकली – ऐसा धवल में आता है। धवल है न धवल।

सनातन सत्य वीतराग के तत्त्वों का कथन वीतराग ने वाणी द्वारा कहा, वे ही तत्त्व अभी दिगम्बर शास्त्रों में वही वाणी चली आती है। कहो, समझ में आया ? सन्तों ने, कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने भी उस परम्परा का जो अध्यात्म तत्त्व था, वह उन्होंने समयसार आदि में रचा है। यह अमृतचन्द्राचार्य ९०० वर्ष पहले दिगम्बर मुनि , महा सन्त (हुए), जिन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य की (उनके शास्त्रों की) टीकायें कीं। उनका बनायी हुई यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पुस्तक है।

महामुनि धर्म के स्तम्भ, धर्म के धोरी, केवलज्ञान को टिकानेवाले वे स्तम्भ थे। ऐसे

दिगम्बर सन्त... आहा..हा..! जिन्होंने अन्तर का काम किया है। भावलिंग। जिन्हें गणधर नमस्कार करे, ऐसी शक्ति उन्हें प्रगट थी। समझ में आया? वह आज का दिन भगवान की दिव्यध्वनि का है। श्वेताम्बर में तो ऐसा आता है कि यह वाणी निकली अवश्य परन्तु धर्म पाये नहीं। ऐसा नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। वाणी निकले और धर्म पानेवाले न हों, ऐसा नहीं होता। क्यों? पूर्व में ऐसे ही विकल्प में तीर्थंकरगोत्र बँध गया है कि कोई भी जीव धर्म पावे अथवा मैं पूर्ण होऊँ, ऐसे विकल्प में बँधे, इसलिए वाणी निकले, तब धर्म प्राप्त करनेवाले होते, होते और होते ही हैं। समझ में आया?

गणधर को आज चार ज्ञान, चौदह पूर्व अन्तर्मुहूर्त में प्रगट हुए। अन्तर्मुहूर्त में! और अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना। कहो, पोपटभाई! कितनी शक्ति होगी। यह आत्मा की शक्ति है या नहीं? यह सब आत्मा की शक्ति है। वह कुछ नहीं और आयी, ऐसा है नहीं। आत्मा में सब शक्तियाँ पड़ी हैं। प्रगट करे, तब वे पर्यायरूप से आती हैं। कहो, समझ में आया? अब अपने यहाँ समाधिमरण की बात चलती है। समाधिमरण, १७५ गाथा, सल्लेखना का स्वरूप।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या।।१७५।।

इसकी टीका। टीका लो। अर्थ आ गया था। **यह मात्र अकेली सल्लेखना ही मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है...** क्या कहते हैं? यह धर्मी जीव (अर्थात्) जिसे आत्मा की अनन्त लक्ष्मी, आत्मा में अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि लक्ष्मी पड़ी है, ऐसा जिसे भान हुआ है। आत्मा में बेहद आनन्द, बेहद शान्ति अर्थात् चारित्र-वीतरागता, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, ऐसी वस्तु में शक्ति, ऐसा सत्त्व, ऐसा स्वभाव है - ऐसा अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन में स्वसन्मुखता में भान हुआ है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। श्रावक होने से पहले यह सम्यग्दर्शन होता है। कहो, समझ में आया?

मेरी सम्पदा-आनन्द और शान्ति मेरे पास है। बाहर के विकल्प करना, वह तो सब मात्र दु:ख का रास्ता है। कहो, समझ में आया? जितने बहिर्मुखता के शुभ-अशुभराग हों, वे सब दु:ख के रास्ते हैं। भगवान आत्मा, सम्यग्दृष्टि को प्रथम धर्म में आत्मा आनन्द है, ज्ञानस्वरूप है, शान्त है और बेहद शान्ति तथा बेहद आनन्द का भण्डार है। ऐसी स्वसम्पत्ति

की लक्ष्मी का जिसे अन्तर में भान (हुआ है), उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह सम्यग्दृष्टि फिर श्रावक होता है अर्थात् स्वरूप में विशेष लीनता करता है, तब उसे बारह व्रत के भाव होते हैं और उसे यह सल्लेखना करने का भाव होता है। कहो, समझ में आया?

यह मात्र अकेली सल्लेखना... 'अकेली सल्लेखना'—ऐसा शब्द है। आत्मा में देह छूटने के काल में... देह तो छूटेगी ही। वह तो परवस्तु है। वह कहाँ आत्मा की चीज़ है? परन्तु छूटने के काल में मैं शान्ति से... शान्ति से मेरे स्वभाव की शान्ति द्वारा देह छूटे, ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि श्रावक को मृत्यु होने से पहले सल्लेखना की ऐसी भावना होती है। कहो, समझ में आया? यह पैसा, स्त्री, पुत्र, परिवार तो धूल, पर है, वह कहीं साथ में आनेवाला नहीं है, वह तो धूल, पर है, उस पर तो लक्ष्य है, वह दुःख ही है।

आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि हुई है और उस दृष्टि का ध्यान तथा ज्ञान किया है और अन्दर से लक्ष्मी प्राप्त की है। शान्ति की लक्ष्मी आत्मा में से प्राप्त की है। वह विचार करता है कि मैं इस शान्ति की लक्ष्मी का धन, मेरा धन यह है। यह मृत्यु काल में देह छोड़ूँ, साथ में लक्ष्मी लेकर जाऊँ। कहो, समझ में आया इसमें? अनादि काल से मरा है, वह दुःख के भाव से आकुलता में तड़पकर मरा है। तड़पन–तड़पन, हाय.. हाय..! क्योंकि आत्मा का भान नहीं होता। निज स्वरूप में सम्पत्ति पड़ी है, उसकी दृष्टि हुई नहीं; उसके निधान पड़े हैं उसकी इसे खबर नहीं; इसलिए मरते हुए अनन्त काल में अनन्त बार तड़पकर आकुलता में, अशान्ति में मरा है। अब धर्मी शान्ति में देह छोड़ना चाहता है। सेठी! आहा..हा..! यह शान्ति अर्थात् आत्मा के स्वरूप के भान बिना... देखो न!

श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में पहली लाईन में कहा है न?

जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त,
समझाया उन पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त॥

'जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त,' मेरा शुद्ध आनन्दस्वरूप, आत्मा सिद्ध समान अपना स्वरूप, उसको समझे बिना किसी भी भव में उसे जरा भी शान्ति नहीं मिली। दुःख, दुःख और दुःख। दुःख, दुःख और दुःख। आहा..हा..! साधु हुआ, दिगम्बर हुआ परन्तु मिथ्यादृष्टि। पुण्य की क्रिया, दया, दान के भाव, वह मेरा धर्म है, वह धर्म करता हूँ – ऐसी मिथ्यादृष्टि में इसके भी मृत्यु दुःख में अशान्ति में हुई। समझ में आया?

धर्मी शान्ति से देह छोड़ना चाहता है। अपना शान्तस्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान में भान आया और थोड़ा प्रगट हुआ है, उस शान्ति का धर्म, कषाय को कृश करके, शरीर तो कृश होता है उसके कारण, मृत्यु के समय स्वसन्मुखता के आत्मबल से शान्ति से देह छोड़ूँ, इसका नाम समाधिमरण कहने में आता है। कहो, सेठी!

यह मात्र अकेली सल्लेखना ही... मेरे धर्म के लिये है। है न? **'धर्मस्वं'** लो! मेरे **'धर्मस्वं नेतुम्' ले जाने में...** अहो! मेरा स्वभाव पुण्य-पाप के कषायरहित मेरा स्वभाव है, ऐसी जो श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति की मैंने प्राप्ति की है, वह लक्ष्मी मृत्यु के काल में भी साथ में लेकर जाऊँ, ऐसी भावना धर्मी को मृत्यु से पहले बारम्बार आती है। कहो, समझ में आया? **अकेली सल्लेखना ही...** कषाय को कृश करना, अकषाय को प्रगट करना, यह एक ही सल्लेखना **मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में... सल्लेखना समर्थ है...** समझ में आया?

'जगत को मरण की बीक है, मेरे मन आनन्द की लहर जो, जगत को मरण की बीक है।' धर्मी मृत्यु काल में... मृत्यु को देखकर दूसरे भय को पाते हैं। देह छूटेगी.. देह छूटेगी.. धर्मी को (ऐसा लगता है), मेरे आनन्द का अवसर है यह। आहा..हा..! मेरा मृत्यु महोत्सव है। समझ में आया? जिसने आत्मा की शान्ति के भाव को प्रगट किया है, वह कहता है कि मृत्यु काल, वह तो मेरा मृत्यु महोत्सव है। एक शब्द श्रीमद् ने नहीं कहा था थोड़ा? देह छूटने के काल में एक शब्द निकला था। इसमें निकला था? कितने में? देखो!

'परम योगी ऐसे श्री ऋषभदेवादि पुरुष भी जिस देह को नहीं रख सके, उस देह में एक विशेषता रही है, वह यह कि उसका सम्बन्ध वर्ते, तब तक मैं जीव को असंगपना, निर्मोहपना कर लेना...' जब तक यहाँ वर्ते, तब (तक में) असंगपना, देह से भिन्नपना, निर्मोहपना कर लेना। 'अबाध्य अनुभवस्वरूप ऐसा निजस्वरूप जानकर...' अबाध्य-जिसे कोई बाधा नहीं, विघ्न नहीं, ऐसा भगवान आत्मा का स्वरूप, उसे अनुभवस्वरूप ऐसा निज स्वरूप, ऐसा निज स्वरूप 'जानकर, दूसरे सर्व भावों से व्यावृत्य होना...' पृथक् होना 'कि जिससे पुनः जन्म-मरण का फेरा न रहे। यह देह छोड़ते समय...' यह देह छोड़ते समय। छोड़ते समझते हो न? 'जितने अंश में...' यह देह छोड़ते समय, छूटने के काल में 'जितने अंश में असंगपना...' देह छोड़ने के अवसर में जितने अंश में असंगपना,

पहले से असंगपना साधा है। 'देह छोड़ने के समय में जितने अंश में असंगपना, निर्मोहपना...' स्वरूप सावधानी से पर में मोहरहितपना 'यथार्थ समरसपना रहता है...' यथार्थ समरस-वीतरागता, ज्ञातादृष्टापना रहता है। 'उतना मोक्षपद नजदीक है।' सेठी ! क्या कहा ? देखो !

देह छोड़ते समय जितने अंश में असंगपना, पर से भिन्नपना, निर्मोहपना, स्वरूप में सावधानपना, पर में असावधानपना, यथार्थ समरसपना, उपयोग में शान्तरस... शान्तरस में उपयोगपना रहता है, उतना मोक्षपद निकट हो – ऐसा परमज्ञानी पुरुषों का निश्चय है। ३०, ३०। 'परम उपकारी आत्मार्थी सरलता आदि गुण सम्पन्न श्री सौभाग' उनके प्रति है। सौभागभाई के प्रति है। सायला में सौभागभाई थे न, उनके प्रति बहुत प्रेम था। सौभागभाई को इनके प्रति बहुत प्रेम, माँ–बाप जैसा प्रेम था। उन्हें यह लिखा है।

'ऋषभादि तीर्थंकर जैसे भी' इस देह को नहीं रख सके, इस देह में एक विशेष है कि जब तक देह का सम्बन्ध वर्ते, तब तक मैं जीव को असंगपना, निर्मोहपना कर लेना, अबाध्य अनुभव स्वरूप, निजस्वरूप जान लेना। दूसरे सर्वभाव... देखो ! यहाँ जानना कहा, दूसरे सर्वभावों से छूटना–हट जाना। 'कि जिससे पुनः जन्म–मरण का फेरा न रहे।' आहा... ! चौरासी लाख के अवतार। नरक के, निगोद के। ऐसे कच्चरघाण। यह सड़क पर काचीड़ा निकलते हैं न। मोटरें निकलती हैं, मोटरें निकलें तो चूरा। भगवान आत्मा चला जाता है। वस्तु की तो खबर नहीं। समझ में आया ?

मरण के समय में, देह छूटने के अवसर में, देह छूटने से पहले जिसने अपना असंगस्वरूप पर से संगरहित है, राग का संग नहीं, ऐसा तत्त्व है। भगवान आत्मा, वह पुण्य–पाप के राग का संग नहीं, ऐसा असंग तत्त्व है। पर के प्रति निर्मोहपना है, स्व में असंगपना है। ऐसा अव्याबाध अनुभवस्वरूप निजस्वरूप जानना, प्रतीति करना, अनुभव करना और देह छोड़ने के अवसर पर समरसरूप से देह छूटती है। उतना उसे मोक्ष निकट है। यह भव की सन्धि है न ? यह भव की सन्धि है। सन्धि के समय समरस जितना रहा, उतना मोक्ष निकट है। समझ में आया ? कहो, एक भी पाई साथ में आवे ऐसा नहीं है। लड़का साथ में आयेगा ? यह साथ में आवे मुर्दा ? यह तो मुर्दा है। जगत की मिट्टी है।

मुमुक्षु : जन्मने के समय में कहाँ...

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी भी कहाँ शामिल है ? यह तो भिन्न-भिन्न है। आहा..हा..! ये सब समृद्धि-ऋद्धि तो जड़ की है। आत्मा की है ? धूल में भी नहीं। आहा..हा..! जिसे जन्म-मरण के चक्र मिटाना है, उसे जन्म-मरणरहित ऐसा भगवान आत्मा का असंगस्वरूप, उसे प्रथम जानकर अनुभव करना चाहिए और उस अनुभव का धर्म, भावना भाने से, देह छोड़ने के अवसर पर भी मैं शान्ति से देह छोड़ूँ। छूटने के काल में छूटेगी ही। उसमें कोई देव, इन्द्र आवे तो रोक सके, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ऐसा परमज्ञानी पुरुषों का निश्चय है - ऐसा कहा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तीसवें वर्ष का पत्र है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' 'जिसे किसी के प्रति राग-द्वेष रहा नहीं, उन महात्मा को बारम्बार नमस्कार।' ऐसा करके पत्र लिखा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : पत्र का नम्बर क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र का नम्बर होगा। तीसवें वर्ष में है। यहाँ तो परसों यह बात थी कि भव की सन्धि के अवसर में भव का भव बदलता है न ? यह भव बदलता है तब, जितने भव के भावरहित असंगपने स्थिरता की, उतना उसे भव का अभाव और मोक्ष की निकटता है। समझ में आया ? नहीं तो उस समय ऐसे...

एक व्यक्ति कहता था, एक पूछता था, दिगम्बर आया था। महाराज! ये अभी के पंचम काल के मरण ऐसे... क्योंकि सम्यग्दर्शन का भान नहीं और श्रावक होकर बैठे और साधु होकर बैठे। मरते समय फिर हाय... हाय... ऐसी आकुलता हो। तड़पन मारते हों, क्योंकि वस्तु की खबर नहीं, पुण्य-पाप के राग से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा अनुभव-दृष्टि नहीं की और क्रियाकाण्ड में माना हो कि यह हम धर्म करते हैं, वह मरने के अवसर में फिर आकुलता। आहा..हा..! वह पूछता था कि महाराज! इस पंचम काल के ऐसे समाधिमरण होंगे ? अरे! भाई! वह समाधिमरण नहीं। क्योंकि श्रावक को, मुनि को बहुतों को मरते देखा हो, दु:खी होते, छटपटाते देखा हो, तड़पन मारते...

धर्मी का मरण, धर्मी का जीवन, जीवनकाल में ही मृत्युकाल की जो दशा होनेवाली

है, उसका साधन पहले से किया है। समझ में आया? देह के जीवनकाल में, ऐसा अन्दर आया न? सम्बन्धकाल में। समझ में आया? इस देह के सम्बन्धकाल में सम्बन्धरहितपना साधा है। आहा..हा..! समझ में आया? यह तो जिसे आत्मा का हित करना हो, उसकी बात है। बाकी तो अनन्त काल में भटका करे, धूल–धाणी। आहा..हा..! राजपाट भी अनन्त बार मिले। अरबों रुपये एक दिन की आमदनी हो, ऐसा राज्य भी अनन्त बार मिला। क्या? दुःखी। क्या? दुःखी... दुःख के पर्वत में सिर फोड़ता था। आहा..हा..!

मुमुक्षु : उसमें शान्ति और आनन्द कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी शान्ति? जहाँ शान्ति है, उसकी तो दृष्टि की खबर नहीं। शान्ति तो आत्मा में है। अकषायस्वरूप। समझ में आया? समझ में आया कुछ? अहो! **'इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।'** बस, आहा..हा..! मेरी शान्ति। मैं पुण्य–पाप के रागरहित, इस क्रियाकाण्ड के, दया–दान के विकल्प हैं, वह विकल्प आस्रव है, उनसे मैं रहित हूँ, अजीव से रहित, आनन्द से सहित हूँ। आहा..हा..! ऐसे आत्मा का मेरा धन, वह मेरा धन। यह धूल का धन तो मरकर नरक में ले जाने के लिये है। समझ में आया? ऐई! जयन्तीभाई! तुम्हारे कहाँ है परन्तु अब? लड़के–बड़के...

मुमुक्षु : वह तो परधन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परधन है?

मुमुक्षु : अपने वृद्धों के लिये बराबर है। युवकों के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री : युवक किसे कहना? शरीर, हड्डियाँ जड़ की हैं, उनमें आत्मा को कहाँ आया? जवानी अर्थात् माँस और हड्डियाँ कठोर, उसे युवक कहते हैं परन्तु आत्मा को जवानी कहाँ आयी? आत्मा तो जो है वह है। अनादि–अनन्त है। वह बालक भी नहीं, युवक भी नहीं, वृद्ध भी नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक भी नहीं। आहा..हा..! ऐसा भगवान आत्मा अन्तर्मुख चैतन्य को सम्हालकर, शोधकर, खोजकर जो शान्ति प्राप्त की है, ऐसे धर्मी को यह मेरा धन है, यह सल्लेखना एक ही साथ में ले जाने में साधन है, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह लक्ष्मी तो.. कदाचित् कहे मेरे साथ में देना। कौन ले जा सकता है?

मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है, इसलिए हर एक मनुष्य... देखो! **इस अन्तिम सल्लेखना...** '**पश्चिम**' है न? '**पश्चिम**' **अथवा समाधिमरण की भक्तिपूर्वक..** भक्ति से। **सल्लेखना अथवा समाधिमरण की भक्तिपूर्वक सदा भावना करना चाहिए।** समझ में आया?

भावार्थ : संसार के कारण क्रोधादि कषाय... हैं। संसार के कारण मिथ्यात्व कषाय है। मिथ्यात्व तो मिटाया है। अब क्रोधादि कषाय हैं, वे संसार के कारण हैं, ऐसा कहना है। **उन्हीं के कारण आहार आदि परिग्रह में इच्छा है।** उनके कारण आहार इत्यादि परिग्रह में इच्छा है। आहार, लक्ष्मी, शरीर यह सब स्त्री, पुत्र, मकान।

(स्वसन्मुखता के बल के द्वारा) इन सभी का घटाना ही... आत्मा की अन्तर शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर उस कषाय को, राग-द्वेष को घटाना, वह वास्तव में घटाया कहलाता है। स्वसन्मुखता बिना जो राग की मन्दता होती है, वह घटा ही नहीं। दृष्टि वहाँ मिथ्यात्व है। समझ में आया? पुण्य-पाप के राग-सन्मुख बुद्धि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप के रागरहित भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप विराजमान प्रभु स्वयं है, उसके अन्तर-सन्मुख होकर, स्वभावसन्मुख होकर स्वभाव में एकाग्र होकर उन कषायों को घटाया **सल्लेखना कहलाता है।** उसे सल्लेखना कहते हैं। सत् लेखना कहा न? आ गया था न? नीचे आ गया था यह। **सत्=सम्यक् प्रकार से, लेखना=कषाय को क्षीण-कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।**

मुमुक्षु : आहार इत्यादि।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ममता। आहार आदि ममता का कारण है। ममता घटाना, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : इत्यादि अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शरीर, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, महेन्द्रभाई। नया मकान बनाया है न? लाख रुपये का मकान, कितना बनाया! बगीचा और बगीचा ऐसा। कुछ मेरा नहीं... कोई मेरा नहीं.. मेरा कुछ नहीं। सेठी ने वहाँ जयपुर में नया मकान बनाया है। यह जयपुर के सेठी कहलाते हैं न ये। महेन्द्रभाई तो इनके हैं न! हमारे हरिचन्द थे, हरिचन्दभाई। नहीं थे यह तुम्हारे खसवाले, हरिचन्दभाई हैं न? एक बार उनकी माँ बहुत महिमा करती थी।

मैं आहार लेने गया था। वह नया मकान बनाया था न? उनकी माँ कहे, मेरे हरिचन्द ने, देखो! काका के लड़के का विवाह किया। यह नहीं शिवलाल का लड़का। शिवलाल का न? अलग था, उसका विवाह किया। उसे ऐसा कराया, अमुक.. अमुक, भाई! हरिचन्द तो बहुत ऐसा। फिर हरिचन्द कहे, माँ! तू किसकी बात करती है? मैं भी किसका हूँ? मैं तेरा हूँ या नहीं? ऐसा कहते हैं लो। आहार लेते समय (बात हुई थी)। उसने नया मकान बनाया है न? खस में। वहाँ ऐसा कहे, ऐसा किया, मेरे हरिचन्द ने ऐसा किया.. ऐसा किया.. काका के लड़के का विवाह किया, ठिकाने लगाया, मकान (बनाया), भाईयों को ऐसा किया। हरिचन्द कहे, परन्तु माँ! हरिचन्द है किसका? मैं तो तेरा हूँ। ऐई! सेठी!

मुमुक्षु : यह महेन्द्रभाई में लागू करना न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे लागू करना। महेन्द्रभाई करे, परन्तु महेन्द्रभाई है किसके? बहुत वर्ष की बात है, हों! (संवत्) १९९९ के साल में तुम थे न? हाँ, बस १९९९–९९। १९९९ के साल में बोटाद से उतरकर, नहीं उस ढेला में? कौआ पानी पीता था वह।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो रास्ते में था थोड़ा।

यहाँ कहते हैं... आहा..हा..! परन्तु यह ज्ञान और आनन्द किसका? यह आत्मा का, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? आहा..हा..! किसका पुत्र और किसकी माँ? किसका शरीर और किसकी वाणी? जगत की चीज़ें जड़ हैं। यहाँ तो राग भी आत्मा का नहीं और राग मेरा माने, वह मूढ़ जीव है। उसे अशान्ति का, अशान्ति का जीवन है। क्या? यह राग, पुण्य–पाप मेरे, पुण्य मेरा—ऐसी मान्यतावाले का जीवन अशान्ति है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि राग अशान्ति है और उसे मेरा माना है, आहा..हा..! समझ में आया? दूसरी चीज़ तो कहीं रह गयी। परन्तु पुण्य–पाप के भाव जो आस्रव हैं, वे मेरे माने हैं तो आस्रव तो दुःखरूप और अशान्ति है। अशान्ति को मेरी मानी तो अशान्ति में वह पड़ा है। आहा..हा..! राजमलजी! बराबर है। आहा..हा..! समझ में आया? जिसने देह के सम्बन्ध के जीवन में, जिसने पुण्य और पाप के भाव राग, वह सब राग है, उसे अपना माना है, वह अशान्ति के जीवन को जीता है, और मरण के अवसर पर वह अशान्ति से देह छोड़ेगा। समझ में आया? परन्तु देह के सम्बन्ध के जीवनकाल में जिसने पहले से पुण्य–पाप के

आकुलता के ये अशान्ति के भाव, उनसे मेरी चीज़ शान्ति से भरपूर भिन्न है, ऐसा जिसने अपने शान्तस्वभाव में से शान्ति करके वह शान्ति मेरी है, अशान्ति मेरी नहीं, ऐसा जिसने जीवन किया है, उसे मृत्यु के अवसर पर वह धर्म धन, सल्लेखना साथ में ले जाने का साधन है। आहा..हा..! यहाँ सब तड़फकर ऊं.. ऊं... करके पड़े रहेंगे।

पैसा होगा, स्त्री, पुत्र, ऐं.. ऐं.. टकटक रोयेंगे। ऐसा करेंगे। वे रोयेंगे, फिर सामने देखेगा तो इसे भी ममता होगी। हाय.. हाय..! मेरे मरने के बाद इनका क्या होगा? परन्तु तेरा भविष्य में क्या होगा? इसका कुछ किया? मरते समय लड़के की सम्हाल करे कि इसे सम्हालना। ऐई! मलूपचन्दभाई! अब मेरी तैयारी हो गयी है। लड़कों को सम्हालना, यह लड़की छोटी है, इसे ऐसा है, वैसा है। परन्तु अब तुझे कहाँ जाना है, उसका तो कर अब। मरकर यहाँ होली सुलगाता है, गजब परन्तु...

कहते हैं कि अरे! मैं अभी अकेला हूँ। अकेला हूँ किससे? राग और पर से मैं भिन्न अकेला हूँ। अभी। ऐसा अकेलापन जिसने दोकलेपन में से छोड़कर किया है, उसे मरण के समय एकलेपनरूप से शान्ति से देह छूटेगी। समझ में आया?

मुमुक्षु : यह संथारा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह संथारा। संथारा क्या दूसरा कौन सा था? ऐसे अपवास करके पड़ा रहे, वह संथारा?

मुमुक्षु : यह जो कहा, वह हिन्दी में कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं? ऐसा कहा, पहले जिसके जीवन में, पहले जीवन में-आयुष्य के जीवन में शरीर से मैं भिन्न और पुण्य-पाप के राग से मैं भिन्न हूँ - ऐसी शान्ति जिसने प्रगट की हो, वह मृत्यु के अवसर पर शान्ति लेकर चला जायेगा परन्तु जीवन में पुण्य-पाप का, पुण्यभाव राग, वह मेरा है, ऐसा मानकर जीता है, वह अशान्ति में जीता है और मृत्यु के समय अशान्ति लेकर दु:ख में चला जायेगा। समझ में आया? जिसने मृत्यु के पहले देह में रहने पर भी, मैं राग नहीं, राग तो दु:खरूप है, आस्रव है। पुण्य-पाप का भाव दु:खरूप है। वह मैं नहीं। वह मैं हूँ—ऐसी मान्यता रखकर दु:खी है और दु:खी मृत्यु के काल में दु:ख में आकुलता में देह छोड़ेगा। जाये चौरासी के अवतार में। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रत्याख्यान करा दे, संथारा।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्याख्यान करे उसमें क्या हो? प्रत्याख्यान करो। परन्तु यहाँ अन्दर में राग मेरा है, ऐसी मान्यता में वह पड़ा है, वह प्रत्याख्यान क्या करे? मिथ्यात्व का तो प्रत्याख्यान हुआ नहीं। समझ में आया? राग, पुण्य विकल्प जो है, वह मेरे हैं—ऐसी मान्यता करके तो पड़ा है, तो उसने सम्यक्त्व का प्रत्याख्यान किया। मुझे समकित प्रगट नहीं करना, ऐसा किया उसने तो। राग मेरा नहीं। ओहो..हो..! देह, वाणी तो कहीं रहे! ये दया, दान, और पुण्य का विकल्प उठता है, वह राग मेरा नहीं। मेरा माननेवाले का अशान्ति में–मिथ्यात्व में मृत्यु होगी। आहा..हा..! यह राग मेरा नहीं। शान्ति और शुद्धता मेरी वस्तु है, ऐसी जिसने अन्तरस्वरूप की साधना की है, वह सम्यग्दृष्टि मृत्यु काल में शान्ति लेकर चला जायेगा। समझ में आया? यह कहते हैं, देखो!

यह सल्लेखना भी दो प्रकार की है। एक क्रम–क्रम से त्याग करना और दूसरी सर्वथा त्याग करना अत: विचार करके श्रावक को अपने मरण के अन्त समय अवश्य ही सल्लेखना करनी चाहिए। समझ में आया? **मैंने जीवनपर्यन्त जो पुण्यरूप कार्य किया है...** ऐसे पहले दो बातें ली हैं। शुभभाव। **तथा धर्म का पालन किया है...** स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, वह धर्म और कोई दया, दान के परिणाम, वे पुण्य। भानसहित। यह दो जो मैंने किये हैं। मृत्यु के समय मेरा धर्म मेरे साथ आवे, ऐसा विचार कर सल्लेखना करता है।

धर्म का पालन किया है, उस धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने को.. उस धर्म को मेरे साथ ले चलने के लिये **यह एक सल्लेखना ही समर्थ है। ऐसा विचारकर श्रावक को अवश्य समाधिमरण करना योग्य है।**

गाथा - १७६

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना *सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्।।१७६।।

मरणान्त में निश्चित विधि, पूर्वक करूँ सल्लेखना।
इस भावना परिणत मरण के, पूर्व भी व्रत पालना।।१७६।।

अन्वयार्थ : (अहं) मैं (मरणान्ते) मरण के समय (अवश्यं) अवश्य (विधिना) शास्त्रोक्त विधि से (सल्लेखनां) समाधिमरण (करिष्यामि) करूँगा, (इति) इस प्रकार (भावना परिणत:) भावनारूप परिणति करके (अनागतमपि) मरण काल आने से पहले ही (इदं) यह (शीलम्) सल्लेखनाव्रत (पालयेत्) पालना अर्थात् अंगीकार करना चाहिए।

टीका : 'अहं मरणान्ते अवश्यं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि-इति भावना परिणत: अनागतं अपि शीलं पालयेत्।'-अर्थ:- मैं मरण समय अवश्य ही विधिपूर्वक समाधिमरण करूँगा-ऐसी भावनासहित श्रावक, जो प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे शील (स्वभाव) को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ : श्रावक को इस बात का विचार सदैव करना चाहिए कि मैं अपने मरण समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा। कारण कि मरण समय प्राय: मनुष्यों के परिणाम बहुत दु:खी हो जाते हैं तथा कुटुम्बीजनों व धनादि से ममत्वभाव नहीं छूटता। जिसका ममत्वभाव छूट जाता है, उसी के सल्लेखना होती है। ममत्वभाव छूटने से पाप का बन्ध न होने के कारण नरकादि गति का बन्ध भी नहीं होता, इसलिए मरण समय अवश्य ही सल्लेखना करने के परिणाम रखना चाहिए।।१७६।।

गाथा १७६ पर प्रवचन

अग, १७६ -(गाथा)।

---

* सत्=सम्यक् प्रकार से, लेखना=कषाय को क्षीण-कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। उसके अभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। काय के कृश करने को बाह्य और अन्तरंग क्रोधादि कषायों के कृश करने को अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्।।१७६।।

अन्वयार्थ : मैं मरण के समय 'मरणान्ते' देह छोड़ने के काल में **अवश्य शास्त्रोक्त विधि से समाधिमरण करूँगा...** अवश्य समाधिमरण करूँगा। यह सम्यग्दर्शनसहित की बात है, हों! सम्यग्दर्शन के बिना समाधिमरण नहीं होता है।

श्रीमद् का एक ऐसा पत्र भी है। ऐसा कहे, भाई! बाहर का समाधिमरण, बाहर की क्रिया भले हो, न हो परन्तु आत्मा की सन्मुख की दृष्टि करके प्रयत्न कर और सन्मुख होकर मर तो समाधि ही है। ऐसा एक पत्र में आता है। उन्हें तो बहुत मिले थे न, क्रियाकाण्डी बहुत मिले थे। एक भरूच में बहुत बड़ा था – अनूपचन्द! क्रियाकाण्ड यह करूँ, यह करूँ, प्रोषध, सामायिक और यह (करूँ)। वस्तु आत्मा क्या है, उसका भान नहीं होता। उसे कहा – भाई! जिस मार्ग में ज्ञानमार्ग नहीं, जिस सम्प्रदाय में ज्ञानमार्ग नहीं, उसकी सब क्रिया व्यर्थ है। ऐई! न्यालचन्दभाई! ऐसा एक पत्र है। उन्होंने तो बहुत अधिक कहा है। कितनी ही बाहर की अमुक बातें ली हैं, परन्तु लोगों को कहाँ उसका विचार है? निश्चय तत्त्व क्या कहा है और क्या है? बाहर से बस करो भक्ति और करो यह।

मुमुक्षु : भक्ति एक ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति करो, भक्ति करने से धूल भी मिले, ऐसा नहीं है। भक्ति तो शुभराग है।

मुमुक्षु : बड़े व्यक्ति का सहारा लिया काम का क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : लिया। बड़े व्यक्ति का सहारा दे ऐसा है कुछ? कोई दे ऐसा है?

मुमुक्षु : बड़ा व्यक्ति ही दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा ही दे, परन्तु बड़ा कौन? अपना आत्मा। आहा..हा..!

देह में एक जरा सा कुछ रोग हो, वहाँ इसे कितना होता है? अब उसमें मृत्यु का काल। उससे पहले जब तक आत्मा का जीवन के पूरा अन्त आया नहीं, उससे पहले इस स्वरूप की दृष्टि और साधन, शान्ति नहीं की हो, वह मरने के समय शान्ति किस प्रकार लेगा? समझ में आया?

मुमुक्षु : बहुतों को समय तो हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुतों को समय हो गया है। ५०-५०, ६०-६० हुए इतने तुम कहाँ निकालनेवाले हो? कहाँ गये तुम्हारे सुमनभाई, नहीं? कहो, समझ में आया? उम्र गयी कहाँ? वह तो देह की अपेक्षा की बात है। आत्मा तो अनादि-अनन्त है। उसकी स्थिति ही अनादि-अनन्त है। यह तो देह-जड़ की स्थिति है।

भगवान आत्मा पर के सम्बन्ध से रहित ही है। रहित ही है—ऐसा असंगपना जिसने पहले से दृष्टि में असंगपने का साधन किया है, पर के प्रति मोह के भावरहित जिसने जीवन साधा है, उसका गृहस्थाश्रम का जीवन हो तो भी मृत्यु के काल में वह शान्ति लेकर देह छोड़ेगा। अन्य तड़फड़ाहट आकुलता ले-लेकर जाते हैं। आकुलता अभी दुःख में और वहाँ दुःख में वापस... चौरासी के अवतार दुःख के समुद्र में जाता है। अनन्त अवतार कहीं पता नहीं लगेगा। समझ में आया?

मुमुक्षु : सामायिक, प्रतिक्रमण किये, वे व्यर्थ में जायेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामायिक, प्रतिक्रमण किसे कहना? आत्मा क्या है, उसका भान नहीं और सामायिक कहाँ से आयी? सामायिक तो समता का लाभ है, तो समता स्वरूप, रागरहित, पुण्यरहित, विकल्परहित, व्यवहाररहित आत्मा कौन है, उसका भान नहीं, उसे सामायिक आयी कहाँ से? सामायिक तो पाँचवें और छठवें गुणस्थान में होती है। अभी चौथे गुणस्थान का ठिकाना नहीं होता, वहाँ सामायिक कहाँ से आयी? प्रतिक्रमण, सामायिक और प्रोषध कहाँ से आये? ऐई!

मुमुक्षु : बनावटी हों।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनावटी माल है। आहा..हा..! यह तो माल अपना है, बापू! यह कहीं कोई बाहर से दे दे, ऐसा है? और कोई समझा दे कि, नहीं कुछ बाधा नहीं आती। परन्तु बाधा अन्दर खड़ी है और बाधा नहीं आवे क्या? अभी राग और पुण्य, देह और आत्मा सब एक मानकर बैठा, और ऐसे शुभभाव का जो आचरण है, उससे मेरा कल्याण होगा, उसका अर्थ कि वह शुभभाव मेरा स्वरूप है—ऐसा मानकर बैठा, उसे कब अशान्ति मिटेगी। आहा..हा..! अशान्ति मैं हूँ—ऐसा माना, अब उसे अशान्ति मिटाना कहाँ रही? समझ में आया? आहा..हा..!

दूसरी चीज़ तो वहाँ रही, कहीं दूर और पृथक् रही परन्तु यहाँ अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा में जो बन्ध परिणाम हों, वे परिणाम अबन्धस्वभावी के हैं, यह मान्यता ही अशान्तिरूप मिथ्यात्व का दु:ख है। समझ में आया? यह मान्यता छेदकर, भगवान आत्मा राग के, पुण्य के परिणाम से भी भिन्न, अशान्ति से भिन्न; राग अर्थात् अशान्ति, उससे भिन्न है, ऐसा स्वभाव का साधन श्रद्धा–ज्ञान से किया है, उसके वर्तमान जीवन में भी शान्ति और उग्र शान्ति लेने के लिये सल्लेखना के समय की भावना भाता है।

मुमुक्षु : अभी से करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले से करना। सोल्जर के सामने खड़े रहना और हाथ में बन्दूक कैसे लेना, यह पता नहीं होता। सोल्जर, सोल्जर होता है न? सोल्जर। कैसे मारूँ? ऐसे मारूँ या ऐसे मारूँ खबर नहीं होती। काँप उठता है। इसी प्रकार मृत्यु के समय भान नहीं होता, अभी पहले से कौन हूँ, बापू! उसमें मृत्यु। ऐसे अन्तडियाँ खिंचती है, त्रास होता है, शूल चढ़ा (दर्द / बेचैनी हुई) यह हुआ, घबराहट डबल निमोनिया। अकुलाहट। आड़े सोया जाये नहीं। आँख में से आँसू बहते जायें। हाय.. हाय..! पाटिया भींसाशे ऐसा पहले कहते थे। पाटिया भींसाशे। परन्तु ये पाटिया और राग मैं नहीं हूँ। मैं भान बिना पाटिया भींसाय जायेंगे तुझे। पोपटभाई! यह बड़ी राग की क्रीड़ा है। आहा..हा..!

शरीर ही मैं नहीं। मैं उसे सम्हालता नहीं। सम्हालने से वह रहे, ऐसा नहीं। आहा..हा..! यह राग मैं नहीं; राग को करना, वह मेरा स्वरूप नहीं। आहा..हा..! अशान्ति को करना वह जीव का स्वरूप होगा? राग, पुण्य का विकल्प, अशान्ति। अशान्ति करना, वह शान्तिस्वरूप भगवान आत्मा का कर्तव्य है? ऐसा जिसने राग से, अशान्ति से भगवान आत्मा शान्तस्वरूप आनन्दस्वरूप को भिन्न करके जिसने शान्ति प्राप्त की है, वह मृत्यु काल में, यह मेरा धन साथ में आवे, मेरी सल्लेखना की भावना करता है। कहो, समझ में आया? कहाँ आया?

मैं मरण के समय अवश्य.. 'विधिना' समाधिमरण करूँगा... देखा? वजन यहाँ है। अवश्य करूँगा, अवश्य करूँगा, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मृत्यु के समय मरने की भावना की फड़फड़ाहट।

पूज्य गुरुदेवश्री : फड़फड़ाहट।

मुमुक्षु : अब हो गया, अब हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब हो गया, परन्तु क्या हो गया। पृथक् ही है वह। छूटे बिना लाख तेरे उपाय कर। लाख डॉक्टरों को बुला, इन्द्र और नरेन्द्र आवे, जिस समय में देह छूटना है, उसे कोई रोक नहीं सकता। लाख तेरे रुपये-बुपये घिसकर पी वहाँ। सोने का पाट और हीरा भरा हो, पी जा, अन्दर डाल। पियेगा तो मर जायेगा। हाय.. हाय.. हाय.. पोपटभाई! वे कहते थे न, किसी के हैं न? बीस करोड़ रुपये, भाई के मामा-दीपचन्दजी के मामा। सरदारशहर। बीस करोड़। अकेले हीरे और माणिक ही घर में पड़े हैं। जहाँ देखो वहाँ, वह। खर्च करना हराम। वह दस करोड़ कहते थे। अभी तो बीस करोड़ से बड़ा। दस करोड़ के दुगुने कहते थे। वे कहते कि अभी कीमत क्या? पैसा इतना अधिक पड़ा है। जहाँ एक ओर ऐसे देखो तो सोना के पाट, एक ओर देखो तो चाँदी के पाट एक ओर देखो तो हीरा, एक ओर देखो तो माणिक, एक ओर देखो तो मोती ढेर ही पड़े हैं। उस समय के दस करोड़ अर्थात्! बहुत वर्ष के। अभी तो... परन्तु ऐसे के ऐसे पड़े हैं वे। पोपटभाई! आहा..हा..! अरे तेरी धन-सम्पदा सागर अन्दर पड़ा है। समझ में आया? उसके सन्मुख देखकर, विकार से विमुखता हुई और विकार, अशान्ति से विमुख हो तो शान्ति मिलेगी। समझ में आया? ऐसा कहते हैं। अवश्य मैं मेरी शान्ति को समाधिमरण में बराबर मरूँगा। आहा..हा..! लो! विश्वास। निश्चित मुझे भव का अभाव है। अब भव है नहीं। अधिक भव है ही नहीं। भव कैसे? आहा..हा..! कहो समझ में आया?

इस प्रकार भावनारूप परिणति करके... देखा! भावनारूप परिणति करके। **'भावना परिणत:'** शब्द है न? वह भावना अर्थात् अकेली भावना.. भावना.. **भावनारूप परिणति करके मरण काल आने से पहले ही...** वह मृत्यु आने से पहले। **यह सल्लेखनाव्रत..** देखो! शील की व्याख्या की। उसे व्रत कहा, व्रत। बारह व्रत के उपरान्त सल्लेखनाव्रत।

मुमुक्षु : तेरहवाँ व्रत?

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरहवाँ व्रत। नियम है न? नियम। ऐसी भावना करता है, मुझे इस प्रकार से देह छोड़ना।

पालना अर्थात् अंगीकार करना चाहिए। कहो, सल्लेखनाव्रत पालना चाहिए।

टीका : मैं मरण समय अवश्य ही... अवश्य ही। समझ में आया? 'ही' अधिक डाला। **विधिपूर्वक समाधिमरण करूँगा–ऐसी भावनासहित श्रावक, जो प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे शील (स्वभाव) को प्राप्त कर लेता है।** अपना शान्तस्वभाव। शील अर्थात् शान्तस्वभाव। पुण्य–पाप के रागरहित अपना भगवान स्वभाव, महिमावन्त स्वभाव। भगवान स्वभाव, महिमावन्त स्वभाव, ऐसे स्वभाव को सम्यक्त्वी श्रावक प्राप्त कर लेता है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु यथार्थ चिट्ठी है यह। जाओ तुम पैसा हमें दो तो यह बँगला मिलेगा। इतना पैसा हमें दान में दो तो तुम्हें वहाँ बँगला मिलेगा। जाओ। बँगला न? भटकने का न? तू भी भटकनेवाला और वह भी भटकेगा। यहाँ तो मिले नहीं दूसरा कुछ और शान्ति मिले अपार। वह सामग्री आत्मा की है। बाकी धूल में कुछ नहीं। आहा..हा..! समझ में आया?

जिसकी जिसे प्रीति, उसकी उसे भावना होती है। जिसकी जिसे आवश्यकता, उसमें उसका पुरुषार्थ गति किये बिना नहीं रहता। जिसकी जिसे रुचि... रुचि अनुयायी वीर्य। राग और पुण्य के रुचि भाववाला तो मिथ्यादृष्टि है। उसकी रुचि प्रमाण वहाँ विकार में वीर्य स्फुरित करेगा। समझ में आया? रागरहित मेरा स्वभाव है, ऐसी जिसने आत्मा की वीतराग रुचि की है, उसका वीर्य वीतरागपने का विस्तार पावे, तद्नुसार वह वीर्य काम करेगा। समझ में आया?

शील (स्वभाव) को प्राप्त कर लेता है। इसका विशेष फिर भावार्थ में आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६९ गाथा-१७६ से १७८ रविवार, आषाढ़ कृष्ण २, दिनांक २३.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। इसकी १७६ वीं गाथा का भावार्थ। १७६, यहाँ तक आया है न? टीका आ गयी है टीका। भावार्थ।

क्या अधिकार चलता है? कि जिसने इस देह से आत्मा भिन्न है, ऐसा अन्तर में अनुभव से निर्णय किया है। यह आत्मतत्त्व ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है, इसका जिसने पहले शरीर से, कर्म से वाणी से या पुण्य-पाप के भाव से पृथक् चीज़ है, ऐसा जिसने अन्तर्मुख होकर, बहिर्मुख के भाव को भिन्न करके, अनुभव में आत्मा सम्यग्दृष्टिरूप से जिसने ग्रहण किया है, उसे मरण के समय, देह छूटने के समय विशेष स्थिरता की भावना करना चाहिए। कहो, समझ में आया?

पहले भिन्न तो भासित हुआ है। आत्मा अत्यन्त चैतन्यस्वरूप आनन्दकन्द है। आत्मा सच्चिदानन्द-सत् शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द की शान्ति का स्वरूप ही आत्मा है, ऐसा जिसने जैसा है वैसा, शुभ-अशुभ के विकारभाव और पर से अभाव-स्वभावरूप वस्तु है, उसका जिसने प्रथम अनुभव में निर्णय किया है, उसे सम्यग्दृष्टि श्रावक कहने में आता है। कहो, सेठी! यह कहीं सम्प्रदाय की चीज़ नहीं है, वस्तु की चीज़ है। शशीभाई! यह आत्मा ही अन्दर इस देह के रजकण-रजकण से पृथक् चीज़ है, यह (देह) तो मिट्टी है।

मुमुक्षु : आप कब की बात करते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी की। कब की कहाँ बात करते हैं?

मुमुक्षु : मरण के समय का चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मरण का तो बाद में। स्थिरता की बात विशेष है। देह के छूटने के काल में, भव की सन्धि में आत्मा की विशेष शान्ति रहे, ऐसी भावना धर्मी जीव जीवन में भाता है। परन्तु कौन? कि जिसने आत्मा को शुभ-अशुभराग और पर से भिन्न जहाँ जाना

है और देह के भिन्न पड़ने के काल में, मेरा जीवन विशेष शान्ति से देह छूटे, ऐसे जीवनकाल में भावना भाता है। कहो, समझ में आया? देह तो छूटेगी। वह तो जड़, मिट्टी, जड़ है। वह कहीं आत्मा नहीं कि इसके साथ सदा रहे। अर्थात् संयोग से है, तथापि संयोग से भिन्न भासित हुआ और अन्दर स्वरूप का निर्णय किया है कि यह आत्मा अर्थात् ज्ञान और आनन्द का रूप और अरूपीस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसा जिसने अन्तर में निर्णय और ज्ञान किया है, उसके मृत्यु काल में मुझे शान्ति से, शरीर छूटने के काल में रोगादि का दबाव पड़े, इसलिए मेरे जीवन का देह विसर्ग उस काल में शान्ति से हो, देह विसर्ग हो, ऐसी भावना धर्मी जीव मृत्यु काल के पहले भाता है। कहो समझ में आया? छूटेगा वह काल निश्चित है। सत्य (है)? देह छूटेगा, वह तो निश्चित है या नहीं? या साथ रहेगा?

मुमुक्षु : एक क्षण भी रहता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। यहाँ तो दूसरा कहना है। छूटेगा – क्षेत्र से दूर होगा। अभी एक क्षेत्र में रहा हुआ है परन्तु एक क्षेत्र से दूर होगा, यह निश्चित है। क्षेत्र अर्थात् आत्मा है, वहाँ शरीर भले हो। परन्तु शरीर और आत्मा भिन्न, एक क्षेत्र में रहे होने पर भी वह आत्मा–तत्त्व अत्यन्त भिन्न है। वह ज्ञान की ज्योति आत्मा है और देहादि, वे जड़–मिट्टी हैं। ऐसा जिसने एक जगह रहे होने पर भी भाव से भिन्न–भाव में भिन्न जिसने जाना और अनुभव किया, उसे एक क्षेत्र अवगाहन में से शरीर छूटने का काल जब क्षेत्र से पृथक् पड़ने का (आयेगा)... ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

यहाँ अभी भिन्न ही है परन्तु एक जगह ऐसे नजदीक है। वह नजदीक की जगह जब छूटने का काल आवे, तब उसे देह का विसर्ग काल कहा जाता है। वह देह छूटे, उससे पहले स्वयं ही उससे भिन्न हूँ, ऐसी स्थिरता (करना)। दृष्टि तो है परन्तु उस समय शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. स्वभाव के घोलन में मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ, ऐसे शरीर तो अनन्त बार आये और गये। मुझे और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी जिसने मृत्यु काल से पहले जीवन में ऐसी भावना घोंटी है, रगड़ी है, की है, उसे मरण काल में शान्ति से देह छूटे, ऐसा उसे प्रसंग आयेगा। कहो, नटुभाई! सत्य होगा यह? देह छूटेगी, यह सत्य होगा?

मुमुक्षु : दूसरों के लिये सत्य लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरों के लिये सत्य लगता है। इसके लिये यह देह रहेगी इसके पास ? अभी एक क्षेत्र में शामिल है, ऐसा कहा परन्तु यह तो क्षेत्र से भिन्न पड़ेगी या नहीं, यह अभी तो सवाल है।

मुमुक्षु : उसमें कोई शंका का कारण नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह एक समय इसका निश्चित हो गया है, हों!

मुमुक्षु : बने उतना काम तो कर लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन काम करता था ? धूल ? पर का काम करे कौन ? भाई! इसे राग और द्वेष के भाव हों। राग और द्वेष की कल्पनायें करे, बाकी आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ की क्रिया कौन कर सकता है ?

मुमुक्षु : ऐसा कहते हैं शरीर से...

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर से क्या करे ? शरीर जड़ है, उससे क्या हो ? शरीर का सदुपयोग करना, ऐसा प्रश्न एक बार हुआ था। सेठी! ढेबरभाई आते हैं न ? ढेबरभाई! वे कहते हैं इस शरीर का सदुपयोग... शरीर का सदुपयोग होता होगा ? ऐसे के ऐसे सब जगत के प्राणी।

मुमुक्षु : कैसे होंगे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहलाये बड़े नेता। सेठी! इस शरीर का सदुपयोग। शरीर मिट्टी है, भाई! तुझे खबर नहीं ? काले का सफेद आता है, रोग आता है। छाले पड़ते हैं, दर्द आता है। वह तुझे लाने का भाव है ? वह तो जड़ की दशा है। जड़ के काल में जड़ उस प्रकार से होता है। समझ में आया ? उसका सदुपयोग कौन करे ? उसका ?

मुमुक्षु : उसका मालिक हो, वह करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका मालिक तो परमाणु है। आहा..हा..!

उपयोग का अर्थ उसकी पर्याय। तो परमाणु यह है, उसकी पर्याय परमाणु से होती है। आत्मा उसे क्या करे ? अरूपी भगवान आत्मा, उसमें—देह से भिन्न विराजमान है। वह भिन्न है, वह भिन्न का क्या करे ? भिन्न है, वह भिन्न का करे तो भिन्न रह नहीं सकता। कहो, समझ में आया ? यहाँ तो कहते हैं, देखो! भावार्थ आया है न ? उसका अर्थ कैसा किया ?

श्रावक को... पहला शब्द पड़ा है। श्रावक अर्थात् क्या? इस वाड़ा में (सम्प्रदाय में) पड़े हैं, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : वाड़ा में पड़े हैं, उन्हें क्या कहा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वाड़ा में कहे जाये, वह नाम कहे, चाहे जो नाम दो उसमें। थैली में चिरायता भरा हो और ऊपर मिश्री, ऐसा नाम दे तो कहीं चिरायतन मीठा हो जायेगा? इसी प्रकार हम जैन हैं, धर्मी हैं, ऐसा नाम दे और अन्दर वस्तु का कुछ भान नहीं। वास्तविक आत्मा है, उसकी खबर नहीं। उसे थैली में चिरायता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : गिनती क्या? गिनती सही, खोटे में।

यहाँ तो **श्रावक को इस बात का विचार सदैव करना चाहिए...** देखो! यह भाषा है न? तो श्रावक अर्थात् जिसने इस भगवान आत्मा को शुद्ध सत् शाश्वत् चिदानन्द ज्योति आत्मा है, उसे जिसने पुण्य और पाप के राग से तथा पर से भिन्न है, जैसा है, वैसा जानकर अनुभव किया है, सम्यग्दर्शन हुआ है। सम्यक् अर्थात् जैसा है, वैसा सत्यदर्शन और प्रतीति हुई है। समझ में आया? उसे **इस बात का विचार सदैव करना चाहिए...** इस बात का विचार हमेशा / सदैव रखना चाहिए **कि मैं अपने मरण समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा।** मेरे मरण अर्थात् देह के विसर्ग के काल में, छूटने का समय निश्चित है, बलजोरी से लाना है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? बलजोरी से देह को छूटने का काल लाना है? इस देह के छूटने का काल है, ऐसा ख्याल थोड़े समय पहले आ जाये कि अब यह देह नहीं निभेगी। असाध्य रोग हुआ है, दवा का उपचार करने पर भी मिटता नहीं, निश्चित देह छूटने का समय आ गया है। समझ में आया? अन्तिम शब्द हैं। यह १३५ पृष्ठ पर अन्तिम पैराग्राफ है।

शरीर किसी असाध्य रोग से... घिर जाये। अन्तिम पैराग्राफ है। १३५ पृष्ठ। **वृद्धावस्था से असमर्थ हो जाये...** शरीर की अवस्था वृद्धावस्था हो, तो उसकी अवस्था का प्रसंग काल है, वह तो धूल का उसका काल होता है। **देव-मनुष्यादि कृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े...** मनुष्यादि, पशु आदि, बाघ, सिंह आदि आ पड़े। समझ में आया? चाहे जहाँ चढ़ता हो और कहीं से आ पड़े। गाँव में हो आ पड़े। तेंदुआ, बाघ जंगल

में से आकर खड़े रहें। अब? बस, देह की अन्तिम स्थिति लगती है। यह अभी भक्षण करेगा। अथवा ऐसा कोई मनुष्य या शत्रु आया हो और बराबर सामने गोली तानकर, तुझे मारने आया हो। बस, देह छूटने का प्रसंग है। जो जबरदस्ती से लाया नहीं। उसका छूटने का समय लगता है। उस समय स्वयं शान्ति से कषाय को घटाकर और अपनी परसन्मुख की ममता अस्थिरता कम करके, स्वभाव-सन्मुख की शान्ति का आश्रय करके देह छोड़े, तो वह देह छोड़ा, ऐसा समाधिमरण (कहलाता है)। समाधि अर्थात् शान्ति।

आत्मा में राग नहीं, पर नहीं ऐसी दृष्टि की थी, परन्तु अभी तो शान्ति, राग के अभाव से शान्ति... शान्ति। ज्ञातादृष्टा रहकर शान्ति के भाव में देह छूटे, उसे शान्तिमरण, समाधिमरण कहते हैं। पश्चात् उसे एक-दो भव करना रहे, उसे अनन्त भव नहीं हो सकते। कहो, समझ में आया? किसी को ऐसी स्थिति में तुरन्त ही समाधि में केवलज्ञान हो जाये। किसी को एकाध भव हो। है न?

महादुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जायें... अनाज नहीं मिले। देखो न, इस बिहार में कितनी ही जगह लाखों लोग (भूखे रहते हैं)। उसमें धर्मी जीव हो, अनाज नहीं मिले, देह के छूटने का प्रसंग है। तीन दिन, चार दिन खींचे। अब यह शरीर टिकेगा नहीं। आहार आने का प्रसंग दिखता नहीं। समझ में आया? शान्ति से देह छूटने का प्रसंग जानकर पर से वृत्ति मोड़ ले, खींच ले, स्वभाव-सन्मुख करे।

यह तो जिसे आत्मा का हित करना है, उसकी बात है। समझ में आया? अनादि से अहित तो कर रहा है। अनादि से अहित-आत्मा के आनन्द को न मानकर, पर में आनन्द है, सुख है, शान्ति है, परसुविधा वह मुझे ठीक है, असुविधा वह मुझे नुकसान (करती है), ऐसे मिथ्यादृष्टिरूप से इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष करते हुए अनन्त जीवन इसने व्यतीत किये हैं। अनन्त भव में अनन्त व्यतीत किया। अब जिसने यह भव, भव के अभाव के लिये निश्चित किया हो। क्या कहा? शशीभाई! यह भव मेरे भव के अभाव के लिये भव है क्योंकि मैं भवस्वरूप नहीं, भव के कारणरूप रागरूप नहीं। समझ में आया? बल्लभदासभाई! अब सबको अवसर आयेगा न? पाँच, दस, बीस वर्ष में। यहाँ तो यह अवसर पहले से ले लेता है, बटोर लेता है। समझ में आया? क्योंकि जो समय-समय जाता है, वह मृत्यु के समीप जाता है। देह की जिस प्रमाण अवधि है, वह अवधि कोई

बदले ऐसी नहीं है। उसके आयुष्य के प्रमाण में पर्याय निश्चित हो गयी है और स्वयं को रहने की योग्यता का निश्चित हो गया होता है। उसकी योग्यता के भाव से। समझ में आया? यह तम्बू यहाँ से टूटनेवाला है। यहाँ से निकल जानेवाला है। यहाँ कहीं रहना नहीं है। इसकी स्थिति है, उस प्रमाण रहेगा। उस स्थिति से पहले इसे ऐसी भावना करनी चाहिए। यह कहते हैं, देखो!

मैं अपने मरण समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा। देह के छूटने के अवसर पर अवश्य मेरी वृत्ति को देह से विमुख करूँगा और कषाय को, राग–द्वेष को कम / पतले करूँगा। **कारण कि मरण समय प्राय:...** प्राय: देह के छूटने के काल में **मनुष्यों के परिणाम बहुत दु:खी हो जाते हैं...** शरीर को रोग हो, या ऐसा कुछ अरे...! यह काम इतना लड़कों को सौंपा था, अब मेरी उपस्थिति नहीं रहेगी। क्या होगा? यह चिन्ता। वहाँ होली सुलगती है। पोपटभाई! मरण से पहले इसे ऐसा हो जाता है, मुझे इतना कहना बाकी रह गया, ऐई! बड़े भाई को बुलाओ। बड़े को बुलाओ।

मुमुक्षु : आप मिथ्यादृष्टि की बात करते हो, यह सम्यग्दृष्टि की बात चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो समकिती हो तो भी उसे अस्थिरता होती है, ऐसा कहते हैं। यह अस्थिरता मिटाने की बात है। समझ में आया? ममता अस्थिरता थोड़ी रह जाये, ऐसा कहते हैं। अकेली पर से माने, उसकी बात तो यहाँ है नहीं परन्तु भान होने पर भी अस्थिरता का ऐसा प्रसंग रहे, उस समय ध्यान रखकर वृत्ति को खींच लेना। समझ में आया? ऐसे यहाँ तो सम्यग्दृष्टिसहित की बात चलती है न? आसक्ति है। दृष्टि में आसक्ति का आश्रय नहीं। पर में आसक्ति है परन्तु दृष्टि में आसक्ति का आश्रय नहीं। दृष्टि तो आत्मा के आश्रय से पड़ी है। कहो, समझ में आया? परन्तु आसक्ति है, उसे घटाने का प्रसंग जब मृत्यु का आता है, वास्तव में वह आसक्ति घटाने का प्रसंग है – ऐसा कहते हैं। भवसन्धि – एक भव और दूसरे भव की सन्धि गुलांट खाती है, भव, उस समय भव के अभाव का जितना आराधन रहा, उतना मोक्ष निकट हो जाता है। समझ में आया?

जिसने निश्चित किया हो कि यहाँ तो मुझे सदा रहना ही है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसकी तो बात है ही नहीं। सम्यग्दृष्टि को खबर है कि मैं यह शरीर नहीं, शरीर रहेगा नहीं, (अपने) काल में छूटे बिना रहेगा नहीं। उसे कहते हैं कि तू उस अवसर से पहले ऐसी

स्थिरता को करना, ऐसी भावना करना कि मृत्यु के काल में मेरा शान्त (समाधिमरण हो)। अब मुझे कुछ भी करना है ही नहीं। कुछ करना बाकी है ही नहीं, कुछ कहना बाकी है ही नहीं। कहना बाकी नहीं, करना पर के लिये कुछ बाकी नहीं। मुझे करना है, वह पर से हटकर स्थिरता करना है। यह सब टें... टें... करके खड़े रहेंगे सगे-सम्बन्धी... भाई को अब...

मुमुक्षु : दूसरा करे क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले नहीं। उसे मुँह से न कहे कि अन्तिम स्थिति है, ऐसा न कहे। नहीं तो दुःख हो न! अब बस देखो, शान्ति से देखो, सब देखो।

मुमुक्षु : चतुर लोग सब सलाह दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले से कहना था न। तू देखनेवाला है। तू देखनेवाला रहना, हमारा करना नहीं कुछ। ऐई! नटुभाई! पहले जीते जी तो कहे, हमारा करना, हमारा करना, हमारा करना। यह तो सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं पर का कर नहीं सकता। पर से मुझे शान्ति नहीं, पर का मैं कर नहीं सकता, ऐसे सम्यग्दर्शन में भी जो अभी पर के प्रति आसक्ति रह जाती है, उस आसक्ति को जीवनकाल में मृत्युकाल के प्रसंग की आसक्ति बहुत कम हो जाये और शान्ति रहे, ऐसी भावना अवश्य पहले से करता है। कहो, समझ में आया?

बहुत दुःखी हो जाते हैं तथा कुटुम्बीजनों व धनादि से ममत्वभाव नहीं छूटता। अस्थिरता की बात है, हों! अत्यन्त एकाकार हो, उसकी बात नहीं। जरा कुटुम्बीजनों का आसक्तभाव है न पहले? **धनादि से ममत्वभाव नहीं छूटता। जिसका ममत्वभाव छूट जाता है, उसी के सल्लेखना होती है।** ऐसी अस्थिरता का ममत्व जिसने छोड़ दिया, अपने आनन्दस्वरूप में आसन लगाया है, मैं आनन्दस्वरूप हूँ। अपनी दृष्टि को और स्थिरता को आनन्द में झुकाया है। आनन्द वस्तु हूँ, आनन्द हूँ, सच्चिदानन्दस्वरूप ही हूँ, शाश्वत आनन्द की मूर्ति हूँ—ऐसा निर्णय किया है, फिर आत्मा में स्थिरता जन्मती है। समझ में आया?

यह अभ्यास जिसे नहीं, उसे मरण के अवसर पर ऐं.. ऐं.. (पीड़ा) हो जायेगी। हाय... हाय... अरे..! इसका क्या होगा? ऐसा होगा? समझ में आया? मिथ्यादृष्टि को तो हा.. हा.. अन्दर से हो जायेगा। जिसने राग और परवस्तु मेरी है, ऐसा माना है, उसे तो अशान्ति का ही वेदन होगा। विकार के भाव, पुण्य-पाप का राग है, भगवान आत्मा उससे

भिन्न शान्त आनन्दकन्द है। ऐसे आत्मा को जिसने रागवाला और इस परवाला माना, उसे छूटने के काल में एकत्वबुद्धि रहेगी। उस वाला माना है, उससे पृथक् नहीं माना। समझ में आया? कहते हैं...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शब्द रखे। एकताबुद्धिवाले के लेना और अस्थिरता के। दोनों के लेना।

ममत्वभाव छूटने से पाप का बन्ध नहीं होता,... समझ में आया? यह **नरकादि गति का बन्ध नहीं होता,...** आदि अर्थात् दूसरी किसी निम्न गति का बन्ध नहीं होता। **इसलिए मरण समय अवश्य ही सल्लेखना करने के परिणाम रखना चाहिए।** पहले से अभ्यास किया होगा तो रहेंगे। सोल्जर के सामने खड़ा रहेगा, हाथ में बन्दूक पकड़ना आयी नहीं हो, किस ओर मारना, घोड़ा किसकी ओर झुकाना, उसकी खबर नहीं हो। वह सोल्जर के सामने खड़ा रहेगा तो मरेगा। उसे पहले से अभ्यास होना चाहिए। अरे! मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? क्या हूँ? मेरी चीज़ तो शरीर के रजकण–रजकण से और राग से भिन्न है। उसे परमेश्वर आत्मा कहते हैं, तो मैं उसे आत्मा में मानता हूँ या नहीं? या मैं रागवाले को आत्मा मानता हूँ। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा को, शरीर का एक क्षेत्रावगाह होने पर भी, एक क्षेत्र में रहे हुए होने पर भी भाव से भिन्नता का भान है, उसे क्षेत्र छूटने के काल में भाव की स्थिरता द्वारा देह का व्युत्सर्ग होता है, ऐसी भावना हो, उसकी मृत्यु शान्ति से होती है। कहो, समझ में आया? सब भूल जाये। राग आदि को भूल जाये। बुद्धिपूर्वक स्वरूप में शुद्ध चैतन्यस्वरूप में लीन हो। देह भिन्न। छूटने के काल में छूटेगी। उसमें फेरफार नहीं। ऐसी भावना में देह छूटे, उसे फिर अनन्त भव करना नहीं रहता। एकाध–दो भव थोड़ा भाग हो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले छूटे नहीं। जिस समय छूटनी हो, उस समय छुटती है। यह अभी कहेंगे। अभी नीचे कहेंगे। बलजोरी से मरण करना, ऐसी इच्छा नहीं कि मैं बलजोरी से मरण करूँ। नीचे आता है। यह तो मरण का समय निश्चित है, ऐसा इसे लगता

है। निश्चित अब यह देह छूटनेवाली है, इसमें कोई उपाय नहीं है। शरीर वृद्ध हो गया, असाध्य रोग (हुआ), दवा महीने से चलती है परन्तु कुछ उपचार काम नहीं करता। निश्चित असाध्य रोग है, यह रोग देह की अन्तिम स्थिति पूरा करने आया है।

मुमुक्षु : रोग कैसे मिटे, इसका उपाय खोजे नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह कहेंगे न, यह कहेंगे। देखो ! यह जबरदस्ती अभिप्राय ऐसा है... लगे तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें। यह भाषा बहुत अच्छी की है। १७७ के भावार्थ में देखो !

सल्लेखना करनेवाले पुरुष की उसकी ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबर्दस्ती से मरण करूँ, अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात्रूप से मरण होने ही लगे... निश्चित यह मरण का काल लगता है। निश्चित यह सिंह अभी खायेगा। समझ में आया ? और या यह बैठा और एकदम ऊपर से पूरा मकान गिरा। हो गया। उसमें से बचने का प्रसंग नहीं। पाँच सौ–पाँच सौ मण के बड़े गट्ठा (ढेर) अभी पड़े। समझ में आया ? वृद्धावस्था इतनी अधिक जीर्ण हो गयी हो कि हड्डियाँ गलने लगे। शरीर तो शिथिल पड़ जाये, फिर सौ–सौ वर्ष हुए। देखो न ! लालूभाई की माँ थी न ? बापू की माँ। लालचन्दभाई की माँ। सौ वर्ष। ऐसे के ऐसे। हम वहाँ थे और गुजर गयीं। लालूभाई हमारे साथ आये, वहाँ गुजर गयीं। सौ वर्ष की उम्र। हड्डियाँ गली हुई। हार्ट बैठ गया। कब श्वास बैठ जायेगा... एक टीबी वाले को ऐसा होता है। बहुत टीबी हो, शरीर जीर्ण हो गया हो, उसे ऐसा कि अब कुछ दिक्कत नहीं। परन्तु शरीर शिथिल पड़ गया हो न।

देखो न, अभी हुआ था। कोई था। मोड़ था, जिथरी में गये थे न। जवान लड़के की विधवा माँ थी। गये थे उसके लिये। मनसुख के लिये गये थे, वहाँ लड़का बैठा था, परन्तु उसका शरीर जीर्ण हो गया। उसे मरते समय ऐसे का ऐसा बैठा था, कुछ नहीं। क्योंकि शरीर निर्बल पड़ गया था। और एकदम सीधे श्वास खींच गया। फिर कोई कस नहीं रहा। देह छूट गयी। क्योंकि ऐसा सब संकुचित हो गया हो, अब उसमें तो कुछ किसी प्रकार बना रहे, ऐसा नहीं। ख्याल आ जाता है या नहीं ? निश्चित यह अब हाथ बाहर बाजी हो गयी है। अब इसमें यदि श्वास उठेगा, शक्ति अब कुछ है नहीं। ऐसा सिकुड़ गया है। महा

कठिनाई से बैठ सके। उसे ख्याल आ जाता है कि निश्चित यह थोड़े समय में यदि यह श्वास उठेगा अब, वह हाथ में... छोड़... छोड़। कहो, समझ में आया?

देह तो तुझे छोड़ेगी परन्तु देह को तू छोड़, यह बलिहारी है, ऐसा कहते हैं। देह तो उस समय छोड़े बिना रहेगी नहीं। परन्तु वह देह ने छोड़ा है, तूने नहीं छोड़ा। तुझे तो उसमें रहने की आसक्ति का प्रेम, रुचि आदि थी, इसलिए तूने देह छोड़ा नहीं। देह में मैं हूँ ही नहीं। देह छूटने के काल में मेरी स्थिति पर से भिन्न है। मुझे उसमें रहना ही नहीं और वह रहने का काल था, उस काल में छूट जाता है। मैं स्वयं ही विदा देता हूँ। कहो, समझ में आया? यह तो शूरवीर का खेल है। मरण का अवसर आयेगा या नहीं? या उसमें सब अमर पट्टा लेकर आये हैं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। अब चिन्ता है आत्मा की। और कब अन्दर बदल जायेगा ऐसे... ऐसे... होते–होते सड़ जायेगा, अमुक होगा। इस जगह सड़ा, यहाँ सड़ा, यहाँ सड़ा। वहाँ कहाँ पाटा–पिण्डी करने जाता था। बड़ा डॉक्टर था। पोपटभाई बड़ा डॉक्टर, लो! संघवी। 'लींमड़ी' कितनी ही दवा की हुई। यहाँ पीव हो गया। आधा सेर, पाव सेर। उसे पता पड़ा नहीं, अब वह बड़ा डॉक्टर। कहीं की (दवा) की। स्वयं को खबर नहीं पड़ी। डॉक्टर के पास गया। यहाँ पीव हुआ है। हो गया। निकाला तो सही कुछ परन्तु बचा नहीं। पोपटभाई डॉक्टर, लींमड़ी। हमारे पास राणपुर आया था। पहले राजकोट आया था। समझ में आया?

मुमुक्षु : उनके जमाने के प्रख्यात थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रख्यात – बाहर में प्रख्यात। परन्तु अपना अवसर आया तो ऐं... ऐं... हो गया। यह अपने (संवत्) १९९० के वर्ष में राणपुर आया था। यह उसका ही... था। रेलवे लेट करके आया था। थोड़ी देर रेल को खड़ी रखो। मेरे ऐसे जाना है। थोड़ी देर खड़ी रखी थी। १९९० के साल की बात है। समझ में आया? बापू! यह तो शरीर के... डॉक्टर का हो या व्यापारी का हो, बालक का हो या युवक का हो या वृद्ध का हो। जो समय छूटने का समय अवश्य निश्चित हो गया है।

मुमुक्षु : अकालमरण हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकालमरण है ही नहीं। जिस समय में छूटना है, उस समय छूटना है। लोगों को ख्याल नहीं होता, इसलिए उसे अकालमरण कहने में आता है। अकस्मात् कुछ है ही नहीं।

मुमुक्षु : अकाल शब्द क्यों आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अकाल अर्थात् अन्दर कर्म की प्रकृति, एकदम खिंचकर स्थिति कम होने की थी, वह हुई इस अपेक्षा से कहने में आया है, दूसरा कुछ है नहीं। समझ में आया? और यहाँ से जाकर फिर अन्यत्र तम्बू तानना है। वह कहीं मोक्ष नहीं जाता। जब तक कैवल्य प्राप्त न करे, आत्मा की पूर्ण शान्ति की स्थिरता न हो, तब तक इसे देह तो धारण करना होता ही है, परन्तु यहाँ तो आत्मा का भान है, सम्यग्दर्शन है। अरे! मेरी चीज़ तो पूर्णानन्द और शान्ति से भरपूर है। मैं उसमें जितना एकाग्र होऊँ, उतना मुझे आनन्द और शान्ति आवे, ऐसी मेरी चीज़ है। समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञान और शान्ति का स्वरूप है। ऐसी भाषा, ऐसा नहीं, वस्तु है वह, हों! कहनेमात्र नहीं, भावमात्र ऐसी चीज़ है। वस्तु है, वह शान्त अर्थात् समरस स्वभावस्वरूप और अतीन्द्रिय आनन्दरूप इसकी चीज़ है। ऐसा धर्मी को पहले भान होने पर उसमें जितना एकाग्र होऊँगा, उतना मुझे आनन्द और शान्ति आयेगी तथा जितना राग रहेगा, उतनी मुझे अशान्ति है। समझ में आया? ऐसा जिसने प्रथम निर्णय किया है, उसे मरण काल से पहले मेरा मरण शान्ति से... शान्ति से (होवे ऐसी भावना होती है)।

'जगत को मरण की वीक, मेरे मन-आनन्द की लहर है'। समझ में आया? किसे आयेगा यह? कि जिसने अपने रागरहित आत्मा के आनन्द को शोधा और खोजा है। समझ में आया? उसकी शोध-खोज में अधिक पड़ने के लिये, शान्ति लेने के लिये यह बात है। आहा..हा..! समझ में आया? यह (छलाछल) हो। देह में डबल निमोनिया, डबल निमोनिया। ऐसे फू.. आता हो। शरीर को, हों! आत्मा को कहाँ आता है? परन्तु जिसने शरीर से आत्मा भिन्न माना नहीं, उसे तो एकत्वबुद्धि में दब जाना है। जैसे घानी में तिल पिल जाये, (वैसे) उसमें पिल जानेवाला है। शरीर मेरा है, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और

शरीर ठीक हो तो मुझे ठीक पड़ता है, शरीर में स्वच्छता, निरोगता हो तो मुझे ठीक पड़ता है, इस एकत्वबुद्धि में घुँट जायेगा। मरण के काल में दब जायेगा। जैसे घानी में तिल पिल जाते हैं, वैसे पिल जायेगा। यह कहीं मृत्यु कहलाये? समझ में आया?

यहाँ तो आचार्य सरस बात लेते हैं। अहो! कहते हैं, १७७ गाथा।

गाथा - १७७

सल्लेखना आत्मघात नहीं है

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति।।१७७।।

अवश्य होते मरण में, नित कषायों के कृश करण।
में लगे को रागादि बिन, नहिं आत्मघात है सल्लेखन।।१७७।।

अन्वयार्थ : (अवश्यं) अवश्य (भाविनि) होनेवाले (मरणे 'सति') मरण होने पर (कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे) कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार में (व्याप्रियमाणस्य) प्रवर्तमान पुरुष को (रागादिमन्तरेण) रागादिभावों के अभाव में (आत्मघात:) आत्मघात (नास्ति) नहीं है।

टीका : 'अवश्यं भाविनि मरणे कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य आत्मघात: न अस्ति।'–अर्थ:– अवश्यम्भावी जो मरण है, तब कषाय का त्याग करते हुए, राग–द्वेष बिना ही प्राणत्याग करनेवाला जो मनुष्य है, उसको आत्मघात नहीं हो सकता।

भावार्थ : यहाँ कोई कहेगा कि संन्यास में तो आपघात का दोष आता है? उसका समाधान – सल्लेखना करनेवाला पुरुष जिस समय अपने मरण को अवश्यम्भावी जानता है, तब संन्यास अंगीकार करके कषाय को घटाता और रागादि को मिटाता है; इसलिए अपघात का दोष नहीं है। उसकी ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबर्दस्ती से मरण करूँ, अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात्‌रूप से मरण होने ही लगे तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें और मैं सांसारिक विषय–भोगों से ममत्व त्याग दूँ। उसके मरण में यदि

राग-द्वेष हो तो आत्मघात होता है, किन्तु जो मनुष्य राग-द्वेष का त्याग कर रहा है, उसे आत्मघात हो सकता नहीं।।१७७।।

गाथा १७७ पर प्रवचन

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति।।१७७।।

देखो, यह आया। देखो! सेठी! मरण तो '**भाविनि**' अर्थात् निश्चित हुआ ही है, ऐसा कहते हैं। मरण तो अवश्य होनेवाला ही है, ऐसा।

अवश्य होनेवाले मरण होने पर... देखो! यहाँ अधिक वजन है। **अवश्य होनेवाले मरण होने पर...** अर्थात् मरण का समय तो यह आ पहुँचा है। ऐसे बाह्य से कितने ही कारण ख्याल में आ गये। वृद्धावस्था बहुत जीर्ण हो गयी। पानी भी चले नहीं। समझ में आया? कैंसर ऐसा हो गया हो। आहा..हा..! अन्दर क्षुधा बहुत हो, पानी छू आवे तो चिल्लाहट मचावे। यहाँ पानी छुये (वहाँ) चिल्लावे।

भाई थे न? साकरचन्दभाई! तुम्हारे नहीं पालीताणा? साकरचन्दभाई, गुजर गये न अभी? पानी छुआवे तो शोर मचाते थे। दूसरे को थप्पड़ मारे। अरे! भगवान! कच्चा चमड़ा (जिसे छूने से दर्द हो) हो गया न बहुत कच्चा। इसलिए यह सब सड़ गया। होंठ-बोंठ सड़ गये थे। मैंने वहाँ देखा था। बोल नहीं सकते थे। पैर लगे थे। यह अच्छा था परन्तु अन्दर सब सड़ गया था। साकरचन्दभाई! जानते हो? वे पालीताणा में दिगम्बर के मुनीम। वे गुजर गये, अभी गुजर गये, उनकी बात चलती है। कैसा शरीर था? बहुत अच्छा। सोने की अँगूठी और सोने का हार लटकता था। ओय! परन्तु वापस शरीर सड़ गया। आहा..हा..! अन्त में कहा था, महाराज! मुझे दर्शन करना है। इसलिए मुझे तो एक बार वहाँ जाना था, नीचे तलहटी में भगवान के दर्शन करने जाना था। वहाँ जा आये थे। फिर आठ दिन में गुजर गये।

मुमुक्षु : दो-चार महीने हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं अभी। दो–चार नहीं। शनिवार को सबेरे, शनिवार को सबेरे। यह सब तो ख्याल है न? ऐसे अन्दर से ख्याल आ जाये। ऐसे याद न रहे, परन्तु गये थे, फिर आठ दिन थे। शुक्र–शुक्र, शनिवार को सबेरे पाँच बजे गुजर गये। कहो, सेठी! वे तुमने देखे थे या नहीं? कैसा शरीर था? लालिमायुक्त जैसा रूपवान, शरीर बहुत अच्छा था, परन्तु शरीर सड़ गया, हों! यह सब श्वेत हो गया था। अन्दर सड़ गया। बोला जाये नहीं। ऐसे–ऐसे करे। अकेला, कोई नहीं। सब लड़के और लड़कियाँ खड़े थे। क्या करे वहाँ? यह यहाँ किया और यह यहाँ भोगना। परन्तु तब सूझा? यह पहले से सूझा नहीं? आहा..हा..!

यहाँ तो पहले से जिसने पर से भेदज्ञान का अभ्यास किया है। समझ में आया? वह दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, शुभ–अशुभराग होता है, उससे भिन्न ऐसा अभ्यास किया है, उसे मरण के अवसर पर विशेष भेदज्ञान का अभ्यास करके शान्ति से देह छूटे, उसे सल्लेखना, शान्तिमरण, संन्यासमरण कहने में आता है। समझ में आया? सल्लेखना मरण कहो या संन्यासमरण कहो एक ही है? अन्दर १७८ गाथा में अर्थ आयेगा। सल्लेखना कहो, या संन्यासमरण कहो। संन्यास अर्थात् त्याग। आहा..हा..! वह भी जब तक यह रहे, तब तक तो मजा मानने दो।

मुमुक्षु : परन्तु उसमें मजा कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पहले से हमारे ये भाई कहते हैं कि ऐसे में मजा, उसमें यह चिन्ता डाली वापस। धूल में भी मजा नहीं, होली (है) सुन न! परसन्मुख का लक्ष्य करे, वहाँ राग होता है। राग, वह आकुलता है। वहाँ मजा कब था? धूल में कहीं भी? शरीर में, पैसे में, इज्जत में, कीर्ति में तेरी होली, स्त्री में। वह तो हड्डियाँ और चमड़ी है, तेरा लक्ष्य जाता है कि यह (है)। वहाँ तो होली–राग उत्पन्न होता है। राग और आकुलता है। मजा कब था? ऐई! पोपटभाई! कठिन बात है, भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मूढ़ है। विष्टा चाटकर मजा मानता है। वह लड़का छोटा होवे न, बहुत दूध पिलावे न लड़के को, बहुत दूध पिलाये तो दस्त हो जाये। गर्मी में दस्त होवे तो

फिर जरा ऐसे चाटे। ठण्डा लगे न, उसे कहाँ भान है कि यह विष्टा है। दूसरे को ऐसा कि अभी कुछ पिया होगा, वह निकला लगता है। बालक हो और उसे ज्येष्ठ महीने में सब अधिक दूध पिलावे। मानो झट पुष्ट होगा, ऐसा करके उसकी माँ खूब पिलावे और ज्येष्ठ महीने का समय हो। बहुत दूध पिलावे तो झट पुष्ट होगा न? परन्तु उसे अन्दर में ताकत नहीं हो। दस्त हो जाये। दस्त पतला। वह मानो कि यह निकला लगता है, यह पिया वह। ऐसे चाटे। यह ऐसा संसार का सुख है। राग निकालकर और राग को चाटता है और मानता है कि मैं यह भोग का मजा मानता हूँ। मूढ़ है। ऐ.. सुमनभाई! आहा..हा..!

भगवान! तुझमें तो शान्ति पड़ी है न, प्रभु! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द का सरोबर है न, नाथ! आहा..हा..! भाई! तुझे तेरी पूँजी की खबर नहीं। समझ में आया? किसी के माँ-बाप मर जाये और फिर दो-पाँच करोड़ की पूँजी हो, ननिहाल को सौंपे न? ट्रस्टीरूप से। इस लड़के को खबर न हो। इसे महीने में सौ-सवा सौ रुपये जेब खर्च करने को देते हों इसलिए वह समझे कि मेरे सौ रुपये हैं। तो कहे कि नहीं, नहीं, यह चार करोड़ तेरे पिता दे गये हैं। ये तो ट्रस्टी हैं। पूँजी ट्रस्टी की नहीं, तेरी है। हैं!

मुमुक्षु : ....वकील दो को सौंपे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील सही न, इसलिए ये।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान के पास गया, सन्तों के पास गया तो उन्हें कहता है कि महाराज! मुझे कहीं शान्ति नहीं। अरे! शान्ति तुझमें पड़ी है। व्यर्थ में किसलिए हैरान होता है। समझ में आया? अनुभवप्रकाश में मछली का दृष्टान्त नहीं दिया? मछली का। मछली। एक व्यक्ति कहे कि मुझे आत्मज्ञान दो, मुझे आत्मा का ज्ञान दो। एक के पास गया। दूसरा कहे कि भाई! देखो! मेरे पास नहीं, दूसरे के पास जा। दूसरे के पास गया, भाई! आत्मज्ञान दो। दूसरा कहे, देखो! मेरे पास नहीं, मछली के पास जा। मछली थी न समुद्र में? उसके पास जा। ठीक, भाई चलो। मछली! मुझे यहाँ भेजा है। क्या है? कि मुझे आत्मा का ज्ञान चाहिए। भाईसाहेब! बड़े पुरुष लगते हो। मेरे पास आये तब। वह मछली कहती है कि खोजते-खोजते यहाँ तक आये। मुझे प्यास लगी है तो, तुम थोड़ा पानी ले आओ तो मैं तुम्हारा काम कर दूँगी। क्या कहती है परन्तु ऐसा? नजर तो करो, नीचे। पानी में तो तुम पड़ी हो। तब तू कहाँ है, तुझे भान नहीं? नजर तो कर अन्दर? मछली ने कहा

कि अन्दर नजर तो कर। ज्ञान से तो तू भरपूर है। ज्ञान माँगने के लिये कहाँ मेरे पास आया है तूँ?

ज्ञानस्वरूप, चिदानन्दस्वरूप, चैतन्यस्वरूप सूर्य–चैतन्यसूर्य है वह। उसके सामने तुझे देखना नहीं आता और कहता है कि मुझे आत्मज्ञान देना। भाईसाहेब! बड़ा पुरुष लगता है तू, हों! पानी लेकर आ थोड़ा। राजा मनुष्य नहीं कहते अभी अपने? कहे न, यह राजा व्यक्ति है। अर्थात् मूरख नहीं कहना और राजा कहना इतना। आप तो राजा व्यक्ति हो, भाई! ऐई! वह माने कि मेरे पैसे के और महत्ता के गुणगान करता है और वह मूरख है, ऐसा कहता है। आहा..हा..!

भगवान आत्मा, जिसकी बात करने से मजा आवे, उसका अनुभव करे, उसकी बात क्या हो? कहते हैं, ऐसा भगवान आत्मा जिसने अन्तर में पहले से राग और पर से भेदज्ञान करके अभ्यास से जिसने प्राप्त किया है, उसे मरण के अवसर पर शान्ति से मरना है, उसकी यह व्याख्या है। समझ में आया? यहाँ गहरा पाया डालकर लाया हो और निश्चित करके आया हो कि अपने अभी मरना नहीं, तो उसकी बात है नहीं और वह न माने तो उसे गहरा पाया तो रहने का नहीं है।

मुमुक्षु : गहरा पाया डाले किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह डालता है कि अपने बराबर है। अपना शरीर अच्छा। दूसरे में अन्तर है। मैंने तो भस्म खायी है।

मुमुक्षु : भस्म का बाप खाया हो तो खाते–खाते मर जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बहुत कहते हैं, हों! भस्म खायी है। पाँच सौ रुपये की एक तोला, ऐसी भस्म पाँच वर्ष खायी है। मोती की भस्म, लोहे की भस्म, ताँबे की भस्म, बसन्त क्या कहलाती है वह? बसन्तमालती, वह बसन्ततिलका हो जाती है। बसन्ततिलका तो देशी घी है। बसन्तमालती खायी है। अब मर जायेगा, तेरे बसन्तमालती अर्थात्। सुन न अब, चक्रवर्ती जैसों को एक–एक तोला, एक–एक तोले की करोड़ की कीमत ऐसी भस्म, जिसे अनाज में डालकर प्रतिदिन खाता था। मरण आया तो ऐं... ऐं... हो गया।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सात सौ वर्ष की आयुष्य थी। भोग, भोग और भोग। ऐसा

आहार, उसका कि वह खाये, उसका एक रुपयाभार आहार छियानवें करोड़ सैनिक नहीं पचा सकते। ऐसा आहार खाया। मरण के समय हीरा के पलंग, हीरा के पलंग। अरे! मुझे कोई... कहाँ चला जाये! पाप किये, देह के छूटने के समय... कुरुमति! उसकी मुख्य रानी थी। बोलते-बोलते मरकर सातवें नरक में गया। अभी सातवें नरक के पाताल में है। अभी तो बहुत थोड़े वर्ष हुए। अभी तो असंख्य अरब थोक के थोक वहाँ रहनेवाला है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : सात सौ वर्ष में इतना पाप किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सात सौ वर्ष में कितना ? एक मिनिट का यहाँ माना हुआ सुख, उसकी एक मिनिट के सिर पर असंख्य अरब (वर्ष) का दुःख, असंख्य अरब वर्ष का दुःख। सात सौ वर्ष के मिनिट हों, उनकी अपेक्षा तैंतीस सागर की स्थिति में गया तो असंख्य अरब वर्ष। एक मिनिट और असंख्य अरब, एक मिनिट और असंख्य अरब।

भगवान आत्मा का महान अनादर और जो वस्तु में नहीं है, उसका आदर। चैतन्य को तीव्र आक्षेप दिया। सुख पर में है, मुझमें नहीं। पर में मजा है। आत्मा का महा अभ्यास... तू वह नहीं। यहाँ है। यहाँ है। ऐसे आक्षेप में स्वयं ही खो गया। खो गया है यह। हाथ नहीं आता। हाय.. हाय.. सोलह हजार देव सेवा करते थे। खड़े रहे ऐसे मुँह फाड़कर। आहा..हा..! हीरा का पलंग, सिर पर तुम्हारे क्या कहलाता है ? मच्छरदानी। वह कैसी ? मणिरत्न के वे... बहुत ऊँची होती है। समझ में आया ? भाई! वहाँ इन्दौर में पलंग कैसे हैं देखो न ? सर हुकमचन्द को। अपने उतरे थे, वहाँ कैसे थे ? अन्दर पलंग पर सोने के अक्षर लिखे हुए। अब यह तो एक साधारण व्यक्ति कहलाता है। वह तो चक्रवर्ती। सोलह हजार तो देव सेवा करे। बापू! कोई शरण नहीं। मरते समय हाय.. हाय..! सातवाँ पाताल जैसे पत्थर पानी पर डालो और नीचे तल में जाता है, (वैसे) नीचे गया। ठेठ तल में गया, एकदम, ठेठ सातवें तल में। समझ में आया ? और जिसने शान्ति रखी... आहा..हा..! ऐसे मरण के समय... देखो! पाण्डव, इस शत्रुंजय पर पाँच पाण्डव, मुनि आत्मध्यान में मस्त थे। तीन मुनि। धर्म राजा, धर्म भीम, अर्जुन ध्यान में थे। आहा..हा..! दुर्योधन का भानेज आया और धगधकते लोहे के गहने पहनाये। शान्त.. शान्त.. शान्त.. आहा..हा..! कर्म का उदय था, इसलिए आया, वह भी नहीं।

मुमुक्षु : वह तो विकल्प है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन विकल्प करे ? करने का काम क्या ? यहाँ तो आनन्द में ढले हैं ऐसे। आहा..हा.. ! ऐसे हाथ में लोहे के गहने, सिर पर लोहे का मुकुट, पैर में लोहे के गरम धगधगाते कड़े, क्या कहलाता है ? तोड़ा, तोड़ा कहलाता है। महिलाओं को कड़ा कहलाता है। इसे तोड़ा। है तो सब एक की एक बात। आकार में जरा अन्तर। ऐसे पहनाये। वहाँ शत्रुंजय से मोक्ष पधारे हैं। तीन तो मोक्ष पधारे हैं। ऊपर विराजमान हैं। सिद्धरूप से विराजमान हैं। जिस स्थान में से मोक्ष पधारे हैं, वहाँ सादि–अनन्त अनन्त समाधि सुख में विराजमान हैं। तीनों मोक्ष में गये हैं। दो मुनियों को जरा विकल्प आ गया। सम्यक्त्वी मुनि। जरा विकल्प आया कि इन तीन भाईयों को इस वेदना में क्या होता होगा ? ऐसा विकल्प आया तो शुभ–पुण्य बँध गया। सर्वार्थसिद्धि। वह (ब्रह्मदत्त) सातवें (नरक में) गया। और ये दो सर्वार्थसिद्धि में गये। ब्रह्मदत्त गया सातवें में, सातवें नरक – नरक, हों ! यह कल्पना नहीं, सब नीचे है। आहा..हा.. ! वे गये सर्वार्थसिद्धि, वे गये मोक्ष। जाओ ! मरण के समय जिसने जितने प्रमाण में भव के अभाव की भावना रखी है, उतने प्रमाण में उसका मोक्ष नजदीक हो जाता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

अवश्य होनेवाले मरण होने पर... देखो ! यह भाषा रखी है। अवश्य अर्थात् ? मरण तो होने का काल है। जबरदस्ती से मरण लाना है, ऐसा नहीं। बस, समय आ गया है, ऐसी स्थिति में। ऐसे दो चार कारणों से ख्याल आ गया। यह आगे आयेगा। इसका दृष्टान्त देते हैं, देखो ! पक गये हुए पान के समान अथवा तेलरहित दीपक के समान अपने आप विनाश सन्मुख हो गया है। पक गया हुआ पान जब टूटनेवाला हो, सड़ा हुआ पान, और तेलरहित दीपक। इसी प्रकार शरीर में ख्याल आ जाये कि अब निश्चित शरीर छूटनेवाला है। बस, पक गये हुए पान की तरह छूट जाता है। वैद्य भी एकान्त में कह जाता है। अब घड़ी, दो घड़ी है, अधिक नहीं। ध्यान रखना, खड़े रहना। किसी को कहना नहीं। पहर, दो पहर में तुम्हारे समाधान हो जायेगा। आहा..हा.. ! ऐसे काल में, ऐसा कहना है यहाँ।

अवश्य होनेवाले मरण होने पर... इस पर अधिक वजन है। **कषाय सल्लेखना के कृश करनेमात्र के व्यापार में प्रवर्तमान पुरुष को...** अवश्य मरण (होना है)। देह का छूटने का समय आ गया है। उससे पहले जिसने कषाय अर्थात् ? लोभ और राग को कम किया है। आसक्ति घटायी है। सल्लेखना=सत् लेखना। कृश करना **मात्र के व्यापार**

में... अब तो इतना ही जिसका व्यापार है। दूसरा कोई व्यापार नहीं, ऐसे **प्रवर्तमान पुरुष को रागादिभावों के अभाव में आत्मघात नहीं है।** उसे आत्मघात नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। आत्मघात है न यह? कहते हैं, नहीं। मरने का समय है। वह तो निश्चित ही हो जाता है। अब मुझे शान्ति से वीतरागभाव से, समभाव से देह छोड़ना, यह मेरा प्रत्यक्ष है। यह आत्मजागृति है, आत्मघात नहीं। समझ में आया न? कितने ही ऐसा कहते हैं, यह मरण करते हैं, आत्मघात। परन्तु मरण तो आनेवाला है, वह तो निश्चित है। समय भी ज्ञात हो गया है कि निश्चित अब यह अभी घड़ी दो घड़ी में या बाघ खा जायेगा या रोग घिर गया है, यहाँ कफ आ चढ़ा है। यह जरा सा अब श्वास लेने को ऐसा होता है परन्तु यह कफ यहाँ घिर गया है तो श्वास बन्द हो जायेगी। समझ में आया? चारों ओर ऐसा कफ घिर गया है। थोड़ा सा यहाँ लिया जा सकेगा। यह शक्ति यदि कम पड़ी तो यह यहाँ घिर जायेगा। ख्याल आ जायेगा, मृत्यु निकट है। समझ में आया? कहो, यह प्रीतिभोज होता है, यह जीवन बिताया है और मरते हुए आनन्द में बिताना, देह छोड़ना, उसकी यह बात चलती है। आहा..हा..!

टीका : अवश्यम्भावी जो मरण है... इस पर पूरा जोर है। अवश्य मरण होनेवाला है। **तब कषाय का त्याग करते हुए,...** कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ घटाते हुए और आत्मा की वीतरागता बढ़ाते हुए। **राग-द्वेष बिना ही प्राणत्याग करनेवाला जो पुरुष है, उसको आत्मघात नहीं हो सकता।**

सल्लेखना करनेवाला पुरुष की... इच्छा ऐसी ऐसी नहीं है कि मैं जबर्दस्ती मरण करूँ.. समझे न? पानी में गिरना, अग्नि में मरूँ, शीघ्र मरूँ — ऐसा कुछ है नहीं। मरण का समय तो निश्चित हो गया है। **उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात्रूप से मरण होने ही लगे तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें...** ऐसे बात गुलाँट खाती है। ऐसे मरण के आने का निश्चित हो गया है यह तो। बलजोरी से मरण खींचता नहीं कि अब तो उकता गया हूँ और गिरो पानी में या तो अग्नि में जलो या तो विष-जहर पियो। यह जबरदस्ती करता है। यद्यपि इसका तो मरण का काल इसे होता ही है यह, परन्तु वह जबरदस्ती करता है। और यह तो बलजोरी से मरण होने ही लगे, मरण बलजोरी से होने लगे। **तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें...** भाषा देखो न... रची है। ज्ञान... ज्ञान.. ज्ञाता.. आनन्द... आनन्द... आनन्द...

और मैं सांसारिक विषय–भोगों से ममत्व त्याग दूँ। संसार के विषय–भोग की आसक्ति घटा दूँ। **उसके मरण में यदि राग–द्वेष हो तो आत्मघात होता है,...** राग–द्वेष होवे तो अपघात है, परन्तु राग–द्वेष में शान्ति से समय व्यतीत करता है। **किन्तु जो मनुष्य राग–द्वेष का त्याग कर रहा है, उसे आत्मघात हो सकता नहीं।** उसे आत्मघात नहीं कहा जाता। आत्मजागृति है। घात कहाँ है ? समझ में आया ?

गाथा - १७८

आत्मघात कौन है, वह अब बताते हैं:–

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः।।१७८।।

हो जो कषायाविष्ट श्वास निरोध जल अग्नि जहर।
शस्त्रादि से निज प्राण घाते, आत्मघात उसे सतत।।१७८।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (कषायाविष्टः) क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ (यः) जो पुरुष (कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः) श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने (प्राणान्) प्राणों को (व्यपरोपयति) पृथक् करता है, (तस्य) उसे (आत्मवधः) आत्मघात (सत्यम्) वास्तव में (स्यात्) होता है।

टीका : 'हि यः (श्रावकः) कषायाविष्टः (सन्) कुम्भकजल–धूमकेतु–विष–शस्त्रैः प्राणान् व्यपरोपयति तस्य आत्मवधः सत्यम् स्यात्।'–अर्थः– जो जीव क्रोधादि कषायसंयुक्त होकर श्वास निरोध करके अर्थात् फांसी लगाकर, जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष–भक्षण कर, या शस्त्रादि के द्वारा अपने प्राणों का वियोग करता है, उसको सदाकाल आपघात का दोष लगता है।

भावार्थ : जो जीव क्रोध–मान–माया–लोभादि कषायों की तीव्रता से (अथवा इष्टवियोग के खेद से या आगामी निदान के वश होकर) अपने प्राणों का घात करता है, उसको ही आत्मघात का दोष लगता है। विशेष :– सल्लेखनाधर्म (समाधिमरण विधि) मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए है, सल्लेखना अथवा संन्यासमरण का एक ही

अर्थ है, अत: बारह व्रतों के बाद सल्लेखना का वर्णन किया है। इस सल्लेखनाव्रत की उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष तक की है–ऐसा श्री वीरनन्दी आचार्यकृत यत्नाचार नामक ग्रन्थ में कहा है। जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा वृद्धावस्था से असमर्थ हो जाय, देव–मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े, कोई महा दुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जायें अथवा धर्म का नाश करनेवाला कोई विशेष कारण उपस्थित हो जाय, तब अपने शरीर को पके हुए पान के समान अथवा तेलरहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सन्मुख हुआ जानकर, संन्यास धारण करे। यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे, कि जो इस उपसर्ग में मेरा आयु पूर्ण हो गया तो (मृत्यु हो गई तो) मेरे आहारादि का सर्वथा त्याग है और यदि कदाचित् जीवन शेष रहेगा तो आहारादि को ग्रहण करूँगा। यह संन्यास ग्रहण करने का क्रम है।

रोगादिक होने पर यथाशक्ति औषध करे परन्तु जब रोग असाध्य हो जाय, किसी प्रकार भी उपचार से लाभ न हो तो ऐसी दशा में यह शरीर, दुष्ट समान सर्वथा त्याग करने योग्य कहा है, और इच्छित फल दाता धर्म विशेषता से पालन करने योग्य कहा है। शरीर तो मरने के बाद दूसरा भी मिलेगा परन्तु धर्मपालन करने की योग्यता प्राप्त करना अतिशय दुर्लभ है। इस कारण विधिपूर्वक शरीर के त्याग में शोकाकुल–दु:खी न होकर संयमपूर्वक मन–वचन–काय का उपयोग आत्मा में केन्द्रित करना चाहिए और 'जन्म, जरा तथा मृत्यु शरीर सम्बन्धित है, मुझे नहीं है'– ऐसा चिन्तवन करके निर्ममत्वी होकर, विधिपूर्वक आहार घटाकर, अपने त्रिकाल अकषाय ज्ञातामात्र स्वरूप के लक्ष्य से काय कृश करना चाहिए और शास्त्रामृत के पान से तथा स्वसन्मुखता द्वारा कषायों को कृश करना चाहिए, पश्चात् चार *प्रकार के संघ की साक्षी से समाधिमरण में सावधान–उद्यमवन्त होना चाहिए।

अन्त की आराधना से चिरकाल की हुई सम्यक् व्रत–नियमरूप धर्म–आराधना सफल हो जाती है, क्योंकि उससे क्षणमात्र में दीर्घकाल से संचित पाप का नाश हो जाता है। और यदि अन्त मरण बिगड़ जाय अर्थात् असंयमपूर्वक या शरीर में एकताबुद्धिपूर्वक मृत्यु हो जाय तो जीवन भरकी की हुई धर्माराधना निष्फल हो जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि – ''यदि अन्त समय समाधिमरण कर लेने से ही क्षणमात्र में पूर्वसंचित पापों का नाश हो जाता है तो फिर युवावस्था में धर्म करने की

* चार प्रकार का संघ=मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका।

क्या आवश्यकता है? अन्त समय संन्यास धारण कर लेने से ही सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे'' तो उसका समाधान–जो जीव अपनी पूर्वावस्था में धर्म से विमुख रहे हैं अर्थात् जिन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रत–नियम आदि धर्माराधना नहीं की है, वे जीव अन्तकाल में धर्मसन्मुख अर्थात् संन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकते। क्योंकि–चन्द्रप्रभचरित्र प्रथम सर्ग में कहा है कि–'चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरितागुणेषु दोषेषु च जायते मति:' अर्थात् चिरकाल के अभ्यास से प्रेरित करने में आई हुई बुद्धि गुण अथवा दोषों में जाती है। जो वस्त्र पहले से ही उज्ज्वल हो तो उसके ऊपर मनपसन्द रंग चढ़ सकता है, किन्तु यदि वस्त्र पहले से ही मैला हो तो उसके ऊपर कभी भी रंग नहीं चढ़ सकता। इसलिए समाधिमरण वही धारण कर सकता है जो प्रथम अवस्था से ही धर्म की आराधना में बराबर सावधान रहा हो। हाँ, किसी स्थान पर कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जिसने आजीवन धर्मसेवन में चित्त नहीं लगाया हो, वह भी अपूर्व विवेक का बल प्राप्त करके समाधिमरण अर्थात् संन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त हो गया, परन्तु वह तो काकतालीय न्यायवत् अति कठिन है। (ताड़वृक्ष के फल टूटकर उड़ते हुए कौवे के मुख में प्राप्त हो जाना जितना कठिन है, उतना ही संस्कारहीन जीवन से समाधिमरण पाना कठिन है।) इसलिए सर्वज्ञ वीतराग के वचनों में जिसे श्रद्धा है, उसे उपरोक्त शंका को अपने चित्त में कदापि स्थान नहीं देना चाहिए।

समाधिमरण के इच्छुक पुरुष जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जिनेश्वर भगवान की जन्मादि तीर्थभूमियों का आश्रय ग्रहण करें, जो ऐसा न बन सके तो मन्दिर अथवा संयमीजनों के आश्रय में रहें। संन्यासार्थी तीर्थक्षेत्र को जाते समय सभी से क्षमा याचना करें तथा स्वयं भी मन–वचन–कायपूर्वक सबको क्षमा करें। अन्त समय में क्षमा करनेवाला संसार का पारगामी होता है और वैर–विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है। संन्यासार्थी को पुत्र, स्त्री एवं कुटुम्बीजनों से तथा सांसारिक सर्व सम्पदा से सर्वथा मोह छोड़कर (निर्मोही निज आत्मा का भजन करना चाहिए।) उत्तम साधक धर्मात्माओं की सहायता लेनी चाहिए क्योंकि साधर्मी तथा आचार्यों की सहायता से अशुभकर्म यथेष्ट बाधा का कारण नहीं बन पाता। व्रत के अतिचारों को साधर्मियों अथवा आचार्य के सन्मुख प्रगट करके नि:शल्य होकर प्रतिक्रमण–प्रायश्चित आदि शास्त्र में वर्णित विधियों से शोधन करना चाहिए।

निर्मलभावरूपी अमृत से सिंचित समाधिमरण के लिये पूर्व अथवा उत्तर दिशा

की तरफ मस्तक रखे। यदि श्रावक महाव्रत की याचना करे, तो निर्णायक आचार्य को उचित है कि उसे महाव्रत देवे, महाव्रत ग्रहण में नग्न होना चाहिए। अर्जिका को भी अन्तकाल उपस्थित होने पर एकान्त स्थान में वस्त्रों का त्याग करना उचित कहा गया है। संन्यास लेने के समय (-समाधिमरण के पूर्व की विधि के समय) अनेक प्रकार के योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे। अथवा यदि उसे अज्ञानतावश भोजन में आसक्त समझे, तो परमार्थ के ज्ञाता आचार्य उसे उत्तम प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा ऐसे समझावें-

हे जितेन्द्रिय, तूं भोजन-शयनादिरूप कल्पित पुद्गलों को अब भी उपकारी समझता है! और ऐसा मानता है कि इनमें से कोई पुद्गल ऐसा भी है कि जो मैंने कभी भोगा नहीं है। यह तो महान आश्चर्य की बात है! भला, विचार तो कर कि यह मूर्तिक पुद्गल तेरे अरूपी में क्या किसी प्रकार मिल सकता है? मात्र इन्द्रियों के ग्रहणपूर्वक उसका अनुभव करके तूने ऐसा मान लिया है कि मैं ही उसका भोग करता हूँ। तो हे दूरदर्शी! अब ऐसी भ्रान्तबुद्धि को सर्वथा छोड़ दे और निर्मलज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व में लवलीन हो। यह वही समय है कि जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धता में सावधान रहता है और भेदज्ञान के बल से चिन्तवन करता है कि 'मैं अन्य हूँ और यह पुद्गल देहादि मेरे से सर्वथा भिन्न जुदे ही पदार्थ हैं।' इसलिए हे महाशय! परद्रव्यों से तुरन्त ही मोह त्याग और अपने आत्मा में निश्चल-स्थिर रहने का प्रयत्न कर। यदि किसी पुद्गल में आसक्त रहकर मरण पायेगा तो याद रख कि तुझे हलका-तुच्छ जन्तु होकर, इन पुद्गलों का भक्षण अनन्त बार करना पड़ेगा। इस भोजन से तू शरीर का उपकार करना चाहता है तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है। क्योंकि शरीर इतना कृतघ्नी है कि वह किसी के किए हुए उपकार को नहीं मानता, इसलिए भोजन की इच्छा छोड़कर, केवल आत्महित में चित्त लगाना ही बुद्धिमत्ता है।

इस प्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधारा वर्षाकर अन्न की तृष्णा दूर कराकर कवलाहार छुड़ावे तथा दूध आदि पेय पदार्थों पर रखे, पश्चात् क्रम-क्रम से उसका भी त्याग करवाकर उष्ण जल लेने मात्र का नियम करावे। यदि ग्रीष्मकाल, मारवाड़ जैसा उष्णप्रदेश तथा पित्त-प्रकृति के कारण तृषा की पीड़ा सहन करने में असमर्थ हो तो मात्र शीतल जल लेने का नियम रखे, और शिक्षा दे कि हे आराधक! हे आर्य! परमागम में प्रशंसनीय मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ बताई है, इसलिए तुझे विचारपूर्वक अतिचार आदि दोषों से उसकी रक्षा करनी चाहिए।

पश्चात् अशक्ति की वृद्धि देखकर, मरणकाल सन्निकट है, ऐसा निर्णय होने पर आचार्य समस्त संघ की अनुमति से संन्यास में निश्चलता के लिये पानी का भी त्याग करावे। इस प्रकार अनुक्रम से चारों प्रकार के आहार का त्याग होने पर समस्त संघ की क्षमा करावे और निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिये कायोत्सर्ग करे। उसके बाद वचनामृत का सिंचन करे अर्थात् संसार में वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणों का उक्त आराधक के कान में, मन्द–मन्द वाणी से जप करे। श्रेणिक, वारिषेण, सुभगादि के दृष्टान्त सुनावे और व्यवहार–आराधना में स्थिर होकर, निश्चय–आराधना की तत्परता के लिये इस तरह उपदेश करे कि–

हे आराधक! श्रुतस्कन्ध का 'एगो मे सासदा आदा' इत्यादि वाक्य 'णमो अरहन्ताणं' इत्यादि पद और 'अर्हं' इत्यादि अक्षर–इनमें से जो तुझे रुचिकर लगे, उसका आश्रय करके अपने चित्त को उसमें तन्मय कर! हे आर्य! 'मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ' यह श्रुतज्ञान से अपनी आत्मा का निश्चय कर! स्वसंवेदन से आत्मा की भावना कर! समस्त चिन्ताओं से पृथक् होकर प्राण विसर्जन कर! और यदि तेरा चित्त किसी क्षुधा परीषह से अथवा किसी उपसर्ग से विक्षिप्त (व्यग्र) हो गया हो तो नरकादि वेदनाओं का स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवर में प्रवेश कर। क्योंकि अज्ञानी जीव, शरीर में आत्मबुद्धि अर्थात् 'मैं दु:खी हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा संकल्प करके दु:खी हुआ करता है परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देह को भिन्न–भिन्न मानकर देह के कारण सुखी–दु:खी नहीं होता, किन्तु विचार करता है कि मेरा कारण ही नहीं है तो फिर भय किसका? मुझे रोग ही नहीं है तो फिर वेदना कैसी? मैं बालक, वृद्ध या तरुण नहीं हूँ तो फिर मनोवेदना कैसी? हे महाभाग्य! इस तुच्छ से शारीरिक दु:ख से कायर होकर प्रतिज्ञा में किंचित्मात्र भी च्युत मन होना, दृढ़चित्त होकर परम निर्जरा की अभिलाष करना। जब तक तू आत्मचिन्तन करता हुआ संन्यास ग्रहण करके समाधिमरण की आराधना में बैठा है, तब तक प्रतिक्षण तेरे प्रचुर कर्मों का विनाश हो रहा है! क्या तू धीर–वीर पाण्डवों का चरित्र भूल गया है? जिन्हें लोहे के आभूषण अग्नि से तपाकर शत्रुओं ने पहनाये थे तो भी तपस्या से किंचित् मात्र च्युत न होकर आत्मध्यान से मोक्ष प्राप्त किया! क्या तूने महा सुकुमार सुकुमालकुमार का चरित्र नहीं सुना है? जिनका शरीर स्यालनी ने थोड़ा–थोड़ा खा–खा करके अतिशय कष्ट देने के लिये कई दिन (तीन दिन) तक भक्षण किया था, परन्तु किंचित् मार्गच्युत न होकर जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि

स्वर्ग प्राप्त किया था। ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रों में हैं, जहाँ दुस्सह उपसर्ग सहन करके अनेक साधुओं ने सर्वार्थसिद्धि की है। क्या तेरा यह कर्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवन–धनादिक में निर्वांछक होकर, अन्तरंग–बहिरंग परिग्रह के त्यागपूर्वक साम्यभाव से निरुपाधि में स्थिर होकर आनन्दामृत का पान करे! इस तरह उपरोक्त उपदेश से सम्यक् प्रकार कषाय को कृश करके–कम करके रत्नत्रय की भावनारूप परिणमन से पंच नमस्कार–मंत्र स्मरणपूर्वक समाधिमरण करना चाहिए। यह समाधिमरण की संक्षिप्त विधि है।

गाथा १७८ पर प्रवचन

आत्मघात कौन है वह अब बताते हैं:–

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः।।१७८।।

'हि' निश्चय से क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ... उलझ जाये ऐसा। कहीं सूझ पड़े नहीं। अभी यह बहुत मरते हैं न ? कहीं इज्जत अच्छी दिखती हो, घर में आठ लोग हों, स्वयं मुश्किल से २००–३०० रुपये लाता हो, हजार का खर्च हो, उसमें उलझता है। कहीं पता नहीं खाता। मँगाये नहीं। समझ में आया ? किसी से मँगाये नहीं। कपड़ा–बपड़ा अच्छा पहने हो, टोपा–बोपा बढ़िया पहना हो, लकड़ी साथ में अच्छी रखी हो, तीन सौ का वेतन और घर में खर्च आठ सौ रुपये का हो। अब उसमें कितने ही लोग उलझ जाते हैं। समझ में आया ? **क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ...** अन्दर घिर जाता है। ऐई ! नटुभाई ! ऐसा होता है। उसमें कितने ही बेचारे मर जाते हैं।

हमारे अन्तरंग पत्र आते हैं न ? अन्तरंग पत्र आते हैं। अन्तिम हो। महाराज ! हम बहुत दुःखी हैं। इज्जत कहलाती है परन्तु वेतन डेढ़ सौ का। क्या ? अमलदार। घर में कर्जा है। लड़कियों के विवाह का ठिकाना नहीं, बड़ी–बड़ी लड़कियाँ हो गयी है। कुछ मदद करो, तो प्राण को बचाने की तुम दया करो। ठीक। यहाँ हमारे पास पैसा होगा ? पैसा भेजो, ऐसा बहुत अन्तरंग पत्र आते हैं। यहाँ पैसे की इज्जत बहुत बढ़ गयी है। ऐई ! कहाँ गये

तुम्हारे ? ऐई ! अहमदाबाद गये ? अन्तरंग पत्र आते हैं, कुछ भेजो। पाँच हजार भेजो कम से कम। पाँच हजार रुपये। एक व्यक्ति कहे पच्चीस हजार भेजो। कौन जाने क्या है ? यहाँ तो आत्मा की बात है, बापू! आत्मा की लक्ष्मी की बात है। उस धूल की लक्ष्मी को तो यहाँ डण्डे मारते हैं।

(क्रोधादि) कषायों से घिरा हुआ जो पुरुष... कुम्भक-कुम्भक है न ? कुम्भक करे। ऐसे श्वास को... मर जाना है, वह तो आपघात है। क्रोध के आवेश में आ गया हो, कीर्ति रहती न हो, समझ में आया ? इज्जत दो लाख की कहलाती हो परन्तु पूँजी... ऐसे बाहर में कहलाती हो पच्चीस लाख की और अन्दर हो मुश्किल से दो लाख की पूँजी। सामने कर्ज हो, चलता हो सब। सब ऐसे विचित्र हैं। लोग उलझ जाते हैं। वह तो आपघात है। समझ में आया ?

श्वासनिरोध, जल,... जल-जल समाधि ले। वह पानी में जाकर गिरे। वह तो आपघात है। जल समाधि नहीं कहते कितने ही ? जल। वह शस्त्र बाद में देगा। यह तो जल में पड़ते हैं न ? पानी में, सरोवर में। यह **अग्नि,...** में गिरते हैं। अग्नि जलावे और जले। जहर पीते हैं। **शस्त्रादि से...** लो, यह तलवार या उससे घात करे। **अपने प्राणों को पृथक् करता है...** पृथक् तो होनेवाले ही थे, परन्तु भाव ऐसा है, ऐसा कहते हैं। **उसे आत्मघात वास्तव में होता है।** वह तो आत्मघात हुआ। उसने आत्मा की हिंसा की। उसके स्वरूप की जागृति तो है नहीं। आत्मा को मार डाला। अज्ञान में ऐसे मरण में मानो यहाँ से छूटकर जाऊँगा। कहाँ जायेगा ? वहाँ मौसीबा बैठी है कहीं ? यहाँ से छूटकर जाऊँगा कहीं ? परन्तु कहाँ जायेगा ? तू तो आत्मा नित्य है। दुकान बदलने से कहीं कर्जा पूरा हो जायेगा ? ऐसा घात करे, उसे आत्मघात कहते हैं। परन्तु मरण के समय आत्मा के ज्ञान-ध्यान और शान्ति से देह छोड़ने का करे, उसे आत्मघात नहीं कहते, परन्तु उसे समाधि और शान्ति-मरण कहने में आता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, १७८ वीं गाथा। उसका भावार्थ। सल्लेखना की बात चलती है। क्या कहते हैं ? देखो ! **क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों की तीव्रता से अपने प्राणों का घात करता है, उसे ही आपघात-मरण कहते हैं।** यह व्याख्या की। इसका विशेष कहेंगे। इसके प्रकार हैं कि आत्मा अपने शुद्धस्वभाव का घात करके और मिथ्यात्व तथा अज्ञानरूप से मरता है, वह भी आपघात है। समझ में आया ? और वर्तमान में राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया के वश देह छूटती है, उसे भी आपघात कहने में आता है। कहो, समझ में आया ?

विशेष- ...कोई कहे कि भाई ! यह श्रेणिक राजा ने मरण किया था न ? श्रेणिक राजा ने आपघात किया था न ? परन्तु आत्मा का भान था, किन्तु वहाँ क्रोध, मान के वश होकर और उतनी अस्थिरता हो गयी थी। वह चारित्र की अपेक्षा से आपघात कहलाता है। सेठी !

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन में दोष नहीं। बालमरण कहने में आता है, वह राग-द्वेष के कारण से। आत्मा का तो क्षायिक सम्यग्दर्शन है। आत्मा रागरहित शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, उसका अनुभव-दृष्टि तो है, मात्र लोभ के आवेश में आकर और राग में आकर देह छोड़ा, इसलिए वह आत्मघात, इस न्याय से कहा जाता है परन्तु मूल आपघात आत्मा का अन्दर घात नहीं। मरण आपघात कहलाता है। बालमरण है यह। समझ में आया ? इसकी विशेष व्याख्या करते हैं।

सल्लेखनाधर्म (समाधिमरण विधि)... सल्लेखना वह **मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए है,**... सल्लेखना अर्थात् सत् को अन्दर आत्मा के सत् भाव को खोजना। पहले आ गया था न ? सम्यक् प्रकार से कषाय को क्षीण करना, ऐसा आया था। सल्लेखना -

सत्, सम्यक् प्रकार से कषाय को कृश करना। यहाँ तो शोधना अन्दर में गया। विशेष आत्मा में अन्तर्शोधन में रहकर स्थिरता से देह छूटे, उसे समाधिमरण, पण्डितमरण, शान्तमरण कहने में आता है। समझ में आया?

मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए है,... सब टोटल तो मरण के काल में लाना है न? जिन्दगी में जो कुछ शान्ति, दर्शनशुद्धि आदि प्रगट किये हों। उन्हें देह छोड़ने के काल में, उस समय सब अनुकूलता की प्रतिकूलता होगी। बाहर की अनुकूलता रहेगी नहीं। शरीर एकदम प्रतिकूल (हो जायेगा)। रजकणों का परिवर्तन, कण्ठ का, छाती का, आंतड़ियों का, गले का, पूरा शरीर। उस समय राग और द्वेष के वश न होना, परन्तु अपने स्वभाव की शान्ति के वश होकर देह छोड़े, उसे समाधिमरण, सल्लेखनामरण कहते हैं। समझ में आया?

यह **सल्लेखना अथवा संन्यासमरण का एक ही अर्थ है,...** दोनों एक ही हैं। सल्लेखनामरण कहो या संन्यास अर्थात् त्याग–देह का त्याग कहो। **अत: बारह व्रतों के बाद...** बारह व्रत हैं न, समकिती के? गृहस्थ को आत्मदर्शनपूर्वक, सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक को पाँच अणुव्रत हैं, तीन गुणव्रत उनकी रक्षा के लिये हैं और चार शिक्षाव्रत भी उनकी – अणुव्रत की रक्षा के लिये हैं। इन **बारह व्रतों के बाद सल्लेखना का वर्णन किया है।** जिसे आत्मा सुधारना है। इस भव में ही भव का अभाव करके देह छोड़ना है। समझ में आया? उसे इस प्रकार से...

बारह व्रतों के बाद सल्लेखना का वर्णन किया है। इस सल्लेखनाव्रत की उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष तक की है... बारह वर्ष की। पहले से शरीर और कषाय कृश करने का अभ्यास करे। उसके बारह वर्ष चलते हैं। समझ में आया? बारह वर्ष, देखो! **ऐसा श्री वीरनन्दी आचार्यकृत यत्याचार नामक ग्रन्थ में कहा है।** श्वेताम्बर में उत्तराध्ययन में है। बारह वर्ष की सल्लेखना। यह हमारे बड़ी चर्चा हो गयी है। बारह वर्ष की। मूलचन्दजी ऐसा कहे कि यह बारह वर्ष का है, वह तो तपस्या है। मैंने कहा, नहीं। यह तो बहुत वर्ष पहले की बात है। पैंतालीस वर्ष पहले की। यह शास्त्र में है, बारह वर्ष का इसमें। अपने दिगम्बर में देखा नहीं परन्तु बारह वर्ष का (आता है)। इस आत्मा की मृत्यु के समय शान्ति प्रगट करके देह छोड़ना, उसका अभ्यास श्रावक पहले से करता है।

बारह वर्ष की विधि से कोई (करता है)। सेठी! ऐसा सब बड़ा लेख है पूरा। चार वर्ष इसका करना, चार वर्ष इसका करना, फिर चार वर्ष इसका करना, यह सब विधि है। समझे न? यहाँ यह कहते हैं देखो।

वीरनन्दी आचार्यकृत यत्याचार नामक ग्रन्थ में... यति-आचार में ऐसा। बारह वर्ष की मर्यादा, उसका लक्ष्य / ध्येय मरण के समय शान्ति.. शान्ति.. शान्ति..। स्वभाव के झुकाववाला, विभाव की उपेक्षावाला मरण हो, ऐसी भावना गृहस्थ को (होती है)। वहाँ बारह वर्ष में मुख्य बात तो मुनि की है। समझ में आया? पहले से शरीर और कषाय को इस प्रकार से कृश करता जाये कि जिसे मृत्यु के समय शान्ति से देह छूटे। कहो, समझ में आया? जिसे शान्ति से वेदन करना है, देह छोड़ना है, उसकी बात है। उसे ऐसा कर लूँगा, होना होगा वह होगा, ऐसा नहीं। यह तो स्पष्टीकरण करेंगे। भाई! किसी को ऐसा हो जाता है न? पहले से नहीं किया और अन्त में भी मृत्यु सुधर जाये। होवे, किसी को ऐसा भी होता है। किसी को। समझे? यह लेंगे।

जब शरीर किसी असाध्य रोग से... घिर जाये। शरीर का उपाय करने पर भी हिले नहीं। सेठी! सुना? गोदिकाजी को हार्ट अटैक आया है। कल सुना। मुम्बई से रजनीभाई आये हैं न? उन्होंने कहा। हॉस्पीटल में हैं। कहो, ऐसी बात है। दूसरी बार और तीसरी बार ऐसा धड़ाका आयेगा तो शरीर छूट जायेगा। स्थिति ही ऐसी है तो क्या करे? शरीर ही संयोगी चीज़ है। अवधि तक रहनेवाला है। उसमें कोई उसके प्रसंग से कुछ ध्यान रखे, ऐसा करे और वैसा करे तो रहे, ऐसा तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : सम्हालने का प्रयत्न तो करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सम्हालने का प्रयत्न करे तो रहता नहीं। पूरे दिन प्रयत्न करके मर जाये बेचारा। सबेरे से शाम अमुक खाना, अमुक। यह छोड़ने के काल में छोड़ना ही पड़ेगा। इसकी लाख दवा आवे, वैद्य आवे, डॉक्टर आवे। कुछ नहीं आयेगा। फिर कहे- हाय.. हाय.. अब? ऐई पोपटभाई? यह लड़के-बड़के कुछ हाथ नहीं डालेंगे। फिर चार लोग उठायेंगे।

मुमुक्षु : इसके लिये तो यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चार व्यक्ति उठायेंगे, एक सामने आगे चलेगा और एक पीछे चलेगा। कहाँ गये वासुदेवभाई ? यह तुम्हारी... सात व्यक्ति हैं न ? चार उठाने में काम आवे और एक सामने आगे अग्नि के काम आवे, शव के साथ अग्नि का बर्तन लेकर। और (एक) पीछे। यह सुनते नहीं। कहो, समझ में आया ? इसका लिखेगा कहीं। बहुत गुँथ गया। इसे आत्मा की पड़ी नहीं। समझ में आया ? कहते हैं कि असाध्य रोग ऐसा आ जाये। लाख तेरे डॉक्टर, लाख करोड़ खर्च करेगा परन्तु उस समय छूटेगा, एकदम ! हाय.. हाय.. कुछ काम नहीं किया ? अरे ! उसको तो इंजेक्शन ने काम किया था।

मुमुक्षु : लोग तो महिमा करते हैं कि तुमने बापू की बहुत सेवा की।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें भला क्या हुआ, लोग महिमा करे उसमें। बहुत किया सुमनभाई कहते हैं, ओहो..हो.. ! रामजीभाई का बहुत किया। ये कहाँ सामने देखते हैं ? वह तो वहाँ चला जाता है। ऐई ! क्यों ? सेठी ! आहा..हा.. ! बापू ! यह रोग ऐसा लागू पड़ेगा कि तेरे दवा–दारू कुछ काम नहीं आयेंगे। असाध्य। देखो भाषा ली है। असाध्य रोग। हो गया। अब देह छूटकर ही रहेगी। तेरे लाख, करोड़ खर्च कर। कितने खर्च किये ? नहीं था यहाँ एक अभी ? उस काम्प में कोयलेवाला नहीं था एक ? कितने खर्च किये ? बहुत खर्च किये। कितने हजारों। बड़े–बड़े डॉक्टर उतरे। कितना खर्च। तैतालीस हजार। जैसे–जैसे डॉक्टर इंजेक्शन दे, वैसे रोग बढ़ता गया। ऐसे का ऐसा रोग बढ़ता गया। वह तो बढ़ने का था, इसलिए बढ़ा। वह कोयलेवाला था। वह तुम्हारा सगा है न ? इन भाई का। अमरसीभाई का, नवनीतभाई का। उसे यहाँ काम्प में देह छोड़ा। बहुत डॉक्टर उतारे थे और बहुत खर्च किया। एक–दो दिन में तैंतालीस हजार रुपये उड़ गये। कहते हैं, क्या हुआ ? जैसे–जैसे डॉक्टर इंजेक्शन (देता गया) वैसे–वैसे रोग बढ़ता गया। यह कहीं उनसे नहीं बढ़ा है, वह बढ़नेवाला ही था। असाध्य.. असाध्य.. असाध्य.. तेरे लाख–करोड़ रुपये पड़े रहेंगे। अलमारी में लाख, हजारों दवायें सब रखी होंगी। उस समय यह लेना और इस समय यह लेना, यह सब व्यर्थ तेरे वहाँ पड़े रहेंगे।

ऐसा असाध्य (रोग) आवे, उस समय तो सम्हाल लेना। ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वृत्ति को मोड़ लेना, बस अब मेरा समाप्त। भव के अन्त में मेरी शान्ति में (रहूँ)। सहजानन्द मूर्ति प्रभु ध्रुव भगवान अन्तर में विराजता है, उसके सहारे में चला गया। सत्..

सत्.. सत्स्वरूप ध्रुव पूरा पड़ा है, उसके सहारे में जा। बाकी कुछ शरण है नहीं। कहो, समझ में आया? यह पहले अभ्यास किया होगा, उसे उस समय आयेगा। अभ्यास नहीं किया और एक दिन में आ जायेगा, ऐसा नहीं है। किसी जीव को, महापुरुषार्थ से होता है। कहेंगे, हों! यह कहेंगे। उस ओर के पृष्ठ पर कहते हैं। किसी स्थान पर ऐसा भी देखने में आता है कि जिसने आजीवन धर्म सेवन में लगाया न हो और अपूर्व विवेक का बल प्राप्त कर जाता है। किसी को होता है, परन्तु इससे जो आसरा (बहाना) लेकर सब करेंगे तो मर जायेंगे। उस ओर अन्तर पृष्ठ पर है। १३६ पृष्ठ पर अन्तिम लाईन। १३६ पृष्ठ पर अन्तिम लाईन। किसी स्थान पर ऐसा भी देखने में आता है कि जिसने आजीवन धर्म सेवन में चित्त नहीं लगाया था, वह अपूर्व विवेक का बल प्राप्त करके समाधिमरण अर्थात् संन्यासीमरण करके स्वर्गादि सुखों को पा गया, परन्तु वह काकतालीय न्यायवत् है। कौवे का आना और ऊपर से फल का गिरना और मुँह में आ जाना, ऐसा है। इस भरोसे सबको नहीं रहना। आहा..हा..! समझ में आया?

वृद्धावस्था से असमर्थ हो जाय,... शरीर जीर्ण हो जाये, उसमें मौसम्बी भी पचे नहीं। पानी डाले, उसकी भी उल्टी हो जाये। हाजमा बिगड़ जाये, फेफड़े ऐसे हो जायें। एक गृहस्थ व्यक्ति था। अहमदाबाद (का) बड़ा गृहस्थ, बड़ी पैड़ी। मन्दिरमार्गी था। बुलाने आया था। महाराज के दर्शन करे। पानी में कुछ रहता नहीं। अभी उसका भतीजा आया था। कहा, मेरे काका मर गये। कुछ रहे नहीं। शरीर देखो तो निरोग। कुछ रोग नहीं होता, परन्तु अन्दर कुछ डाले तो एकदम उल्टी। डाले और उल्टी। समझ में आया? अहमदाबाद में गुलाबचन्दभाई नहीं? तुम्हारी बहिन। वे कहीं कमरे पर रहते थे। एक कमरे पर गये थे, उन्होंने कहा कि महाराज को बुलाने गये हैं। बेचारा बैठा था। पैसा दिया। गृहस्थ व्यापारी मन्दिरमार्गी। कहे, पेट में कुछ रहता नहीं। शरीर देखो तो निरोगी। कुछ मिलता नहीं। ऐसा का ऐसा सरस शरीर दिखायी दे। अन्दर डालो तो दो मिनिट रहे नहीं, एकदम उल्टी। अब उस समय उसे क्या करना? छोड़ देना अब यह होली। यह छूटने का काल है। अन्दर में से शान्ति ले न! भगवान शान्ति का पिण्ड अन्दर पड़ा है। आहा..हा..!

भगवान आत्मा... परन्तु अन्दर नजर का जिसने अभ्यास किया नहीं, अन्दर नजर का निधान पर देखने का कोई प्रयत्न किया नहीं, वह कहाँ से अन्दर जायेगा? समझ में

आया ? वहाँ फिर दु:ख से पैर पछाड़े, ऐसा होगा, सब पुण्य बदलेगा इसलिए। अभी कोई बात दबाकर रखना चाहेगा तो वहाँ कुछ नहीं रहे। हाय.. हाय.. ! उसकी अवस्था हो जाये। छोड़। अब उपचार का विचारना बन्द कर, उपचार कर आत्मा का। कहो, समझ में आया या नहीं ? पोपटभाई ! कहो, किसका सपना आता था बड़ेभाई को ? तुम्हारे लड़के को स्वप्न ऐसा आता था। हाय.. हाय.. लड़के को। वहाँ थे तब न ? (संवत्) २०२० के साल न ? मैंने कहा, शान्ति रखो। उतावल से कुछ पके ऐसा है ? ऐसे सपने आवें। हाय.. हाय.. ऐसे बुरे सपने ? कहाँ जाऊँगा ? यह देह छूटेगी ? जायेगा ऐसा हो जाता है। भाई ! यह तो शरीर को छूटने का काल हो, आयुष्य हो तो रह जाये नहीं तो उस समय एकदम अन्दर जाओ।... आगामी भव में अन्यत्र। जहाँ नहीं तुम्हारा यह शरीर, नहीं वहाँ यह क्षेत्र, नहीं वहाँ यह काल, नहीं वहाँ यह भव, नहीं वहाँ यह भाव, नहीं वहाँ ये परिचित लोग। हाय.. हाय.. आहा..हा.. !

मुमुक्षु : ....परिचित कर देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी परिचित करे, ऐसा नहीं। नरक में जाये वहाँ कहाँ परिचित करे ऐसा है ? कहाँ जाये ? मगरमच्छ में सरोवर में कहीं इतना मछली होकर भटके। हाय.. हाय.. आहा..हा.. ! कोई सामने देखता नहीं।

देव–मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े,... देखा ! कोई देव ने उपसर्ग में मार डालने की तैयारी (की)। देव ने उठाया। इस अग्नि में डाल दूँ, कुएँ में डाल दूँ, उस समय वृत्ति को मोड़ ले, पहले से अभ्यास करे, बापू ! यह अवसर आयेगा, शान्ति रखना। यह शान्तिस्वरूप मुझमें है, ऐसा जिसे अन्तर अनुभव निर्णय हुआ है, वह शान्ति में बारम्बार झाँकता रहे और उस समय तो दबाव पड़े, तब अन्दर भगवान को तू शान्ति को भेंटना, तब तेरा मरण सच्चा होगा। समझ में आया ? **मनुष्यादिकृत...** मनुष्य का कुछ कठोर उपसर्ग आया। मनुष्य सामने गोली लेकर खड़ा, अभी मार डालता हूँ। कोई पशु आदि है न ? सिंह, नाहर आया हो, सामने तेंदुआ आया हो। हो गया। यह अभी पकड़ेगा। अभी थाप मारेगा। जंगल में चला जाता हो।

कोई दुर्निवार... निवारण नहीं किया जा सके, ऐसा उपसर्ग आया हो, तो उस समय समाधिमरण हो, ऐसी पहले से भावना करना। समझ में आया ? **कोई महा दुष्काल**

से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जायें... ऐसा दुष्काल पड़ा हो कि अनाज नहीं मिले। देखो न, इस बिहार में हुआ था न? अभी साधारण है। पहले लाखों लोग मर गये, लाखों लोग। समझ में आया?

महा बड़ा दुष्काल हो। क्या फिराते हो? ऐई! सोगनचन्दजी! सुनते हो या पन्ना फिराते हो? तुम्हारा इतना ठिकाना नहीं, यहाँ सुनने की जगह। ऐसे के ऐसे पन्ने फिराते हो। यहाँ सुनना हो, वह चला जाता है। ये अभी के ऐसे कौन जाने त्यागी और ब्रह्मचारी बिना ठिकाने के। इन्हें अभिमान चढ़ जाता है, हों! हम कुछ करते हैं। सेठी!

कोई महा दुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ... पानी नहीं मिले। पानी नहीं मिले, पानी है न? धान्यादि है न? धान्य, पानी, भोज्य पदार्थ न हो। सड़ जाये। एक साधु बेचारा रास्ते में था। छह गाँव चला। भावनगर। यहाँ है न 'कमलेज' सबेरे का निकला हुआ, कोई साथ में नहीं, कोई साथ में नहीं। वृक्ष के नीचे थोड़ी देर बैठा, कोई निकले तो। हो गया, देह छूट गयी। बहुत तृषा... बहुत तृषा.. लगी। शान्ति करना आवे तब न? कभी शान्ति क्या है? आत्मा क्या है, उसकी दरकार तो की नहीं। बाहर में हमारी इज्जत और कीर्ति, जगत में होली करता रहा। शशीभाई! आहा..हा..!

वह ऐसे वृक्ष के नीचे... बस सूख गया। ऐसा गला सूख जाए, कोई निकला नहीं। वृक्ष के नीचे बैठा, कोई निकले तो कहूँ कहीं से पानी लावे तो। समाप्त हो गया। बड़े छह गाँव का... कमलेज से चमारड़ी अकेला.. है न भगवानभाई! इस ओर समुद्र, खार। इस ओर घांघली, ऐसे रह गयी। बीच में फांफो बड़ा। हम उस रास्ते में निकले हैं, हों! उसी रास्ते से निकले थे। छह गाँव, हों! कमलेज से चमारड़ी। भावनगर से तीन गाँव कमलेज, वहाँ से छह गाँव चमारड़ी।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई कुछ नहीं होता न। एक वृक्ष नहीं, मकान नहीं, गाँव नहीं, ऐसे देखो तो समुद्र, खार, आगे तुरन्त ही। ऐसे देखो तो घांघली आगे रह गयी। घांघणी है न? ब्राह्मण का गाँव है। वह तो कहीं आगे रह गया। हम बीच में निकले थे परन्तु हम सर्दी में निकले थे। (संवत्) १९७७ के साल है। भावनगर आने से पहले, १९७७ के साल में।

सर्दी थी, तब शरीर ठीक था। चमारड़ी पहुँचे। मैं और जीवणलाल दो थे। कोई व्यक्ति नहीं। उसमें यह प्यास लगी हो। अब चलने का... नहीं। आहा..हा..!

श्रीकृष्ण वासुदेव तीन खण्ड के स्वामी। जिनकी हकार से तो ऐसा सिंह का पेशाब निकल जाये। उन्हें प्यास लगी। कौशम्बी वन में। भाई मैं डग नहीं भर सकता। कहो, सेठी! आहा..हा..! तेरी अनुकूलता नहीं रहे कुछ। तीन खण्ड के स्वामी, सोलह हजार देव सेवा करें। हाँकल डाले ऐसे वहाँ ऐसे सिंह का और बड़े राजा का पेशाब निकल जाये। सिंहनाद करे वहाँ। अकेले वन में तड़फते हैं। समझ में आया? 'तरसे तरफड़े त्रिकमो' वे 'तरसे तरफड़े त्रिकमो, नहीं कोई पानी का पानार।' आहा..हा..! भाई! मैं डग नहीं भर सकता (चल नहीं सकता)। आहा..हा..! बोल नहीं सकता। भाई! मैं यहाँ से एक कदम भी नहीं चल सकता, मुझे ऐसी प्यास लगी है। भाई! तुम यहाँ सोओ, तुम यहाँ सोओ। मैं पानी लेकर आता हूँ। आहा..हा..! ऐसी प्यास! अन्दर दृष्टि है, हों! आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होनेवाले हैं। उनकी स्थिति भी यह! इतने पुण्यवन्त होकर, कहो 'जन्मता कोई न जाण्यो, मरता कोई न रोनार'। जन्मते समय किसी ने जाना नहीं। गोकुल में जन्में। मरे तो भी अकेले मरे। देखो न! यह काल वह काल। इन वासुदेव की ऐसी स्थिति। ऐसी सब बाहर की बातें। ठहर जायेंगे तेरे सब साधन किये होंगे वे। समझ में आया?

कोई महा दुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जायें... कोई भी पदार्थ ऐसे तृषा का, अमुक का। राजा मानसिंह नहीं? यह बहादुर सिंह का बाप। वहाँ दक्षिण में गया, मरने की तैयारी। गुड़ का पानी जरा सा देखे। गुड़ का पानी। राजा।

मुमुक्षु : पालीताणा का ठाकुर न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ठाकुर मानसिंहजी। वे अभी थे वे कौन? मानसिंह नहीं उनका बाप! शूरसिंहजी! ये बहादुरसिंह और मानसिंह इन्हें तो पहिचानता हूँ। वहाँ गारियाधार आते थे न? मानसिंहजी वहाँ (संवत्) १९५७-५८-५९ में गारियाधार आते थे। उनके पिता शूरसिंहजी। दक्षिण में ऐसे मरने की... कौन जाने जंगल में क्या हो गया, बस। लोग साथ में, घोड़ा-गाड़ी साथ में, पुलिस साथ में। क्या करना? थोड़ा गुड़ का पानी कहीं मिले नहीं। परन्तु एक दौना था। वह कोशवाला। उसका गुड़ जरा दौना के चमड़े में थोड़ा गुड़ डाला हुआ। देखो! यह राजा। नहीं मिले भोज्य पदार्थ। तूने जो विचार किया

होगा, ऐसी एक भी चीज़ नहीं मिले। समझ में आया? दुष्प्राप्य हो जायेगी। ध्यान रखना पहले से। रजकण आनेवाले हों, वे आते हैं, तेरे आधीन नहीं हैं। समाधि के लिये शान्ति लेना। भाई! यह गुड़ का पानी लाये, थोड़ा पानी डाला। मर गये। राजा जंगल में मर गये। तो कहते हैं कि भाई! इस आत्मा को सम्हालना। सम्हालकर जीना, सम्हालकर जीना। आहा..हा..! समझ में आया?

अथवा धर्म का नाश करनेवाला कोई विशेष कारण उपस्थित हो जाय... लो, समझ में आया? अपना धर्म है, उसका विरोध करनेवाला कोई आवे। मार्ग डालूँ, माँस खिलाऊँ, ऐसा करूँ इत्यादि। **अपने शरीर को पके हुए पान के समान...** जानना। ये पके हुए पान अभी खिरेंगे, गिरेंगे। आहा..हा...! **अथवा तेलरहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सन्मुख हुआ जानकर,...** जहाँ तेल नहीं मिले, इसलिए निश्चित हो गया अब दीपक बुझ जायेगा। इसी प्रकार इस शरीर में अब कुछ होता नहीं। अभी उड़ जायेगा। **स्वयमेव विनाश के सन्मुख हुआ जानकर, संन्यास धारण करे।** उस समय वृत्ति को बाहर से मोड़ ले। अन्तर में शान्ति समाधान है। सहजानन्द प्रभु आत्मा हूँ। मेरे आनन्द को कोई लूटनेवाला, विघ्न करनेवाला नहीं है। मेरी अन्तर एकाग्रता जितनी हो, उतना मुझे आनन्द आयेगा। ऐसे अन्तर में समाधिमरण से सावधान हो, ऐसा कहते हैं।

यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे,... ऐसा कहते हैं। ऐसा जाने कि काल है, बाघ आया, यह आया, परन्तु कदाचित् वह न मारे और चला जाये तो? तो अवधि की प्रतिज्ञा करे। **जो इस उपसर्ग में मेरा आयु पूर्ण हो गया तो (मृत्यु हो गई तो) मेरे आहारादि का सर्वथा त्याग है और यदि कदाचित् जीवन शेष रहेगा तो आहारादि को ग्रहण करूँगा। यह संन्यास ग्रहण करने का क्रम है।** आजीवन करे और या शंका पड़े तो मर्यादित करे कि इस उपसर्ग में से बचूँ तो आहार लूँगा, नहीं तो नहीं लूँगा। समझ में आया? ऐसे उपसर्ग आते हैं न? ऐसे रोगादि आते हैं। १३६ पृष्ठ पर है।

रोगादिक होने पर यथाशक्ति औषध करे परन्तु जब रोग असाध्य हो जाय, किसी प्रकार भी उपचार से लाभ न हो तो ऐसी दशा में यह शरीर, दुष्ट समान सर्वथा त्याग करने योग्य कहा है,... परन्तु पहले से जिसकी दृष्टि सुधरी है, जिसने

आत्मा का साधन किया है, उसे यह प्रसंग आयेगा। जिसने आत्मा की दरकार नहीं की, बाहर का बाहर अकेली सिरपच्ची और बाहर के क्रियाकाण्ड में धर्म माना हो, उसी–उसी में रुक गया हो और आत्मा की दरकार न की हो, उसे यह अवसर नहीं आयेगा। वह दबकर मर जायेगा। दीपचन्दजी ! आहा..हा.. ! एक व्यक्ति ने कहा न वहाँ ? हमारे पोरबन्दर में। बहुत प्रोषध और प्रतिक्रमण तथा सामायिक किये हुए। नाम भूल गये। क्या नाम उसका ?

मुमुक्षु : गिरधरलाल....

पूज्य गुरुदेवश्री : गिरधरभाई। बहुत प्रोषध, प्रतिक्रमण और सामायिक सम्प्रदाय के (किये थे)। मरण का समय आया तो ऐसी पीड़ा आयी। पैसेवाला व्यक्ति। बड़ा घर का मकान बनाया हुआ और अब यहाँ से निश्चिन्त रहूँगा। पैसा कमाकर लाया था। बहुत लाख। वहाँ एकदम गोला उठा, गोला उठा गोला। गोला समझे ? पवन। सहन नहीं हो, सहन नहीं हो। भाई ! तुम भगवान (का बोलो)। बोलोगे नहीं अभी। भगवान का नाम अभी नहीं अब। आहा..हा.. ! सेठी ! गिरधरभाई नहीं ? यह गिरधरभाई ! बाजार में ही मकान है। बड़ा नया मकान बनाया। यह (संवत्) १९८२ की बात है। ४१ वर्ष हुए। बहुत लाखों पैसा–वैसा कमाया, नया मकान बनाया, अब अपने देश में रहना। समझे न ? व्यक्ति बेचारा नरम था परन्तु कहीं कभी धर्म क्या ? सामायिक और प्रोषध और प्रतिक्रमण किये हुए। वह कहाँ धर्म था अब ? वह तो राग की कोई मन्दता की और दृष्टि तो मिथ्यात्व है। भगवान भाई थे। भगवानजी कच्छी।

मैं तो विहार करके गया था। महाराज ! मुझसे अभी धर्म का कुछ (होता नहीं)। परन्तु यह सामायिक, प्रोषध किये, वे कहाँ गये ? परन्तु वे किये ही कब थे आत्मा के ? बाहर की क्रियाकाण्ड में सामायिक और प्रोषध करके बैठे, उसमें धर्म कहाँ था ? आत्मा को राग से, पर से भिन्न करके अन्तर का अभ्यास किया नहीं। न्यालभाई ! तुम पहिचानते हो ? नहीं पहिचानते होंगे। पोरबन्दर में थे। १९९२ के साल गुजर गये। गिरधरभाई। उस मन्दिर के सामने नहीं ? इतने में आगे मकान है। है न मकान ? १९८२ के साल से जानते हैं। वे कोई आये थे। कुछ याद नहीं, महाराज ! मुझे कुछ स्मरण नहीं। एक इस गोले के कारण... गोला समझे ? सेठी ! पेट में वायु (होती है)। मुझसे कुछ होता नहीं। इसके कारण मुझे कुछ सूझता नहीं। परन्तु यह गोला और फोला पर है, मेरी चीज़ भिन्न है। यह मैं नहीं।

गोला है, वह तो जड़ की दशा है। मेरी चीज़ आत्मा है, वह तो आनन्द है, ज्ञान है—ऐसा कभी अन्तर निर्णय करके अभ्यास नहीं किया; इसलिए मरने के समय वह ठीक से कहाँ से मरेगा? मरेगा वहाँ अन्दर में हाय-हाय करके। बाहर में बोल सके नहीं, यह बात अलग है। समझ में आया? शशीभाई! आहा..हा..!

कहा न? वे कहते थे न? कि यह अभी ये सब श्रावक और साधु मरते हैं, यह तड़फन मारकर मरते हैं, ऐसी पंचम काल की मृत्यु होगी? एक व्यक्ति ऐसा पूछता था। तुम्हारे श्रावक और साधु के समाधिमरण ऐसे होंगे? कहा, साधु, श्रावक था कब कोई? आहा..हा..! बापू! श्रावक, साधु का मरण तो ऐसा आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अन्तर में। सच्चा है कहाँ? यह तो अभी श्रद्धा की खबर नहीं होती। समझ में आया? दृष्टि की खबर नहीं होती। दृष्टि का विषय कितना और कहाँ झुकना, उसकी खबर नहीं होती। ऐसी की ऐसी गाड़ियाँ हाँकते जाते हैं (विपरीतता का सेवन करते हैं)। वहाँ कहाँ मरण था? फिर मरते समय दुःख से पैर पछाड़े। लोग... वाले तो ऐसा कहते हैं अब उसे साधुपना दे दो, कपड़े छुड़ाओ। अभी सम्यग्दर्शन क्या है, इसका भान नहीं, वहाँ कपड़े छुड़ा दो। नग्न कर दो, दीपचन्दजी!

देखो! **दुष्ट समान सर्वथा त्याग करने योग्य कहा है, और इच्छित फलदाता धर्म विशेषता से पालन करने योग्य कहा है।** देखा? इच्छित फलदाता आत्मा का धर्म, देह की क्रिया और राग की क्रिया से भिन्न है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान का धर्म इच्छित फलदाता है। **पालन करने योग्य कहा है। शरीर तो मरने के बाद दूसरा भी मिलेगा...** लो! **परन्तु धर्मपालन करने की योग्यता प्राप्त करना अतिशय दुर्लभ है। इस कारण विधिपूर्वक शरीर के त्याग में (शोकाकुल) दुःखी न होकर...** विधिपूर्वक देह के त्याग में दुःखी न होकर, **संयमपूर्वक मन-वचन-काय का उपयोग आत्मा में एकत्रित (केन्द्रित) करना चाहिए...** मन की ओर, वाणी की ओर न जाकर उपयोग को आत्मा की ओर एकत्रित करना चाहिए। यह तो कोई बात होगी? यह भाषा से होता होगा? जिसने अन्दर मन, वचन और काया से मेरा स्वरूप भिन्न जाना है, उसे उस समय मन, वचन, काया की ओर से उपयोग एकत्र करके स्वभाव की ओर झुका सकेगा। समझ में आया? हमें अभी थोड़ा-सा बाधा नहीं है... बाधा नहीं है.. बाधा नहीं है.. करो.. करो..।

दवा करो, अमुक करो। किया ही करेगा। उसमें मर जायेगा। समझ में आया ?

'जन्म, जरा तथा मृत्यु शरीर सम्बन्धित है, मुझे नहीं है'... ऐसा विचार करो, ऐसा कहते हैं। जन्मना, शरीर की जीर्णता और मृत्यु, यह शरीर सम्बन्धी है; मुझे नहीं। **ऐसा चिन्तवन करके निर्ममत्वी होकर, विधिपूर्वक आहार घटाकर,** देखो! **अपने त्रिकाल अकषाय ज्ञातामात्र स्वरूप के लक्ष्य से...** लो! आया अब। अपना त्रिकाली ध्रुव। वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. वस्तु..। **अकषाय ज्ञातामात्र...** देखो! आत्मा अकषाय है न! त्रिकाली अकषाय अर्थात् वीतरागस्वरूप। ज्ञातामात्र अर्थात् ज्ञान और वीतराग दो आ गया। त्रिकाली समरस और **ज्ञातामात्र स्वरूप के लक्ष्य से काय कृश करना चाहिए..** उसके लक्ष्य से काया कृश (करे)। **और शास्त्रामृत के पान से कषायों को कृश करना चाहिए,...** लो, दो बातें की। काया कृश इस प्रकार से, (स्वरूप के) लक्ष्य से बाहर। स्वरूप की स्थिरता से इसका (काया-कषाय) कृश होते हैं। **शास्त्रामृत के पान से कषायों को कृश करना चाहिए,...**

पश्चात् चार प्रकार के संघ की साक्षी से... चार प्रकार के संघ। समझे न ? **मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका। समाधिमरण में सावधान–उद्यमवन्त होना चाहिए।** लो। **अन्त की आराधना से चिरकाल की हुई सम्यक् व्रत–नियमरूप धर्म–आराधना सफल हो जाती है,...** आधार देगी अन्त का। चिरन्तन अभ्यास, उसका यह सब चलता है। नीचे एक लाईन है। **अन्त की आराधना से...** मृत्यु के समय आत्मा की सेवना से। आत्मा अर्थात् ? कि आनन्द और शुद्ध, पुण्य-पापरहित। उसका अन्त में सेवन करने से, आराधना करने से। **चिरकाल से...** बहुत काल से किये हुए सम्यग्दर्शनपूर्वक। सम्यक् व्रत है न ? इसलिए सम्यक् रखा है। **सम्यक् व्रत–नियमरूप धर्म–आराधना सफल हो जाती है, क्योंकि उससे क्षणमात्र में दीर्घकाल से संचित पाप का नाश हो जाता है।** समझ में आया ? **और यदि अन्त मरण बिगड़ जाय अर्थात् असंयमपूर्वक या शरीर में एकताबुद्धिपूर्वक...** दो बातें ली। **तो की हुई धर्माराधना निष्फल हो जाती है।** अन्त में जिसका जो फल आना, वह नहीं आया, निष्फल होती है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि – ''यदि अन्त समय समाधिमरण कर लेने से

ही क्षणमात्र में पूर्वसंचित पापों का नाश हो जाता है तो फिर युवावस्था में धर्म करने की क्या आवश्यकता है?'' देखो! अर्थात् मृत्यु के पहले क्या करना? वह तो उस समय क्षणमात्र में एकदम कर लेगा। समझ में आया? **''अन्त समय संन्यास धारण कर लेने से ही सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे''...** तुम कहते हो न कि अन्त में करने से सब सफल हो जायेगा।

तो उसका समाधान-जो जीव अपनी पूर्वावस्था में धर्म से विमुख रहे हैं, अर्थात् जिन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रत-नियम आदि धर्माराधना नहीं की... आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान के भानसहित। **व्रत-नियम आदि धर्माराधना नहीं की है, वे जीव अन्तकाल में धर्मसन्मुख अर्थात् संन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकते।** कहो, समझ में आया? **क्योंकि-चन्द्रप्रभचरित्र प्रथम सर्ग में कहा है कि..** देखो दृष्टान्त (उद्धरण) दिया। **'चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरितागुणेषु दोषेषु च जायते मतिः' अर्थात् चिरकाल के अभ्यास से प्रेरित... 'एरिता' 'एरिता'** है न? **'एरिता'** बहुत काल के अभ्यास से आत्मा में प्रेरित की हुई बुद्धि। **गुण अथवा दोषों में जाती है।** बहुत काल का दोष का अभ्यास होवे तो वहाँ जायेगी, बहुत काल का गुण का अभ्यास होगा तो वहाँ जायेगी, ऐसा कहते हैं। जिसका जिसे अभ्यास, उसका उसे फल आकर खड़ा रहेगा। देखा? गुण अथवा दोष। विकार की प्रीति और रुचि में पड़ा है, उसका जिसे अभ्यास है, उसे वह मृत्यु के समय उपस्थित हो जायेगा। जिसे दोषरहित आत्मा के गुण की शान्ति की और श्रद्धा-ज्ञान तथा प्रीति और रुचि है, उसे उस प्रकार से अभ्यास का फल उसे शान्ति का आयेगा। कहो, आहा..हा..! कहो, इसमें किसी के लिये कहाँ करना है और... है कहाँ? सामने कोई देखे ऐसा नहीं वहाँ। इतना-इतना दूसरों को कहा, इन सबको पालन-पोषण किया। अब कुछ मदद करेंगे। धूल में भी करें, ऐसा नहीं है। पाले-पोसे, ऐसा यह मानता है न? कि यह सबका किया और यह हमने किया। बहुतों का हमने किया, कोई सामने देखने आता नहीं। हमने इतना-इतना उपकार किया, वह कोई सामने देखने आता नहीं। और ऐसा होगा इसे। किसने उपकार किया? सुन न!

मुमुक्षु : बदला लेने की आशा होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आशा हो और ऐसा है। बदला लेने की।

मुमुक्षु : पहले किया था या नहीं, यह तो निश्चित करे, फिर बदला।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुतों को व्यापार में चढ़ाया हो, किसी को वह कराया हो, अमुक कराया। (अभी) कोई सामने देखता नहीं। ये छह महीने से अकेले पलंग पर सड़ते हैं। ऐई.. पोपटभाई! और लड़का भी थोड़ी देर आकर चला जाये, वापस थोड़ी देर आकर चला जाये। यह ऐसा ही होता है और ऐसा ही है परन्तु व्यर्थ का वह मानता है, नहीं, नहीं, नहीं, नहीं वे तो मेरे हैं। कैसा करता है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्त में एक–दो दिन आवे तो भी बहुत, ऐसा कहता है। क्योंकि वहाँ वह रहता है, इन्दौर, यह उसका पिता रहता है राणपुर। हम यहाँ।

जो वस्त्र पहले से ही उज्ज्वल हो तो उसके ऊपर मनपसन्द रंग चढ़ सकता है,... लो, उज्जवल वस्त्र किया हो तो रंग चढ़े। **किन्तु यदि वस्त्र पहले से ही मैला हो तो उसके ऊपर कभी भी रंग नहीं चढ़ सकता। इसलिए समाधिमरण वही धारण कर सकता है जो प्रथम अवस्था से ही धर्म की आराधना में बराबर सावधान रहा हो।** पहले से आत्मा। मुझे किसी का काम नहीं। मुझे तो मेरे आत्मा का काम है। समझ में आया? ऐसी जिसे आराधना में भावना होगी, वह कर सकेगा। अपवाद की थोड़ी बात करते हैं। **हाँ, किसी स्थान पर कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जिसने आजीवन धर्मसेवन में चित्त नहीं लगाया हो, वह भी अपूर्व विवेक का बल...** उस समय एकदम जागृत होकर, अवसर पर पश्चाताप होकर एकदम आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान–शान्ति प्राप्त करके। **समाधिमरण अर्थात् संन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त हो गया,...** लो। आवे, कोई जीव ऐसा हो। किसी को खान में से पैसा निकले, इसलिए फिर सब व्यापार बन्द करनेवाले हो जाते हैं? कहीं सबको... निकलता है? वह तो किसी को निकल जाये किसी दिन। **काकतालीय न्यायवत् अति कठिन है। (ताड़वृक्ष के फल टूटकर उड़ते हुए कौवे के मुख में प्राप्त हो जाना...)** लो। ऊपर से ताड़ (वृक्ष से फल) टूटे और कौआ ऐसा निकला और बराबर बीच में मुँह में आ जाये। यह बात है कहते हैं।

(जितना कठिन है उतना ही संस्कारहीन जीवन से समाधिमरण पाना कठिन है।) इसलिए सर्वज्ञ वीतराग के वचनों में जिसे श्रद्धा है, उसे उपरोक्त शंका को अपने चित्त में कदापि स्थान नहीं देना चाहिए। युवा अवस्था में अभी कुछ नहीं; बाद में कर लेंगे (इस बात को) स्थान नहीं देना। वीतराग तो कहते हैं कि बारह वर्ष पहले से शुरु कर। शान्ति मरण के लिये, देखो! ऐसा कहा। मुनि के लिये। पहले से कर। ध्यान रख, ध्यान रख। दुनिया की दरकार छोड़ दे। दुनिया क्या कहेगी। तेरे अभ्यास में आ जा। समझ में आया? सब छूटा ही पड़ा है फिर क्या? क्षेत्रावगाह, होगा। छूटकर चला जायेगा। उसे ऐसी शंका नहीं करना।

समाधिमरण के इच्छुक पुरुष जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जिनेश्वर भगवान की जन्मादि तीर्थभूमियों का आश्रय ग्रहण करें,... भगवान का जन्म हो, वहाँ क्षेत्र याद आवे, उस स्थान में जाये, ऐसा कहते हैं। **जो ऐसा न बन सके तो मन्दिर अथवा संयमीजनों के आश्रय में रहें।** धर्मात्मा जीवों के साथ रहे। **संन्यासार्थी तीर्थक्षेत्र को जाते समय सभी से क्षमा याचना करें...** सबसे क्षमा माँगे। **तथा स्वयं भी मन-वचन-कायपूर्वक सबको क्षमा करें।** सबको क्षमा करे। **अन्त समय में क्षमा करनेवाला संसार का पारगामी होता है...** लो! सबके समक्ष क्षमा माँगे। मुझे कुछ नहीं, भाई! कोई मुझसे कटु शब्द आदि कहे गये हों तो क्षमा प्रदान करना। तुम्हारी तरफ से... मैं क्षमा करता हूँ। शान्ति से, हों! अन्दर से। अब विदा लेता हूँ... विदा लेता हूँ। भव के छोड़ने की विदा है मुझे। आहा..हा..!

कोई एक गाँव से दूसरे गाँव जाये तो भी कहते हैं न? ठीक रहना। यहाँ समाचार देना। ऐसा कहते हैं न कुछ? बोला-कहा माफ करना, ऐसा बोले। जाते समय गाड़ी चलती हो तो। अब यहाँ रेल का आया है। कहा-सुना माफ करना। ऐसी सब लाईन पहले से थी। बाहर-बाहर गाँव जाये ऐसे और फिर दो-चार महीने, आठ महीने, बारह महीने दो बार मिलते हों। यह तो मिलने का ही नहीं अब। हो गया। आहा..हा..! मुझे क्षमा करना। तुमने किया हो तो हम क्षमा करते हैं। अन्तर में मेरे स्वभाव से मैं शान्ति से जाता हूँ। आहा..हा..! किसे आयेगा यह? जिसने ऐसे अन्दर के अभ्यास पर से भिन्न किया है। महान पुरुषार्थ करके स्वरूप का साधन-आराधन किया है, उसे यह अवसर आयेगा। समझ में आया?

वैर–विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है। संन्यासार्थी को... समाधिमरणवाले को। **पुत्र, स्त्री एवं कुटुम्बीजनों से तथा सांसारिक सर्व सम्पदा से सर्वथा मोह छोड़कर (निर्मोही निज आत्मा का भजन करना चाहिए।)** निर्मोही। यहाँ मोह छोड़कर निर्मोही आत्मा को भजना चाहिए, ऐसा कहा है। निर्मोही भगवान आत्मा रागरहित, उसका अन्दर ध्यान, सावधान, भजन, उपयोग लगाना चाहिए। आहा..हा..! **उत्तम साधक धर्मात्माओं की सहायता लेनी चाहिए क्योंकि साधर्मी...** उत्तम साधक हैं। धर्मात्मा की सहायता लेना। **आचार्यों की सहायता से अशुभकर्म यथेष्ट बाधा का कारण नहीं बन पाता। व्रत के अतिचारों को साधर्मियों अथवा आचार्य के सन्मुख प्रगट करके निःशल्य होकर प्रतिक्रमण–प्रायश्चित आदि शास्त्र में वर्णित विधियों से शोधन करना चाहिए।** लो!

निर्मलभावरूपी अमृत से सिंचित समाधिमरण के लिये.. देखो! निर्मलभावरूपी अमृत, अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत। आहा..हा..! उस आत्मा में, अन्तर में उपयोग लगाकर, निर्मल आत्मा का अमृत है, उससे **सिंचित समाधिमरण के लिये पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मस्तक रखे। यदि श्रावक महाव्रत की याचना करे,..** – अन्त में कहे मुझे महाव्रत दो। **निर्णायक आचार्य को उचित है कि उसे महाव्रत देवे, महाव्रत ग्रहण में नग्न होना चाहिए।** यह व्यवहार की विधि करते हैं न? वस्तु का भान न हो, दृष्टि की– तत्त्व की खबर न पड़े, बस यह वस्त्र छोड़ दो और बैठे, उसे कहाँ मरण था? यह तो श्रावक तत्त्वज्ञान है, शान्त हुआ है, धीर हुआ है, अन्तर का आराधन करता है। समझ में आया?

अर्जिका को भी अन्तकाल उपस्थित होने पर एकान्त स्थान में वस्त्रों का त्याग करना उचित कहा गया है। वह बाहर की विधि रह गयी। पहली अन्दर नहीं होती। भाई! यह आत्मा, राग से—विकल्प से भिन्न निर्विकल्प है, उसका साधन किया? समझ में आया? आत्मा, राग के विकल्प से भी अत्यन्त भिन्न, ऐसा तुझे अन्तर में बैठता है? ऐसा साधन कुछ किया? उस साधन के बिना बाहर के त्याग की कोई कीमत नहीं। ऐसा हो, उसकी यह बात है। **संन्यास लेने के समय अनेक प्रकार के योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे।** भोजन दिखावे। ऐसा, लो! खाओ, खाओ। पहले, समाधिमरण के पहले दिखावे।

यदि उसे अज्ञानतावश भोजन में आसक्त समझे, तो परमार्थ के ज्ञाता आचार्य उसे उत्तम प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा ऐसे समझावें– देखो! अब। **हे जितेन्द्रिय,..** देखो! भाषा तो ऐसी ली है। **तू भोजन-शयनादिरूप कल्पित पुद्गलों को अब भी उपकारी समझता है!** अरे! धूल के पुद्गल अभी लेना चाहता है यह? मुझे यह दो... मुझे यह दो। क्या है परन्तु तुझे?

और ऐसा मानता है कि इनमें से कोई पुद्गल ऐसा भी है कि जो मैंने कभी भोगा नहीं है। इसकी धूल अनन्त बार तेरे पास आ गयी है। मौसम्बी, लड्डू, दाल, भात, साग, सब्जी सब परमाणु तेरे पास अनन्त बार आ गये, नया क्या है तुझे? सुन न! आहा..हा..! **यह तो महान आश्चर्य की बात है! भला, विचार तो कर कि यह मूर्तिक पुद्गल तेरे अरूपी में क्या किसी प्रकार मिल सकता है?** अरूपी भगवान, उसका इन मूर्तिक पुद्गल के साथ कोई सम्बन्ध हो ऐसा है? **मात्र इन्द्रियों के ग्रहण-पूर्वक उसका अनुभव करके तूने ऐसा मान लिया है...** लो, इन्द्रियों के ज्ञान में जानकर, उसका अनुभव-राग का करके, **ऐसा मान लिया है कि मैं ही उसका भोग करता हूँ।** लो। **तो हे दूरदर्शी! अब ऐसी भ्रान्तबुद्धि को सर्वथा छोड़ दे...** छोड़.. छोड़.. कहते हैं, आहा..हा..!

निर्मलज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व में लवलीन हो। उपदेश करते हैं, सेठी! आहा..हा..! छोड़ दे अब यह। मुझे मौसम्बी दो, अमुक दो। क्या है परन्तु ये पुद्गल। इनकार करते हैं ये। मुझे यह दो। छोड़ न होली। शान्ति कर न! अन्दर में भगवान आत्मा आनन्द पड़ा है। कहीं से भी कभी धीरज नहीं की, कभी इस प्रकार की बात अन्दर रुचि नहीं, साधन किया नहीं। **निर्मलज्ञानानन्दमय आत्मा...** आत्मा कैसा कहा? **निर्मलज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व में लवलीन हो।** ऐसा कहते हैं। हे आत्मा! तेरे आनन्द में लवलीन हो, भाई! इन पुद्गलों से तुझे कुछ लाभ नहीं है। ऐसे पुद्गल तुझे अनन्त बार आये हैं। आहा..हा..!

यह वही समय है कि जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धता में सावधान रहता है... यह तेरा काल है। तेरा समय आया है कि जिस समय ज्ञानी अपने में सावधान रहे। **भेदज्ञान के बल से चिन्तवन करता है...** देखा! **कि 'मैं अन्य हूँ और यह पुद्गल देहादि मेरे**

से सर्वथा भिन्न जुदे ही पदार्थ हैं।' देह, वाणी, पुद्गल, ये सब मुझसे सर्वथा भिन्न पृथक् पदार्थ हैं। **इसलिए हे महाशय! परद्रव्यों से तुरन्त ही मोह त्याग और अपने आत्मा में निश्चल–स्थिर रहने का प्रयत्न कर। यदि किसी पुद्गल में आसक्त रहकर मरण पायेगा तो याद रख कि तुझे हलका–तुच्छ जन्तु होकर, इन पुद्गलों का भक्षण अनन्त बार करना पड़ेगा।...** होगा, मच्छर–बच्छर ऐसा हल्का होकर, ढोर, सिंहादि होकर, अनन्त बार ऐसे पुद्गल वापस खाना पड़ेंगे, तुझे लेना पड़ेंगे, ऐसा कहते हैं।

इस भोजन से तू शरीर का उपकार करना चाहता है तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है। क्योंकि शरीर इतना कृतघ्नी है कि वह किसी के किए हुए उपकार को नहीं मानता,... यह नहलाया होगा, धुलाया होगा, साबुन से ऐसा–ऐसा किया होगा। उस समय सब ऐं.. ऐं... हो जाएगा। कुछ काम नहीं करे तेरा। आहा..हा..! अरे! यहाँ तो नागरबेल का पान खिलाया था, वहाँ बीच में लटें पड़ती हैं। समझ में आया? इस काल में जो ऐसा किया, यहाँ सड़े। क्या कहलाता है? यह सब तुम्हारे? कैंसर। यहाँ छाती में कैंसर हो, अन्दर में, हों! गया है, भाई! तू चाहे जितना उपकार करेगा परन्तु वह तो कृतघ्नी है, कहते हैं। कृतघ्नी अर्थात् उसकी पर्याय का ऐसा स्वभाव है कि तूने किया, इसलिए रखे, ऐसा है तुझे? नहीं मानेगा। **इसलिए भोजन की इच्छा छोड़कर, केवल आत्महित में चित्त लगाना ही बुद्धिमत्ता है।** लो।

इस प्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधारा वर्षाकर... लो! **इस प्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधारा वर्षाकर अन्न की तृष्णा दूर कराकर कवलाहार छुड़ावे...** पहले आहार छुड़ावे। अब शरीर हो गया कमजोर। अब छोड़ दे, वृत्ति छोड़ दे। अब पहला भाव... **दूध आदि पेय पदार्थों पर रखे,..** तो दूध पिलाना, थोड़ा अधिक पिलावे। मौसम्बी का। **पश्चात् क्रम–क्रम से उष्ण जल लेने मात्र का नियम करावे।** लो। अन्तिम स्थिति में फिर बहुत न हो तो एक पानी की छूट दे। **यदि ग्रीष्मकाल, मारवाड़ जैसा उष्णप्रदेश तथा पित्त–प्रकृति के कारण तृषा की पीड़ा सहन करने में असमर्थ हो तो मात्र शीतल जल लेने का नियम रखे, और शिक्षा दे कि हे आराधक! हे आर्य! परमागम में प्रशंसनीय मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ बताई है, इसलिए तुझे विचारपूर्वक अतिचार आदि दोषों से उसकी रक्षा करनी चाहिए।** आहा..हा..!

पश्चात् अशक्ति की वृद्धि देखकर,.. अब पानी छुड़ाते हैं। अशक्ति लगे कि अब असर हुआ है, अब तो करवट भी बदल सके ऐसा नहीं है। बोल सके ऐसा नहीं है। अभी थोड़ा काल है अब। **मरणकाल सन्निकट है, ऐसा निर्णय होने पर आचार्य समस्त संघ की अनुमति से...** अब पानी छुड़ाना है न? पानी जब तक है, तब तक थोड़ा.. थोड़ा.. सब संघ की अनुमति ले। देख भाई! अब अपने इनको पानी छुड़ाते हैं। कोई दिक्कत नहीं न? क्योंकि अन्तिम जल है अब। जल हो, तब तक थोड़ा-थोड़ा पोषण मिले। अब पानी छुड़ा दो। कैसे है भाई? उसे पूछे। अब पानी छोड़ने के बाद कुछ नहीं रहे। लगता है तुरन्त में भी कोई एक दिन चले, दो दिन चले तो? आहा..! चतुर व्यक्ति हो वह सबको पूछता है। किसी को आता हो ऐसा। देह की स्थितिवाले जानते हों और किसी को ऐसा हो तो ऐसा हो। हमारे यह प्रेमचन्दभाई ऐसा बहुत जानते हैं। ठण्डा पड़े तो ऐसा हो, अमुक हो, अमुक हो। ऐसे चतुर लोगों को पूछे कि भाई! कैसे है अब? देखो! यह पानी छुड़ाते हैं। देखो! ठण्डा तो ऐसा हो, ऐसा तो बहुत बार कहते हैं। इसका ठण्डा पानी गया अब नहीं रहे। पहले पटेल को कहा था, यह ठण्डा पानी गया। कहो, समझ में आया?

अनुमति से संन्यास में निश्चलता के लिये पानी का भी त्याग करावे। यह अन्तिम स्थिति है न। भाई! अब पानी छूटना, तुझे समझ आ गया है, हों! अब। अब पानी नहीं पहुँचेगा, अन्दर नहीं जायेगा। इस श्वास को रोकेगा, इसलिए शान्ति से अब पानी भी छुड़ाते हैं। आहा..हा..! आनन्द का पानी पियो, भाई! सुधारस का पानी पियो, भाई!

इस प्रकार अनुक्रम से चारों प्रकार के आहार का त्याग होने पर समस्त संघ की क्षमा करावे और निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिये कायोत्सर्ग करे। लो। **उसके बाद वचनामृत का सिंचन करे अर्थात् संसार में वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणों का उक्त आराधक के कान में, मन्द-मन्द वाणी से जप करे।** दृष्टान्त दे। **श्रेणिक, वारिषेण, सुभगादि...** कौन हैं ये? सुभगादि कोईक होगा। **दृष्टान्त सुनावे और व्यवहार-आराधना में स्थिर होकर, निश्चय-आराधना की तत्परता के लिये इस तरह उपदेश करे कि-** बराबर परिणाम अच्छे रख और अब आत्मा का निश्चय आराधन करने के लिये कहेंगे। किस प्रकार, यह बाद में कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। १७८ गाथा। सम्यग्दृष्टि श्रावक के पाँच अणुव्रत पालने की बात ली है और उसके रक्षण के लिये तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत और उसके टोटल में संथारा-सल्लेखना करना। सम्यक् प्रकार से कषायों को कृश करना और शान्ति से देह को विसर्जन करना, इसका नाम समाधि और सल्लेखनामरण कहते हैं। सल्लेखना में रहे हुए प्राणी को निश्चय आराधना का उपदेश कैसे करना, उसकी व्याख्या अपने चलती है। पृष्ठ १३८ है।

हे आराधक! जो आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, अनुभवपूर्वक जिसने पाँच अणुव्रत आदि, चार शिक्षाव्रत पालन किये हैं और मरण के समय स्वरूप की आराधना के लिये कषाय को कृश करके सल्लेखना की है। समाधिमरण अन्तिम स्थिति ली है। उसे ऐसा कोई विकल्प आवे तो उसे समझावे, कहते हैं। आराधक जीव को आराधकपना हो, वैसे समझाते हैं।

हे आराधक! देखो! यहँ से शुरु किया है न? **श्रुतस्कन्ध का 'एगो मे सासदा आदा' इत्यादि वाक्य...** आत्मा ध्रुव शाश्वत् सत् सच्चिदानन्द मूर्ति है, उसका ध्यान कर, उसका तू अवलम्बन ले। वाक्य की बात तो व्यवहार से हुई है परन्तु उस वाक्य में ऐसा मैं अकेला यह शाश्वत् सत्-ध्रुव अकेला जाननस्वभाव... जाननस्वभाव से भरपूर, जाननहार ऐसा मैं हूँ, ऐसी अन्तर में चिन्तवना कर। इत्यादि पद को तू विचार, ऐसा कहते हैं। तुझे रुचिकर लगे, उसमें से एक शब्द ले। अथवा **'अर्हं'** यह अक्षर, इसमें से तुझे रुचिकर लगे अथवा **'णमो अरहन्ताणं'** यह पद और **'अर्हं' इत्यादि अक्षर-इनमें से जो तुझे रुचिकर लगे, उसका आश्रय करके...** **'अर्हं'** परन्तु मैं अरहन्त हूँ, ऐसा अन्तर में विचार और ध्यान कर। और **'णमो अरहन्ताणं'** पूर्ण आनन्द जिन्हें प्रगट हुआ

है और अज्ञान तथा राग-द्वेष नाश किये हैं—ऐसा परमात्मा, वह मैं हूँ, ऐसा विचार और ध्यान कर। समझ में आया? **अपने चित्त को उसमें तन्मय कर! हे आर्य! 'मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ'**... पहला अर्थ किया। मैं एक शाश्वत् सत्, अकेला ध्रुव सत्, नित्य त्रिकाल ज्ञायकभाव, एकरूप स्वभाव, वह मैं हूँ - ऐसा अन्दर विचार कर, ध्यान कर। यह मरण के अवसर में शान्ति से देह विसर्जन करने का काल है। कहो, समझ में आया? **यह श्रुतज्ञान से अपनी आत्मा का निश्चय कर!** ऐसे श्रुतज्ञान द्वारा... है तो पर्याय, परन्तु पर्याय, पूर्ण स्वरूप का निर्णय करती है, ऐसा कहते हैं। रागादि नहीं। वर्तमान ज्ञान की अवस्था, ध्रुव सत्.. ध्रुव सत्... उस पर दृष्टि रखकर निर्णय करती है। ध्रुव सत्। इसका निर्णय कर। अपने आत्मा का, देखा! दूसरा आत्मा, अब अभी वह नहीं। तू यह आत्मा है।

स्वसंवेदन से आत्मा की भावना कर! देखा! यह भावना। विकल्प से ऐसा नहीं। अब देह छोड़ने का काल है, अब भव की सन्धि है। उस काल में अन्तर आत्मा, अन्तर ज्ञान और ज्ञान का वेदन, ज्ञान और ज्ञान का वेदन, ज्ञान द्वारा आत्मा का अन्तर अवलम्बन लेकर वेदन कर। **स्वसंवेदन से आत्मा की भावना कर!** ऐसा कहते हैं। विकल्प से, ऐसा नहीं। शुद्ध ध्रुव सत्, अकेला ज्ञायक सूर्य... है। महा परम सत् है, उसकी भावना स्वसंवेदन से कर। देखा! भावना (कहा)। विकल्प और ऐसा नहीं। स्वसंवेदन। ज्ञान को-ज्ञानस्वभाव ध्रुव को, ज्ञानस्वभाव ध्रुव को, वर्तमान पर्याय को अन्तर झुकाकर स्वसंवेदन से उसकी भावना कर। समझ में आया?

समस्त चिन्ताओं से पृथक् होकर... नास्ति से बात करते हैं। स्वसंवेदन की भावना कर, यह अस्ति से कहा। इस विकल्प की नास्ति करके समझाते हैं। **प्राण विसर्जन कर!** देह को छोड़ने का यह समय है, उसे छोड़। समझ में आया? जितना आत्मा शुद्ध सत्, उसका अवलम्बन करके, निश्चय, निर्णय, अनुभव किया है; पाँच अणुव्रत द्वारा विशेष स्थिरता भी प्रगट की है। अणुव्रत विकल्प है परन्तु पीछे स्थिरता का अंश भी प्रगट किया है। अब तो कहते हैं कि यह मरण का काल है न, प्रभु! देह छोड़ने का काल है तो प्रभु! स्वरूप चैतन्य को अब अवलम्बन कर! वह शरण है; दूसरा कोई शरण नहीं। आहा..हा..!

भगवान पूर्ण आनन्द की मूर्ति है, सत् है, शाश्वत् है, ध्रुव है, उसका वेदन कर,

वेदन। उसके द्वारा सब चिन्ता छोड़कर...। इसके द्वारा प्राण छोड़, प्राण विसर्जन कर। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? धन्य पल है न यह! देह छूटने के अवसर में ऐसे आत्मा के आनन्द के वेदन की भावना करके (देह) छोड़, ऐसा कहते हैं। सेठी! स्त्री, पुत्र तो कहीं पड़े रहे, अणुव्रत के विकल्प भी कहीं पड़े रहे। एक समय की पर्याय का भी विचार नहीं। वस्तु जो सत् शुद्ध दल चैतन्य एक स्वरूप ऐसी की ऐसी... ऐसा उसका वेदन करके देह छोड़। यह धर्म करने का फल है। जिन्दगी में धर्म किया हो तो उसका टोटल ऐसा आना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शरण है। शरण कौन दूसरा? पूरा भगवान ध्रुव सत्व सत् पड़ा है। चार शरण वह है। अरिहन्त की शरण, अरिहन्त तू। सिद्ध की शरण, सिद्ध तू। आचार्य की शरण, आचार्य तू। उपाध्याय की शरण, उपाध्याय तू। साधु की शरण, साधु तू। पंच पद की शक्ति का धारक तत्त्व तू आत्मा ही है। उस शक्ति से बाहर कोई पाँच पद नहीं रहते। आहा..हा..! समझ में आया? तू अरिहन्त होनेवाला है न? तू यह अरिहन्त होनेवाला है। वह केवलज्ञान पर्याय कहाँ से आयेगी? अभी अरिहन्तपद द्रव्य में पड़ा है।

एक बार यह बात हुई थी। तत्त्वानुशासन। तत्त्वानुशासन में एक गाथा ली है कि अरिहन्त का ध्यान करना। अरिहन्त का झूठा है। अरिहन्त तो है नहीं, अरिहन्त का ध्यान तो झूठा सिद्ध होगा। नहीं, नहीं, भाई! ऐसा नहीं है। अरिहन्त का ध्यान, वर्तमान अरिहन्त मैं हूँ, वह पर्याय प्रगट करने का वह सत् अरिहन्त पद अन्दर पड़ा है। यदि सत्‌रूप अरिहन्त न हो तो सत्‌रूप पर्याय में सत्‌रूप कहाँ से प्रगट होगा? इसलिए सत् का ध्यान करनेवाला मैं अरिहन्त हूँ, उसका (फल) निष्फल नहीं है, उसे फल शान्ति मिलता है। समझ में आया? यदि व्यर्थ हो तो शान्ति कहाँ से मिले? और व्यर्थ नहीं उसका कारण, कि जो अरिहन्तपद प्रगट होना है, वह सत्‌रूप से यहाँ न हो तो नयी पर्याय असत्‌रूप से प्रगटे, ऐसा तो बनता नहीं। समझ में आया?

तुझे विश्वास है या नहीं? कि मैं तो अरिहन्त ही होनेवाला हूँ। अन्त में सिद्ध होनेवाला हूँ। (ऐसा) विश्वास है न? वह विश्वास कहाँ से आया? वर्तमान विश्वास की सत्यता कैसे आयी? समझ में आया? उस वर्तमान सत् के विश्वास का प्रमाण क्या आया

तुझे ? अरिहन्तपद मेरा स्वरूप ही है। ध्रुव में अरिहन्तपद ही मेरा पद है। वर्तमान। सिद्धपद ही मेरा वर्तमान पद है। शक्ति सत्व में, वस्तु में, ध्रुव में, शाश्वत् वस्तु में। आचार्य का पद जो वीतरागपर्याय, वह पद भी मुझमें पदरूप से पड़ा है। आहा..हा..! समझ में आया ? उपाध्याय की जो पर्याय होनी हो, तो वह पर्याय अन्दर शक्ति सत्रूप से पड़ी है। वह न हो और प्रगटे, ऐसा तीन काल में नहीं बनता। साधुपद। श्रावक है यह तो। साधुपद, वीतरागपद, अकषायपद नहीं न ? कहते हैं, है; वस्तु में है। समझ में आया ? वस्तु में वर्तमान साधुपद वीतरागपर्याय जो सत्रूप से प्रगट होनेवाली है, वह सत्रूप से अन्दर शक्तिरूप पड़ी है। आहा..हा..! यह विश्वास भगवान का ले। ऐसा भगवान मैं हूँ। एकदम विकल्प के अवलम्बनरहित निरालम्बी प्रभु, उसे निरालम्बी ध्यान से उसका ध्यान कर। आहा..हा..! यह निश्चय आराधना की बात है न। समझ में आया ?

प्राण विसर्जन कर! विसर्जन होने का तो समय ही है। समझ में आया ? परन्तु विसर्जन कर अर्थात् ? वह होने के काल में तू उससे लक्ष्य छोड़कर यहाँ ध्यान दे तो तूने विसर्जन किया, ऐसा कहने में आता है; नहीं तो वे तो छुटेंगे ही। वह तो उस समय में प्राण छूटनेवाले ही हैं, उसमें कुछ फेरफार नहीं है, परन्तु तूने विसर्जन किया कब कहलाये ? सत् ध्रुव के अवलम्बन से स्वसंवेदन के आनन्द में रहते हुए देह छूटे तो विसर्जन किया, ऐसा कहने में आता है। नहीं तो यह शरीर तो छोड़ेगा ही, शरीर कहाँ रहनेवाला है इसका ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्राण-फ्राण कहाँ रहे ? पर्याय के सामने नहीं न यहाँ तो! यह वस्तु पूरी भगवान सत् सत्। शाश्वत् अकेला जानता हूँ, वह मैं, ऐसा भी कहाँ है इसमें ? जानने का स्वभाव स्व-परप्रकाशक का पिण्ड, यह भेद से बात है। बाकी स्व-परप्रकाशक का एकरूप ऐसा सत्व, उसका स्वपना, उसका स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप से ज्ञान का वेदन, उसे स्वसंवेदन कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया ? यह योगफल न आवे तो धर्म क्या किया ? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। मैंने बहुत धर्म किया परन्तु मरण के समय में बिगड़ गया, ऐसा नहीं होता। समझ में आया ? सुधरने के योगफल का टोटल बिगाड़ नहीं होता। बिगाड़ के योगफल का बिगाड़ परिणाम होता है। समझ में आया ? भाई! तेरी देह तो इस

समय छूटेगी ही; वह परद्रव्य है परन्तु स्वद्रव्य के ध्यान से छूटे, उसे विसर्जन किया कहने में आता है। उसने देह छोड़ी है। नहीं तो देह तो तुझे छोड़ेगी ही। देह तो तुझे छोड़ेगी ही। तू लाख प्रयत्न कर और इन्द्र को उतार तो भी कुछ चलनेवाला नहीं है। आहा..हा..! यह तो आ गया है। जबरदस्ती से देह छोड़ेगा। समझ में आया?

भगवान आत्मा ऐसी दृढ़ स्थिरता के द्वारा, ऐसी दृढ़ स्थिरता के द्वारा दृढ़ वस्तु जो वज्रमय, चैतन्य वज्रमय भगवान, उसका इसी प्रकार से अवलम्बन ले (कि जिससे) शान्ति के वेदन से देह छूटे। आहा..हा..! समझ में आया? तुझे कौल–करार हो जायेगा कि अब अपने संसार का अन्त आया। एक–दो भव बाकी कोई मन्दता के कारण हो। हो गया – पूरा हुआ। केवल (ज्ञान) पानेवाला... पानेवाला और पानेवाला (ही हूँ), ऐसा हो जायेगा। समझ में आया?

यहाँ तो श्रावक को भी बड़ी लक्ष्मी लेंगे, हों! श्रावक को लेंगे, हों! है न अन्दर, देखो! १८० में **'वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः'** १८० में है देखो। मुक्तिलक्ष्मी स्वयंवर माँडकर बैठी है, तुझे वर जायेगी। आहा..हा..! श्रावक को यहाँ कहते हैं, हों! अभी श्रावक ध्यान में समाधिमरण में है, उससे कहते हैं। श्रावक को मुक्ति होती होगी? समझ में आया? हाँ, हाँ। उसे निश्चित हो गया है कि अब अल्प काल में मुक्ति है। उसे मुक्ति वरण करेगी, ऐसा कहते हैं। स्वयंवर कन्या। १८० में कहेंगे, हों! गजब बात! अलौकिक बात है! इसमें कहीं बाहर का काम आवे ऐसा नहीं है उसे। बाहर का राग या बाहर का साथ या बाहर का पठन या बाहर की व्यवहार श्रद्धा या व्यवहार आचरण, वह कोई वहाँ मदद करनेवाले नहीं हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर का छोड़े, तब ही इसे आराधन होगा, नहीं तो होगा ही नहीं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्या कहते हैं यह? **'एगो मे सासदा आदा'** ऐसा है या यह दूसरा भी कोई मुझे शामिल है? ऐसा करके न्याय रखा है। वे सब ऐसा कहते हैं न कि सब होकर सर्व व्यापक एक आत्मा है। ऐसा नहीं है। समझ में आया? **'एगो मे सासदा आदा'** ऐसा है न? पहला पद है। नियमसार का है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज का है। वेदान्त के साथ जरा भी मेल नहीं। यह निश्चय की बातें लगे, इसलिए मिलावे। जरा

भी (मेल) नहीं है। यह भगवान निश्चय जो है, यह निश्चय परम सत्य है। इस अपेक्षा से एक न्याय से पर्याय को असत्य कह दिया है न? भाई! अभूतार्थ कहा है न? अभूतार्थ। वह पर्याय को अभूतार्थ कहा है, असत् कहा है। इसलिए किसी को ऐसा हो जाता है कि यह तो वेदान्त जैसा हो गया! ऐसा नहीं है।

चार पर्यायें—उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक है, परन्तु त्रिकाली वस्तु का जिसे अवलम्बन लेना है, उसके लिये वे सत् नहीं; सत् वह त्रिकाल है। इस अपेक्षा से उसमें आश्रय लेकर और जो क्षायिक आदि की पूर्ण पर्याय प्रगट होनेवाली है, वह सब शक्ति में पड़ी है, ऐसा वह ध्रुव है। समझ में आया? ऐसे शाश्वत् ध्रुवपद का अवलम्बन ले।

स्वसंवेदन-अपना ध्रुव (स्वरूप) उसमें एकाग्र होकर प्रत्यक्षरूप से राग के अवलम्बन बिना पर्याय में द्रव्य का वेदन। वेदन तो पर्याय का पर्याय को है परन्तु द्रव्य की दृष्टि से वेदन (हो), उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मोक्ष के मार्ग का फल, मृत्यु काल में, देह छूटने के प्रसंग में धर्मी को ऐसा होता है। आहा..हा..! विवाह करे, फिर अन्त में प्रीतिभोज होता है न? न्यालभाई! सब सेठियों के यहाँ घर में किया होगा। विवाह को तीन दिन हो, फिर चौथे दिन प्रीतिभोज करते हैं न? यह मरण का अवसर प्रीतिभोज का है। आहा..हा..!

बड़ा चैतन्यरस का वज्रस्तम्भ भगवान है। जिसमें से अकेला आनन्द ही झरता है। आहा..हा..! उसमें मैं जानता हूँ कि मैं जाननहार हूँ, ऐसा भी जिसमें अवकाश नहीं। ऐसा बिम्ब भगवान आत्मा, उसमें लक्ष्य करने से कुछ बाकी नहीं रहता। ऐसे भाव से एकबार प्राण को छोड़। भव को छोड़ तो भव का अभाव तुझे निश्चित हो जायेगा। भव के अभावकाल में ऐसे भाव से भव टाल, निश्चित हो गया। एक दो भव में केवल (ज्ञान) लेकर अपन तो मुक्ति पायेंगे.. पायेंगे.. पायेंगे ही। ऐसा अन्दर हो जाता है। समझ में आया? यह बात है, बापू! यह कहीं बात की बात नहीं है। बात से बड़ा पके, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

कितनी इसकी सज्जनता चाहिए, कितनी इसकी स्वभावसन्मुख की दृष्टि का आराधन चाहिए। जिसने पूरी दुनिया की उपेक्षा कर दी, कुछ मिला, नहीं, मिला कुछ नहीं। सर्व उपेक्षा। आहा..हा..! समझ में आया? एक भगवान आत्मा, जिसके गर्भ में अनन्त केवली, तीर्थंकर, सत् आदि स्वरूप अन्दर पड़ा है। आहा..हा..! ऐसा भगवान ध्रुव शाश्वत्, **'एगो मे सासदा आदा'** ऐसा मैं एक शाश्वत् आत्मा। आहा..हा..! कितने वचन

हैं ! समझ में आया ? उसका वेदन करके देह छोड़ना। देह छोड़, ऐसा कहते हैं। वह आराधक पड़ा है, उसे कहते हैं न ? कहो, भीखाभाई !

और यदि तेरा चित्त किसी क्षुधा परीषह से अथवा किसी उपसर्ग से विक्षिप्त (व्यग्र) हो गया हो तो नरकादि वेदनाओं का स्मरण करके... यह तो एक अधिक (बात ली है)। यह वेदना क्या है, भाई ! महावेदना आत्मा के आनन्द की है, और इस वेदना के समक्ष नरक की वेदना, प्रभु ! तूने अनन्त बार वेदी है, भाई ! दुनिया की अपेक्षा रखे बिना, किसी की सहायता लिये बिना तूने वहाँ देव खड़े हों और तूने वेदना वेदी है। परमाधामी देव खड़े हों (और) तूने महानरक की वेदना वेदी, बापू ! यह तेरा आस्तित्ववाला शाश्वत् तत्त्व ऐसे स्थान में भी ऐसे वेदन में अनन्त बार वर्त गया है। कहो, समझ में आया ?

एक यह बँगला आया और एक यह स्त्री आयी और कुछ वस्त्र अच्छे आ गये, यह देखा करे कि इससे अनन्त बार दुःख की प्रतिकूलता (वेदी है।) भाई ! तूने नरक की वेदना बहुत वेदन की है, भाई ! समझ में आया ? स्मरण कर न भाई ! वह याद कर तो यह तेरी वेदना घट जायेगी और आनन्द के वेदन में आ जायेगा। आहा..हा.. !

नरक आदि, हों ! फिर पशु, देखो न ! पशुओं को ऐसे जलावे, सेंके, जीते-जी को सेंकते हैं, भाई ! सूकर को। एक बार नारणभाई कहते थे। जीवित सूकर को (सेंकते थे)। साथ में कोई पारसी था। जीवित सूकर को पैर में तार बाँधकर, पैर को तार बाँधकर, मुँह को तार बाँधकर अग्नि में डाला। जैसे शकरकन्द सेंकने लगे, वैसे जीवित डाला। सिर पर अग्नि का भट्टा। वह उसे बाफकर खाये। आहा..हा.. ! अरे ! परन्तु तूने क्या किया है, देख न ! और उस वेदना में उस काल में कितनी वेदना होगी ? जिसे शरीर की एकताबुद्धि है, उसकी आकुलता के वेदन का माप क्या ? समझ में आया ? ऐसे वेदन को याद कर न, भाई ! यह वेदना तुझे क्या ? अरे ! मुझे ऐसा होता है। हुआ अब। आत्मा आनन्द है, वहाँ जा न ! कहो, समझ में आया इसमें ? कोई ध्यान रखता नहीं। यह चार पहर के जगे हैं, कोई साथ में बैठता नहीं। अब तू बैठ न अन्दर।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ तक बैठेगा ? यह मरने पड़े वहाँ बैठा रहेगा, वहीं का वहीं ? कहो, समझ में आया ? यह तुम्हारे एक बार तैयारी जैसा हो गया है न ? नहीं ? तैयारी जैसा

था न ऐसा, यहाँ सुनते थे ऐसा, हों! भीखाभाई के समाचार थोड़ी देर में आयेंगे ऐसा हो गया था। आहा..हा..! परन्तु वे तो हैं, उसमें वहाँ क्या? नया मण्डप डाला है तो उठनेवाला है न एक बार। बड़ा राजा, महाराजा, रंक और भिखारी, कन्थवा और कथिर, ऐसा हाथी। कुन्था और कुन्जर। इन सबको मिले। यह तो देह छूटकर ही छुटकारा है। अन्दर छूटा ही पड़ा है। इस क्षेत्रावगाह से जरा दूर पड़े, उसे लोग मरण करते हैं। समझ में आया?

भाई! तू विश्वास ला। आत्मा का विश्वास ला कि आत्मा के आनन्द के वेदन से सब विस्मृत हो जाये, ऐसा मैं हूँ। समझ में आया? विश्वास.. विश्वास.. विश्वास, पुकार कर। मेरे आत्मा के आनन्द के वेदन के समक्ष पूरी दुनिया विस्मृत हो जाये, इस प्रकार का मैं हूँ। समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : विश्वास। वस्तु का विश्वास चाहिए न? वस्तु, जिसमें अनेक महाशक्तियाँ बसी हुई पड़ी है। सत्.. सत्..। सत्.. शक्तियाँ सब अनन्त शक्तिवाला सत्, उसका विश्वास कर कि वह चीज़ ऐसी है कि जिसकी शरण में जाने से पूरी दुनिया विस्मृत हो जाये, ऐसा उसका स्वरूप है। समझ में आया? उसे याद करना, भाई! नरक की वेदना को याद करना। आहा..हा..!

ज्ञानामृतरूप सरोवर में प्रवेश कर। देखा! दो बातें। अस्ति-नास्ति। नरक के वेदन को याद करना, भाई! यह तो तुझे जरा शूल (दर्द) है, यह है, क्षुधा है। वह नरक की वेदना मनुष्य की.. आहा..हा..! लाठी की एक महिला ने नहीं कहा था? विचारी नवविवाहिता, और उसमें शीतला निकली, शीतला। दाने-दाने में कीड़े। जवान महिला, हों! लाठी में... दरवाजे। उस लड़की के दो वर्ष का विवाह। यहाँ दामनगर। ...उसमें उन कीड़ों में उसे पीड़ा। फिर कहे, ऐसे बिस्तर पर डाली हुई। बिस्तर में ऐसे करे तो इस ओर हजारों कीड़े, ऐसे घूमे तो ऐसे हजारों कीड़े। उसमें से अकेले कीड़े निकलें। माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये - ऐसा कहती थी। कहीं इसमें सहा नहीं जाता। शीतला को दाने-दाने में कीड़े। ऐसे घूमते यहाँ ढेर हो और ऐसे घूमते यहाँ ढेर हो। दशाश्रीमाली की लड़की थी। विवाहित। मरने की तैयारी। युवा, इतना बोलती थी, माँ! ऐसे पाप मैंने इस भव में नहीं किये। क्या आया यह? समझ में आया? अब यह वेदना तो नरक के पहले पासड़ा के अनन्तवें भाग है।

नरक के दस हजार वर्ष की वेदना का वेदन, इसकी अपेक्षा अनन्तवें भाग है। आहा..हा..!

कहते हैं, **ज्ञानामृतरूप सरोवर में प्रवेश कर।** अब वेदना को भूल न! और भूल जाये, ऐसा तू है। आहा..हा..! अनन्त पर को भूलकर, भगवान होकर मोक्ष पधारे हैं। तैयार हो, तैयार हो। समझ में आया? **ज्ञानामृतरूप सरोवर...** आहा..हा..! भगवान आत्मा अकेला अमृत का स्वरूप है न! अमृतस्वरूप भगवान है। अमृतस्वरूप है। मरे नहीं, ऐसा और अमृत आनन्द दे वैसा। ऐसा अमृत भगवान आत्मा है, ऐसे सरोवर में जा, प्रवेश-स्नान कर। उस शान्ति में आत्मा को डुबो। आहा...हा..! कितनी धीरज हो। कितनी बाहर के विकल्पों की उपेक्षा कर डाली हो! दुनिया... शरीर की अवस्था तो हो उसके कारण, मुझे कुछ नहीं। ऐसे समाधिमरण में कहते हैं, भाई! तू एक बार तो शान्ति के सरोवर में जा। आहा..हा..! भगवान! तू अशान्ति, पुण्य-पाप की आकुलता में बहुत बार रहा। शुभ-अशुभराग, ऐसी आकुलता के वेदन में तो प्रभु! तूने अनन्त बार किये हैं परन्तु अमृतरूपी भगवान चिदानन्द सरोवर में, प्रभु! तूने प्रवेश नहीं किया। जहाँ प्रवेश करने से भव का अभाव हो, ऐसा यह तत्त्व है। आहा..हा..! कितनी हृदय की पवित्रता चाहिए! समझ में आया? इतना अन्दर से पर के प्रति अहंकार छूट जाना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : अहंकार क्या...

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत प्रकार के अहंकार के भाव हैं। दूसरों को ऐसा कहे कि देखो, हम तुम्हें मक्खन नहीं लगाते, हों! सत्य कहते हैं। ऐसा करके एक अभिमान करे कि हम हैं। अभिमान के प्रकार बहुत हैं, बापू! समझ में आया? अहंपने के स्थान इतने हैं कि उन्हें भूलकर आत्मा में अहंपना लाना, वह महाप्रयत्न से आता है। समझ में आया? जानपने के नाम पर भी ऐसा हो। भाई! हमें तो इतना आता नहीं। नहीं आता, इस बात का भी मान लेने के लिये अभिमान हो। इस अभिमान ने तो मार डाला है। ऐसी बात है यह। आहा..हा..! यहाँ कहते हैं कि भाई! आहा..हा..! तुझे किसका अभिमान? ऐसे वेदन में अनन्त बार गया है न, प्रभु! अब यहाँ आ न! यहाँ स्थिर हो न, स्थिर हो न! समझ में आया?

सरोवर में प्रवेश कर। क्योंकि अज्ञानी जीव शरीर में आत्मबुद्धि... देखा! मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि संकल्प किया करता है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसे संकल्प करके दुःखी हुआ करता है। **परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देह**

को भिन्न-भिन्न मानकर देह के कारण सुखी-दु:खी नहीं होता,... पर के अनुकूल प्रतिकूलता के कारण सुख-दु:ख वह मानता ही नहीं। समझ में आया? **भेदविज्ञानी जीव...** राग से भी परस्वरूप हमारा प्रधान पद भिन्न है। ऐसा **भेदविज्ञानी जीव, आत्मा और देह को भिन्न-भिन्न मानकर...** देह के किसी भी प्रसंग के पर्यायादि में **सुखी-दु:खी नहीं होता, किन्तु विचार करता है कि मेरा मरण ही नहीं है तो फिर मरण वेदना कैसी (भय किसका?)** एक बात।

'जगत ने मरणतणी वीक...' मरण कहाँ? किसका मरण? अमृतस्वरूप भगवान मरे कहाँ? जन्मे कहाँ? समझ में आया? भगवान स्वयं अमृत का (भाजन है)। अमृत अर्थात् मोक्ष कहलाता है। ऐसा आया था, नहीं? अमृत नहीं आया था? पहले आया था। आहा..हा..! मोक्ष-मोक्ष, अमृत। इसमें कहीं शब्द आया था। किसी जगह था? निकालो। मोक्ष अर्थात् अमृत। ऐई! गाथा ७८। यह १७८ (चलती है), वह ७८ है। लो, देखो ७८!

'अमृतत्त्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।' देखो! यह तो अहिंसारूपी मोक्ष का कारण अमृत। अमृत को मोक्ष का कारण (कहा है)। देखा **उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन**। दूसरा पन्ना। ७६ गाथा। यह अच्छी सुनी हुई है। यह तो धर्म अहिंसारूप इतना है। मूल तो यहाँ है, अमृत.. अमृत। मोक्ष का कारणभूत अमृत, वह उत्कृष्ट अहिंसा रसायन है। स्वभावस्वरूप, वह परम रसायन है। वह रसायन खाकर, भस्म खाकर शरीर को पुष्ट नहीं करते? यह रसायन ताँबे की, लोहे की भस्म खाये। यह अहिंसा भस्म-रसायन। यह विकल्प का अभाव निर्विकल्पदशा, उसे अहिंसा अमृत कहते हैं। शुभाशुभरागरहित भगवान के अवलम्बन से जो शान्ति प्रगट हो, उसे यहाँ अहिंसा रसायन अमृत कहते हैं। आहा..हा..!

मेरा मरण ही नहीं है तो फिर भय किसका? क्या वस्तु मरे? मरकर जाये कहाँ? ध्रुव वस्तु मरे? शाश्वत् सत् है, उसे मरण कहाँ? मरण नहीं तो डर कहाँ? **मुझे रोग ही नहीं है तो फिर वेदना कैसी?** भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति भगवान अमृत का पिण्ड प्रभु! उसे रोग कैसा? रोग नहीं तो वेदना किसकी? आहा..हा..! कहो, समझ में आया? यह मरण महोत्सव की लाईन लगी है। सब बाहर के धूल के महोत्सव तो बहुत करे। विवाह के और धूल के सब। आकुलता.. आकुलता.. आकुलता। लड़के के विवाह में बैठे सामने बाप होकर चले, पच्चीस-पचास हजार खर्च करना हो और दहेज और अमुक, सब

मोलिया बाँधकर एकत्रित करे। मोलिया अभी नहीं होते। टोपी होती है। इकट्ठे हों और फिर देखे तो ऐसे क्या ? खाने का दस बजे, फिर मैसूर उड़ाने का हो। जाम्बूड़ा। क्या कहलाता है वह ? गुलाबजामुन। आहा..हा.. ! और निरोग शरीर तथा कोई रूपवान शरीर और उसमें कोई पाँच–दस लाख के मकान हों, पाँच–पचास लाख की पूँजी हो, देखो ! फिर तुम्हारे आर्तध्यान और रौद्रध्यान।

अरे.. ! भगवान ! बापू ! यह तो क्या है ? भाई ! यह आकुलता के बड़े उफान हैं। यह आकुलता का उफान, प्रभु ! यह शान्ति नहीं। समझ में आया ? यह विकार का उफान आया। भाई ! यह तो दुःख आया है। यहाँ आनन्द का उफान आवे, उसकी बात चलती है। समझ में आया ? अरे ! भगवान के अवलम्बन करे और यहाँ आनन्द की पर्याय में कमी रहे ? ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ?

सबके पास भगवान आत्मा शरण है न, प्रभु ! आहा..हा.. ! स्वयं स्वसंवेदनस्वरूप है। किसी के सामने देखने की इसे आवश्यकता नहीं। यह चीज़ ही ऐसी है। यह बात हो गयी है पहले। पर से ज्ञात हो, ऐसी यह चीज़ नहीं है और पर में, इसे जनवा सके, ऐसी पर में ताकत नहीं है। राग में ताकत नहीं कि आत्मा को बतलावे और आत्मा की ऐसी ताकत नहीं कि राग द्वारा ज्ञात हो। आहा..हा.. ! समझ में आया ? इसी प्रकार देव–गुरु–शास्त्र की ताकत नहीं कि सामनेवाले को शरण हों। आत्मा की ऐसी ताकत नहीं कि पर के कारण यहाँ शरण हो। ऐसी ताकत यहाँ नहीं है। ऐसा यह तत्त्व है। ऐसे इस तत्त्व को अन्दर अनुभव में प्रतीति में लेकर, विश्वास में चढ़कर मरण के समय शान्ति के झूले में झूलता हुआ... झूले में झूलते हैं न ? स्वसंवेदन के आनन्द के झूले में झूलता हुआ... छोड़ दे उसे। अनन्त बार आर्तध्यान करके (देह) छोड़ा है। अब एक बार तो यह कर। एक फेरे में तेरे अनन्त फेरे बन्द हो जायेंगे। श्रीमद् ने कहा न ? कहाँ ? 'तो भी अरे ! भवचक्र का फेरा नहीं एक ही मिटा।' एक मिटे तो सब मिटे ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मैं बालक, वृद्ध या तरुण नहीं हूँ तो फिर मनोवेदना कैसी ? क्या कहते हैं ? मैं बालक ही नहीं तो फिर बाल की लीला यह मुझमें है, वह नहीं। मैं युवा नहीं तो विकार आदि मुझमें नहीं। वृद्ध हो तो अरे रे ! वृद्ध हो गया, यह अवस्था हो गयी। वह भी मैं नहीं, फिर उस प्रकार की वेदना मन में कहाँ से आयी ? कहते हैं। अरे ! मैं बालक हूँ, इसलिए

ऐसा। अरे! मैं जवान हूँ, इसलिए ऐसा। परन्तु ये तीन तू नहीं, तू हो वहाँ बाल, वृद्ध और युवा (दशा) है नहीं। आहा..हा..! अनन्त काल से यह मन को बिगाड़ता ही आया है। सुधारने का अवसर आया हो तो कहे, नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं ऐसा, ऐसा नहीं ऐसा। आहा..हा..!

मैं बालक, वृद्ध या तरुण नहीं हूँ तो फिर मनो... अर्थात् मन में। अरे! यह बालक हूँ, यह वृद्ध हूँ, तरुण हूँ, इसके कारण जो मन में संकल्प हो, ऐसा कुछ है ही नहीं। मैं वह नहीं फिर मन में उस संकल्प का कारण ही कहाँ है? समझ में आया? आहा..हा..! **हे महाभाग्य! इस तुच्छ से शारीरिक दुःख से कायर होकर प्रतिज्ञा में किंचित्मात्र भी च्युत मत होना,...** समझ में आया? यह करना है। बाकी सब शून्य है। आहा..हा..! व्रत आदि के विकल्प (करे) परन्तु उसका योगफल जो अन्दर की एकाग्रता से ऐसा न आवे, (तो) क्या किया तूने? ऐसा कहते हैं। योगफल अच्छा आवे, उसका अंक अच्छा होता है न? सच्चा हुए बिना किस प्रकार आयेगा? आहा..हा..!

दृढ़चित्त होकर परम निर्जरा की अभिलाषा करना। दृढ़चित्त होकर, दृढ़चित्त हो, ऐसा कर। अरे! गहरे डाले हुए स्तम्भ हिलाने से हिलते नहीं। यह शाश्वत् भगवान हिलाने से हिले, यह किस प्रकार बन सकता है? मार चित्त को, लगा उस पर। भगवान ध्रुव भगवान आत्मा हिलता नहीं। परिग्रह और उपसर्ग से हिलाया हिलता नहीं। ऐसी उसकी ताकत है, हों! उसकी ताकत है। यह ताकत है, उसे ऐसे प्रगट कर, ऐसा कहना चाहते हैं।

जब तक तू आत्मचिन्तन करता हुआ संन्यास ग्रहण करके समाधिमरण की आराधना में बैठा है, तब तक प्रतिक्षण तेरे प्रचुर कर्मों का विनाश हो रहा है! स्वभाव की सावधानी से पड़ा है, बापू! तेरी शुद्धता बढ़ती जाती है, अशुद्धता घटती जाती है, कर्म गलता जाता है। कर विश्वास, कर ध्यान, लग प्रभु को। समझ में आया?

क्या तू धीर-वीर पाण्डवों का चरित्र भूल गया है? पाण्डव ऐसे.. आहा..हा..! राजकुमार। जिसे ऐसे योद्धा.. समझ में आया? ऐसे योद्धा। एक बार सभा बैठी थी। यादवों के साथ भगवान नेमिनाथ बैठे थे। पाण्डव सब योद्धा बैठे हुए थे। वासुदेव। बात निकलते-निकलते कोई कहे। पाण्डवों की योद्धाई बहुत, भाई! ऐसी बात निकली। ऐसी प्रतीति! वहाँ फिर एक कहता है कि ऐसा नहीं। योद्धा तो नेमिनाथ भगवान हैं। ये बैठे देखो, छोटे। इन पाण्डवों के तुम गुणगान करते हो परन्तु भगवान जो शान्त बैठे हैं। मुकुट पहनकर बैठे

हैं। देखो वहाँ। भगवान नेमिनाथ और उनका योद्धापन... (उन्होंने) युद्ध नहीं किया न ? इन लोगों ने तो युद्ध किया था। युद्ध करके जीते और सब प्रयोग करके योद्धा का बतलाया था। इन भगवान ने तो कुछ किया नहीं। सुन.. सुन.. इन नेमिनाथ भगवान के समान कोई योद्धा नहीं है। कहो, समझ में आया ? उन्होंने किये हुए काम को तो लोग महिमा दें।

इन पाण्डवों का भी जब अवसर आया, तब ये योद्धा अन्दर में उतरे। बाहर के वीर्य की जो स्फुरणा थी, वह छोड़। वह वीर नहीं, वह तो कायर जीव का काम। कायरों का काम दूसरों के साथ लड़ना और जीतपना होना, वह तो कायर का काम है। आहा..हा.. ! दूसरे को बेचारे को पीछे करना, अपने को अधिक होना, ये तो कायर का काम है। पुरुषार्थ का काम तो अन्दर आत्मा में श्रद्धा–ज्ञान करके स्थिर होना, वह पुरुषार्थ का काम है।

वीर तो उसे कहते हैं कि जो स्वरूप की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं। कोई राग की रचना करे उसे वीर्य कहा जाता है ? कहते हैं कि चल.. चल.. आहा..हा.. ! यह वीर्य नाम का तेरा गुण ही ऐसा है न, भगवान ! भगवान ने कहा है और इस वीर्य का ऐसा स्वभाव है, बल का ऐसा स्वभाव है कि स्वरूप की शान्ति, आनन्द को रचे, ऐसा इसका स्वभाव है। तेरे बल का ऐसा स्वभाव है कि आनन्द को, शान्ति को रचे, ऐसा तेरा स्वभाव है। राग को रचे ऐसा तेरा स्वरूप ही नहीं है। आहा..हा.. ! ऐई ! भीखाभाई ! यह कुछ रचावे नहीं, हों ! कहते हैं। रचे ऐसा तेरा स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से जाये विश्वास ? विश्वास कहाँ से आये इसे ? मैं एक आत्मा, मेरा वीर्य जो बल है, आत्मशक्ति। उस शक्ति की शक्ति ऐसी है, उस शक्ति की शक्ति ऐसी है कि जो आनन्द को ही रचे, ऐसी उस शक्ति की शक्ति है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? उस दुःख को रचे और पर का कार्य करे, पर को मारे, हरावे, यह तो वस्तु में है ही नहीं। आहा..हा.. ! ऐसा आत्मा है, ऐसा आत्मा माने बिना इसने आत्मा माना नहीं। आहा..हा.. ! ऐसे तो आत्मा.. आत्मा.. करता है परन्तु वह आत्मा कैसा और कितना ? समझ में आया ?

पाण्डवों का चरित्र भूल गया है ? और यहाँ तो अपने पाण्डव नजदीक थे। शत्रुंजय। आहा..हा.. ! किसी समय निकलें, तब पाण्डव याद आवे। उस ओर जायें तो। रविवार या ऐसा होवे तब। देखो ! भाई ! ये पाण्डव यहाँ मोक्ष पधारे हैं। देखो ! यह स्थान है। वीर्य को

बाहर से हटाकर अन्दर में लाये। शान्त.. शान्त.. अग्नि के लोहे (लोहे के गर्म गहने) पहनाये। शीतलता का अन्दर श्रृंगार पहना। बाहर में लोहे की अग्नि। अन्दर शीतलता, शीतलता के श्रृंगार में अन्तर अनुभव करते हैं। शान्त.. शान्त.. शान्त! बाहर में अग्नि, अन्दर में शीतलता, दोनों विरोधी तत्त्व है न? समझ में आया? हे भाई! यह तो विचार कर, बापू! कहते हैं। ऐ.. पोपटभाई! 'रण चढ़्यौ रजपूत छुपे नहीं' कहते हैं या नहीं? इसी प्रकार आत्मा मरण के अवसर पर तेरे वीर्य को-पुरुषार्थ को स्फुरित कर। अब, छुपा मत। अवसर आया, अवसर - ऐसा कहते हैं। जाग रे जाग।

पाण्डवों का चरित्र भूल गया है? जिन्हें लोहे के आभूषण अग्नि से तपाकर शत्रुओं ने पहनाये थे तो भी तपस्या से किंचित्मात्र च्युत न होकर... तपस्या अर्थात् मुनिपना शान्त अविकारी परिणाम, वीतरागी मुनिपना-दशा। आहा..हा..! वह यहाँ शत्रुंजय हुआ है। तीन पाण्डव मोक्ष गये और दो पाण्डव सर्वार्थसिद्धि में गये। ऐसे भी (विकल्प नहीं) आया कि परन्तु यह हम मुनि हुए हैं, बापू! अब क्या करना तुझे? अब हमें किसी के साथ वैर नहीं है। मुनि हुए और तू यह लोहे के गहने (पहनाता है)। यह विकल्प कौन करे? समझ में आया? आहा..हा..! मानो बर्फ की शीतलता से ढँका हुआ तत्त्व। शान्त.. शान्त.. शान्त.. एकदम प्रस्फुटित होकर केवलज्ञान! तीन पाण्डव वहाँ से सीधे मोक्ष पधारे और दो पाण्डव वहाँ से सर्वार्थसिद्धि (गये), एकावतारी हुए। विकल्प रह गया तो (एकावतारी हुए)। आहा..हा..! कहते हैं कि भाई! यह तू भूल गया?

क्या तूने महा सुकुमार सुकुमालकुमार का चरित्र नहीं सुना है? कहो, समझ में आया? **जिनका शरीर स्यालनी ने थोड़ा-थोड़ा खा-खा करके अतिशय कष्ट देने...** लगी। एक साथ खाया नहीं। थोड़ा.. थोड़ा.. थोड़ा.. बटका भरने लगी। स्वयं अन्दर के आनन्द के कन्द में झूलते थे। शान्त.. शान्त.. शान्त.. इस प्रकार से देह का त्याग किया। भाई! तुझसे पहले बहुत ऐसे अनन्त मार्गानुसारी सिद्ध के मार्ग में चले हैं। समझ में आया? तू भी सिद्ध का मार्गानुसारी है। भाई! उस मार्ग में चलनेवाला, तू पूरा कर। आहा..हा..! समझ में आया?

दूसरे, **किंचित् मार्गच्युत न होकर जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया था। ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रों में हैं, जहाँ दुस्सह उपसर्ग सहन...** दुस्सह। सहन न हो ऐसे

उपसर्ग। साधारण जनता से सहन न हो। **अनेक साधुओं ने सर्वार्थ सिद्धि की है।** स्व+अर्थ सिद्धि। अपने अर्थ की सिद्धि की। अपना स्व अर्थ – प्रयोजन आनन्द का शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. आराधक स्व अर्थ का किया, सिद्धि की। समझ में आया? वे तारणस्वामी कहते हैं, सर्वार्थसिद्धि नहीं। ऐसा रहने दे कहा, सर्वार्थसिद्ध ऐसा रखो अर्थ। विपरीत पड़ेगा, कहा। फिर बहुत मिलाने जायेंगे.. सर्वार्थसिद्धि जाने का अर्थ ऐसा रखो। अपना आराधकपने का अर्थ सिद्ध किया। सर्वार्थसिद्धि गये, ऐसा रहने दो। फिर कहता था कि कुछ बदलेंगे परन्तु वाड़ा बन्धन मारकर एक भी बदले तो चलने न दे।

क्या तेरा यह कर्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवन–धनादिक में निर्वांछक होकर,... इस जीवन में भी वाँछा नहीं और बाहर की इज्जत आदि में भी नहीं। धन अर्थात् इज्जत आदि। **अन्तरंग–बहिरंग परिग्रह के त्यागपूर्वक साम्यभाव से निरुपाधि में स्थिर होकर आनन्दामृत का पान करे! इस तरह उपरोक्त उपदेश से सम्यक् प्रकार कषाय को कृश करके–कम करके रत्नत्रय की भावनारूप परिणमन से...** देखा! भावनारूप परिणमन से, ऐसा है। भावना, ऐसा नहीं कि विकल्प। यह तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र निर्विकल्प, उसके **परिणमन से पंच नमस्कार–मंत्र स्मरणपूर्वक समाधिमरण...** पाँच नमस्कार ऐसे जो आत्मा का स्वभाव, उसका और बाह्य में विकल्प आवे तो स्मरण। **समाधिमरण करना चाहिए। यह समाधिमरण की संक्षिप्त विधि है।**

सल्लेखना भी अहिंसा है। यह अब कहेंगे। यह सल्लेखना भी एक अहिंसा है। आचार्य यहीं से शुरु करते आये हैं। अहिंसा.. अहिंसा.. अहिंसा.. जितना राग घटकर स्थिरता हुई, वह अहिंसा। सल्लेखना अहिंसा, भगवान के वीतराग के मार्ग की। इसकी व्याख्या करेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १७९

सल्लेखना भी अहिंसा है

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्।।१७९।।

नित यहाँ हिंसा हेतुभूत, कषाय होतीं क्षीण हैं।
इससे अहिंसा सिद्धि हेतु, सतत सल्लेखना कहें।।१७९।।

अन्वयार्थ : (यत:) कारण कि (अत्र) इस संन्यास मरण में (हिंसाया) हिंसा के (हेतव:) हेतुभूत (कषाया:) कषाय (तनुताम्) क्षीणता के (नीयन्ते) प्राप्त होते हैं (तत:) इस कारण (सल्लेखनामपि) संन्यास को भी आचार्य (अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं) अहिंसा की सिद्धि के लिये (प्राहु:) कहते हैं।

टीका : 'यत: हिंसाया: हेतव: कषाया: अत्र (सल्लेखनायां) तनुताम् नीयन्ते तत: सल्लेखनाम् अहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम् प्राहु:।' -अर्थ:- हिंसा के मूलकारण कषाय हैं, यह इस सल्लेखना में क्षीण हो जाते हैं-घट जाते हैं। अत: आचार्य संन्यास को भी अहिंसा की पुष्टि के लिये कहते हैं।

भावार्थ : इस संन्यास में कषाय क्षीण होते हैं और कषाय ही हिंसा के मूलकारण हैं, इसलिए संन्यास का अंगीकार करने से भी अहिंसाव्रत की ही सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्त सल्लेखना का कथन किया।।१७९।।

प्रवचन नं. ७२ गाथा-१७९ से १८२ बुधवार, आषाढ़ कृष्ण ५, दिनांक २६.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। **सल्लेखना भी अहिंसा है** १७९ गाथा।

समकिती जीव (ने) आत्मा की अन्तरज्ञान-भान और अनुभव करके प्रतीति की

है। वह सम्यग्दर्शन भी एक अहिंसा है। समझ में आया? मिथ्यादर्शन, वह हिंसा है। आत्मा का जैसा शुद्ध आनन्द, ज्ञानस्वभाव शुद्ध पूर्ण है, उसे न मानना, उसे रागवाला, अल्पज्ञ आदि.. वाला मानना, वह स्वरूप की मिथ्यापने की हिंसा है और सम्यग्दर्शन, वह अहिंसा है। ऐसे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, यह भी राग का अन्दर अभाव होता है, इस अपेक्षा से वह भी अहिंसा में गिने हैं।

सल्लेखना भी अहिंसा है। यह चलता है। सल्लेखना अन्त में कषाय को कृश करके, अकषायभाव की शान्तिभाव से शरीर का... क्या कहा अन्दर? विसर्जन, प्राण का विसर्जन करना, यह भी एक अहिंसा है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन-आनन्द प्राण शुद्धिपने को प्राप्त होते हैं; इसलिए वह भी एक अहिंसा है। यहाँ आचार्य महाराज ने सम्यग्दर्शन से लेकर सल्लेखना तक अहिंसा के सब भंग वर्णन किये हैं। क्या है? सेठी! बराबर सुनते हैं। **सल्लेखना भी अहिंसा है।**

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्।।१७९।।

उस ओर टीका। यह हिंसा किसकी होती है? किसकी अहिंसा? अपने आत्मा की बात है यहाँ। समझ में आया? परप्राणी हिंसा करे या अहिंसा, उसकी यह बात है नहीं। अपने ज्ञान प्राण, आनन्द प्राण, वीतराग समरस, शान्तिरस, स्वभाव प्राण की रक्षा सम्यग्दर्शन से होती है, अणुव्रत से होती है और साथ शीलव्रत से तथा सल्लेखना भी शीलव्रत में कहने में आती है। कहो, समझ में आया? अपने शुद्ध प्राण की रक्षा (करना), उसे यहाँ अहिंसा कहते हैं और शुद्ध प्राण की अरक्षा अर्थात् जितनी कषाय (होती है), उतनी हिंसा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि **सल्लेखना भी अहिंसा है।** क्यों? **हिंसा के मूलकारण कषाय हैं, यह इस सल्लेखना में क्षीण हो जाते हैं 'नीयन्ते'** समता का नाम क्षीण कहते हैं। थोड़ा हो तो न ले पतला **'तनुताम्'** अर्थ किया है न? **'तनुताम्'** पतले होते हैं परन्तु यहाँ उस प्रकार के कृश होते हैं, क्षीण होते हैं, ऐसा लिया है। **'नीयन्ते'** आत्मा में सम्यग्दर्शनसहित सात और पाँच अणुव्रत को शीलव्रत कहकर, सल्लेखना में भी अहिंसा की प्राप्ति होती है, अर्थात् वहाँ कषाय पतली पड़ती है अथवा कषाय कृश होती है। कृश होती है, इसलिए

उसका क्षय हुआ ऐसा लिया। फिर इन्होंने दोनों में क्षीण किया। **अत: (आचार्य) संन्यास को भी अहिंसा की पुष्टि के लिये कहते हैं।** लो, मृत्यु के काल में अर्थात् देह छूटने के काल में स्वभाव की सम्हाल रखकर, अपने शुद्ध प्राण की शुद्धि की रक्षा करके, देह छूटे, वह अहिंसा नामक सल्लेखना व्रत अथवा शील कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

भावार्थ : इस संन्यास में कषाय क्षीण होते हैं... इसका अर्थ यहाँ है। **और कषाय ही हिंसा के मूलकारण हैं...** जितने अंश में राग की उत्पत्ति होना, कषाय की उत्पत्ति (होना, वह हिंसा है)। यह पहला सिद्धान्त आ गया है। चाहे तो शुभ-अशुभराग की उत्पत्ति होना, वह हिंसा और शुभ-अशुभराग की उत्पत्ति न होना, उसके बदले समरस, ज्ञाता-दृष्टा के समभाव के परिणाम की उत्पत्ति होना, उसे अहिंसा कहते हैं। यह वीतरागमार्ग की अहिंसा है। यह वीर की अहिंसा। समझ में आया? वीर भगवान की यह अहिंसा है।

कषाय ही हिंसा के मूलकारण हैं, इसलिए संन्यास का अंगीकार करने से भी अहिंसाव्रत की ही सिद्धि होती है। लो, सब अहिंसाव्रत की पुष्टि के लिये है। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप अविकारीस्वरूप, समरस वीतरागीस्वरूप है। उसकी वर्तमान पर्याय में जितना स्व का आश्रय लेकर शुद्धि, श्रद्धासहित की स्थिरता आदि की शुद्धि हो, वह सब अहिंसा की ही पुष्टि है। उसे भगवान अहिंसा परमोधर्म कहते हैं। कहो, समझ में आया? परजीव की तो दया पाल नहीं सकता, इसलिए पर जीव की दया, वह परम धर्म – ऐसा है नहीं।

संन्यास का स्वीकार। संन्यास अर्थात् राग के त्याग का स्वीकार। पहली दशा है, उसकी अपेक्षा संन्यास के समय राग की मन्दता और राग का त्याग और अराग की उत्पत्ति, वही अहिंसाव्रत की सिद्धि करता है। कहो, समझ में आया इसमें? आचार्य महाराज ने सम्यग्दर्शन से लेकर ठेठ तक अहिंसा ली है। मिथ्यात्व से लेकर कषाय का एक अंश, वह सब हिंसा में गिनने में आया है। समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : संन्यास अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : संन्यास अर्थात् त्याग। संन्यास अर्थात्... क्या? संन्यास अर्थात् त्याग; राग का त्याग, वह संन्यास। संन्यास तो अन्य मत में आवे, ऐसा कहते हैं। संन्यास

अर्थात् त्याग। सच्चा त्याग और संन्यास, वह जैनमार्ग में ही होता है; अन्यत्र नहीं होता क्योंकि जैन परमेश्वर ने कहा हुआ आत्मतत्त्व वह अत्यन्त अहिंसकस्वरूप है। पुण्य-पाप के रागरहित तत्त्व आत्मा ज्ञायक है और चारित्र अर्थात् समरसस्वरूप है। ऐसा जो स्वरूप है, वह अहिंसकस्वरूप ही है। वह जैन में ही होता है; अन्यत्र नहीं हो सकता। इसके विरुद्ध का जितना मिथ्याभाव और राग, उसका अभाव, उसे वर्तमान पर्याय में अहिंसा कहने में आता है। वस्तु तो अहिंसास्वरूप आत्मा है। समझ में आया? उसे अन्तर में से-शक्ति में से एकाग्र होकर जितनी व्यक्तता प्रगट (होती है), सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र / राग के अभावरूप स्थिरता, जो प्रगट की, वह सब राग और मिथ्यात्वादि का त्याग, उसे यहाँ अहिंसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

यह पूरा हुआ। सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और सल्लेखना—ऐसे चौदह बोल पूरे हुए। श्रावक के चौदह बोल।

गाथा - १८०

जो इन शीलों के कथन को संकोचते हैं:-

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः।।१८०।।

जो व्रतों के रक्षार्थ ये सब, शील भी पाले सतत।
स्वयमेव उत्सुक मोक्ष लक्ष्मी, स्वयंवरवत् वरे नित।।१८०।।

अन्वयार्थ : (यः) जो (इति) इस प्रकार (व्रतरक्षार्थं) पंच अणुव्रतों की रक्षा के लिये (सकलशीलानि) समस्त शीलों को (सततं) निरन्तर (पालयति) पालन करता है (तम्) उस पुरुष को (शिवपदश्रीः) मोक्षरूपी लक्ष्मी (उत्सुका) अतिशय उत्कंठित (पतिंवरा इव) स्वयंवर की कन्या की तरह (स्वयमेव) स्वयं ही (वरयति) स्वीकार करती है अर्थात् प्राप्त होती है।

टीका : 'इति यः व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सततं पालयति तम् उत्सुका शिवपदश्रीः

पतिंवरा इव स्वयमेव वरयति' -अर्थः- जो धर्मात्मा श्रावक इस प्रकार पाँच अणुव्रतों की रक्षा के निमित्त सप्त शीलव्रतों का पालन करता है, उसको मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुक होकर स्वयंवर में कन्या की तरह स्वयं ही वरण करती है।

भावार्थ : जैसे स्वयंवर में कन्या स्वयं ही अपने योग्य पुरुष को पहचानकर वरमाला डाल देती है, वैसे ही मुक्तिलक्ष्मी व्रतधारी एवं समाधिमरण करनेवाले श्रावक को स्वयं ही प्राप्त होती है। ऐसा व्रती श्रावक अवश्य ही मुक्तिपद को प्राप्त करता है।।१८०।।

गाथा १८० पर प्रवचन

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः।।१८०।।

अन्वयार्थ : जो इस प्रकार पंच अणुव्रतों की रक्षा के लिये समस्त शीलों को... इस शील में सल्लेखना आ जाती है, समाधिमरण आ जाता है। **निरन्तर पालन करता है...** देखा! यह मृत्यु के पहले भी ये पाँच अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत को (पालता है और कषाय को) कृश करने की भावना (भाता है)। **उस पुरुष को..** जो सम्यग्दर्शनसहित, पाँच अणुव्रत और उनकी रक्षा के लिये ये सात शीलव्रत और सल्लेखना **निरन्तर पालन करता है, उस पुरुष को मोक्षरूपी लक्ष्मी अतिशय उत्कंठित...** अतिशय उत्कंठित, **'पतिंवरा इव'** स्वयंवर। राजा पहले कन्या का विवाह करने के लिये वहाँ स्वयंवर मनाते थे। कन्या अपने पसन्द के राजकुमार को वरती थी। इसी प्रकार यहाँ स्वयंवर में मोक्षरूपी लक्ष्मी ऐसे धर्मात्मा को वरती है अर्थात् प्राप्त होती है। कहो, समझ में आया? अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित ऐसे जो व्रतादि पालन करते हैं, वे आगे पूर्ण होकर केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी का वरण करेंगे, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। बारह व्रत के पीछे स्थिरता है, उसकी बात यहाँ है। जड़ है, वह तो विकल्प है। विकल्प है, उसे व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा जाता है। है नहीं और कहा जाता है। पंच महाव्रत को मोक्ष का कारण व्यवहाररत्नत्रय में कहा जाता है परन्तु है

नहीं और कहना, ऐसा होता है। भाषा तो आगे आयेगी न ? दोनों से मोक्ष होता है, ऐसा कहते हैं। निश्चय और राग दोनों मोक्षमार्ग से (मोक्ष होता है, ऐसा कहेंगे)। समझ में आया ? है न पीछे ? कितने में आया है ? १०९ में, विकल्प है। गृहस्थ को विकल्प है। अन्तिम है न यह ? २६ पृष्ठ है।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।२२२।।

निश्चय और व्यवहार दो से मोक्षपद को पाता है – ऐसा लेख है। मुख्य अर्थात् निश्चय और उपचार अर्थात् व्यवहार। २२२ गाथा। २२२ गाथा हाथ नहीं आती ? २२२ गाथा। सूझ नहीं पड़ती। हीरा–माणिक में झट सूझ पड़े इन्हें। २२२ गाथा। अब इसमें कहाँ प्रश्न रहा ? पृष्ठ नहीं और अमुक नहीं। है न ? देखो, **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप ही मोक्षमार्ग है। यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है।** निश्चय और व्यवहार दो से इसे मुक्ति होती है। ऐसा कथन में तो ऐसा ही आवे न ? ऐई देवानुप्रिया ! यह उत्तर दिया। बारह व्रत और पाँच महाव्रत। निमित्त से उसका कथन कहा जाता है। वह निमित्त है न ? उपादान शुद्धि है, वह मोक्ष का कारण है और यह निमित्त है, इसलिए मोक्ष का कारण इसमें आरोप दिया जाता है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : व्यवहार का स्थान होगा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार स्थान, व्यवहार वस्तु नहीं ? निमित्त वस्तु नहीं ? है। बस, परन्तु वह कुछ कार्य करनेवाली नहीं है, तथापि उसे कार्य में कारण कहना, वह उपचार है। अनादि काल से...

मुमुक्षु : पहले आ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो आ गया है न ? व्यवहार से... यहाँ दो पाठ एक आ गया। अकेला व्यवहार अभूतार्थ है। व्यवहार वह अभूतार्थ है। 'भूतार्थ बोधविमुख प्रायः सर्व संसारः' – यह पहले आ गया है। सत्य के स्वरूप से विरुद्ध है, ये सब मोक्ष के मार्ग में नहीं। विमुख हैं, विमुख हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसकी बात का निमित्त का निमित्तरूप से ज्ञान करावे, ऐसा। प्रकरण चलता हो, उसका कुछ वजन देना न। कहा न यह ?

स्वयंवर की कन्या की तरह... जैसे राजा, कन्या के विवाह के लिये स्वयंवर रचता है। स्वयं अर्थात् अपनी पसन्द का वर। इसके लिये राजा पहले ऐसा करते थे। हजारों राजा आवे, स्वयं को पसन्द हो, उसे वरण करे। वैसे ही मोक्षरूपी लक्ष्मी, ऐसी कन्या, ऐसे व्रतधारी सम्यग्दृष्टि जीव को स्वयं वरती है। इसका अर्थ कि वह क्रम से मुनि होनेवाला ही है। ऐसा जिसने आराधकपना प्रगट किया, वह क्रम से मुनि होनेवाला है और मुनि होकर स्वयं लक्ष्मी उससे मिलनेवाली है – मोक्षरूपी लक्ष्मी उसे मिलनेवाली ही है। कहो, समझ में आया ?

टीका – टीका शब्द इसमें नहीं रखा। रह गया होगा। **'इति यः व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सततं पालयति तम् उत्सुका शिवपदश्रीः पतिंवरा इव स्वयमेव वरयति' इस प्रकार पाँच अणुव्रतों की रक्षा के निमित्त सप्त शीलव्रतों का पालन करता है...** उस शीलव्रत में सल्लेखना भी आ जाती है। **उसको मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुक होकर...** मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुक होकर, उत्कण्ठित होकर, हर्षित होकर। **स्वयंवर में कन्या की तरह स्वयं ही वरण करती है।** मोक्ष प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं। उसे केवलज्ञान लक्ष्मी की सहज प्राप्ति होती है। देखो! यहाँ श्रावक के लिये मोक्षलक्ष्मी कही। समझ में आया ? नहीं तो यहाँ श्रावक के विकलरत्नत्रय है। यह आगे कहेंगे। २०९ गाथा। विकलरत्नत्रय है। पूरा नहीं। है न २०९ गाथा में ? २०९ क्या ? गाथा। अभी निकली थी, इसलिए याद है, हों! पहले की याद नहीं थी कुछ। अभी निकली थी न! **मोक्षाभिलाषी को निरन्तर रत्नत्रय का सेवन करना चाहिए:-**

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता।।२०९।।

श्रावक की बात है न यहाँ ? **एकदेश भी अविनाशी मुक्ति के चाहनेवाले...** लो **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय एकदेश...** विकल अर्थात् एकदेश। विकल इन्द्रिय आता है न ? विकलेन्द्रिय (अर्थात्) पूर्ण इन्द्रिय नहीं। ऐसे **एकदेश भी**

अविनाशी मुक्ति के चाहनेवाले गृहस्थ को निरन्तर हर समय सेवन करना चाहिए। लो, ठीक। समझ में आया? आत्मा शुद्ध आनन्द और वीतरागस्वरूप है। वस्तु ही वीतरागस्वरूप है। वस्तु वीतरागस्वरूप न हो तो वीतराग पर्याय बाहर से कहाँ से आनेवाली है? वीतराग अर्थात् चारित्र। क्योंकि चारित्रगुण त्रिकाली है न? ज्ञानगुण त्रिकाली, ऐसे चारित्रगुण त्रिकाली है; इसलिए ज्ञायक और वीतरागता, ऐसा ही उसका त्रिकाली स्वरूप है। उसकी अन्तर एकाग्र होकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पर्याय प्रगट करता है, उसे अल्प काल में पूर्ण मुक्ति होती है। कहो, ऐसा जिसे भान नहीं और अकेले व्रतादि पाले, उसे तो संसार के बन्धन का भटकना प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन की खबर नहीं, सम्यग्ज्ञान क्या – इसकी खबर नहीं। कहो, समझ में आया? और व्रत तथा नियम और प्रत्याख्यान सब खोटे ग्रहण किये। उसके फल में तो खोटा, ऐसा संसार प्राप्त होता है; सच्ची मुक्ति प्राप्त नहीं होती। समझ में आया?

भावार्थ : जैसे स्वयंवर में कन्या स्वयं ही अपने योग्य पुरुष को पहचानकर वरमाला डाल देती है; वैसे ही मुक्तिलक्ष्मी व्रतधारी एवं समाधिमरण करनेवाले... देखो! सब आ गया न? सम्यग्दृष्टि और **व्रतधारी एवं समाधिमरण करनेवाले श्रावक को स्वयं ही प्राप्त होती है।** सहज प्राप्त होती है। स्वयं अर्थात्? उसे तो अल्प काल में केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। सहज स्वभाव मुक्ति होगी – ऐसा कहते हैं। जिसने आत्मा के स्वभाव का आदर करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है और स्वभाव की स्थिरता द्वारा शान्ति की रक्षा की है, उसे मरण के अवसर में भी शुद्धि की वृद्धि से राग के त्याग से संन्यासमरण किया है, उसे अल्प काल में केवलज्ञान लक्ष्मी (वरण करेगी), वह आगे मुनि होगा और फिर केवलज्ञान को प्राप्त करेगा – ऐसा कहते हैं। वह मुनि होगा और फिर केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करेगा – ऐसा सिद्ध किया है। कहो, समझ में आया?

इस प्रकार पाँच अणुव्रत,... अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह **तीन गुणव्रत,...** दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत आदि **चार शिक्षाव्रत,...** सामायिक, भोग–उपभोग परिमाण, प्रौषध, अतिथिसंविभाग। **एक सल्लेखना और एक सम्यक्त्व...** देखो! अतिचार वर्णन करना है न? **इस तरह श्रावक की चौदह बातों का वर्णन किया।** यह श्रावक की चौदह बातों का वर्णन किया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, यह तो वे अतिचार कहने हैं न, इसलिए उनके कितने के अतिचार कहने हैं कि ये कहे, उनके अतिचार कहने हैं। ७० अंक आनेवाला है न? १४×५=७०। चौदह के ७० अतिचार। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार, बारह व्रत के पाँच (-पाँच) अर्थात् ६० और सल्लेखना के पाँच, (इस प्रकार कुल) ७० हुए। समझ में आया? इन चौदह बातों का वर्णन। चौदह बातों में श्रावक का पूरा पड़ता है। समझ में आया? पैसे से पूरा पड़ता है और बाहर के साधन से पूरा पड़ता है - ऐसा यहाँ नहीं कहा है।

यहाँ तो कहते हैं... परन्तु यहाँ तो सब वर्णन इसे जानना तो चाहिए न, कि सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा अखण्डानन्द पूर्ण, राग और पुण्य के विकल्प से भिन्न ऐसे स्वरूप के स्वभाव-सन्मुख होकर... क्योंकि विभाव-सन्मुख की प्रतीति तो अनादि की है। वह विभाव की प्रतीति विभाव है, उसका यह वास्तविक तो ज्ञान नहीं। क्योंकि विभाव -सन्मुख रहकर सब जाना और प्रतीति की है तो उसका ज्ञान यथार्थ नहीं। कल दोपहर को आया था न? जिसे राग का, अनात्मा का ज्ञान नहीं, उसे आत्मा का ज्ञान नहीं और आत्मा का ज्ञान नहीं, उसे राग ऐसा अनात्मा का ज्ञान भी नहीं। समझ में आया?

राग ऐसा पंच महाव्रत आदि, उसका जिसे ज्ञान नहीं कि यह तो अनात्मा है, यह आत्मा नहीं। आत्मा के स्वभाव में वास्तव में यह साधन नहीं। ऐसा जिसने स्वसन्मुख होकर अपना ज्ञान और पृथक् का-राग का ज्ञान नहीं किया, उसे भेदज्ञान नहीं तो उसे धर्म का लाभ जरा भी नहीं। कहो, समझ में आया? जिसने विभाव की विमुखता,... इसकी अनादि की जो सन्मुखता थी, दया, दान, व्रत आदि पाले, परन्तु वह तो इसकी सन्मुखता अर्थात् मिथ्यादृष्टि के थे। इसलिए वास्तव में वे व्रत, नियम कहलाये नहीं। वे तो बालव्रत और बालतप कहने में आये हैं। उस विकल्प से विमुख होकर, भगवान जो वीतरागस्वरूप चिदानन्द है, उसे पर्याय अन्दर सन्मुख हुई। सन्मुख होनेवाली तो पर्याय है। सन्+मुख, सत्+मुख, पूरी वस्तु सत् त्रिकाल है, उसके सन्मुख। समझ में आया? उसे मुख्य करके उसमें झुकना, ऐसा जो सम्यग्दर्शन जहाँ नहीं, वहाँ उसे कहीं श्रावक या मुनिपना कुछ सच्चा है नहीं। वह खोटे-खोटे में भटकनेवाला है। समझ में आया?

इसलिए कहते हैं कि श्रावक के चौदह बोल। तब वह वास्तविक श्रावक हुआ कहलाता है। अब उसे शुद्धि में अतिचार टालना, इससे शुद्धि बढ़ती है। अतिचार रहे तो उतना मेल है – ऐसा बताने के लिये शुद्धि की वृद्धि के लिये अतिचारों को टालने का व्याख्यान करते हैं।

गाथा - १८१

अब इनके पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन करते हैं:-

अतिचारा: सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेया:।।१८१।।

सम्यक्त्व में व्रत शील में, पाँच पाँच यों सत्तर कहे।
नित वास्तविक शुद्धि विरोधक, हेय हैं अतिचार ये।।१८१।।

अन्वयार्थ : (सम्यक्त्वे) सम्यक्त्व में (व्रतेषु) व्रतों में और (शीलेषु) शीलों में (पञ्च पञ्चेति) पाँच-पाँच के क्रम से (अभी) यह (सप्तति:) सत्तर (यथोदितशुद्धि-प्रतिबन्धिन:) यथार्थ शुद्धि के रोकनेवाले (अतिचारा:) अतिचार (हेया:) छोड़ने योग्य हैं।

टीका : 'सम्यक्त्वे व्रतेषु (सल्लेखना पञ्च) पञ्च पञ्च अतिचारा: इति अमी सप्तति: यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिन: हेया:।' –अर्थ:– सम्यग्दर्शन में, पाँच अणुव्रतों में, तीन गुणव्रतों में, चार शिक्षाव्रतों में और सल्लेखना में प्रत्येक में पाँच-पाँच अतिचार हैं। इस तरह यह सत्तर अतिचार हैं, वे सभी व्रतों की शुद्धि में दोष लगानेवाले हैं।

भावार्थ : व्रत का सर्वदेश भंग होना तो अनाचार कहा जाता है और एकदेश भंग होना अर्थात् दूषण लगना अतिचार कहा जाता है (यह अतिचार व्रतों की शुद्धता को दूर करनेवाले हैं क्योंकि व्रतों में दोष लग जाने पर उनकी शुद्धता अक्षुण्ण कैसे रह सकती है?) इस तरह उपरोक्त श्रावक की चौदह बातों के सत्तर अतिचार होते हैं।।१८१।।

गाथा १८१ पर प्रवचन

अब इनके पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन करते हैं:-

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धि तो है परन्तु एकदेश खण्ड है। वहाँ अतिचार है। वहाँ आयेगा न? एकदेश खण्ड है। यहाँ आता है, देखो! **व्रत का सर्वदेश भंग होना तो अनाचार कहा जाता है और एकदेश भंग होना अतिचार कहा जाता है..** १८१ वीं गाथा के भावार्थ में है। १८१ में भावार्थ। वैसे तो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार चार दोष हैं परन्तु स्थूलरूप से उनका वर्णन करना है। नहीं तो अतिक्रम, व्यतिक्रम सूक्ष्मता में जाते हैं। अर्थात् स्थूलरूप से अतिचार का दोष वर्णन करके, अनाचार नहीं करना और अतिचार (दूर करके) भी पूर्ण निर्मल पालना, देश खण्ड भी करना नहीं। इसमें अतिक्रमण, व्यतिक्रमण के दोष भी टालने में आ जाते हैं। समझ में आया?

अतिचारा: सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेया:।।१८१।।

देखो! यहाँ से लिया है। पहला तो वह समझाने के लिये कि समकित कैसे...

ये शुद्धि को रोकनेवाले अतिचार होने से छोड़नेयोग्य हैं। कहो, समझ में आया? एक तो व्रत छोड़नेयोग्य, वापस उसमें फिर अतिचार लगे, वे छोड़नेयोग्य। व्रत का विकल्प छोड़नेयोग्य और उसमें अतिचार छोड़नेयोग्य कहा अर्थात् व्रत आदरनेयोग्य हुआ, ऐसा कहा, माना। निश्चय स्थिरता, वह आदरनेयोग्य है परन्तु उस भूमिका में ऐसे व्रत के विकल्प होते हैं, वे निश्चय से छोड़नेयोग्य, परन्तु व्रत में भी खण्ड हो, ऐसे अतिचार को छोड़ना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

टीका : १८१ **'सम्यक्त्वे व्रतेषु (सल्लेखना पञ्च)'** कोष्ठक में साथ में डाला है। **'पञ्च पञ्च अतिचारा: इति अमी'** अर्थात् पाँच-पाँच दस हो गये और वे १२×५=६०। **'सप्तति: यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिन: हेया:।' सम्यग्दर्शन में,..** पाँच अतिचार। सम्यग्दर्शन में पाँच अतिचार एकदेश खण्ड करनेवाले हैं, उन्हें छोड़ना चाहिए। नहीं तो सम्यग्दर्शन

निर्मल नहीं होगा। नीचे कहेंगे कि अतिचारों का त्याग नहीं होता, वहाँ निश्चय सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। नीचे १८२ गाथा में कहेंगे। कहो, समझ में आया?

ये सभी व्रतों की शुद्धि में दोष लगानेवाले हैं। सम्यग्दर्शन में, पाँच अणुव्रतों में, तीन गुणव्रतों में, चार शिक्षाव्रतों में और सल्लेखना में प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार हैं। अतिचार अर्थात् दोष। **इस तरह यह सत्तर अतिचार हैं, वे सभी व्रतों की शुद्धि में दोष लगानेवाले हैं।** इसमें श्वेताम्बर में भी सत्तर आते हैं। प्रतिक्रमण करे उसमें सत्तर अतिचार आते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निन्यानवें आते हैं। वे दूसरे चौदह लेते हैं न, इसलिए। है न ज्ञान में? हाँ! पन्द्रह। मूल तो सत्तर अतिचार आते हैं। परन्तु वे... कर्मादान पन्द्रह और चौदह... ज्ञान के दोष। उनतीस और सत्तर यह। उसमें निन्यानवें आते हैं। मूल सत्तर अतिचार और फिर वे दो डाले। ....समकित आता है। ...प्रतिक्रमण किया था? पाठ बोला था। अर्धवचन की खबर नहीं होती।... आता है न? ...आता है न? भगवानभाई! इन पाँच में... सूत्र में यह आता है। तुमने... सूत्र किया है? ...सूत्र किया नहीं? तुम कौन हो? दरियापरी?

मुमुक्षु : दरियापरी में मानते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। यहाँ दरियापरी में नहीं होता। यहाँ नहीं होता। दरियापरी में नहीं होता। दूसरे में पाँच अणुव्रत आते हैं। श्रमणसूत्र में पाँचवें श्रमणसूत्र में आते हैं। यह हम पहले अर्थ करते थे... मैंने कहा – यह तुम पूरे दिन क्या बोलते हो? सबेरे-शाम। मिथ्यात्व को छोड़ा है, समकित को... मिथ्यात्व और समकित क्या पता है? कि अपने को (खबर नहीं)। भगवान की श्रद्धा, वह श्रद्धा। शाम-सबेरे झूठ बोले। शाम-सबेरे। ...असंयम का त्याग किया और... धूल में अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं और संयम कहाँ से आया? शाम-सबेरे झूठ बोले। ए.. हीराभाई! तुम्हारे भाई दाँत निकालते (हँसते) हैं कि वहाँ यह सब चलता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...भान नहीं होता, अबोधि किसे कहना, बोधि किसे कहना?

...अज्ञान को छोड़ा है। परि-समस्त प्रकार से छोड़ा है। परियाणे अर्थात् जानने की बात है। जानना अर्थात् यह छोड़ना कहलाता है। समझ में आया? अर्थ की खबर नहीं होती। फिर दो-दो दिन के वे होते हैं न? ....पूर्णिमा और एकम। अषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा और एकम। कार्तिक शुक्ल पूर्णिम और एकम। ...वे ... के दिन शास्त्र नहीं पढ़े जाते। इसलिए फिर मैं तो यह अर्थ करता कि देखो! भाई! यह क्या है? यह शाम-सबेरे पूरे दिन बोलते हो। इसमें तो यह सब लिखा है... खड़ा हो जाये। ...खड़े होने की बात नहीं। अन्दर मैं सावधान होता हूँ, स्वरूप की आराधना के लिये। उसकी भी खबर नहीं होती, ऐई पोपटभाई!

मुमुक्षु : ऐसा हाँका था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँका था न? उसमें पोपटभाई शामिल थे न। क्यों? भगवानभाई! हमारे भगवानभाई भी वहाँ पुराने व्यक्ति हैं न? ...वहाँ वह खड़ा हो जाये। अरे! परन्तु खड़ा क्या होता है? उसे ऐसा नहीं कहा। अर्थ की खबर नहीं होती। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता में मैं सावधान होता हूँ। ऐसा अन्दर भान न हो और सावधान कहाँ से होता था? कहो, आहा..हा..!

मुमुक्षु : १९८१ में रणछोड़ भावसार...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, रणछोड़ भावसार हाँकता था और कुछ खबर नहीं होती। अर्थ बोले, अर्थ के भावार्थ की कुछ खबर नहीं। ...बोले जाये। परन्तु क्या मिथ्यात्व और क्या अव्रत और क्या अज्ञान? ...बहुत बोल आते हैं, हों! अब्रह्म छोड़ता हूँ, ब्रह्म को अंगीकार करता हूँ। अब्रह्म और ब्रह्म कहना किसे? तुझे खबर है? भगवान जाने। ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप मेरा है, उसे अंगीकार करूँ। अब्रह्म अर्थात् रागादि बन्ध है, उसे छोड़ देता हूँ। ऐसा है। ...ऐसा है, उसमें अन्तिम शब्द ऐसा है। आता है भगवानभाई? जिसके अक्षय आचार—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और सम्यक्वीर्य, पाँच जिसके अक्षय अखण्ड हैं। ...और चारित्र अक्षय। ...अर्थात् उसे मैं सिरसावन्द्य वन्दन करता हूँ। यह तो सम्यक्त्व का ठिकाना नहीं होता, नहीं होता ज्ञान का और जय... सबेरे-शाम झूठेझूठ। भीखाभाई! गड़बड़ की है। कहो, समझ में आया?

इस तरह यह सत्तर अतिचार हैं, वे सभी व्रतों की शुद्धि में दोष लगानेवाले

हैं। कहो, समझ में आया? सब व्रत और सम्यग्दर्शन इत्यादि ले लेना, हों! सब है न इसमें? सब व्रतों को और सम्यग्दर्शन की शुद्धि को दोष लगानेवाले हैं। ऐसा ले लेना। सत्तर कहाँ है?

भावार्थ : व्रत का सर्वदेश भंग होना तो अनाचार... पूरे व्रत जो हैं स्थिरता, उसे तोड़ डालना, इसका नाम अनाचार। **और एकदेश भंग होना अतिचार कहा जाता है, इस तरह उपरोक्त श्रावक की चौदह बातों के सत्तर अतिचार होते हैं।** यह पंच... न्यालचन्दभाई! कण्ठस्थ किया है या नहीं? पंच... एक बीच में लकड़ी डाली है (विपरीतता की है)।....रयण अर्थात्.... रयण। और स्वयं पात्र के धरनेवाला। वह मुनि में होता नहीं। परन्तु वह बीच में अपनी दृष्टि से डाला है। पाँचवें श्रमणसूत्र में ऐसा रच दिया है। आता है या नहीं? ऐई! क्या आता है वहाँ? ....क्या आता है? भूल गये। ...ढाई ..ढाई द्वीपसमूह... द्वीप समुद्र में... जो कोई श्रावक... परन्तु... और रजोहरण, यह साधु को होता ही नहीं। अन्दर में डाला है। श्वेताम्बर शास्त्र में, चौदह वस्त्र चलते हैं, ऐसा लिखा है। यह मिथ्या बात है। मुनि को वस्त्र का धागा भी नहीं हो सकता। नग्न मुनि आत्मा के आनन्द में... परन्तु श्रमणसूत्र में डाला है, इसलिए श्रावक कभी भूले नहीं। रोज बोले। उसमें आया था न ऐई! वजुभाई!....

अभी तो खबर नहीं मिथ्यात्व परिणाम की। समकित किसे कहना, मिथ्यात्व किसे कहना, व्यवहार समकित किसे कहना – इसकी खबर नहीं होती। देव–गुरु–शास्त्र जो सच्चे हों, उन्हें मानना; वह भी निश्चयसम्यग्दर्शन हो तो उन्हें मानने को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहने में आता है। निश्चयसम्यग्दर्शन स्व का नहीं और पर के उपचार का व्यवहार भी है नहीं। ऐसी बात चली थी। ऐई! शान्तिभाई! ये शान्तिभाई पुराने व्यक्ति हैं न? कलकत्ता में सब प्रतिक्रमण कराये होंगे न? प्रतिक्रमण। पाँचवें श्रमणसूत्र में सब आता है। आता है या नहीं?

अर्थ करते, हों! तब अर्थ करते थे, उन लोगों को उसमें आता है न? ...अक्षय आचार किसे कहना? दर्शन आचार, ज्ञान आचार, चारित्र आचार, तप आचार, यह अक्षय चाहिए... और चारित्र जिसका अक्षय चाहिए, उसे वन्दन करते हैं – ऐसा उसमें कहते हैं। और यह तो भान बिना जहाँ–तहाँ मथता है वन्दामि, मथता है वन्दामि... जाओ। ऐसा आता है या नहीं?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....होगा यह खोटी बात है। यह आता है न, सब खबर है। जाने–अनजाने... कर्म से हल्का होगा.. शीघ्र–शीघ्र मुक्ति में जायेगा। यह आता है। यह सब खबर है... आता है न ? युद्ध में गये थे और युद्ध में... था वह तो सच्चा श्रावक था परन्तु उसे जब बाण लगा तो सल्लेखना करने तैयार हुआ। दूसरा एक उसका मित्र था। वह मिथ्यादृष्टि था, उसे कुछ खबर नहीं। ...यह मेरा मित्र जो करे, वह मुझे होओ। यह जो करे, वह मुझे होओ। न्यालचन्दभाई !

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु इसने सब सुना हो न। पुराना व्यक्ति है। यह करे वह मुझे होओ। ऐसा करके स्वर्ग की इन्द्राणियाँ थी तो, उसे वर गयी। गप्प ही गप्प। छोटाभाई ! ये छोटेभाई वहाँ तक रस लेते थे। गहरे उतरे थे परन्तु, फिर बदल गये। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा..हा.. !

यहाँ तो कहते हैं कि व्रत का और समकित का एकदेश भंग करना, वह अतिचार सर्वदेश (भंग करना), वह अनाचार। **एकदेश भंग होना अतिचार कहा जाता है, इस तरह उपरोक्त श्रावक की चौदह बातों के सत्तर अतिचार होते हैं।**

गाथा – १८२

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार

शंका तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।।१८२।।

सम्यक्त्व के अतिचार शंका, कांक्षा विचिकित्सता।
मिथ्यादृशी की स्तुति, मन से प्रशंसा जानना।।१८२।।

अन्वयार्थ : (शंका) सन्देह (काङ्क्षा) वाँछा (विचिकित्सा) ग्लानि (तथैव) उसी प्रकार (अन्यदृष्टीनाम्) मिथ्यादृष्टियों की (संस्तवः) स्तुति (च) और (मनसा)

मन से (तत्प्रशंसा) अन्य मतावलम्बियों की प्रशंसा करना (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टि के (अतिचाराः) अतिचार हैं।

टीका : 'शंका तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टीनाम् संस्तवः च मनसा प्रशंसा सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः भवन्ति।' –अर्थः– (१) जिनवचन में शंका करना, (२) व्रत पालकर इसलोक तथा परलोक सम्बन्धी इष्ट वस्तु की वांछा अर्थात् सांसारिक सुखों की इच्छा करना, (३) (अनिष्ट या दुर्गन्धमय वस्तु से अप्रीति–ग्लानि करना अथवा) मुनिराज आदि के शरीर को देखकर घृणा करना, (४) अन्यमतावलम्बी मिथ्यादृष्टियों की वचन से बड़ाई करना, कि यह भी कुछ अच्छा ही साधन करते हैं, (५) उनके कार्यों की मन से प्रशंसा–सराहना करना अर्थात् उनको भी अच्छा सा जानना। यह सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं, इनसे सम्यक्त्व मलिन होता है।

भावार्थ : जब तक इन पाँच अतिचारों का त्याग नहीं होता, तब तक वह निश्चय–सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।।१८२।।

गाथा १८२ पर प्रवचन

अब **सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार**

शंका तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।।१८२।।

समझ में आया? **सन्देह...** यह इसका अर्थ... कहा लो न।

टीका : (१) जिनवचन में शंका करना,... वीतराग के वचन में शंका नहीं हो, तब चैतन्यशुद्धस्वभाव, वह टिक सकता है; नहीं तो सम्यग्दर्शन में शंका, दोष है। समझ में आया? **वांछा...** वास्तव में तो अखण्ड वस्तु पूर्ण शुद्ध अभेद वीतराग समरस तत्त्व पूरा, ऐसे अभेद में शंका नहीं कि यह कैसे है? वांछा, यह अभेद के अतिरिक्त बाहर की कोई भी विकल्प और पर्याय की भी वांछा नहीं। समझ में आया?

ग्लानि... अर्थात् कि चलता हुआ शुद्धोपयोग का अन्तर जो व्यापार, उसमें ग्लानि नहीं। इसका फल कैसे आयेगा? क्या आयेगा? फल कोरा आयेगा या नहीं? यह ग्लानि

नहीं। कहो, समझ में आया ? बाहर का दूसरा अर्थ करेंगे, हों ! मूल तो अखण्ड, अभेद चैतन्य वस्तु की दृष्टि हुई है, उसमें शंका नहीं, वस्तु में शंका नहीं। एकदेश सन्देह नहीं और वस्तु जो अखण्ड अभेद चैतन्य दृष्टि हुई है, उससे विरुद्ध कोई भी विकल्प आदि की काँक्षा नहीं। रागादि की इच्छा नहीं। उसकी शंका नहीं, उसकी इच्छा नहीं। अस्ति-नास्ति से निर्मल पूर्ण हो तब। समझ में आया ? व्यवहार में वीतराग के वचनों में शंका नहीं, अन्तर में वीतरागभाव में शंका नहीं। वीतरागस्वरूप ही आत्मा का है, (उसमें) शंका नहीं।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि **व्रत पालकर सांसारिक सुखों की इच्छा...** वहाँ आगे कांक्षा अर्थात् वस्तु के स्वभाव से दूसरी कोई भी रागादि कांक्षा, वह समकित का दोष है। **संसार के सुखों की इच्छा...**यह व्यवहार की बात हुई, समझ में आया ? आत्मा में सुख है, अतीन्द्रिय आनन्द सुख है। नि:शंकता है, उसमें शंका नहीं और बाहर में कहीं भी सुख की कल्पना अतिचार की आवे, वह करनी नहीं।

मुमुक्षु : दो में....

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में दोनों में सुख नहीं हो सकता। ऐई ! कहाँ है ? मलूपचन्दभाई नहीं अभी ? पैसे में भी सुख माने और यहाँ भी सुख माने, तो क्या बाधा है ? (ऐसा) कहते हैं। धूल में भी नहीं। राग हो, उसमें भी सुख नहीं। शुभराग हो, उसमें (सुख नहीं)। अशुभराग हो कि यह लक्ष्मी मेरी, यह तो फिर मिथ्यात्व है, यदि मेरी लक्ष्मी मानता है। परन्तु शुभराग होता है, उसमें सुख माने तो मिथ्यादृष्टि है। राग में सुख होगा ? अतीन्द्रिय सुख तो आत्मा में है। समझ में आया ? अतीन्द्रिय सुख में शंका नहीं, इन्द्रिय सुख अथवा सुख का कारण, उसमें राग है, उसकी कांक्षा नहीं।

ग्लानि... इतना करते हैं और फल झट क्यों नहीं आता ? ऐसी ग्लानि इसे (नहीं होती)। कहीं मेरे कारण में अपूर्णता है, इसलिए कार्य नहीं आता। समझ में आया ? कहो, यह तो मूल रकम की बात चलती है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ से शुरुआत होती है। पहले जिसे सम्यक्त्व का ठिकाना नहीं, उसकी बात नहीं परन्तु सम्यक्त्व होने पर भी उसे अतिचार लगे, वह भी निर्मल समकित नहीं है- ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन नहीं, उसे अतिचार पालना,

यह कहाँ रहा ? कहो समझ में आया ? और सम्यग्दर्शनसहित व्रत भी नहीं। व्रत में दोष लगा तो मिच्छामि दुक्कडम्। परन्तु व्रत थे कब कि व्रत में दोष लगे, (तो) मिच्छामि दुक्कडम् (कहना पड़े)। कोई व्रत में... परन्तु व्रत थे, होवे, उसे दोष लगा हो। जिसे समकित हो, उसे स्थिरता आदि के व्रत होते हैं। अब उसके बिना व्रत में दोष लगे, मिच्छामि दुक्कडम् आया कहाँ से ? समझ में आया ?

यह मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। भाई! स्थानकवासी में... यह सब रखा है। एक-एक बात। तुम्हारे समकित का ठिकाना नहीं, देव-गुरु-शास्त्र (सच्चे नहीं) और व्रत में दोष लगा हो तो मिच्छामि दुक्कडम्। उपवास किया न हो, दो बार खाया हो, शाम को कहे उपवास में दोष लगा हो तो मिच्छामि दुक्कडम्। परन्तु अपवास था कब ? दो बार तो खाया है परन्तु शाम को कहे कि आप अपवास में दोष लगा हो तो मिच्छामि दुक्कडम्। कितने उपवास करके बैठे हों, उन्हें दोष लगे तो यह कहे, मुझे भी दोष है। परन्तु तू तो अभी खाकर-गटक कर आया है। ऐई! इसी प्रकार सम्यग्दर्शन में दोष है। परन्तु सम्यग्दर्शन का ही ठिकाना नहीं और दोष कहाँ से आया ? व्रत में दोष लगता है, परन्तु व्रत थे ही नहीं और दोष कहाँ से आया ? यहाँ तो है, उसे दोष की बात है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह भी किसका ? किसे ? किसे प्रतिक्रमण ? जिसे सम्यक् आत्मा का भान है, स्वरूप में स्थिरता हुई है, उसे कोई विकल्प आदि में दोष लगा हो तो उसे प्रतिक्रमण में यह शुभ-अशुभपरिणाम मेरे नहीं। मैं स्वरूप में स्थिर होता हूँ, उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। समझ में आया ? परन्तु अभी मिथ्यात्व से ही विमुख हुआ नहीं। प्रतिक्रमण अर्थात् विमुख होना। मिथ्यात्व से विमुख हुआ नहीं, स्वभाव-सन्मुख में आया नहीं और वह प्रतिक्रमण के पास से हटना। कहाँ से हटना ? परन्तु हटा हुआ ही पड़ा है। समझ में आया ? आहा..हा..! मूल का-नींव का विवाद। हीराभाई! आहा..हा..!

ग्लानि... मुनियों को देख-देखकर ग्लानि (न करे) अथवा यहाँ अपने स्वरूप में आगे बढ़ नहीं सके तो, उसमें ग्लानि नहीं करना। समझ में आया ? द्वेष के अर्थ में जाता है। वह काँक्षा राग के अर्थ में जाती है। वह (ग्लानि) द्वेष के अर्थ में।

मिथ्यादृष्टियों की स्तुति... अब वाणी आयी। समझ में आया ? यह तो मस्तिष्क

में क्या चलता था ? यह वाणी और मन आया, इससे पहले शरीर। शरीर अर्थात् चैतन्यशरीर... उसमें ऐसा नहीं करना, ऐसा करना। ऐसा मस्तिष्क में चलता था। भाई ! क्या कहा समझ में आया ? यह वाणी और मन तो आयेगा न ? अर्थात् पहले चैतन्य शुद्ध ज्ञायक शरीर है, ऐसा चलता था। उसका अर्थ किया। अपना चैतन्यज्ञायक शुद्ध अभेद शरीर है। समझ में आया ? शरीर द्वारा उसमें नहीं आया, वाणी आयेगी। यह शरीर। इसमें शंका नहीं करना। इसे छोड़कर बाहर में दूसरे की काँक्षा नहीं करना। इसका जो परिणमन चले, उसमें शीघ्र पूरा क्यों नहीं होता ? ऐसी ग्लानि-द्वेष नहीं करना। समझ में आया ? ऐसा मस्तिष्क में चलता था। समझ में आया इसमें ? आहा..हा.. ! वीतरागमार्ग अकेला निहाल होने का मार्ग है। इस निहाल के मार्ग और व्यापार का ख्याल आवे नहीं और अध्धर से करे, उसमें निहाल किस प्रकार हो ? समझ में आया ?

मिथ्यादृष्टियों की स्तुति... वाणी द्वारा। अन्दर भाव तो वहाँ आया हो, तब वाणी आवे न ? परन्तु उस भाव की फिर वाणी स्तुति करने बाहर आ गयी। अज्ञानी की स्तुति अतिचार है। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसके आचरण में स्तुति नहीं हो सकती। वास्तविक तत्त्व जो है, वह सर्वज्ञ से कहा हुआ और परिपूर्ण वस्तु, उसके अतिरिक्त जो कुछ, वे दृष्टिरहित, जो कोई व्रतादि पालते हों, उनकी वाणी से स्तुति नहीं करना। उनके ऐसे काम किये हों तो बहुत अच्छे किये, ऐसा नहीं कहना क्योंकि उसे वस्तु की खबर नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अतिचार आ जाये, उसे नहीं करना, इसकी बात है न, यहाँ तो ? होने न देना। कहीं अर्थात् भान होता है। तथापि जरा वह... ओहो..हो.. ! यह काम ठीक किया। आता है न ? पुण्य-पाप का नहीं ? कुशील का ? संसर्ग नहीं करना। कुशीलों का संसर्ग... ऐई ! वाणी द्वारा करना नहीं। नहीं आता ? समयसार में पुण्य-पाप अधिकार में (आता है)। राग का संसर्ग करना नहीं। वाणी में प्रशंसा करना नहीं। जयसेनाचार्य में आता है। बात ऐसी बराबर है। समझ में आया ?

जो वस्तु - पुण्य के परिणाम को कुशीलपना है, कुशीलपना है, उसे मन से भी प्रशंसा नहीं करना। मन से उसका संसर्ग नहीं करना - ऐसा वहाँ कहा है। समझ में आया ? यहाँ कहेंगे मन से प्रशंसा करना नहीं, वाणी से स्तुति करना नहीं। समझ में आया ? ओहो..

वीतरागमार्ग की रचना, पूर्वापर अविरोध और एक प्रकार सत्य अखण्ड खड़ा हो, ऐसी चारों ओर की बात है। किसी पहलू से नजर डालो तो वहाँ उसकी बात उसी प्रकार से खड़ी होगी। इतना दोष जरा शुभराग और अकेला करे और यह स्तुति करना, उसकी स्तुति होती नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ यह। ...वाणी से। पहले मूल से।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लौकिक कार्य में अलग। यह तो कहे लौकिक में साधारण करते हैं परन्तु धर्म को धर्मरूप का स्वीकार होकर, ऐसा कहे यह धर्मी है और यह कर्तव्य अच्छा है, वह स्वीकार करे यह दोष है। लौकिक में तो एक आवे तब कहे, भाई! यह तो अच्छा काम किया, हों! मकान बनाया, लड़कियों के विवाह में काम किया। वह अलग चीज़ है। वह तो लौकिक बात हुई। समझ में आया? उसमें कोई गुरु प्रशंसा नहीं, वह तो मात्र बाहर की साधारण बात है परन्तु जहाँ धार्मिक बात है और धर्म के धारक नाम धराकर हम कर्तव्यवाले हैं, ऐसा मानता है, उसकी वाणी द्वारा स्तुति नहीं हो सकती। समझ में आया?

छोड़ना। **मन से अन्यमतवालों की प्रशंसा करना...** नहीं। लो। अन्यमतवाले– ऐसा लिखा है इसमें। है? इसमें है न? कार्यों की मन से प्रशंसा करना नहीं। अन्यमती की व्याख्या तो बहुत लम्बी की है, मोक्षमार्गप्रकाशक में।

मुमुक्षु : उसमें लम्बी आयी और इसमें संक्षिप्त आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : संक्षिप्त कुछ आयी नहीं। यह सब उसमें जाता है, कहते हैं।

मिथ्यादृष्टियों की स्तुति और मन से अन्यमतवालों की प्रशंसा करना... नहीं। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो अनादि परम्परामार्ग कुन्दकुन्दाचार्य आदि ने वर्णन किया है, वह एक ही मार्ग है। इसके अतिरिक्त सब मार्ग, वे अन्यमती के मार्ग हैं। समझ में आया? यह तो अन्यमत शब्द आया न? **सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं,..** समझ में आया? ये अतिचार आत्मा के भानसहित देखे, वे अतिचार करना नहीं। वे दोष हैं। इसलिए पहले मूल के दोष इसे टालना। फिर दूसरे की बात लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय १८२ (गाथा) इसकी टीका फिर से लेते हैं। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं। वे टालना चाहिए। टालने के लिये बताते हैं। समझ में आया? **(१) जिनवचन में शंका करना,...** वीतराग के आगम में कोई ऐसे बोल हों और कुछ शंका हो तो सम्यग्दर्शन होने पर भी उतना दोष है। समझ में आया?

मुमुक्षु : समझने के लिये आता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझने के लिये की बात नहीं। यह तो खास कोई शंका हो जाये कुछ। समझने के लिये, वह तो आशंका है। यह तो कोई ऐसे विशेष बोलों में कुछ अन्दर कैसे होगा? ऐसा हो जाये, ऐसी शंका, वह सम्यग्दर्शन का अतिचार है।

मुमुक्षु : अतिचार का अर्थ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अतिचार अर्थात् थोड़ा दोष लगता है, इतना। कल कहा था न? सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से, मिथ्याश्रद्धा की अपेक्षा से, चारित्रदोष, वह परिमित है। श्रद्धा का दोष, मिथ्यात्व का वह अपरिमित महादोष है और उसकी अपेक्षा से राग-द्वेष चारित्रदोष वह परिमित / मर्यादित दोष है। अब इसमें श्रद्धा में भी मूल सम्यग्दर्शन की श्रद्धा नहीं जाती, समझ में आया? और कोई दोष ऐसा भंग शंकादि हो, तो वह दोष थोड़ा परिमित है। वास्तव में तो वह वस्तु ऐसी है कि उसका कुछ बन्धन नहीं होता। वह छूट जाता है। निश्चय तो अन्दर अनुभव हुआ है, निश्चय, उसके बाद की यह बात है। समझ में आया? शुद्धद्रव्य, अभेद, अखण्ड, चैतन्यमूर्ति, जैसा सर्वज्ञ ने देखा—कहा, वैसा अन्तर में निश्चय से स्व आश्रय से निर्मल सम्यग्दर्शन हुआ है। उसमें निश्चय सम्यग्दर्शन में ऐसा कुछ दोष होवे तो वह इसकी... पाठ ऐसा था न अतिचार में? देखो '**शुद्धिप्रतिबन्धिनः**' ऐसा है न ऊपर? १८१ में है। ये सब अतिचार, शुद्धि का प्रतिबन्ध करनेवाले हैं। जरा शुद्धि

बढ़ती नहीं। १८१ वीं (गाथा में) अतिचार की व्याख्या थी। अर्थात् कोई ऐसा सामान्य–विशेष आगम का कोई वाक्य हो, उसमें कुछ शंका हो जाये, तो वह शंका वीतराग की वाणी में शंका क्या? सर्वज्ञ ने कहा हुआ, देखकर कहा हुआ, जानकर कहा हुआ, अनुभव कर कहा हुआ, उसमें शंका हो सकती नहीं परन्तु कोई ऐसा आ जाये, वह दोष है, उसे टालना चाहिए ऐसा कहते हैं।

व्रत पालकर सांसारिक सुखों की इच्छा करना,... ऐसे सुख पर में है, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है। समझ में आया? आत्मा के अतिरिक्त कहीं पर में सुख है, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है। परन्तु जरा आसक्ति की ऐसी वासना, जरा व्रत पालन करके संसार के सुख की सहज इच्छा हो जाये तो वह अतिचार है। समझ में आया? आत्मा में आनन्द है। पुण्य–पाप के भाव में, उसके बन्धन में या उसके फल में कहीं सुख है नहीं। ऐसा तो अनुभव, निर्णय सम्यक् में हुआ हो, परन्तु फिर भी जरा कहीं लचक खा जाये तो उतना सम्यक्त्व में दोष है, अतिचार है। उतना भी नहीं करना चाहिए। इसके लिए कहते हैं। बचाव रखने के लिये यह बात नहीं है। वापस इससे कोई बन्ध नहीं होता, इसलिए यह तो स्वरूप का ऐसा स्वरूप है कि जहाँ निश्चय शुद्ध आत्मा, राग से भिन्न पड़कर आत्मा का अनुभव और निश्चय सम्यग्दर्शन हुआ, उसे यह भाव नहीं होना चाहिए क्योंकि विशेष निर्मलता को रोकनेवाला है। बस, इतनी बात है। समझ में आया? फिर उस बहाने चाहे जिस प्रकार पर में सुख माने और ऐसा माने कि यह अतिचार है, वह वस्तु नहीं। समझ में आया?

(३) मुनिराज आदि के शरीर को देखकर घृणा करना,... घृणा। ऐसी ग्लानि नहीं होती क्योंकि वह तो मुनियों का आचार है। नहाना–स्नान करना आदि नहीं होता। नग्न मुनि है, भाव आत्मा के आनन्द में झूलते होते हैं। ऐसों के शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना। इसका अर्थ द्वेष हो जाता है।

(४) मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना,... कुछ ऐसी क्रियायें, ज्ञान या वर्तन देखकर ऐसी स्तुति हो जाये, वह दोष है, अतिचार है। समकित की धारा को मलिन करता है। समझ में आया? बनारसीदास में यह आता है 'समल करहि समकित की धारा' अतिचार है न? 'समल करहि समकित की धारा' ऐसा शब्द आता है। बनारसीदास में है। यह फिर सबेरे याद आ गया था। समझ में आया?

पहले से ही बचाव करना चाहे, उसकी यह बात नहीं है। समझ में आया ? पहले से तो इसे निश्चय स्ववस्तु का आश्रय लेकर और शुद्ध दृष्टि निर्मल सम्यक् अनुभव प्रगट हुआ है। समझ में आया ? पहले में ही लीपा-पोती करे कि ऐसा है, वैसा है, अमुक। वहाँ तो अभी बाहर में अटका तो वह अन्तर में जा नहीं सकेगा। यह तो अन्तर सम्यग्दर्शन हुआ और उसे ऐसे भाव होने देना नहीं। वह दोष है, मैल है, मैल है। सकल कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकते। इतना मैल है न ?

उनके कार्यों की मन से प्रशंसा करना... कोई मन में जरा किसी का वैराग्य बाहर आ जाने पर प्रशंसा हो तो वह दोष है। सम्यक्त्व का अतिचार है। समझ में आया ? यह बनारसीदास में है। गुणस्थान में होगा, गुणस्थान में आता है न ? यह छद्मस्थ के चौथे गुणस्थान की बात है। देखो ! यह आया (नाटक समयसार, चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, पद-३९) 'अतिचार ये पंच परकारा, समल करहि समकित की धारा।' है। चौथे गुणस्थान की, चौथे गुणस्थान की बात आती है न ? अतिचार यह 'पंच परकारा, समकल करहि समकित की धारा, दूषण, भूषण गति अनुसरनी, दशा आठ समकित की वरनी।' बनारसीदास ने बहुत (लिखा है)। बहुत वर्णन है। दूष और ऐसे बहुत प्रकार का है। आठ मल, पच्चीस दोष,... इसके बाद तो यह बात है। समझ में आया ?

भावार्थ : जब तक इन पाँच अतिचारों का त्याग नहीं होता, तब तक वह निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। ऐसा लेना। इसका अर्थ निर्मल सम्यग्दर्शन नहीं रहता, ऐसा लेना। समझ में आया ? निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। यह तो पहले से लेना हो तो लिया जाता है। एक लचक खायी है। वह नहीं हो सकता, ऐसा कहा। होने के बाद ऐसा दोष हो तो वह मलिनता है। समझे न ? परन्तु पहले से ही ऐसा रखे (तो ऐसा नहीं) हो सकता नहीं, ऐसा शब्द रखा है अर्थात् कदाचित्... पहले शुरुआत में ऐसा न हो। जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन करना है, उसे ऐसा होता नहीं और सम्यग्दर्शन के पश्चात् यदि ऐसा हो, तो वह निर्मल सम्यग्दर्शन नहीं रहता। जरा सा मलिनता होती है। कहो, समझ में आया ? आहा..हा.. !

वीतराग का मार्ग, अकेला आत्मा के शान्ति और सुखस्वरूप से भरपूर तत्त्व, और वह भी वापस अनन्त गुणों का सुख। उस सुख का सुख, ज्ञान का सुख, चारित्र का सुख,

सबका सुख ऐसा। पूरा देखो तो सुख का पिण्ड आत्मा है। बाहर में धूल में भी सुख नहीं है। ऐई! पोपटभाई! इन टाईल्स में, टाईल्स के पैसे में। लड़के बुलावे बापूजी! बापूजी! करे, बड़े लड़के का...

मुमुक्षु : लात पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो लात तो कुछ (नहीं), हीराभाई ऐसे कुछ लात मारे नहीं। यह तो कोई ऐसा हो तो वह अच्छा, ऐसा मानना दुःख है, ऐसा कहते हैं। लड़का ऐसा कोई हो, परन्तु अनुकूल हो तो कहाँ इसकी चीज़ है वह।

मुमुक्षु : अनुकूल.....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहना किसे? परन्तु परवस्तु ज्ञेय है, वह तो जाननेयोग्य चीज़ है। उसमें यह मेरी कहाँ से आयी? जगत के जैसे परमाणु और दूसरे के आत्मा ज्ञेय हैं, वैसे यह भी ज्ञेय है। ज्ञेय में अन्तर डालना कि यह मेरा, यह कहाँ से? उस वस्तु–ज्ञेय में है ऐसा? समझ में आया?

श्रीमद्जी ने एक दृष्टान्त दिया है न? दिया है, एक मकान की गली होती है पूरी, अब उस गली को देखता है, उसमें जो इसका मकान यह मेरा। यह भी आया कहाँ से? यह तेरा कहाँ से आया? वह तो सब ऐसे देखने योग्य है। पूरी गली देखता है, लो। समझ में आया? इसी प्रकार पचास लड़के हैं, देखता है कि है। उसमें यह मेरा, ऐसा कहाँ से आया? सेठी! महेन्द्रभाई को गलगलिया बुला दे। पिताजी साहेब! पिताजी साहेब! कहो, समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं, कोई किसी का पिता नहीं और कोई किसी का पुत्र नहीं।

मुमुक्षु : यहाँ नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अर्थात् आत्मा में। यहाँ अर्थात् फिर इस सोनगढ़ की कहाँ बात है? आत्मा में। यहाँ अर्थात् आत्मा में। आहा..हा..! जहाँ अत्यन्त निराला तत्त्व। भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने पहले नहीं कहा? १४वें श्लोक में (कहा है)। कर्म से–आस्रवादि से रहित आत्मा है, उसे सहित / संयुक्त / सहित मानना, बस यही संसार का बीज है। वह तब नहीं होगा। ऐई सेठी! निकालो १४वीं गाथा। १४वीं गाथा, १९ वें पृष्ठ पर। संसार का बीज। मूल बीज कहते हैं, देखो! यह बहुत पण्डितों के बीच कहा था। वहाँ

'आंकडिया,' 'जयपुर' सर्वत्र बहुत जगह। उपस्थित थे न, परन्तु इसे याद नहीं रहता। सेठिया को कहे हाजिर थे न। ऐसा सब याद रहे ? १९ वाँ पृष्ठ है। १४वीं गाथा।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

अर्थ : इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि... पुत्रादि, स्त्री, पुत्र, मकान आदि से **संयुक्त न होने पर भी...** उनसे सहित न होने पर भी **'बालिशानां' अज्ञानी जीवों को संयुक्त...** उन सहित मैं हूँ, ऐसा **प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है।** पढ़ो, पढ़ो। है ? जयपुर में सभा के बीच कहा था। पण्डितों में कहा था। समझ में आया ? हिम्मतनगर में कहा था। दो पण्डित थे।

यह कर्मकृतभाव है। दुश्मनकृत भाव है। सज्जनस्वरूप सत्‌जन—स्वभाव से आत्म भरपूर, उसका यह कार्य है नहीं, उसकी यह पर्याय है ही नहीं। आत्मा के शुद्धस्वभाव से विरुद्ध जो कर्म, उससे किये हुए पुण्य-पाप के भाव, उनसे प्राप्त स्त्री, पुत्र, परिवार यह सब कर्म-दुश्मन के सब फल हैं। उसे अपने मित्र में, सज्जन में खतौनी करना कि इन सहित हूँ; रहित है और सहित है, ऐसा मानना, इसका नाम भव का बीज है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : इस बीज का करना क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ देना। मान्यता छोड़ देना। कहो, समझ में आया ? उन सुमनभाई का वहाँ से इतना बड़ा लम्बा पत्र आवे न, बापूजी ! बापूजी ! अन्दर ठीक से करे न ? मीठा व्यक्ति। ठीक से लिखे। ऐसा पहले लिखे। ऐई ! हिम्मतभाई ! तुम्हारे भी वह है न, वहाँ से लिखेगा न ? निरंजन। वह भी अमेरिका पढ़ने गया है न ? कितना खर्च करके भेजा है देखो ! उसने फिर पहले यह काम किया। जोबालिया में इतने खर्चे में नहीं कोई। उसे पढ़ने भेजा, पच्चीस-तीस हजार खर्च करके। जोबालिया में पहला-पहला लगता है। परन्तु उसमें किसका है ? कहाँ है ? किसे भेजा ? यहाँ कहते हैं। मेरा है ही नहीं, फिर भेजे कौन ? अब वह चतुर होकर आवे तो भी वह मेरा नहीं। फिर आवे कौन और लावे कौन ? ऐई ! आहा..हा..!

मुमुक्षु : धर्मादा बहुत करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका धर्मादा ? कहाँ था वह धर्मादा ? राग में धर्मादा आता

होगा? पैसे में आता होगा? मन्दिर में (आता होगा)? समझ में आया? भीखाभाई! यह तो 'रण चढ़े रजपूत छिपे नहीं', बापू! चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा, अनाकुल आनन्द पर आरूढ़ में–चढ़ा, वह परचीज़ को अपनी कैसे माने? राग दु:खरूप, उसके निमित्त सब दु:खरूप के हैं। उन्हें अपना कैसे माने? असहित को सहित मानना, वही भव का बीज है। भव का बीज अज्ञानियों को प्रतिभासित होता है कि ये मेरे। कहो, हीराभाई! हीराभाई का इसमें बचाव नहीं रहता। यह अच्छा लड़का है, इसलिए तुम्हारा होगा, ऐसा यहाँ नहीं आता। कहो, पोपटभाई! एक का एक हो, उसमें फिर आज्ञाकारी हो, ठीक हो, बोले बापूजी! भाई! भाई! आहा..हा..! भाई! तुम्हें सुख हो ऐसा करो। हम सब करेंगे। तुम वहाँ जाओ। चाहिए हो वह मँगा लेना, कुछ चिन्ता करना नहीं।

मुमुक्षु : कुछ भी अन्तर पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो! आया? किसे कहना? परद्रव्य को इष्ट कहना (कैसे)? वे तो ज्ञेय हैं। उस ज्ञेय में इष्टपना है? अन्दर छाप लगायी है? और किसी ज्ञेय में यह अनिष्ट है, ऐसी छाप लगायी है? है, वह तो ज्ञेय है। प्रमेय... प्रमेय प्रमाण का विषय है। बस, समाप्त हो गया। आत्मा प्रमाण ज्ञानस्वरूप में वह प्रमेय जाने कि यह प्रमेय–ज्ञेय है इतना। उसमें बीच में यह लकड़ी कहाँ से आयी (मेरा है ऐसी मान्यता कहाँ से आयी) कि यह मेरे? बस, यही भव का बीज है, कहते हैं। समझ में आया? घर की बात ऐसे कहे तो इसे ठीक पड़े, इसे स्पष्ट समझ में आये? आहा..हा..! यह तो एक दृष्टान्त है। सबके घर–घर में ऐसा ही है न? पोपटभाई! इसे छह लड़के वापस। लोहे जैसे बड़े होशियार। कुछ धूल भी नहीं। कहते हैं यह तो सब कर्म का कार्य है। आहा..हा..! यह कर्म ने करतूत खड़ी करके तुझे ललचाता है कि ये मेरे। धूल में भी नहीं। मर जायेगा, कहते हैं। कहो, राजमलजी! लॉजिक से है या नहीं? न्याय से। तुम्हारे तो लॉजिकवाले हैं न यह तो। ...वकील। आहा..हा..!

भगवान! तू तो ज्ञानस्वरूप है न प्रभु! और तेरे अतिरिक्त रागादि सब तेरे ज्ञान में ज्ञेयस्वरूप है। राग से लेकर (सब), हों! देखो न! वीतराग की शैली तो देखो। ओहो..हो..! व्यवहार से जाना हुआ जो प्रयोजनवान कहा, ऐई! व्यवहार जाना हुआ। परन्तु क्या शैली, यह वीतराग के कथन की पद्धति! कोई मुनियों की पद्धति अखण्ड सत्य खड़ा हो ऐसी। ... आहा..हा..! यह राग भी कहते हैं कि जाननेयोग्य है। उसे मेरा मानना, उस रागरहित

है, उसे रागसहित मानना, वह कर्म की करतूत से खड़े हुए स्त्री-पुत्र सब, उन्हें अपना मानना, यह सब दुश्मन ने जाल रची है। आहा..हा..! समझ में आया?

कर्म, आत्मा के स्वरूप से अत्यन्त विरुद्ध लक्षणवाला तत्त्व है। उससे खड़े हुए पुण्य-पाप और उनसे खड़े हुए ये सब। अन्दर में यह और बाहर में ये। बीच में पड़ा कर्म। आहा..हा..! यह राग, यह कर्म और ये सब बाहर के, इनसे भगवान तो असंयुक्त है - सहित नहीं है। तीन काल में तीन काल सहित नहीं है, उसे सहित मानना वह भव-भव का बीज है। **खलु** शब्द है न? वास्तव में संसार के बीजरूप है। आहा..हा..! यह चौदहवीं गाथा है। ऐई! पोपटभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। उसमें कहीं कोई तीन काल में पर के कारण ऐसा हो, धूल हो, कुछ हो, ऐसा नहीं है। इसका अर्थ क्या? निमित्त का अर्थ, यहाँ ज्ञान करे, उसमें-ज्ञान में निमित्त है। उपादान यहाँ है, उसका ज्ञान में निमित्त है कि एक दूसरी चीज़ है, बस इतना।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त काल से चला है। निमित्त बिना चला है। यह कहा न? कि यहाँ ज्ञान हुआ, उसमें वह पर निमित्त है, ऐसा यहाँ ज्ञान हुआ। उस ज्ञान ने निमित्त के आश्रय बिना ज्ञान किया है। निमित्त है, इसलिए निमित्त का ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं। आत्मा स्व-परप्रकाशक ज्ञायक है, इसलिए स्व-पर प्रकाशक का ज्ञान हुआ; इसलिए निमित्त बिना स्व-परप्रकाशक ज्ञान हुआ है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : बात तो सत्य है परन्तु....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सत्य नहीं, सत्य अन्दर रखनी पड़ेगी। सत्य है परन्तु क्या? यह हीराभाई मक्खन लगाने से नहीं चले कुछ, हाँ! बापूजी! भाई! भाई! करे। नहीं, कोई किसी का नहीं। यह तो इनके घर का दृष्टान्त दिया। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

कहते हैं, **जब तक इन पाँच अतिचारों का त्याग नहीं होता तब तक...** निश्चय सम्यग्दर्शन पहले से हो नहीं सकता। जब तक ऐसे दोष सेवन करता हो, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता और निश्चय सम्यग्दर्शन हो, उसमें ऐसा हो तो निर्मल नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

गाथा - १८३

अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोध: पञ्चाहिंसाव्रतस्येति।।१८३।।

छेदन प्रताड़न बाँधना, अत्यधिक बोझा लादना।
हैं अन्न पान निरोध करना, तज तभी शुध अहिंसा।।१८३।।

अन्वयार्थ : (अहिंसाव्रतस्य) अहिंसाव्रत के (छेदनताडनबन्धा:) छेदना, ताडन करना, बाँधना, (समधिकस्य) बहुत अधिक (भारस्य) बोझ का (आरोपणं) लादना (च) और (पानान्नयौ:) अन्न–जल का (रोध:) रोकना अर्थात् न देना (इति) इस प्रकार (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका : 'छेदन ताडन बन्धा: समधिकस्य भारस्य आरोपणं पानान्नयोश्च रोध: इति पञ्च अहिंसाव्रतस्य अतिचारा:।' –अर्थ:– छेदन अर्थात् कान, नाक, हाथ इत्यादि काटना, ताड़न अर्थात् लकड़ी, चाबुक, अरई इत्यादि से मारना, बन्ध अर्थात् एक स्थान पर बाँधकर रोक रखना, अधिक भार अर्थात् ऊँट, बैल, घोड़ा इत्यादि के ऊपर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना, तथा योग्य समय पर घास, चारा, पानी इत्यादि न देना– यह अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।।१८३।।

गाथा १८३ पर प्रवचन

अब, **अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार**

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोध: पञ्चाहिंसाव्रतस्येति।।१८३।।

टीका – छेदन अर्थात् कान, नाक, हाथ इत्यादि काटना,... देखो, यह अहिंसा के अतिचार हैं। कोई करते हैं न, यह कोई बकरे के कान काटे, लम्बे बकरे के काम होते

हैं न? यह अतिचार है, यही कहता हूँ। अहिंसा के अतिचार हैं, अहिंसा के अतिचार हैं। उस बकरे के लम्बे कान हों, उनके दो टुकड़े करे। यह अहिंसा के अतिचार हैं, हों। अहिंसापना रहता है, परन्तु उसमें इसका अतिचार, यह देशभंग होता है। निध्वंसरूप से मारने के परिणाम नहीं। समझ में आया? परन्तु इस प्रकार का एक परिणाम है। कान काटे।

नाक, हाथ इत्यादि काटना, ताड़न अर्थात् लकड़ी, चाबुक, अरई इत्यादि से मारना,... लकड़ी, चाबुक, अरई। अरई मारते हैं न ऐसे। बैल न चले तो अरई मारते हैं। यह अतिचार है। पंचेन्द्रिय प्राणी को (मारे तो) अहिंसा में इस प्रकार का दोष है। समझ में आया? और इस दोष का तो उसे बन्धन होता है, हों! इस दोष का बन्धन है। कारण कि यह तो चारित्र है। पहले तो दर्शनमोह की बात थी। उसमें इन अतिचारों का बन्धन नहीं। वर्तमान निर्मल धारा नहीं, समल धारा है। उसे इतना है, इतना जानना। कहो, समझ में आया?

चाबुक, अरई इत्यादि से मारना, बन्ध अर्थात् एक स्थान पर बाँधकर रोक रखना,... लो! खूँटा बाँधकर रोक रखना। उलझन। पशु को तो भी खूँटे से न बाँधे तो चला जाये, तो भी कहते हैं... वास्तव में तत्त्वार्थसार में लिखा है कि श्रावक को वह संग्रह नहीं करना - ऐसा लिखा है। पशु आदि का संग्रह करना नहीं, घर में रखना नहीं। ऐसा लिखा है, हों! तत्त्वार्थसार है न? उसमें नीचे लिखा है। यह सब अर्थ इसमें कहीं है। नीचे लिखा है, उसमें तो क्या निकलता है? कि श्वेताम्बर में ऐसा आता है कि... और कामदेव को दस-दस हजार गायों के गोकुल थे।

मुमुक्षु : इसमें नौ ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह मेरा कहना है। ऐसी सब कितनी उपाधि। पशु को घास-पानी, बाँधना। यह तत्त्वार्थसार में नीचे है। समझ में आया? निकालो न भाई! यह तो अपने याद आवे तब करना। वह स्वाध्याय हो जाये साथ में। निकालो, कहीं है। अहिंसा के अतिचार में होगा, देखो! फुटनोट में है। वह तो याद आवे, तब आ जाये। समझ में आया? श्रावक को यह धन्धा ही नहीं करना, ऐसा कहते हैं। पशु को रखना और यह करना, ऐसा। समझ में आया? उसमें तो ऐसा आता है कि दो लाख सत्ताईस हजार गायें। रेवती।

मुमुक्षु : कितनी अधिक दया पालन की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब लौकिक बातें। रेवती कौन श्रावक? महाशतक। महाशतक श्रावक को अट्ठाईस गोकुल है। दस हजार। दस हजार गायों का एक गोकुल। ऐसे अट्ठाईस। दो लाख अस्सी हजार। यह है, देखो!... बस यह, देखो किया हुआ ही है इनने।

उत्तम नेष्ठिक श्रावक का यह काम है कि... आदि दोषरहित अहिंसा व्रत पालने की इच्छा से गाय आदि पशुओं की... समझे न? **रखे ही नहीं।** बस, यह, देखो चिह्न किया है पहले से। किया हुआ ही है इसमें, देखो! है न?....

परन्तु उतने ही रखने चाहिए, जितने लोगों को.. चल जाये। परन्तु यह मध्यम श्रावक की वृत्ति कही जाती है। रखे तो यह चाहे जिस काम के लिये, परन्तु वध –बन्धन आदि सम्हाल करे और निर्दयता उनको काम न ले। निकृष्ट पक्ष है। देखा! **ऐसा करनेवाला भी.. सकता है परन्तु कृतकारित अनुमत द्वारा पूर्ण रक्षा नहीं कर सकता; इसलिए मन मलिन रहेगा और... अधम रहेगा परन्तु अतिचार तो.. यह ध्यान रहे। अतिचारों को अवश्य टालना चाहिए। क्योंकि ...कभी वास्तविक फल नहीं दे सकते।** समझ में आया? देखो!

अतिचार यदि पापों में गर्भित है, तो पाप के त्याग को जो व्रत कहते हैं, उन व्रतों को संख्या नहीं हो सकती। अतिचार हिंसादिक पापों में गर्भित नहीं है तो क्यों छोड़ने चाहिए। विशुद्ध अहिंसादि व्रतों में विचार नहीं रखते, इसलिए छोड़ने योग्य तो है ही। निरालय है। किन्तु एकदेश मूल पापों से गर्भित है, इसलिए उनके त्याग से भी व्रतों की संख्या बढ़ती है। यह शब्द है, देखो! संस्कृत अनागार धर्मामृत, (पण्डित) आशाधर। है न श्लोक? बस, यह पढ़ गये। यह पाठ में निकलता है न! वह अर्थ ही है यह। उत्तम नेष्ठिक श्रावक हो तो भी गायें–भैंसें रखनी नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि उसमें वध, बन्धनादि अतिचार हुए बिना नहीं रहते। इसलिए उन्हें रखना नहीं, तथापि कोई थोड़ा रखता है तो अमुक मध्यम कोटि का कहने में आयेगा, ऐसा कहा है। कहो, समझ में आया? **एक स्थान पर बाँधकर रोक रखना,...** इसके ऊपर से तो यह सब बात है। है न अपने यह अतिचार अहिंसाव्रत के।

अधिक बोझ लादना,.. सिर पर बहुत भार डालना। **योग्य समय पर घास, चारा, पानी इत्यादि न देना..** समय–समय पर अन्न (भोजन) न दे तो बेचारे भूखे रहें। **यह**

अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। ये अतिचार इसे टालना। यह टालने के लिये बात है। कहो, समझ में आया? वीतरागमार्ग का स्वरूप दर्शन, उसकी अहिंसा, उसके अतिचार ये सब अलौकिक बातें हैं। सम्यग्दृष्टि को अणुव्रत हों, उसमें ऐसे अतिचार उसे लगने नहीं देना, उसके लिये यह बात चलती है। समझ में आया?

गाथा - १८४

सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च।।१८४।।

उपदेश मिथ्या दे, बताना गुप्त एकान्ति रहस।
सब लेख लिखना असत्, कहना वचन न्यासापहार युत।।
सब काय चेष्टा से समझ, अभिप्राय पर का बताना।
ये पाँच हैं सत्याणुव्रत के, दोष इनको मिटाना।।१८४।।

अन्वयार्थ : (मिथ्योपदेशदानं) झूठा उपदेश देना, (रहसोऽभ्याख्यानकूट-लेखकृती) एकान्त की गुप्त बातों को प्रगट करना, झूठा लेख लिखना, (न्यासापहारवचनं) धरोहर के हरण करने का वचन कहना (च) और (साकारमन्त्रभेदः) काय की चेष्टा जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रगट करना-यह पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका : 'मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानं कूटलेखनीकृती न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च इति सत्याणुव्रत पञ्च अतिचाराः सन्ति'। - अर्थ :- १- झूठा उपदेश देना, जिससे जीवों का अहित हो, २- किसी स्त्री-पुरुष का गुप्त बातों को प्रगट करना, ३- झूठा लेख लिखना या झूठी रसीद आदि स्वयं लिखना, ४- किसी की धरोहर मार लेना, ५- किसी की आकृति देखकर उसका अभिप्राय प्रगट कर देना - यह पाँच सत्याणु व्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ : १- ऐसा झूठा उपदेश देना कि जिससे लोग कल्याणकारी धर्म को छोड़कर अधर्म में लग जावें। (२- स्त्री-पुरुषों ने कार्य एकान्त में किये हों, उनको प्रगट

कर देना। जो किसी ने कहा भी नहीं, किया भी नहीं, ऐसा झूठा ही ठगने के लिये लिखना कि उसने ऐसा कहा है, ऐसा किया है, इस प्रकार कपटपूर्वक लिखना।) ३– अपने पास कोई मनुष्य धरोहर रख गया हो और जब वह उसे वापस लेने आवे, तब भूल से जितनी रख गया था, उससे कम माँगने लगे तो उससे कहना कि हां इतनी ही थी अथवा यह कहना कि भाई, जितनी हो उतनी ले जाओ। उसे न्यासापहार कहते हैं। ४– किसी की आकृति को देखकर उसका अभिप्राय जानकर उसे प्रगट कर देना कि इसका ऐसा अभिप्राय है। झूठ पहुँच लिख देना अथवा जबरदस्ती से लिखा लेना कूटलेख है। यह पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।।१८४।।

गाथा १८४ पर प्रवचन

सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च।।१८४।।

झूठा उपदेश देना जिससे जीवों का अहित हो,... अर्थात् साधारण ऐसी कोई धार्मिक क्रिया में झूठा उपदेश दे, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? जिसमें जीव का अहित हो, ऐसी वाणी निकालना नहीं। वाणी तो वाणी है परन्तु ऐसा भाव करना नहीं। **झूठा उपदेश...** तत्त्व से अत्यन्त विरुद्ध, वह बात नहीं, हों! यह तो साधारण एकदेशव्रत में उसे दोष लगे ऐसा, धार्मिक साधारण व्यवहारिक बात हो, उसमें अहित हो, ऐसी बात इसे नहीं कहनी चाहिए।

किसी स्त्री–पुरुष का गुप्त बातों को प्रगट करना,... स्त्री–पुरुष अंतरंग गुप्त बात करते हों, उसे सुनकर बाहर प्रसिद्ध कर देना, वह अतिचार है। ऐसा होता नहीं। समझ में आया? **झूठा लेख लिखना या झूठी रसीद आदि स्वयं लिखना,...** यह तो लगे, झूठ जैसा जाने। समझ में आया? परन्तु निध्वंस परिणाम नहीं। जरा अन्दर में अपना सत्यव्रत रखकर अतिचार है। थोड़ी लचक खा जाता है इतना। अत्यन्त झूठे निध्वंस

परिणाम से एकदम सर्वथा ध्वंस नहीं, वह तो अत्यन्त झूठ में जाता है परन्तु इस झूठे लेख में साधारण थोड़ा फेरफार करता हो, झूठी रसीद इत्यादि साधारण में, जिसमें अतिचार लगे ऐसा। समझ में आया? अत्यन्त खोटा-खोटा उठावे। ले न गया हो और पाँच हजार की रसीद कर दे और पाँच हजार का माल कर दे। क्या कहलाता है? लेख। वह तो अत्यन्त झूठा। यह तो जरा अतिचार लगे, ऐसा साधन करना नहीं।

किसी की धरोहर मार लेना,... पूरी धरोहर तो नहीं, समझ में आया? परन्तु थोड़ा बहुत वह भूल गया हो, दो लाख रख गया, सवा लाख रख गया। फिर देना। ले जा भाई तेरे। फिर पहला पौने लाख (पिचहत्तर हजार) पचा ले, वह नहीं। ऐसे तो स्वयं तो अत्यन्त स्पष्ट खोटा बोले नहीं परन्तु वह पहले दस हजार रख गया हो, भाई! मेरे पाँच हजार रख गया हूँ, वह देना। लो भाई! ले जाओ तुम्हारे पाँच हजार। वह पाँच हजार बोला और पाँच हजार दे दे। इसलिए इतनी अनीति इसमें सीधी नहीं की परन्तु उसने कहा और इसने किया, यह अतिचार है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है। सत्य व्रत रखा है, दृष्टि रखी है, व्रत रखा है और उसमें जरा सा लचक खा गया है। एकदम नहीं, हों! ऐसी गड़बड़ उठावे। वह रख गया हो और वह भूल गया हो, एक लाख मैंने दिये हैं - ऐसा कहे। तो बोले नहीं। दूसरा क्या? यह अतिचार है, ऐसा कहते हैं। एकदम न दे और बिल्कुल नहीं, तो वह झूठ है। समझ में आया? ऐसा अतिचार है। ये सब देखो न! ...परन्तु यह उसकी हद है, मर्यादित बात है। अत्यन्त सत् का ध्वंस परिणाम करके सर्वथा... कुछ अन्दर अपना सत् रखना चाहता है और थोड़ी लचक खा जाता है। समझ में आया? तब तो अतिचार कहलाये न? नहीं तो अनाचार हो जाये।

किसी की आकृति देखकर उसका अभिप्राय प्रगट कर देना... आकृति अर्थात् क्या? कोई चोरी करके आया हो या ऐसा अमुक हो और इसे ख्याल आ जाये कि हं... यह कुछ उतावला है, यह कुछ बेचना चाहता है, उसका अभिप्राय खुला कर देना। यह नहीं। **यह पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।**

ऐसा झूठा उपदेश देना कि जिससे लोग कल्याणकारी धर्म को छोड़कर अधर्म में लग जावें। साधारण अधर्म, हों! बड़ा अधर्म वह बात नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इस साधारण की बात है। कोई धर्म की व्यवहार क्रिया हो, उसमें कोई साधारण इनकार करे तो लोग उसे छोड़कर जरा पाप के परिणाम हों, ऐसी बात है। अधर्म सम्यग्दर्शन से विरुद्ध और विकृत, यह बात ही कहाँ है? यह तत्त्व का अत्यन्त विपरीत उपदेश (दे), वह तो मिथ्यादृष्टि है।

यह पहले–पहले पढ़ा जाता है। पुरुषार्थसिद्धि–उपाय। जैसा हो वैसा बराबर समझना पड़ेगा या नहीं? कहो, समझ में आया? फिर यह पूरा होने के बाद क्या पढ़ना, यह कुछ रामजीभाई ने निश्चित नहीं किया। अब क्या पढ़ना? कहो, समझ में आया? यह कलश–टीका गुजराती नयी आयी, इतना है। विचार करना। समझ में आया? ऐसी न्याय से बात है।

अपने पास कोई मनुष्य धरोहर रख गया हो और जब वह उसे वापस लेने आवे तब भूल से जितनी रख गया था, उससे कम माँगने लगे तो उससे कहना कि भाई, जितनी हो उतनी ले जाओ। लो! जितनी हो उतनी ले जा। वह बेचारा भूल गया हो। समझे न? कोई पिता से, माँ से, कोई कहीं से वस्तु लाया हो, उस प्रकार की वस्तु। उसे खबर न हो। तो यह मेरी वस्तु रखना। वहाँ से कठिनता से वह लेकर आया हो, उसमें भूल गया हो फिर। (वह कहे), लाओ इतना। ले भाई तुम्हारी। **उसे न्यासापहार कहते हैं।** धरोहर का दोष।

झूठ पहुँच (रसीद) लिख देना... अत्यन्त झूठी नहीं, हों! रसीद में जरा थोड़ा बहुत सत्य रखकर अन्तर करे। **जबरदस्ती से लिखा लेना...** लो! किसी के पास कूटलेख है। ऐसा दोष नहीं करना। यह दोष नहीं करने के लिये बात है न?

मुमुक्षु : व्रत साथ में भी रहे और स्वयं....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह सब होता नहीं। जो अतिचार को दोष नहीं मानता, वह तो दृष्टि में बहुत झूठा है। पहली बात है यह। अतिचार हैं, वे दोष हैं। जो दोष को स्वीकार नहीं करता, उसकी श्रद्धा में अन्तर है। यह पहली बात। समझ में आया? यह तो भाई!

पोपाबाई का राज नहीं है यहाँ। निर्दोष को-निर्दोषस्वभाव को समझता है, दोष को दोष मानता है और व्रत में भी उस प्रकार का दोष लगता है, ऐसा उसे ख्याल है। समझे न? सत्यव्रत का अनाचारपना नहीं हो जाता। निध्वंसरूप से अत्यन्त झूठ बोलने का ही भाव नहीं, ऐसा भाव नहीं। इस अपेक्षा से इसे अतिचार कहने में आया है। भाई! मार्ग ऐसा है।

गाथा - १८५

अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च।।१८५।।

असली में नकली मिला बेचे, चोर को सहयोग दे।
लेना चुराया द्रव्य, राज विरोध उल्लंघन करे।।
कर माप तौल के साधनों में, हीनता बहुलीकरण।
अस्तेय अणुव्रत के कहे, अतिचार जान करो त्यजन।।१८५।।

अन्वयार्थ : (प्रतिरूपव्यवहारः) प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् असली चीज में नकली चीज मिलाकर बेचना (स्तेननियोगः) चोरी करनेवालों की सहायता करना, (तदाहृतादानम्) चोरी की लाई हुई वस्तुओं को रखना, (च) और (राजविरोधातिक्रम-हीनाधिकमानकरणे) राज्य द्वारा आदेशित नियमों का उल्लंघन करना, माप या तौल के गज, मीटर, काँटा, तराजू आदि के माप में हीनाधिक करना, - (एते पञ्चास्तेयव्रतस्य) यह पाँच अचौर्यव्रत के अतिचार हैं।

टीका : 'प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगः तदाहृतादानम् राजविरोधातिक्रमः च हीनाधिकमानकरणे इति अचौर्याणुव्रतस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति।' - अर्थः- १- झूठी वस्तु को (अशुद्ध वस्तु को) शुद्ध वस्तु की तरह बनाकर असली वस्तु में मिलाकर चलाना (नकली सिक्के को असली सिक्के में मिलाकर चलाना) इसका नाम प्रतिरूप व्यवहार है। २- चोरी की प्रेरणा करना, अनुमोदना करना अथवा चोरी करने का उपाय बताना स्तेनप्रयोग अतिचार है। ३- चोरी की वस्तु को खरीदना तीसरा अतिचार है। ४-राजाज्ञा

का उल्लंघन करना अथवा राज–कर न देना – चौथा अतिचार है। ५–अधिक मूल्यवाली वस्तु में कम मूल्यवाली वस्तु मिला देना, अधिक मूल्य की वस्तु थोड़े मूल्य में ले लेना, मापने–तौलने के उपकरण मीटर, तराजू–कांटा – इत्यादि हीनाधिक रखना अथवा कम–बढ़ तौलकर देना–लेना यह पांचवाँ अतिचार है। इस प्रकार यह पाँच अचौर्यव्रत के अतिचार वर्णन किये।।१८५।।

गाथा १८५ पर प्रवचन

अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च।।१८५।।

....पहली टीका तो इनकी है, हों! और यह टीका कौन सी? पहली टीका तो भाई की है, टोडरमलजी की। पहली टीका आती है, वह टोडरमलजी की। यह किसकी?

झूठी वस्तु को (अशुद्ध वस्तु को) शुद्ध वस्तु की तरह बनाकर असली वस्तु में मिलाकर चलाना... चावल में कणी डालना, मिर्च में दाना... वह क्या कहलाता है? उसके बीज डालना। ऐसा मिलावट करके डालना। गेहूँ में कंकण, मूँग में काली धूल डाले। वह दोष है। गंठोड़ा अच्छा बढ़िया हो, उसमें थोड़े दूसरे हल्के डाल दे। गंठोड़ा बहुत ऊँचे प्रकार के आते हैं। उसमें थोड़े दूसरे मिला दे। यह दूध में थोड़ा पानी डाल दे। अभी तो बहुत चला है, भाई! आहा..हा..! ऐसा तो काला बाजार! सर्वत्र काला बाजार। भाई! चारों ओर। घी में डाले, तेल में यह डाले। ऐसी चीज़ डाले।

मुमुक्षु : उसमें तो क्या दवा में भी यह डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा में भी डाले। भले उस दवा से मर न जाये, परन्तु वह दवा सफेद–सफेद लगे। महँगी मिलती हो, तो डाल दे। कितने ही तलहरा का आटा डाल दे। तलहरा होता है न? तलहरा। तल का तलहरा। उसकी राख ऐसी कोमल–पतली होती है, किसी में मिला दे, पता नहीं पड़े यह क्या है? तलहरा समझते हो न? यह तिल होते हैं,

उनका बड़ा तिनका, उसकी राख बहुत पतली होती है। कठिन लकड़ी है न, उसमें... कम होते हैं। इसलिए उसकी राख बहुत पतली होती है। वह चाहे उसमें काम आवे डाले तो। फिर सफेद होती है। समझ में आया?

झूठी वस्तु को... इसमें मिलावट अर्थात् प्रतिरूप व्यवहार। जो चीज़ नहीं, उसमें से दूसरी डालकर मिलावट करना। अच्छी वस्तु में थोड़ी हल्की डालना। मिर्ची उच्च जाति की हो, उसमें हल्की जाति के डाल दे। मूँग में, मोंठ में, दाल में ये सब बहुत प्रकार हो जाते हैं। अभी तो सब्जी में भी दिक्कत। जरा अच्छी शाक पड़ी हो, उसमें रात्रि का सूखा पड़ा हो, वह भी उसमें डाल दे। सब चले साथ में। बतावे अच्छा, ताजा, साथ में वह भी डाले। आम में भी अच्छा ढेर हो उसमें अच्छा आम यह है। मण भर तोल दी। साथ में खट्टी हो, मण के साथ में। यह तो दृष्टान्त है, हों! **इसका नाम प्रतिरूप व्यवहार है।** प्रतिरूप अर्थात् जैसा व्यवहार है, उससे विरुद्ध है।

चोरी की प्रेरणा करना अथवा चोरी करने का उपाय बताना स्तेनप्रयोग अतिचार है। अतिचार की बात है, हाँ! एकदम चोरी की बात नहीं। परन्तु सहज कोई ऐसा साधारण में करे। तेरे पिता के पास में पैसा है, लो, थोड़ा वहाँ से ले आवे तो क्या है? यह अतिचार है। **चोरी की वस्तु...** ए.. सेठी! वहाँ गल्ले में पड़े हों, बहुत वस्तु हो, उसमें से एकाध टुकड़ा ले आना, जा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : घर की वस्तु है या नहीं? इसके पिता की है।

चोरी की वस्तु को खरीदना तीसरा अतिचार है। खबर है कि यह चोर कर लाया लगता है और लेवे तो यह अतिचार है। सस्ती मिले और ली, यह जरा अतिचार का दोष है। सस्ती वस्तु आवे और अच्छी वस्तु हो और उसे एकदम बेचकर वापस चले जाना हो, पकड़े नहीं इसलिए (चले जाना हो)। इसने जो दिया हो, वह लेकर भागे। यह माने कि ठीक है लाओ। वह लेना नहीं। वह अतिचार है। **राजाज्ञा का उल्लंघन करना...** जो राजा ने आज्ञा की, उसे उल्लंघन नहीं करना। कर चोरी करते हैं न ये सब। नहीं करना, यह श्रावक को नहीं करना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अतिचार है इसलिए। ऐसा किया करे, वह इसका अर्थ नहीं है। यह हमारे (संवत्) १९८३ के वर्ष में बहुत चला था। १९८३ के वर्ष में बहत चर्चा चली थी। हमारे सेठ कहे, परन्तु उसमें कोई ऐसा राजा आया पचास–सौ घर का गाँव हो, उसमें चोर में पड़ा–पड़ा... वह राजा नहीं, फिर कहे कि उसके सामने हमें नहीं पड़ना ? परन्तु पहले से ऐसी भावना ही किसलिए करते हो ? क्या करते हो तुम यह ? समझ में आया ? ऐसे अतिचार नहीं लगाना, ऐसा भगवान कहते हैं। उससे श्रावक को छूट जाना। उसके बदले तुम अभी ऐसा... उसमें कुछ ऐसा.. आया हो। फिर गाँव में दो दिन, चार दिन बैठा हो, उसमें सामने हमें विरोध नहीं करना। उसे रखने देना ? तुम ऐसी भावना भाते हो ? कहा, तुम क्या करते हो यह ? राज विरोध करने का भाव आ गया तो यह दोष है। इसे टालने के लिये है। परन्तु इस दोष का बचाब करके, दिक्कत क्या है। दिक्कत क्या है ? ऐसा करके तू तो दोष को उड़ा देना चाहता है। यह तेरा श्रद्धा में अन्तर है। समझ में आया ?

यह सब तुम्हारे राज का चलता था न। असहकार। ऐसी बहुत चर्चा चलती थी। हमारे पास लोग आवे न! नहीं करना यह ? सरकार ने ऐसे नियम किये परन्तु क्या है ? भगवान तो राजा अतिक्रम दोष का अतिचार कहते हैं। जो कोई बड़ा राजा हो, उसने बाँधे हुए नियम तोड़ना नहीं। उसका... ...नहीं करना ऐसा भगवान कहते हैं। तब कहे, क्या दिक्कत है ? यह दोष कहते हैं और क्या दिक्कत तुझे, ऐसा सिद्ध करना है ? तुम्हें क्या सिद्ध करना है ? तुम्हारी श्रद्धा का ठिकाना नहीं, व्रत का ठिकाना नहीं और सीधे ऐसे बचाव करने लगे ? हमारे तो बहुत आता था न। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि है और कोई ऐसा दोष आ जाये तो दोष टालने के लिये है। भविष्य की भावना के लिये या भविष्य में ऐसा होगा, इसलिए मुझे करना ही पड़ेगा, ऐसा नहीं। वर्तमान में कहीं ऐसा हो तो इसे करना नहीं, ऐसा कहते हैं। गजब मार्ग, बापू! वीतराग का मार्ग ऐसा है।

भविष्य की भावना करे कि ऐसा होगा। फिर हमें करना, अमुक करना। परन्तु यह तू क्या करता है ? भविष्य में अभी भव करना है, अभी भटकना है और ऐसा हो तो क्रोध करना है सामने। क्या है यह ? सब भटकने की बातें हैं। यहाँ तो टालने की बात की व्याख्या है। भगवान तो यह कहते हैं। आहा..हा.. ! बचाव करना चाहे कि यह ऐसे है, अमुक है, अमुक है। चौथे व्रत के अतिचार में यह आयेगा। कहो, समझ में आया ?

राजाज्ञा का उल्लंघन करना अथवा राज-कर न देना - चौथा अतिचार है। देखो, अतिचार भी यह दोष है न ? रखनेयोग्य है ? करनेयोग्य है ? बतलाते हैं कि ऐसा होवे तो करना नहीं। हो गया होवे तो उसे दोष जानकर छोड़ना, ऐसा है। यह तो मार्ग है, भाई ! आत्मा के स्वभाव की शरण में गया है, उसमें जरा ऐसा व्रत का... उसमें ऐसा कुछ (होवे तो) दोष है, उसे नहीं करने के लिये यह बात बताते हैं। करे तो दिक्कत नहीं, इसके लिये यह बात है ? परन्तु यह प्रश्न ही नहीं होता। पहले से बचाव करना चाहे.. यहाँ तो ऐसा नहीं करना - ऐसी ही बात इसे पुष्टि में होती है। समझ में आया ? तथापि इसे ऐसा हो जाये तो इसका व्रत जाता नहीं, दर्शन जाता नहीं। इतनी बात। परन्तु इससे कहीं बचाव न करे। बात ऐसी है। अहो ! संसार में से निकल जाना है न, भाई ! उदयभाव में से निकलना है। पारिणामिकभाव में प्रवेश करना है। उदयभाव है, वह संसार है। उससे जीव रहित है और ऐसा हुआ न ? यह इसमें आया नहीं ? उदयभाव से रहित है, ऐसा चौदहवीं गाथा में आया है, उसका अर्थ ही यह है। उदयभाव से रहित है, संयोग से रहित है, उसे उदयभावसहित और संयोगसहित मानना, वह भव का बीज है। आहा..हा.. !

उसमें क्या दिक्कत है ? उसमें क्या दिक्कत है ? वह तो दोष को ही स्वीकार नहीं करता। समझ में आया ? दोष को दोष ही स्वीकार नहीं करता। क्या बाधा है, ऐसा करके बचाव में पहले से खड़ा रहता है। तेरा हृदय खोटा है। इसकी बात नहीं, यह तो सच्चा... है। दर्शनशुद्धि है वहाँ ऐसे ... व्रत हैं, उसमें कोई ऐसा हो, वह नहीं होने देने के लिये यह बात ली है। होवे तब तो दोष है, ऐसा इसे जानना चाहिए। समझ में आया ?

अधिक मूल्यवाली वस्तु में कम मूल्यवाली वस्तु मिला देना,.. लो ! यह तो उसमें आ गया। ....यह तो उसमें आया। अधिक मूल्यवाली आया। अधिक कीमत की वस्तु हो, उसमें कम कीमत वाली डाल देना। **मापने-तौलने के उपकरण मीटर, तराजू-कांटा - इत्यादि हीनाधिक रखना...** लो, ठीक। मापने के यह उपकरण आदि, तौलने के ये कांटा आदि, तराजू आदि हीनाधिक रखना। देने के कुछ, लेने के कुछ। **यह पांचवाँ अतिचार है। इस प्रकार यह पाँच अचौर्यव्रत के अतिचार वर्णन किये।** शुद्धि को रोकनेवाले हैं। इसलिए शुद्धि करनेवाले को ये अतिचार करना नहीं, ऐसी बात है। आहा..हा... !

गाथा - १८६

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च।।१८६।।

हो तीव्र इच्छा विषय सेवन, अनंग क्रीड़ा अन्य के।
करना विवाह विवाहिता, अविवाहिता से नित रखे।।
संबंध इत्वरिका गमन, ब्रम्हचर्य अणुव्रत के कहे।
अतिचार पाँच जिनेन्द्र ने, ब्रम्हचर्य पावन इन तजे।।१८६।।

अन्वयार्थ : (स्मरतीव्राभिनिवेशः) कामसेवन की अतिशय इच्छा रखना, (अनङ्ग–क्रीडा) योग्य अंगों को छोड़कर दूसरे अंगों के साथ कामक्रीड़ा करना, (अन्यपरिणयन–करणम्) दूसरे का विवाह करना, (च) और (अपरिगृहीतेतरयोः) कुंवारी अथवा विवाहित (*इत्वरिकयोः) व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास (गमने) जाना, लेन–देन आदि का व्यवहार करना (एते ब्रह्मव्रतस्य) यह ब्रह्मचर्यव्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका : 'स्मरतीव्राभिनिवेशः अनङ्गक्रीडा अन्यपरिणयनकरणं इत्वरिकयोः अपरिगृहीता गमनं च इत्वरिका परिगृहीता गमनं च इति पञ्च अतिचाराः ब्रह्मचर्याणु–व्रतस्य सन्ति।' –अर्थः– १– काम–भोग–विषय सेवन करने की अत्यन्त लालसा रखना, २– जो अंग विषयसेवन करने के हैं, उन्हें छोड़कर मुख, नाभि, स्तन आदि अनंगों में रमण करना, ३– दूसरे के पुत्र–पुत्रियों का विवाह करवाना या करना, ४– व्यभिचारिणी वेश्या अथवा कन्या इत्यादि के साथ लेन–देन आदि व्यवहार रखना, वार्तालाप करना, रूप–शृङ्गारादि देखना, ५– व्यभिचारिणी विवाहित स्त्री के साथ भी इसी प्रमाण व्यवहार करना–यह पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।।१८६।।

---

* रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा ६० में इत्वरिका गमन का अर्थ :– इत्वरिका जो व्यभिचारिणी स्त्री, उसके घर जाना अथवा उसे अपने घर बुलाना, (धनादि का) लेन–देन रखना–परस्पर वार्ता करना–शृंगार देखना – यह इत्वरिकागमन नाम के अतिचार हैं।

गाथा १८६ पर प्रवचन

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार बताते हैं।

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च।।१८६।।

काम-भोग-विषय सेवन करने की अत्यन्त लालसा रखना,... यह चौथे व्रत का अतिचार है। काम-भोग-विषय सेवन की बहुत अभिलाषा। साधारण अभिलाषा तो इसे होती है। व्रत, जितना होता है, उससे जितना अधिक होता है वह... परन्तु बहुत रखना, वह अतिचार है। **जो अंग विषयसेवन करने के हैं, उन्हें छोड़कर मुख, नाभि, स्तन आदि अनंगों में रमण करना,...** यह अतिचार है। इसे तोड़ने का भाव नहीं, इससे जरा ऐसी चेष्टा हो जाती है। वह छोड़ने योग्य है। आत्मार्थी को आदरनेयोग्य नहीं है। समझ में आया?

दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करवाना... बिना स्वार्थ, सगे-सम्बन्धी नहीं, कोई लेना-देना नहीं, उसे भी जोड़ दे । किसी-किसी का सम्बन्ध। जाओ, यह इनकी लड़की और यह इनका लड़का। परन्तु तुझे क्या काम है? समझ में आया? यह सब चौथे व्रत के अतिचार हैं। पाप हैं न सब? ये सब पाप हैं। दूसरे के, ऐसा। अपने को कुछ लगते नहीं, सगे-सम्बन्धी नहीं, घर के नहीं। अधर से कोई आया और लगा दे कि देख, यह कन्या अच्छी है और साथ में अमुक करना।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साधु कैसा? साधु प्रेरणा करे कि इस सेठ की लड़की अच्छा और तुम्हारा लड़का ठीक है। मिठास तो वह की वह रह गयी है। बाहर से छोड़ा परन्तु मिठास तो अन्दर वह की वह रह गयी है। समझ में आया? अरे! परन्तु यह धन्धा बतावे, अमुक बतावे, यह कहीं साधु के आचरण हैं? उनका आचरण तो आगे विशेष लेंगे।

व्यभिचारिणी वेश्या अथवा कन्या इत्यादि के साथ लेन-देन आदि व्यवहार रखना,... ठीक। यह दोष है। व्यभिचारिणी वेश्या हो या व्यभिचारिणी कन्या हो। बिना

विवाह किये या विवाहित हो, परन्तु व्यभिचारी हो, उसके साथ वार्तालाप नहीं करना, लेन–देन का व्यवहार नहीं करना, उसके घर में नहीं जाना, आना–जाना नहीं करना। आना–जाना करे तो अतिचार है, अन्दर मिठास है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? वार्ता करना, लेन–देन का व्यवहार रखना, इस बहाने भी ऐसा कि उसके साथ बातचीत होगी। उसके साथ लेन–देन रखो, पूछे उसे कहेंगे। क्या काम था, भाई! उसका लेना था, वह लेने गया था परन्तु बात तो, उसके साथ बातचीत करने की मिठास है। यह चौथे व्रत का अतिचार है। आहा..हा..! वीतराग का मार्ग, समझ में आया?

इसमें भी हमारे (संवत्) १९८३ में बड़ा विवाद था। एक जगह लेख है कि वेश्या आदि होवे तो अतिचार। मैंने कहा, ऐसा नहीं होता। वैश्या रखे और अतिचार? वह तो वेश्या और ऐसी हो, उसके घर में जाना–आना करना, ... आता है न? ...उसका अर्थ करते थे। थोड़ी देर... किसी की थी और थोड़ी देर रखते होंगे। विषय है, यह अतिचार है। बिल्कुल नहीं। हमारे यहाँ बहुत चलता था। श्रद्धा सम्बन्धी चलता और आचरण सम्बन्धी चलता। यह सब गड़बड़। ऐसा अर्थ आता है। ... है न इसमें, शब्द आया या नहीं? **'इत्वरिकयो:'** आया है? देखो **'इत्वरिकयो:' व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास**। देखो! पाठ है, नीचे है।

१४४ पृष्ठ नीचे कोष्ठक है। **रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा ६० में इत्वरिका गमन का अर्थ :– इत्वरिका जो व्यभिचारिणी स्त्री, उसके घर जाना अथवा उसे अपने घर बुलाना (धनादि का) लेन–देन रखना–परस्पर वार्ता करना–शृंगार देखना – यह इत्वरिकागमन नाम के अतिचार हैं।** सब ऐसा कहे, इतरि गमन में थोड़े काल वेश्या को घर में रखे, वह कोई बाधा नहीं है, वह अतिचार कहलाता है। अरे! चल... चल... परस्त्री लम्पट। अभी तो दशा का, श्रद्धा का, ज्ञान का ठिकाना नहीं, वहाँ ऐसे बचाव करना। मर जानेवाला है। ऐसा होता है, समझ में आया? जाना, लेन–देन आदि का व्यवहार रखना, वह नहीं करना। शृंगार देखना – उसके वस्त्र अच्छे पहने हुए हो न? पैर से सिर, (तक) देखना नहीं। ओहो..हो..!

लक्ष्मणजी को कहा, रामचन्द्रजी के साथ लक्ष्मण! सीता को तुमने कहीं देखा? भ्रात! सीता को तो मैं पहिचानता नहीं, उसके वस्त्र मैंने देखे नहीं। ऐसे वन में साथ में रहते,

मुझे खबर नहीं। उनके पैर में एक नुपुर था, वहाँ मेरी नजर गयी थी। तीन खण्ड का धनी, वासुदेव लक्ष्मण। भले नरक में जानेवाला है परन्तु इतनी तो भाई के साथ की साथ में नीति इतनी, नैतिक जीवन इतना। बहुत कठोर... तो भी। नरक में गया, ...न हो। आहा..हा..! बापू! भाई! मुझे ये वस्त्र और ये कौन है, यह मुझे कुछ पता नहीं। वस्त्र कोई डाल गया, तूने देखा? परन्तु वे वस्त्र उनके हैं, यह मैंने नहीं देखा परन्तु वन में बारह वर्ष साथ में रहे न! मैंने नजर नहीं की, भाई! मुझे तो वे माँ कहलाये न? भाभी अर्थात् माता। मैंने देखा नहीं। आहा..हा..! तीन खण्ड का धनी, वासुदेव, वह भी जिनका ऐसा... सीता का हरण करके रावण ले गया न? फिर लक्ष्मण को पूछते हैं - ऐ लक्ष्मण! कहीं सीता को देखा! कहीं उसके वस्त्र या गहने! तातजी! उनके वस्त्र कैसे हैं, यह मैंने नहीं देखा, कहाँ पड़े हैं, यह मुझे खबर नहीं। आहा..हा..! समझ में आया?

व्यभिचारिणी दूसरे की स्त्री के साथ भी इसी प्रमाण व्यवहार करना... लो, समझ में आया? वेश्या तथा कन्या और दूसरी व्यभिचारिणी साधारण हो, दूसरी विवाहिता हो, **साथ भी इसी प्रमाण व्यवहार करना-यह पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।** बहुत सरस बात ली है। एक-एक बात का कितना... ऐसा जैनदर्शन में ऐसी निर्मल बात! दर्शन की, उसके व्रत की, उसके अतिचार त्यागने की, ओहो..हो..! ऐसी बात वीतरागमार्ग के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकती। समझ में आया? उसमें दिगम्बर सन्तों ने यह बात की है। अन्य में तो अर्थ में कितनों ने विपरीत किया है। इतरिगमन। टीका में डाला है, हों!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है न, खबर है न। वे तब पहले कहते, ऐसा टीका में है। टीका में लिखा, वह क्या हो गया? ऐसी बात कहीं मान्य होती है? थोड़े दिन वेश्या को घर में रखे और थोड़े दिन... रखे तो वह स्वयं को अतिचार कहलाता है। नहीं, नहीं, यह बात नहीं होती। ऐसा सब चलता था। हमारे तो कितने वर्ष हुए? १९८३। कितने वर्ष हुए? ४० (वर्ष) हुए। इसकी टीका विशेष लेंगे। टीका हो गयी। परिग्रह परिमाण लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७४ गाथा-१८७ से १९२ शुक्रवार, आषाढ़ कृष्ण ७, दिनांक २८.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। श्रावक के व्रत के अतिचार टालने के लिये वर्णन है। जिसने आत्मा के शक्ति का अन्तर्मुख उपयोग करके, श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता का अंश जिसे प्रगट हुआ है। समझ में आया? स्वभाव जो आत्मा की शक्ति, ज्ञान-आनन्द आदि अपार स्वभाव, ऐसा जो आत्मतत्त्व, उसे अन्तर्मुख दृष्टि से दर्शन प्रगट हुआ है और अन्तर्मुख स्थिरता से चारित्र का अंश भी प्रगट हुआ है। उसे यह अणुव्रत आदि होते हैं। उसे अतिचार टालना, इसकी व्याख्या चलती है। समझ में आया? पाँचवाँ व्रत। चार व्रत तक का आ गया है।

परिग्रहपरिमाण व्रत। जितने पैसे आदि बाह्य के दस बोल लेंगे, उनका परिमाण-मर्यादा करे, उतनी ममता घटती है। परिग्रह का परिमाण। दृष्टि में से तो कोई विकल्प आदि अपना नहीं, ऐसा भान हुआ है, परन्तु आसक्ति में परिग्रह आदि की मर्यादा करने से राग घटता है, उतनी अहिंसा बढ़ती है, उतनी हिंसा घटती है। समझ में आया? उसे यह अतिचार, वह भी एक दोष है, उसे इसे टालना चाहिए। यह बात बताते हैं।

गाथा - १८७

परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च।।१८७।।

है खेत घर सोना रु चाँदी, धान्य धन दास दासिआँ।
वस्त्रादि की सीमा उलंघन, दोष संग सीमा कहा।।१८७।।

अन्वयार्थ : (वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्) घर, भूमि, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दास, दासी और (कुप्यस्य) वस्त्रादि के (भेदयो:) दोनों भेदों का (अपि) भी (परिमाणातिक्रिया:) परिमाण उल्लंघन करना (एते अपरिग्रहव्रतस्य) यह अपरिग्रहव्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका : 'वास्तु क्षेत्र परिमाणातिक्रम:, अष्टापदहिरण्यपरिमाणातिक्रम:, धन-धान्यपरिमाणातिक्रम:, दासदासीपरिमाणातिक्रम:, अपि कुप्यस्य भेदयो: परिमाणा-तिक्रम: इति पञ्च परिग्रहपरिमाणव्रतस्य अतिचारा: सन्ति।' - अर्थ :- १- घर और क्षेत्र का परिमाण बड़ा देना, २- सोना-चाँदी का परिमाण बढ़ा देना, ३- गाय, भैंस, घोड़ा, गेहूँ, चना आदि का परिमाण बढ़ा देना, ४- दास-दासी का परिमाण बढ़ा देना, ५- कुप्य अर्थात् गरम और सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का परिमाण बढ़ा देना; इस प्रकार यह पाँच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।।१८७।।

गाथा १८७ पर प्रवचन

परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया: पञ्च।।१८७।।

टीका : १- घर और क्षेत्र का परिमाण बड़ा देना,... दोनों इकट्ठे। चार के दो जोड़े किये हैं। आठ के चार भाग किये हैं। घर और क्षेत्र। क्षेत्र अर्थात् खुली जमीन। घर अर्थात् बाँधा हुआ मकान आदि। उसका प्रमाण थोड़ा किया हो, जमीन में... आवश्यकता पड़ती हो तो थोड़ा बढ़ा दिया हो, बाहर खुली जमीन में थोड़ा अधिक (हो) वह अतिचार है। वह अतिचार टालना चाहिए। **सोना-चाँदी...** अष्टापद को यहाँ सोना कहते हैं। **सोना-चाँदी का परिमाण बढ़ा देना,...** जो प्रमाण किया हो, उसके बदले थोड़े बहुत चाँदी-सोना बढ़ाना वह अतिचार है।

गाय, भैंस, घोड़ा, गेहूँ, चना आदि का परिमाण बढ़ा देना,... धन-धान्य है न? धन-धान्य की व्याख्या है। अष्टापद और हिरण गया। वास्तु और क्षेत्र, अष्टापद और

हिरण, धन और धान्य। है न दो–दो ? धनधान्य वह तो इसमें आता है। **गाय, भैंस, घोड़ा, गेहूँ, चना आदि का परिमाण बढ़ा देना,...** एकाध गाय, अमुक... इत्यादि। यह तो जिसे आत्मा के स्वभावसन्मुख स्थिरता का प्रयत्न है, उसे ऐसे परिमाण जो किये, उसमें उसे दोष नहीं लगाना चाहिए। इसकी बात है। मूल वस्तु। समझ में आया ? देखो ! यह श्रावक का आचरण क्या है, उसकी व्याख्या है।

दास–दासी का परिमाण बढ़ा देना,... एकाध नौकर–चाकर बढ़ा देना। परिमाण हो, उससे एकाध, छोटा लड़का हो तो कुछ नहीं कहलाता, चलो भले साथ में रखे, ऐसा करके बढ़ावे, वह भी एक दोष है, अतिचार है। पाँच नौकर हो और एक बारह वर्ष का लड़का–बड़का हो, उसे साथ में रखो। वह भी (दोष है)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसने प्रमाण किया हो कि पाँच मनुष्यों के अतिरिक्त नहीं और पाँच मनुष्यों में वह लड़का साथ में काम करता हो ठीक, अपने को मदद करे। वह लड़का कहलाये न, अपने को कहाँ अधिक है ? ऐसा करके रखा हो तो वह अतिचार है, ऐसा कहते हैं। यह तो सब व्याख्या बहुत स्पष्ट की है, हों ! ये कोई बातें नहीं हैं। थोड़ा सा जमीन का टुकड़ा बढ़ा दे, यह बाहर का खेत का थोड़ा आगे–पीछे बढ़ा दे।

मुमुक्षु : घर का कोना समान न हो तो क्या करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी का मिला दे। यह इसने प्रमाण किया हो, उसकी बात है। प्रमाण विशेष किया हो, वह अलग बात है। परन्तु प्रमाण किया हो, उससे थोड़ा बढ़ा दे तो वह अतिचार है। पूरा टालना, पूरा दोष टले... पूरा कर डाले तो अनाचार है परन्तु इतना जरा आंशिक... वस्तु की स्थिरता के अन्दर में ऐसे जो अणुव्रत के विकल्प उठते हैं, उसमें भी ऐसे दोष लगे, उन्हें टालना – ऐसा कहने में आता है। अब वह बाहर की बात रह गयी, मूल बात पड़ी रही। समझ में आया ? कि यह टालना और यह करना... परन्तु मूल दर्शनशुद्धि, कि भगवान अन्तर्मुख से जो प्राप्त हो... समझ में आया ? इस बहिर्मुख की किसी क्रिया से आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया ?

'वर्ते अन्तरशोध' – श्रीमद् में भी आता है न ? 'उस जिज्ञासु जीव को हो सदगुरु

का बोध, तो पावे समकित को वर्ते अन्तरशोध'-बाहर के लक्ष्य से अन्तर का लक्ष्य हो नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। न्यालचन्दभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पहला आया। 'वर्ते अन्तरशोध।' तब वह बोध हुआ, ऐसा इसे निमित्त कहने में आता है। बोध आया न पहला? होवे सद्गुरु बोध। हीराभाई! परन्तु 'वर्ते अन्तरशोध', यह पहले-पहले ऐसा ही है, कहते हैं। अन्तर में आत्मा क्या है, उसकी शोध में जाये तो वह समकित को प्राप्त करता है। सेठी! आहा..हा..!

मुमुक्षु : दोनों को थोड़ा-थोड़ा देना।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दोनों की दिशा (में) ही अन्तर है। उसमें बात क्या करनी? कहो, एक की दिशा ऐसी और दशा बाह्य, एक की दिशा अन्दर और स्थिरता आदि, श्रद्धा आदि अन्दर से प्रगट हो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्यकारी नहीं, हो! परन्तु। परन्तु एक अन्दर आया परन्तु, हों! आहा..हा..!

देखो न! यह तो बात क्या कहते हैं कि ऐसी बात है, वह अन्तर्मुख की दृष्टि हुई है और अन्तर्मुख स्थिरता भी हुई है, ज्ञायक भगवान का शक्ति का विकास किया है। समझ में आया? उसके यह जो कुछ मर्यादित परिणाम किये हों, उनमें उसे दोष लगना नहीं चाहिए। समझ में आया? दोष नहीं लगाने के लिये यह बात है। यह अतिचार है, इसीलिए बाधा नहीं है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? एकदेश अंश भी... परन्तु मूल चीज़ सहित। मूल चीज़ न हो तो उसे व्रत भी नहीं और अतिचार नहीं और कुछ नहीं। उसे सब पाप की छूट है। आहा..हा..!

दीवार खड़ी की हो, फिर उसमें कंकरी निकले तो उसके लिये लीपने के लिये कहा जाता है कि भाई! इसे मरम्मत करो परन्तु भींत (दीवार) नहीं हो वहाँ... भींत समझते हो? क्या? दीवार। दीवार हो, तो कोई कंकरी कहीं से निकली हो तो, भाई! यहाँ कंकरी

दबाओ या चूना डालो, परन्तु जहाँ वस्तु ही नहीं, जहाँ दीवार ही नहीं हो, वहाँ अद्धर आकाश में डालना?

इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्द ध्रुव चैतन्य दीवार ही जहाँ दृष्टि में प्रगट नहीं हुई। समझ में आया? उसके बिना उसे स्थिरता नहीं होती, स्थिरता के बिना छिद्र / दोष लगे उसे टालना, यह उसे कहाँ से होगा? कहो, आहा..हा..! ऐसे झट देकर मिल जाये, ऐसा नहीं है, कहते हैं। बहुत अन्दर जागृति का पुरुषार्थ अन्दर में चाहिए है। बाहर के किसी पठन से, क्रिया से, राग की मन्दता से किसी प्रकार वह आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहा..हा..!

ऐसे अन्तर्मुख की दृष्टि हुई है और उसमें अन्तर्मुख स्थिरता भी थोड़ी स्थिर हुई है, बहुत स्थिरता हो तो मुनिपना–सर्वविरति हो। यह तो श्रावक। उस सर्वविरति का (वर्णन) आगे आयेगा। सर्वविरति, सकलचारित्र (का वर्णन आयेगा)। ऐसे श्रावक को ऐसे पाँच अतिचार छोड़ना चाहिए। समझ में आया?

दास–दासी का परिमाण बढ़ा देना, कुप्य अर्थात् गरम और सूती... वस्त्र। दोनों में दो–दो ले लिये। पहले चार में दो–दो लिये आठ और इसमें कुप्य में दो। गरम और सूती। **'भेदयो:'** है न अन्दर मूल तो। **'कुप्यस्य भेदयो:'** ऐसा पाठ है न भेद?

गरम और सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का परिमाण बढ़ा देना;... देखो! गरम कपड़े चलते हैं। ऐसा तो एकदम... है या नहीं? **इस प्रकार यह पाँच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।** ये अतिचार व्रत का एकदेश भंग है। उसे सर्वथा भंग हो तो व्रत ही न रहे परन्तु एकदेश है, इसलिए इन्हें सम्भाल करके छोड़ देना।

गाथा - १८८

दिग्व्रत के पाँच अतिचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य।।१८८।।

हैं ऊर्ध्व तिर्यग् अध: व्यतिक्रम, क्षेत्र वृद्धि विस्मरण।
हैं प्रथम दिग्व्रत शील के ये, पाँच दोष करो त्यजन।।१८८।।

अन्वयार्थ : (ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा:) ऊपर, नीचे और समान भूमिकी की हुई मर्यादा का उल्लंघन करना अर्थात् जितना प्रमाण किया हो, उससे बाहर चला जाना (क्षेत्रवृद्धि:) परिमाण किये हुये क्षेत्र की लोभादिवश वृद्धि करना और (स्मृत्यन्तरस्य) स्मृति के अलावा क्षेत्र की मर्यादा (आधानम्) धारण करना अर्थात् मर्यादा को भूल जाना (इति) इस प्रकार (पञ्च) पाँच अतिचार (प्रथमशीलस्य) प्रथम शील अर्थात् दिग्व्रत के (गदिता:) कहे गए हैं।

टीका : 'ऊर्ध्व व्यतिक्रम: अधस्तात् व्यतिक्रम: तिर्यक् व्यतिक्रम: क्षेत्रवृद्धि:, स्मृत्यन्तरस्य आधानम् इति पञ्च अतिचारा: प्रथमशीलस्य दिग्व्रतस्य सन्ति।' -अर्थ :- मर्यादा की हुई ऊपर की दिशाओं का उल्लंघन करना, (जैसे पर्वत पर चढ़ना या हवाई जहाज से आकाश में ऊपर उड़ना,) २- मर्यादा की हुई नीचे की दिशाओं का उल्लंघन करना, (जैसे गहरे कुएँ में घुसना, समुद्र में डुबकी लगाना अथवा कोयला आदि की खान में उतरना) ३- मर्यादा की हुई तिर्यक् दिशाओं का उल्लंघन करना, (जैसे गुफा इत्यादि में प्रवेश करना) ४- मर्यादा किये हुए क्षेत्र को बढ़ाना अर्थात् जो दिशाओं का प्रमाण किया था उसे लोभ के वश से अधिक बढ़ा लेना, (यह अतिचार प्रमाद या मोह से होता है,) ५- परिमाण की हुई मर्यादा को भूलकर सीमा बढ़ा लेना- यह दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं।।१८८।।

गाथा १८८ पर प्रवचन

दिग्व्रत के पाँच अतिचार बताते हैं।

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा: क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिता: पंचेति प्रथमशीलस्य।।१८८।।

पहला शील। पहले पाँच अणुव्रत थे। ये तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, आठ शीलव्रत, इसमें सल्लेखना आयेगी। उसमें यह पहला शीलव्रत है।

टीका : मर्यादा की हुई ऊपर की दिशाओं का उल्लंघन करना,... ऊपर किया हो... फिर पाँच मंजिल के ऊपर छठी मंजिल करना नहीं। समझ में आया? अभी तो अमेरिका में पचास–पचास मंजिल होती है न? नीचे चौड़ी जगह न हो, फिर ऐसे ऊँची करे। कहते हैं परन्तु उसमें मर्यादा की हो उससे बढ़ाना, थोड़ा भी बढ़ा दे, भाई! एक छत जितना टुकड़ा बढ़ा दे ऊपर। समझे न? तो वह दोष है, अतिचार है। जितना परिमाण किया ऊर्ध्व में कि भाई! पाँच ही मंजिल बस। इससे ऊपर मुझे नहीं। परन्तु उसमें थोड़ा भार और उतार दे। छत का भाग जरा। समझे न? कि अपने मंजिल नहीं करना परन्तु वृद्धि वह करो। ऊपर काम आयेगी। ऐसा अतिचार नहीं करना। राजमलजी! यह तो सब लेखा है। पूरी दुनिया का इसमें लेखा है। क्या है? कैसे है? सब इसे ख्याल है। समझ में आया?

१. मर्यादा की हुई ऊपर की दिशाओं का उल्लंघन करना, २– मर्यादा की हुई नीचे की दिशाओं का उल्लंघन करना,... भोंयरा... भोंयरा। भोंयरे में रखा हो कि मुझे पचास–साठ (फीट नीचे) ले जाना। उसमें से फिर कुछ आगे थोड़ा निकलते... निकलते... कुछ थोड़ा आगे खोद डाले। कहीं से पैसा–वैसा निकल जाये।

मुमुक्षु : ऐसा तो न करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकले हो। फिर कहे कि यह उस ओर की जमीन का अपना परिमाण नहीं है। इस ओर निकले। यह तो छोर लम्बा है। यह तो तीन काल की बात है न? माप किया उसमें से थोड़ा बाहर निकला। फिर अधिक खोदने जाये, वहाँ पूरा निकलेगा। मर्यादा से आगे जाना नहीं, यहाँ ऐसी बात है। गहरे भोंयरे में। समझ में आया? भोंयरे होते हैं न बहुत? पानी की गहरी बोरिंग करे। उसमें भी इसका प्रमाण हो, उतना ही ले जाना, अधिक नहीं करना। नहीं तो अतिचार है। भाई! यह तो जैसे–जैसे बाहर की ममता बढ़ाता है, उसे घटाने की बात है। खेत में जाना, बाहर में मकान आदि विशेष क्षेत्र बढ़ाना। समझे न? यह सब ममता है, यह ममता घटाने की बात है। वस्तु में यह नहीं परन्तु ऐसी दृष्टिपूर्वक उस ममता को घटाना, ऐसी बात है। समझ में आया?

मर्यादा की हुई तिर्यक् दिशाओं का उल्लंघन करना... तिरछी दिशा तिरछी। यह मकान आदि हों, उसमें थोड़ी बाड़, बेल बढ़ा देना, यह दोष है। **मर्यादा किये हुए क्षेत्र को बढ़ाना...** अपना क्षेत्र। **परिमाण की हुई मर्यादा को भूलकर सीमा बढ़ा लेना...** लो! भूल जाये, उसे ऐसा अतिचार कहना है न? भूल जाये और हाथ बड़ा दे। **यह दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं।** यह श्रावक को छोड़ना चाहिए।

गाथा - १८९

देशव्रत के पाँच अतिचार

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति।।१८९।।

निज सीम बाहर भेजना या, मँगाना शब्द सुनाना।
आकार से संकेत, पुद्गल फेक दोष देशव्रत का।।१८९।।

अन्वयार्थ : (प्रेषस्य संप्रयोजनम्) प्रमाण किये हुए क्षेत्र के बाहर दूसरे मनुष्य को भेजना, (आनयनं) वहाँ से कोई वस्तु मँगाना (शब्दरूपविनिपातौ) शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना और (पुद्गलानां) कंकड़ आदि पुद्गल (क्षेत्रोऽपि) भी फेंकना (इति) इस प्रकार (पञ्च) पाँच अतिचार (द्वितीयशीलस्य) दूसरे शील के अर्थात् देशव्रत के कहे गए हैं।

टीका : 'प्रेष्यस्य संप्रयोजनम् आनयनं शब्दविनिपातौ रूपविनिपातौ पुद्गलानां क्षेप: इति पञ्च अतिचारा: द्वितीयशीलस्य सन्ति।' - अर्थ :- १- स्वयं तो मर्यादित क्षेत्र के अन्दर ही रहना परन्तु नौकर-चाकर को मर्यादा से बाहर भेज देना, २- मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मंगा लेना, ३- मर्यादा के बाहर शब्द करके-बोल करके अपना काम करवाना, ४- मर्यादा के बाहर अपना रूप दिखाकर स्वार्थ साधन करना, ५- मर्यादा के बाहर कोई वस्तु इत्यादि फेंककर अपना कार्य साध लेना - यह पाँच देशव्रत के अतिचार हैं।।१८९।।

गाथा १८९ पर प्रवचन

देशव्रत के पाँच अतिचार

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति।।१८९।।

टीका : १– नौकर–चाकर को मर्यादा से बाहर भेज देना,... जो जमीन की मर्यादा की हो कि इतने से बाहर नहीं निकलना और नौकर–चाकर को भेजना। कि भाई! मैं तो नहीं जाऊँगा परन्तु नौकर को भेजे, यह अतिचार है। नौकर काम करेगा। मुझे तो बाहर निकलने की मर्यादा है। नौकर–चाकर को भेजे। मुम्बई बाहर जाने की मुझे (मर्यादा) है। आगे जरा लाभ होता है ऐसा है। नौकर को भेज दे।

२– मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मंगा लेना,... जितने क्षेत्र की मर्यादा है, वहाँ से वस्तु को मँगाना। अन्य को भेजना और इसे मँगाना। इसने यहाँ भेजा और उसको वहाँ से यहाँ मँगाना। यह सब परिमाण हो, उसे उल्लंघन करना नहीं।

३– मर्यादा के बाहर शब्द करके–बोल करके अपना काम करवाना,... समझ में आया? देशावकाशिक कहलाता है न? वह यह। अपना काम करना। बाहर खड़ा हो। अपने क्षेत्र की मर्यादा–बाहर खड़ा हो, समझ में आया? उसे **शब्द करके–बोल करके अपना काम करवाना,...** यहाँ अपनी मर्यादा की जमीन में खड़ा रहे, अन्य क्षेत्र की मर्यादा के बाहर खड़ा हो, उसके साथ बात करके काम करना, वह भी अतिचार है। देखो! एक मार्ग। कितनी विशालता का कितना स्वरूप है!

मुमुक्षु : अन्दर में कितनी सावधानी रखनी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। कितने प्रकार! अमुक मर्यादा हो पाँच योजन। अब वह व्यक्ति यहाँ नहीं तो जरा उस ओर जाये। अब उसकी बातचीत करो, आड़तिया हो कोई ऐसा, तो यहाँ अपनी मर्यादा में खड़ा हो, वह मर्यादा बाहर (खड़ा हो उसके) साथ में बातचीत करना और काम लेना।

मुमुक्षु : अब तो टेलीफोन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी नहीं। टेलीफोन भी नहीं करना, ऐसा यहाँ कहते हैं। मर्यादा के बाहर टेलीफोन नहीं करना। जितनी मर्यादा की हो, उससे आगे टेलीफोन नहीं रखना – ऐसा कहते हैं। जिसे आत्मा के स्वभाव का भान है और शान्ति बढ़ानी है, उसे परिमाण से जो वस्तु की हो, उसे उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दुनिया तो अनादि से स्वच्छन्दता से चली जा रही है। यह तो संसार है। इसकी यहाँ बात नहीं है। यह तो मोक्षमार्ग की बात है। समझ में आया?

मर्यादा के बाहर अपना रूप दिखाकर स्वार्थ साधन करना,... शरीर को दिखाकर कुछ काम करना चाहता है, कहना चाहता है। शरीर का रूप दिखावे। ठीक, ये भाई आये लगते हैं। कल कुछ काम था, यह आज कुछ कराना चाहते हैं। ऐसा करके रूप दिखाकर काम साधना। देखो! कितने प्रकार आते हैं।

मुमुक्षु : पूरी दुनिया की खबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया की खबर है। कहो, राजमलजी! कहो, तुम्हारे वकालात के धन्धे में सब कानून होंगे। यहाँ तो कितने अधिक कानून हैं।

मर्यादा के बाहर कोई वस्तु इत्यादि फेंककर अपना कार्य साध लेना... देखा! बाहर क्षेत्र यहाँ और यहाँ अपनी मर्यादा में रहा हो परन्तु चिट्ठी डाले, कंकरी डाले, वह सो रहा हो, उसे जगाकर काम करना हो, पत्र लिखकर डाले ऐसे। पढ़ ले, कर लेना। बोले नहीं। कहो, ममता के कितने प्रकार हैं और इस ममता में से हटना, उसकी बात चलती है। ऐसी बात है भाई यहाँ तो। समझ में आया?

दृष्टि में से तो ममता का विकल्प मेरा नहीं है, उसका त्यागी तो पहले ही मिथ्यात्व के त्याग के समय हो गया है। यह तो चारित्र में जो अस्थिरता है, उसे छोड़ने की बात चलती है। सम्यग्दर्शन होने पर, विकल्पमात्र का त्यागी है। मेरी चीज़ में कोई राग नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं, कोई चीज़ मुझे छोड़ने जैसी नहीं, कोई चीज़ मुझे ग्रहण करने जैसी नहीं। यह वस्तु तो दृष्टि में पहले हो गयी है। फिर अस्थिरता जो है, उसे घटाने की यह बात चलती है। आसक्ति को घटाने की बात है। दृष्टि में तो सब त्याग ही है पहले। समझ में आया? दृष्टि में तो विकल्प चलता नहीं, एक समय की पर्याय चलती नहीं। त्रिकाल द्रव्य ही चलता है। आहा..हा..! समझ में आया? परन्तु अस्थिरता के-आसक्ति के जो दोष हैं,

वे इस दृष्टि के बाद स्थिरता करके, ऐसी अस्थिरता मिटाना और ऐसे में कोई अतिचार दोष आने लगते हों तो उसे ख्याल कराये हैं, समझाते हैं। उसे खबर न हो तो समझाते हैं कि ऐसे अतिचार हो, वे तुझे करना नहीं। अहो! वीतराग शासन कितना अंश-अंश में निर्दोषता से भरपूर है! छोटे में छोटा दोष भी कैसा है, इसका उसे ख्याल है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....तमाम मर्यादा....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब। वीतरागमार्ग। एकदम समेटकर पूर्ण अन्दर जाना है। दृष्टि तो की है परन्तु स्थिरता अन्दर में पूर्ण करनी है। अब पूर्ण न हो सके, उसे आंशिक ऐसे करना, उसकी मर्यादा की जो स्थिति है, उसे उल्लंघन नहीं करना, ऐसी बात है। समझ में आया? वीतरागमार्ग में ऐसा होता है। अन्यत्र कहीं ऐसी स्थिति नहीं होती। पर्याय में भान हुआ और अब पर्याय में आसक्ति है, उसे घटाने की पद्धति है। जहाँ पर्याय मानी नहीं, पर्याय का सुधारा-बधारा, न्यूनाधिकता होना, ऐसा माना नहीं, उसे यह हो सकता नहीं। समझ में आया? कितने ही कहते हैं न यह वेदान्त और निश्चय का (एक समान है), बापू! कुछ मेल नहीं है।

मुमुक्षु : कितनी ही मर्यादा तक तो होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी मेल नहीं है। असर्वांश में उसने सर्वांश माना है, इसलिए उसका असर्वांश है, वह भी मिथ्या है।

मुमुक्षु : वह भी आत्मा है, ऐसा मानते हैं, और यह भी आत्मा है....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं। 'है', इस अपेक्षा से बराबर। जैसा स्वरूप है, उस अपेक्षा से बिल्कुल सत्य नहीं। एक समय का भगवान परिपूर्ण अनन्त गुणों से, जिसकी एकाग्रता से... अब देखो! यह पर्याय आयी। इसकी पर्याय कहाँ स्वीकार करता है? निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? यहाँ तो वस्तु अखण्ड अभेद (होने) पर भी उसका भेद, पर्यायरूप भेद है, पर्यायरूप उसका एक अंश भेद है। समझ में आया? उसके अन्दर में निर्मलता कितनी प्रगटी है, उसका यहाँ विवेक करके उस निर्मलता में अमुक मलिनता न होने देना, उसकी बात है। आहा..हा..! बहुत सूक्ष्म! वहाँ कहाँ यह था? समझ में आया? वेदान्त के साथ मिलता है। अमुक... किसी के साथ नहीं मिलता, भाई! तुझे खबर नहीं है। एक-एक अंग को कहते हैं, वह

है, इस अपेक्षा से है। लिया न समयसार नाटक में ? कि निश्चय का अंग यह वेदान्त कहता है, अमुक का वेदान्त कहता है। परन्तु वह तो पूरा पूर्ण मानता है न ? इसलिए एकान्त है।

पर्याय की शुद्धि के भी अनेक प्रकार और उसमें अशुद्धि के भी अनेक प्रकार हैं। तब अशुद्धता को मिटाने का प्रकार, शुद्धि की वृद्धि के ये सब प्रकारों की व्याख्या चलती है। जिसे पर्याय ही नहीं, अवस्था नहीं, हालत जिसने मानी नहीं, उसे यह भंग और यह छोड़ना, कम होना, अधिक मलिनता होना, अधिक शुद्धि होना, वह हो नहीं सकता। समझ में आया ? इसलिए वीतरागमार्ग के साथ दूसरा कोई मार्ग जरा भी मेल खाये, ऐसा नहीं है। वेदान्त ऐसा कहता है और अमुक ऐसा कहता है और अमुक ऐसा कहता है। 'जिनवर में सब ही दर्शन हैं, दर्शन यह जिनवर...' ऐसा आता है। वह तो अपेक्षित कहा है। आनन्दघनजी ने (कहा है) 'जिनवर में सब दर्शन हैं।' सब एकान्त मत हैं, वे सब इसमें समा जाते हैं। अभेद वस्तु में वह कोई बाकी नहीं रहता परन्तु उसमें भजना अर्थात् वहाँ कहाँ मार्ग है ? एक अंश माना है, उसमें कुछ पूरा मार्ग नहीं। विपरीत है।

यह पाँच देशव्रत के अतिचार हैं। आहा..हा..! बाहर क्षेत्र में भी जो वृत्ति रहना, वह ममता है। उसे विशेष क्षेत्र में न लाकर, नजदीक में क्षेत्र-प्रमाण लाना, उतनी ममता घटती है। उतना अन्दर में झुकता है, उतनी हिंसा मिटती है और उतनी अहिंसा बढ़ती है। समझ में आया ? यह अहिंसा परमोधर्म वीतराग का है।

गाथा - १९०

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतिचार

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति।।१९०।।

कन्दर्प कुत्सित काय कृति, भोगोपभोगानर्थता।
वाचालता निर्विचारता, ये अनर्थ विरति कि दोषता।।१९०।।

अन्वयार्थ : (कन्दर्पः) काम के वचन बोलना, (कौत्कुच्यं) भांडरूप अयोग्य

कायचेष्टा करना, (भोगानर्थक्यम्) भोग–उपभोग के पदार्थों का अनर्थक्य, (मौखर्यम्) वाचालता (च) और (असमीक्षिताधिकरणं) विचार किये बिना कार्य करना; (इति) इस प्रकार (तृतीयशीलस्य) तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रत के (अपि) भी (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका : 'कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यम् मौखर्यम् च असमीक्षिताधिकरणं इति तृतीय शीलस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति।' – अर्थ :– १– रागभाव से हास्यसहित भांड वचन बोलना, २– हास्य वचनसहित काय की कुचेष्टा करना, ३– प्रयोजन से बहुत अधिक भोगोपभोग सामग्री को एकत्र करना, ४– धृष्टतायुक्त बोलना तथा लड़ाई–झगड़ा करानेवाले वचन बोलना, ५– प्रयोजन बिना मन–वचन–काय का व्यापार बढ़ाते जाना (अथवा बिना विचार किये निष्प्रयोजन कार्य करना), यही पाँच अनर्थदण्डत्यागव्रत के अतिचार हैं।।१९०।।

गाथा १९० पर प्रवचन

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतिचार

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति।।१९०।।

टीका : १– हास्यसहित भांड वचन बोलना,... मश्करीसहित विषय के वचन आदि बोलना। भांड जैसे वचन बोलना, यह अतिचार है। व्यर्थ का अनर्थदण्ड है। कितनों को ऐसी आदत होती है न? बिना (कारण) हास्य करता जाये और मश्करी में ऐसे वचन बोले कि सामनेवाले का मर्म खुल जाये। ऐसे वचन ज्ञानी को, व्रतधारी को नहीं हो सकते। जिसे बाहर से खेंचकर पूर्ण अन्तर में स्थिर होना है, ऐसी तो जिसकी भावना है। समझ में आया? मोक्ष की भावना है न? इसका अर्थ कि बाहर से खेंचकर पूर्ण अन्दर में स्थिर होना है, ऐसी तो भावना है। अब इसकी मर्यादा... यह तो मर्यादा इतना सब कर नहीं सकता, इसलिए इसकी मर्यादा में ऐसे दोष इसे होने नहीं चाहिए। ऐसा कहते हैं।

२– काय की कुचेष्टा करना,... शरीर के अवयव आदि दिखाकर कुचेष्टा

करना, ऐसा होता नहीं। ऐसा अनर्थ, बिना प्रयोजन का यह पाप है। उसे इसमें से छोड़ना चाहिए। **३- प्रयोजन से अधिक भोगोपभोग सामग्री को एकत्र करना,...**

मुमुक्षु : यह तो क्या हो दूसरा? पुण्य होवे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य होवे तो ऐसा हो? मर्यादा। पुण्य होवे तो क्या? उसकी मर्यादा करे। इतने नहीं। इतने अधिक पदार्थ, इतने मकान के अतिरिक्त इतना अमुक, इतने गद्दे, गोदड़े या ओढ़ने के कपड़े, कोट इन सबकी मर्यादा।

प्रयोजन से अधिक भोगोपभोग सामग्री को एकत्र करना,... यह अतिचार है। **'मौखर्यम्'** अर्थात् ग्रहण अर्थात् **'मौखर्यम्'** जैसे-तैसे वाचालपना करना। साथ में डालना है - चौथे बोल में साथ में। **'मौखर्यम्'** है न? यह भोग-उपभोग के लिये वाचालपना करके अतिचार लगाना। है न? **नामग्रहण..** है सेठी? कहाँ? नाम कहाँ है नाम? इसमें नाम आया। यह नहीं आया, इसलिए मैंने पूछा? **'मौखर्यम्'** अर्थात् वाचालपना। बहुत ऐसा वाचालपना करके दोष लगाता है, वह नहीं करना चाहिए।

लड़ाई-झगड़ा करानेवाले वचन बोलना,... देखो! यह नारद जैसे होते हैं न? ऐसे वचन बोलें कि अन्यों के रोम खड़े करें और विवाद करें दो व्यक्ति, जाओ लड़ो। **लड़ाई-झगड़ा करानेवाले वचन बोलना,...** यह अनर्थदण्ड, बिना प्रयोजन का पाप। व्रतधारी श्रावक ऐसे करे नहीं। **प्रयोजन बिना मन-वचन-काय का व्यापार बढ़ाते जाना...** ठीक। बिना प्रयोजन के मन के संकल्प-विकल्प, बिना प्रयोजन के वचन बोलना, बिना प्रयोजन के हिलने की क्रिया बढ़ाना, देखा! कोई प्रयोजन नहीं। चलो, ऐसा करो, ऐसा करो। तीन योग में बिना प्रयोजन के... प्रयोजन हो वहाँ तो ठीक, बिना प्रयोजन के ऐसे का ऐसा तीनों का व्यापार बढ़ाते जाना, **यही पाँच अनर्थदण्डत्यागव्रत के अतिचार हैं।** ओहो..हो..! समझ में आया?

कोई कहे कि कर्म और कर्म के निमित्त से होनेवाले भावरहित आत्मा है। दूसरे प्रकार से कहे कि उसकी स्थिरता में ऐसे भाव होते हैं। यह तो वस्तु ऐसी है, ऐसा कहा। परन्तु वस्तु में स्थिरता-अस्थिरता के भंग अनेक प्रकार के होते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : स्थिरता में दखलगिरी करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्थिरता, वह दखलगिरी है, ऐसा कहते हैं।

पाँच अनर्थदण्डत्यागव्रत के अतिचार हैं। ये छोड़ने के लिये कहते हैं, हों! यह। बचाने के लिये नहीं कहते कि ठीक, तब तो यह बाधा नहीं, इतना अतिचार है। ऐसा होगा? यह तो इसके बचाव के लिये नहीं, इसे छोड़ने के लिये है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अभी करें तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। सम्यग्दर्शन के बाद की यह बात है। अभी पहले होता नहीं।

मुमुक्षु : कम करें तो क्या बाधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वहाँ होवे नहीं और क्या बाधा? वस्तु क्या है, उसकी खबर पड़ी नहीं, उसमें स्थिरता करें तो? ऐसे बिना समझे स्थिरता (करें), परन्तु स्थिरता ही आवे कहाँ से? जहाँ वस्तु क्या है? उसमें स्थिरता तो करनी है। वहाँ स्थिरता में अस्थिरता के प्रसंग आवें, उनकी यह बात है। मिथ्यादृष्टि तो व्रत आदि सब वे तो बालव्रत और बालतप हैं। उसे अतिचार कैसे? सब अनाचार ही पड़ा है। और उसे अतिचार कैसे उसे? मिथ्यात्व का ही अनाचार पड़ा है, अव्रत का पूरा अनाचार पड़ा है। समझ में आया? परन्तु इसे सब जानना तो चाहिए न? सम्यग्दर्शन सहित स्थिरता ऐसी हो, उसमें अस्थिरता ऐसी हो नहीं। यह सब जानना तो चाहिए न! समझ में आया? चार अनुयोग का ज्ञान तो करना चाहिए न, ऐसा कहते हैं। लो!

गाथा - १९१

सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार

वचनमन:कायानां दु:प्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुता: पंचेति चतुर्थशीलस्य।।१९१।।

मन वचन तन की दुष्प्रवृत्ति, अनादर अरु व्यग्रता।
से विस्मरण व्रत सामायिक के, दोष इनको हटाना।।१९१।।

अन्वयार्थ : (स्मृत्यनुपस्थानयुता:) स्मृतिअनुपस्थान सहित (वचनमन: कायानां)

वचन, मन, और काय की (दु:प्रणिधानं) खोटी प्रवृत्ति (तु) और (अनादर:) अनादर (इति) इस प्रकार (चतुर्थशीलस्य) चौथे शील अर्थात् सामायिकव्रत के (पञ्च) पाँच (एव) ही अतिचार हैं।

टीका : 'वचनप्रणिधानं, मन:प्रणिधानं, कायप्रणिधानं तु अनादर: च स्मृत्य-नुपस्थानयुता: इति पञ्च चतुर्थशीलस्य अतिचारा: सन्ति।' – अर्थ :– १– वचन का दुरुपयोग करना अर्थात् सामायिक करते समय मन्त्र का उच्चारण अथवा सामायिक पाठ का उच्चारण ठीक न करना, २– मन का दुरुपयोग अर्थात् मन में बुरी भावना उत्पन्न होना, मन में अनेक संकल्प–विकल्प उठाना, ३– काय का दुरुपयोग अर्थात् सामायिक करते समय हाथ–पैर हिलाना, ४– अनादर अर्थात् सामायिक आदरपूर्वक न करना, अथवा बेगार समझकर उसे जैसे–तैसे पूरी करने की इच्छा करना, ५– स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् एकाग्रता न होने के कारण पाठ भूल जाना – यह सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं। सामायिक में मन, वचन, और काय तीनों की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। इन तीनों को वश किये बिना सामायिक हो ही नहीं सकती। अत: इन्हें अवश्य ही वश करना चाहिए।।१९१।।

गाथा १९१ पर प्रवचन

सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार... अब सामायिक। सामायिक भी होवे किसे ? जिसने श्रावकपना अन्दर वस्तु दृष्टि में ज्ञानस्वरूप, चैतन्य आनन्द, मैं आनन्द हूँ। आनन्दस्वरूप ही मेरा है। यह विकल्प उठता है, वह दु:ख है। यह आनन्द है, यह दु:ख है, ऐसा जिसे भान हुआ है, उसे उस आनन्द में रहने की दशा के नाम को सामायिक कहते हैं। कहो, समझ में आया ? सामायिक में समता का लाभ है न ? समता के लाभ का अर्थ कि वीतरागता। वीतरागता का अर्थ कि आनन्द और शान्ति का स्वाद बढ़ना। उसे सामायिक कहते हैं। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

वचनमन:कायानां दु:प्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुता: पंचेति चतुर्थशीलस्य।।१९१।।

....प्रत्येक के नाम लिखे हैं, हों! शील–शील के नाम।

टीका : 'वचनप्रणिधानं, मन:प्रणिधानं,'... देखो! टीका। इस प्रकार से। प्रत्येक को लागू किया है। **'कायप्रणिधानं तु अनादर: च स्मृत्य–नुपस्थानयुता: इति पञ्च चतुर्थशीलस्य अतिचारा: सन्ति।'** लो! समझे न? **'सन्ति'** प्राप्त किया है। **वचन का दुरुपयोग करना अर्थात् सामायिक करते समय मन्त्र का उच्चारण अथवा सामायिक पाठ का उच्चारण ठीक न करना,...** यह एक अतिचार है। वचन का दुरुपयोग। जैसे–तैसे वचन बोलना, वह सामायिक में नहीं होता और सामायिक में यह है कि... यहाँ ऐसा नहीं कि छह कोटि की सामायिक और आठ कोटि की सामायिक। यहाँ तो सामायिक अर्थात् अन्दर में मन, वचन, काया से... इसका नाम सामायिक है। छह कोटि और आठ कोटि की बात ही खोटी है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु तीनों है न। यह पहला पाठ आया न? मन–वचन–काया आया न! **'दु:प्रणिधानं'** तीनों को छोड़ना। और छह कोटि से करना और दो कोटि से, तीन कोटि से छूट रखना, ऐई! सामायिक ऐसी नहीं होती। यह सामायिक... छह कोटि आती है न... सामायिक तो कण्ठस्थ की होगी नहीं? पाठ तो किये होंगे न? पाठ तो कण्ठस्थ किये न? पाठ मैं कहता हूँ। हीराभाई ने की थी? दुवीर्णी, तीवीर्णी आता है न? मन–वचन–काया से करना और कराना नहीं। अनुमोदन की छूट। परन्तु सामायिक में अनुमोदन की छूट आयी कहाँ से? ऐई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। समताभाव रखना तो तीनों से हटकर रखना वह है। नहीं तो रहे किस प्रकार? न्याय से देखो। ये सब बिना समझे हुए सब भंग किये। एकदम ज्ञायक चैतन्यमूर्ति जो दृष्टि में लिया है, उसमें स्थिरता करना, उसमें फिर मन से, काया से छूट रखना है। मन तो विकल्प राग है। वह बाहर तो बाहर है। वह सामायिक में आया कहाँ से? ऐई! चन्दुभाई! ये सब छह कोटि के, चार कोटि के झगड़े। आहा..हा..!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल में खोटा था तो ऊपर से खोटा होगा ही न? मूल में दृष्टि में ही खोटा। समझे बिना देव-गुरु-शास्त्र ही खोटे हैं। परन्तु छह कोटि किसकी? समता करूँ, इतने कोटि समता रखूँ, इतने कोटि विसमता रखूँ (-ऐसा कैसे हो सकता है?)। अन्दर ज्ञानस्वरूप में शुद्ध चैतन्य में जहाँ एकाकार होना है, उसमें फिर अमुक छूट और अमुक छूट ऐसे दो भंग हो कैसे सकते हैं? समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प वह राग है। वह समता कहाँ है? सामायिक कहाँ है? जितने अंश में अन्दर निर्विकल्पता स्थिर हो, उतने अंश में (समता है)। विशेष न हो, वह अलग बात है परन्तु थोड़ी सी समता का भंग रखना और थोड़ी समता करूँ, ऐसा है कुछ इसमें? आहा..हा..! देखो! यह आत्मा का मार्ग। समझ में आया? आठ कोटिवाले को मन से अनुमोदना, यह छूट, नहीं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस। वचन से, काया से। मन से अनुमोदे तो वह विकल्प, राग हुआ। वहाँ सामायिक कहाँ आयी? ऐई! ऐसा सीखे थे या नहीं दोनों? दोनों पहले जाते थे। क्या करने जाते थे?

मुमुक्षु : प्रतिक्रमण करने जाते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिक्रमण करने जाते थे।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु जो वीतरागस्वभाव आत्मा का है, उसमें किसी कोटि से कम है और किसी कोटि से अधिक-ऐसा अन्दर है? वह तो भगवान ज्ञान की मूर्ति, अरागी वीतराग रसकन्द आत्मा है। बस, उसके अन्दर में जितना तीन कोटि से छूटकर, तीनों में से नौ प्रकार से छूटकर स्थिरता का अंश हो, उसका नाम सामायिक है। समझ में आया? यह प्रश्न निकला था (संवत्) १९७२ के वर्ष में। 'सर्वा' में। जब पुरुषार्थ का प्रश्न उठा था न? उसमें यह कुछ कोटि का था। अन्दर आया था। भंग-बंग होवे नहीं। समता के प्रकार में भंग-बंग होता नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा ही होता है। जितने अंश में है, उतने अंश में। उसको नौ कोटि हो तो पूरा कहलाता है और कम हो तो अधूरा कहलाता है, ऐसा.... कम स्थिरता है परन्तु है पूरी। पूरी अर्थात् किसी कोटि के प्रसंग की छूटवाली नहीं, ऐसा। कम का अर्थ ऐसा नहीं है कि दो कोटि से छूट है और छह-आठ होने की कोटि से बँधी है। इसी प्रकार यहाँ कम की व्याख्या नहीं है। यह कम की व्याख्या स्वरूप में स्थिरता का अंश थोड़ा है, ऐसी कम की व्याख्या है। समझ में आया?

वचन का दुरुपयोग। सामायिक करते समय वचन आदि भी नहीं। मन का दुरुपयोग। मन में विकल्प आदि की खराब भावना उत्पन्न होना। **मन में अनेक संकल्प–विकल्प उठाना,...** सामायिक का दोष है। अन्तर में ज्ञाता–दृष्टा में स्थिर होता है, उतनी स्थिरता है। आहा..हा..! उसका नाम वास्तविक सामायिक है। सामायिक, वह संवर है या नहीं? तो संवर वह रागवाला भाग होगा, उसे संवर कहा जाता है? गजब मार्ग, बापू! कायर का कलेजा काँप उठे, ऐसा मार्ग है।

काय का दुरुपयोग अर्थात् सामायिक करते समय हाथ–पैर हिलाना,.... पैर के ऊपर पैर करके ऐसे हिलाते हैं न?

मुमुक्षु : सदुपयोग और दुरुपयोग....

पूज्य गुरुदेवश्री : दुरुपयोग अर्थात् वह तो ऐसा भाव नहीं करना, ऐसा। भाव की व्याख्या। भाषा तो ऐसी ही आवे न! भाव ऐसा। अन्दर कितने ही पैर पर पैर चढ़ाकर बैठते हैं न? हिलाते हैं न ऐसे? पैर ऊँचा रखकर हिलाते हैं या नहीं? ऐसे पैर करके पैर को हिलाते हैं, वह सब कुचेष्टा है। ऐसा भाव ही वह बुरा है, कहते हैं। समझ में आया? यह होशियारी मानता है। इस प्रकार पैर पर पैरा चढ़ाकर बैठे और पैर ऐसे–ऐसे करे तो वह होशियार कहलाये। यह यहाँ कहते हैं कि पैर ही हिलाने की वस्तु का भाव नहीं। यह हिला सकता है या नहीं, यह अभी सिद्ध नहीं करना है।

मुमुक्षु : सिद्ध हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, सिद्ध नहीं होता। उसे ऐसा भाव नहीं आना चाहिए, इतनी

बात है। हिलाने की कहाँ (बात है)। ऐसे-ऐसे हो जाये यों ही हो जाये। नहीं होता कभी? इसका भाव न हो तो ऐसा हो जाये। रगतरग (नस पर नस चढ़ जावे) हो जाये। ऐसा हो जाये, एकदम हो जाये। वह तो देह की क्रिया है परन्तु अपने भाव में... आता है या नहीं? अरुचि, आत्मा की अरुचि की। अशुद्ध आत्मा की जो परिणति है, उसे छोड़ता हूँ और शुद्ध परिणति को करता हूँ। ऐसा कहते हैं उसका अर्थ। यह तो पूरे आत्मा की अरुचि कर दी, लो! अब रहा तुझे? करनेवाला कौन रहा?

यह भी श्रीमद् ने कहा है कि पूरे आत्मा की अरुचि करता है। आता है न श्रीमद् में? आता है। .... ऐसा आता है ....में आता है न? कुछ खबर नहीं होती अन्ध का अन्ध। चले अन्ध। 'अन्धो अन्ध पलाय' देखनेवाला अन्धा और चलनेवाले अन्धे। ऐई! गड्डे में गिरेगा, यह तो वीतरागमार्ग है भाई! केवलज्ञान की एक कला से तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए। आहा..हा..! उसकी मर्यादा क्या? उसकी हद क्या? उसका स्वभाव क्या? ऐसा बेहद स्वभाव अपना है, ऐसी अन्तर में दृष्टि हुई है। यहाँ परिणाम में मर्यादा बाँधने के लिये ममता घटाने को, इतनी हिंसा घटाने को (बात करते हैं)। उसमें ऐसे दोष होना नहीं चाहिए क्योंकि ऐसे दोष होना सम्भव है। इस स्थान में छद्मस्थ है, रागी है, तो दोष होना सम्भव है; इसलिए ऐसे दोष होने नहीं देना चाहिए। समझ में आया?

अनादर अर्थात् सामायिक आदर पूर्वक न करना, अथवा बेगार समझकर उसे जैसे-तैसे पूरी करने की इच्छा करना,... बेगार की तरह पूर्ण कर दे। फौजदार लेकर जाये न बेगारी। किसान को बेगार में गाड़ी ले जाये। बाड़ा हो बेगारी.... अब इसे... गाँव में। बेगार में गाड़ी ले जाये तो महाकठिनता से पूरा करना हो। इसी प्रकार इसे सामायिक महाकठिनता से पूरी करना हो। उसे तो (सच्चे श्रावक को तो) अन्दर में से निकलना रुचे नहीं। कल आया नहीं? दोपहर को आया था या नहीं? अन्तर के आत्मा के आनन्द का स्वाद लेने में बाहर निकलना रुचे नहीं।

मुमुक्षु : यह तो..... कैद में।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा... चार से कैद में। दो घड़ी, चार घड़ी कैद हो गयी। यह एक कहता था। 'ओघड़नानचन्द' था न? 'ओघड़नानचन्द'। पालियाद, ओघड़नानचन्द नहीं था। उसका लड़का यहाँ है। वह कहता था कि सामायिक बाँधकर बैठते हैं तो मानों

बन्धन में बैठे हों। उसके आसन पर मुँहपत्ती उतारकर बैठेगा मानो छूटा है। यह क्या है? मुँहपत्ती बाँधकर? सामायिक जहाँ छोड़ी, फिर भले मुँहपत्ती ऐसी की ऐसी छोड़कर वहाँ खुले हों। कुछ वस्तु का भान नहीं होता। (संवत्) १९७५ के साल में कहता था। ओघड़नानचन्द था, दिशाश्रीमाली, पालियाद। होशियार कहलाता था। गाँव में दो रायचन्द... यह दो। कहे, यह क्या है? यह करते हैं, तब यह सब बन्धन लगता है। खुले हों, तब ऐसा लगता है कि जहाँ सामायिक पूरी की और पाली। पाली फिर बैठे हों तो खुले लगें। यह क्या? पहला और अन्तिम भी कहाँ था? सामायिक ही कहाँ थी?

सामायिक तो जिसे आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप की स्फुरणा दृष्टि में हुई है। आहा..हा..! उसका विशेष आनन्द बढ़ाने को यह प्रयोग है। सामायिक का प्रयोग तो अन्तर में आनन्द बढ़ाने का यह सामायिक का प्रयोग है। सामायिक की अजमाईश है, यह अजमाईश है। कितनी अन्दर में स्थिरता रह सकेगी? पूर्ण स्थिरता करनी है तो मुझे भी स्थिरता वर्तमान में कितनी रह सकती है? सामायिक का सबेरे, दोपहर, सायं यह प्रयोग है। समझ में आया? दिन–प्रतिदिन का यह प्रयोग है। आठ दिन का प्रयोग फिर प्रोषध में। अष्टमी और यह। आठ दिन का फिर अधिक प्रयोग करते हैं। अन्दर में स्थिर रहने की अजामईश। मुनिपना लेना है न? अन्त में तो मुनिपना लेना है, चारित्र (लेना है)। ये चारित्र के सब उम्मीदवार हैं, उम्मीदवार हैं। सामायिक और प्रोषध की क्रिया मुनि की उम्मीदवारी की क्रिया है। कहो, महेन्द्रभाई! तुम्हारी जवेरी की दुकान में... उम्मीदवार पहले... कैसे यह बेचता है और क्या है? और क्या है? चार–पाँच दिन, चार, पाँच वर्ष में जब उम्मीदवार हो, फिर और पैसा धरना सीखे।

इसी प्रकार चारित्र मोहनीय का वीतरागभाव... आहा..हा..! परमेश्वर पद। सम्यग्दृष्टि को वह परमेश्वर चारित्रपद लेने की भावना है परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कर नहीं सकता। कर्म के कारण नहीं, हों! इसलिए ऐसा सामायिक का प्रयोग मुनिपने की उम्मीदवारी का हमेशा दो घड़ी प्रयोग स्वयं अन्दर में करता है। आहा..हा..! मैं कितना स्थिर रह सकता हूँ।

सामायिक आदर पूर्वक न करना, अथवा बेगार समझकर पूरी करने की इच्छा करना, ५– स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् एकाग्रता न होने के कारण पाठ भूल जाना...

यह भी इतने वर्ष में पहले यहाँ चलता है। यह कहाँ पढ़ा था। व्रत के, श्रावक के सब दोष। **सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।** लो! वे श्रावक को टालना। **सामायिक में मन, वचन, और काय तीनों की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है।** लो, देखा! तीनों में एकाग्रता की आवश्यकता है, काया, मन में न जाये परन्तु मन में विकल्प गया, वहाँ कहाँ समता रही? मूल तो यह समता करने की बात है।

मुमुक्षु : मन की छूट हो गयी, इसलिए सब छूट हो गयी न? मन खुला फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वचन, काया की ओर का विकल्प तो रोका है न, ऐसा कहे। वह कहाँ बिना समता में वह भंग होता नहीं। ऐसी बातें करे। समझ में आया?

मन, वचन, और काय तीनों की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। जिसका मन-वचन-काया की ओर का उपयोग चपल है, उसे अस्थिरता होना बहुत सम्भव है। इसलिए बहुत उनकी एकाग्रता की आवश्यकता है, जरूरत है। **इन तीनों को वश किये बिना सामायिक हो ही नहीं सकती।** लो ठीक! स्पष्टीकरण किया। मन से खुला रखा, काया से ऐसा, अमुक यह सामायिक में ऐसा नहीं होता। समझे? दूसरे प्रत्याख्यान में बहुत प्रकार होते हैं। **इन तीनों को वश किये बिना सामायिक हो ही नहीं सकती। अतः इन्हें अवश्य ही वश करना चाहिए।** देखो! यह सामायिक। कहो, अब अभी देव-गुरु-शास्त्र की खबर नहीं। आत्मा क्या है, इसकी खबर नहीं, करो सामायिक। आठ-आठ वर्ष की लड़कियाँ और लड़के सामायिक करें, लो! पंचरंगी एक आसन पर पाँच सबेरे से बैठे। पाँच से दस बजे, जाओ। उन्हें कुछ पैसा दे। सामायिक की, बहुत सामायिक की।

एक मिनिट की सामायिक जन्म-मरण का नाश कर दे, उसका नाम सामायिक है। सामायिक के प्रकार हैं, एक सम्यग्दर्शन सामायिक, एक सम्यग्ज्ञान सामायिक, एकदेश स्थिरता सामायिक, एक सर्वविरति सामायिक - ये चार सामायिक सम्प्रदाय में कहते थे, हों!

मुमुक्षु : कहते थे परन्तु ऐसा भेद करके कहाँ कहते थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह कहाँ अन्दर था इसे? परन्तु सामायिक वह पहली सम्यग्दर्शन सामायिक है, ऐसा कहते। पहले सम्यग्दर्शन बिना सामायिक होती नहीं।

देशविरति–फिरति को सामायिक नहीं होती। दूसरी सम्यग्ज्ञान सामायिक कहते थे। आता है न ऐसा थोड़ा।'अनुयोगद्वार' में आता है। यह कुछ निकालते नहीं थे परन्तु अन्दर आता था। सम्यग्ज्ञान, वह भी एक शुद्धस्वरूप का भान, वह भी सामायिक है और स्थिरता का अंश है, वह देशविरति की सामायिक है। विशेष स्थिरता है वह... कहो, समझ में आया? देखो न, यहाँ तो तीनों को वश करना। तीन में एक की छूट नहीं। ये सब भंग–बंग करते हैं, वे वस्तु को नहीं समझते। सामायिक कैसी होती है, उसे समझते नहीं, ऐसा कहते हैं।

गाथा - १९२

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य।।१९२।।

देखे बिना शोधे बिना, कर ग्रहण संस्तर विसर्जन।
हो अनादर विस्मरण व्यग्र, ये दोष प्रोषधोपवास व्रत।।१९२।।

अन्वयार्थ : (अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं) देखे बिना अथवा शुद्ध किये बिना ग्रहण करना, (सस्तरः) चटाई आदि बिस्तर लगाना (तथा) तथा (उत्सर्गः) मलमूत्र का त्याग करना (स्मृत्यनुपस्थानम्) उपवास की विधि भूल जाना (च) और (अनादरः) अनादर–यह (उपवासस्य) उपवास के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका : '१–अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं २–अनवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरः ३–अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्गः ४–स्मृत्यनुपस्थानम् ५–अनादरश्च इति पञ्च अतिचाराः उपवासस्य सन्ति।' – अर्थ :– १–बिना देखे अथवा कोमल उपकरण से बिना पौंछे पूजनादिक सामग्री या कोई वस्तु का ग्रहण करना; २– बिना देखे, बिना पौंछे बैठना, सोना या बिस्तर लगाना; ३– बिना देखे, बिना साफ किये भूमि पर मल–मूत्र का त्याग करना; ४– उपवास में एकाग्रता न होना अथवा विधि भूल जाना और ५– तप व उपवास की विधि में अनादर (उदासीनता) करना (अथवा शीघ्र पूर्ण होने की आकुलता रहना।) यह प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।।१९२।।

गाथा १९२ पर प्रवचन

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार... लो, महीने में आठ-आठ दिन प्रयोग करना। अष्टमी, चतुर्दशी को। आठ-आठ दिन आत्मा में स्थिरता का अजमाईश। पहले (सामायिक में) दिन-प्रतिदिन की थोड़ी दो-दो घड़ी, चार-चार घड़ी हो, यह तो आठ-आठ दिन एकदम (अजमाईश करे)। चारित्र लेने की भावना है न! इसलिए इस चारित्र की आठ-आठ दिन में इसका प्रयोग / अजमाईश कर सकूँ।

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य।।१९२।।

देखा! पाँच उपवास के पाँच लिये। ये पाँच, उपवास के। प्रोषधोपवास है न? प्रोषध-उपवास ऐसा शब्द है न? इसलिए इस उपवास के पाँच अतिचार। आत्मा को अन्तर में पोसना। जैसे चने को पानी में डालकर चना पुष्ट होता है न, चना पुष्ट होता है पुष्ट। इसी प्रकार आत्मा शुद्ध चैतन्य के अन्तर में एकाग्र द्वारा आत्मा में शान्ति की पुष्टि प्रगट करने का नाम प्रोषध कहने में आता है। कहो, सेठी! यह सामायिक और प्रोषध वहाँ जयपुर में सुने भी नहीं होंगे। सबसे बड़ा जयपुर कहलाता है। जैन की जैनपुरी।

मुमुक्षु : ....दिगम्बर में है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है। हमेशा सामायिक है। यह तो लोग... सामायिक का पाठ है। हमेशा करना।

मुमुक्षु : प्रतिमाधारी करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। परन्तु ऐसे तो जो सच्चे श्रावक हों, उन सबको करना। ऐसे सबकी बात है। सब तो करते हैं परन्तु प्रतिज्ञापूर्वक की बात है। इसे प्रतिज्ञा बिना है, वह सामायिक, परन्तु इन लोगों ने प्रथा नहीं की। दो घड़ी की सामायिक स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी में बाहर का प्रदर्शन रह गया।

बिना देखे अथवा बिना पौंछे वस्तु का ग्रहण करना;... प्रोषध में यह दोष

है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **बिना देखे अथवा बिना पौंछे वस्तु का ग्रहण करना;...** यह प्रोषध का दोष अन्दर की शान्ति में उस प्रकार की अस्थिरता कैसे आती है? कहते हैं। समझ में आया? **बिना देखे, बिना पौंछे बैठना, सोना या बिस्तर लगाना;...** सोने में। बैठने की पथारी में बैठा हो न! समझ में आया? पहले वस्तु का था। यह बिस्तर का है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठने का हो और बैठने का तो थोड़ा होता है न? फिर सोते समय थोड़ा सोने का, परन्तु बिस्तर में बैठना तो चाहिए न?

बिना देखे, बिना साफ किये भूमि पर मल–मूत्र का त्याग करना;... कहो, मल–मूत्र करने में ध्यान रखना चाहिए। जीव–जन्तु को... समता है न समता है। लम्बा काल है न इसलिए। सामायिक में तो ऐसा काल होता नहीं। दो घड़ी निवृत्ति में बैठा हो, यह तो लम्बा काल है, इसलिए शरीर को कोई... इसलिए। **उपवास की विधि भूल जाना...** प्रोषध को भूल जाना। **तप व उपवास की विधि में अनादर...** तप लिया है न? उसका आदर नहीं, उदासीनता, बराबर उल्लसित भाव नहीं। **यह प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।** ये श्रावक को छोड़ना चाहिए। अब भोग–उपभोग के आयेंगे, लो... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

देखो, आत्मार्थी जीव की पात्रता!

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान–अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान–अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १९३

भोग–उपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार

आहारो हि सचित्त: सचित्तमिश्र सचित्तसम्बन्ध:।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य।।१९३।।

लेना सचित्ताहार मिश्रित, सचित संग दुपक्व हो।
कामोत्तेजक दोष, भोगोपभोग सीम व्रत ये तजो।।१९३।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (सचित्त: आहार:) सचित्त आहार, (सचित्त मिश्र:) सचित्त मिश्र आहार, (सचित्त सम्बन्ध:) सचित्त के सम्बन्धवाला आहार, (दुष्पक्व:) दुष्पक्व आहार (च अपि) और (अभिषव आहार) *अभिषव आहार (अभी) यह (पञ्च) पाँच अतिचार (षष्ठशीलस्य) छट्ठे शील अर्थात् भोगोपभोगपरिमाण व्रत के हैं।

टीका : 'हि सचित्त: आहार: सचित्तमिश्र: आहार: सचित्तसम्बन्ध: आहार: च दु:पक्व: आहार: अभिषवाहार: इति अमी पञ्च अतिचारा: षष्ठशीलस्य सन्ति।'– अर्थ:– १–निश्चय ही सचित्त–जीवसहित कच्ची हरी वस्तु का आहार करना, २– सचित्ताचित्त के मिश्रणवाली वस्तु का आहार करना, ३– हरी–सचित्त से ढाँकी हुई वस्तु का आहार लेना, ४– ऐसी वस्तु का आहार करना जो अग्नि पर भले प्रकार पकायी न गयी हो अर्थात् अधिक पक गयी हो या कुछ कच्ची (अधपकी) रह गयी हो तथा ५– गरिष्ठ अर्थात् कामोद्दीपक पुष्टिकारक वस्तु का आहार करना – यह पाँच भोगोपभोग –परिमाणव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ : यद्यपि यह भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत का पालक श्रावक अभी सचित्त का त्यागी नहीं है तो भी सचित्तत्याग प्रतिमा के पालन के अभ्यास के लिये तथा खाद्य पदार्थों में अधिक लालसा मिटाने के लिये ही उसे इन अतिचारों को टालना चाहिए।।१९३।।

---

* दुग्धघृतादिक रस मिश्रित कामोत्पादक आहार।

प्रवचन नं. ७५ गाथा–१९३ से १९५ रविवार, आषाढ़ कृष्ण ९, दिनांक ३०.०७.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है। १९३ वीं गाथा है। यह क्या चलता है ? जो आत्मा, आत्मा के मोक्षस्वरूप के साधक जीव, आत्मा की परम शुद्ध पवित्र दशा, ऐसा जो मोक्ष– पूर्ण शुद्धता और पूर्ण आनन्ददशा, ऐसी जो मोक्षदशा है, उसे साधनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है। समझ में आया ? और जिसकी पर्याय में पूर्ण पवित्रता, शुद्धता, आनन्द आदि पूर्ण दशा प्रगट हो, उसे मोक्ष कहते हैं और उसे साधनेवाले (पुरुष)... पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है न ? उसे साधक जीव पहले अपने स्वरूप को अन्तर्दृष्टि से साधता है। आत्मा मोक्षस्वरूप है, उसकी पर्याय में मोक्ष के लिये, वस्तु के पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वरूप को, स्वभावसन्मुख होकर निर्विकल्पदृष्टि द्वारा, स्वरूप का निर्णय और अनुभव जिसने किया है, वह मोक्ष का साधक और पात्र कहने में आता है। समझ में आया ? और ऐसे पात्र में स्वरूप की स्थिरता आवे... भगवान आत्मा ज्ञान और दर्शन से भरपूर पदार्थ है, उसमें से पूर्ण पर्याय प्रगट करनी है तो पहले उसी की ही निर्विकल्प प्रतीति किये बिना, उसे प्रगट करने की स्थिरता नहीं हो सकती। समझ में आया ?

इसलिए यहाँ कहते हैं कि जिसने आत्मा को मोक्षपर्याय प्रगट करनी है, वे सब शक्तियाँ द्रव्य में पड़ी हैं, ऐसे द्रव्य की जिसने विकल्प अर्थात् राग के अवलम्बन बिना, अकेला निर्विकल्प भगवान आत्मा, उसकी शरण जाकर अन्तर अनुभव में स्वभाव की प्रतीति, श्रद्धा की है, उसे स्थिरता करने के लिये अणुव्रत के भाव आदि आते हैं। यह अणुव्रत है, वह विकल्प है, वह कहीं स्थिरता नहीं कराता परन्तु स्वभाव के आश्रय से अन्दर स्थिरता प्रगट हुई है, उसे ऐसी भूमिका में बारह व्रतादि होते हैं, वह बताते हैं कि इसे आंशिक स्थिरता भान होकर प्रगट हुई है। ऐसे साधक जीव की यह व्याख्या चलती है। शशीभाई ! बहुत जवाबदारी है। कहो, सेठी ! बराबर नहीं आया।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्रत इत्यादि सम्यग्दर्शन के बाद स्वरूप में स्थिरता का अंश प्रगट हुआ हो, वहाँ व्रत का विकल्प होता है। यह बात चलती है।

मुमुक्षु : क्योंकि वह साधक है....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। क्योंकि साधक है, ऐसा नहीं। साधक तो साधक ही है। साधक तो चौथे गुणस्थान में साधक है, पाँचवें गुणस्थान में साधक है, छठवें गुणस्थान में साधक है, बारहवें (गुणस्थान में) साधक है परन्तु यहाँ स्वरूप की दृष्टि हुई है परन्तु श्रावक को पूर्ण स्थिरता नहीं है। स्वरूप की शान्ति का अंश प्रगट हुआ है, उसे बारह व्रत का विकल्प आता है। व्यवहार है। व्यवहार बताता है कि इसके निश्चय में इतनी स्थिरता हुई है। समझ में आया? उसे बारह व्रत में अपने अभी ग्यारहवाँ व्रत चलता है।

भोग-उपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार... बाह्य पदार्थ एक बार भोगने में आवे, बारम्बार भोगने में आवे, उसका परिमाण-मर्यादा की होती है। क्योंकि सर्व पदार्थ से अत्यन्त छूटकर स्थिरता की है। इसलिए उसे एक बार भोगने में आवे या बारम्बार भोगने में आवे, ऐसे व्रत की जो परिमाण-मर्यादा की है, उसमें उसे अतिचार दोष नहीं लगाना चाहिए - ऐसा कहने में आता है। सम्यग्दर्शन के बाद श्रावक की भूमिका की यह बात चलती है। कहो, समझ में आया? जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, क्योंकि जो वस्तु साधनी है, वह वस्तु क्या है, उसका अनुभव ही नहीं, प्रतीति नहीं। वह वस्तु भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति पूर्ण पवित्रता या अपूर्ण पवित्रता इन सबका पिण्ड, वह आत्मा है। ऐसे आत्मा की जिसे अन्तर्मुख-स्वभावसन्मुख, अन्तर्मुख-स्वभावसन्मुख-पर से विमुख होकर अन्तर आत्मदृष्टि हुई नहीं, उसे स्वरूप की स्थिरता नहीं हो सकती। कहो, समझ में आया? उसे स्वरूप की स्थिरता आंशिक प्रगट हुई है, उसे ऐसे व्रत के भाव होते हैं, उसमें उसे अतिचार / दोष लगाना नहीं चाहिए, उसकी बात चलती है।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्र सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य।।१९३।।

टीका : जीवसहित कच्ची हरी वस्तु का आहार करना,... भाषा देखो! पाठ में क्या है? **'सचित्तः'** उस वनस्पति को सचित्त कहा है। लो, देखो! आया या नहीं? शरीर को सचित्त कहा, देखो! चित्त जिसमें जीव है, ऐसे शरीरवाली जीव वनस्पति को **'सचित्तः'** कहा है। स-चित्त। समझ में आया? निमित्त से कथन तो ऐसे होते हैं न? सचित्त ऐसा शब्द कहा। सचित्त। वनस्पति का शरीर है, उसमें जीव, चित्त अर्थात् जीव है। इसलिए जीवसहित

शरीर को सचित्त—जीव कहने में आता है। शरीर कहीं सचित्त नहीं होता। जीव तो जीव – चित्त है। ज्ञानमूर्ति जो चित्त है, वह आत्मा है परन्तु जिसमें वह आत्मा है, ऐसे शरीर को सचित्त जीव कहने में आता है। सचित्त वनस्पति कहने में आता है। समझ में आया? उसका भी विवाद। जीवसहित। इनने अर्थ ही कर दिया है। पाठ में यह है न! सचित्त। मूल पाठ सचित्त है। समझ में आया? देखो! पाठ है या नहीं? टीका – **'हि सचित्तः आहारः'** सचित्त आहार अर्थात्? आहार तो अजीव है परन्तु उसमें जीव रहा हुआ है, इसलिए उसे सचित्त आहार कहने में आता है।

उस **जीवसहित कच्ची हरी वस्तु का आहार करना,...** वह अतिचार है। किसे? भोग-उपभोग परिमाण किया उसे। यद्यपि उसे जिस समय में, जिस काल में उसने जितना त्याग किया है, उसमें वह दोष लगाने की अपेक्षा से बात है कि उसका दोष लगाना नहीं। वरना वहाँ सचित्त चलती है। समझ में आया? परन्तु उसने जो परिमाण किया हो कि अमुक वस्तु नहीं, उसके परिणाम में से वह जरा यह आवे, वह दोष लगाना नहीं चाहिए, ऐसा कहते हैं। नहीं तो सचित्त का सर्वथा त्याग तो ऊपर की प्रतिमा में होता है। ऐसा आहार लेने से उसे अतिचार लगता है। जिसमें दोष का त्याग किया है कि सचित्त का आहार जिसकी मर्यादा की है कि यह लेना नहीं चाहिए। स्वरूप में एकाग्रता के कारण स्थिरता हुई है, इसलिए ऐसी ही हद की मर्यादा से उसे विकल्प आया है कि ऐसे सचेत आहार का मुझे त्याग है। इसलिए उसे दोष लगाना, वह अतिचार सचेत सम्बन्धी दोष लगाना नहीं। भाई! यह चारित्र की, व्यवहार की बातें ऐसी है कि बहुत समझने जैसी सूक्ष्म है।

सचित्ताचित्त के मिश्रणवाली वस्तु का आहार करना,... कुछ सचेत और कुछ अचेत होता है न? ऐसा। ऐसा भी आहार लेने पर जिसे आत्मा के भानसहित सचित्त का त्याग कुछ अमुक मर्यादा में किया है, उस वस्तु का अन्दर दोष लगे, उसे यहाँ समझाने में आता है कि यह दोष लगाना नहीं चाहिए। **हरी-सचित्त से ढाँकी हुई वस्तु का आहार लेना,...** ऊपर हरितकाय, यह केले के बड़े पत्ते ढाँकते हैं न? वह भी अतिचार है। **ऐसी वस्तु का आहार करना जो अग्नि पर भले प्रकार पकायी न गयी हो...** दुपक्व। बहुत पकी हुई न हो ऐसा। अथवा बहुत पकी हुई हो तो भी नुकसान आदि करे न, वह इस प्रकार से ऐसा है।

अधिक पक गयी हो... है न? बहुत पक गयी हो वह भी नहीं। अब वहाँ तो उसमें सचेत नहीं। समझ में आया? परन्तु वहाँ आगे ऐसी जो पकी हुई में गृद्धि का भाव विशेष होता है, वह इसे छोड़ना चाहिए, ऐसा कहते हैं। सब प्रकार गिना दिये हैं। बहुत पक गया हो न। **कुछ कच्ची (अधपकी) रह गयी हो...** लो! गुजराती भाषा है। अधचकरी अर्थात् थोड़ी पकी हुई और थोड़ी कच्ची हो। जिसे उस प्रकार का त्याग है, राग का वह त्याग है, स्वरूप की स्थिरता में इतनी अहिंसा प्रगट हुई है, उसे ऐसा आहार लेना नहीं कि जिससे उसमें अतिचार का दोष लगता है। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : थोड़ा अधिक पक जाये तो भी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। थोड़ा पक जाये, ऐसा भी नहीं। कुछ पक जाये कुछ कच्चा रहे, ऐसा भी नहीं। बहुत पक जाये तो उसमें गृद्धि हो जाती है। ये तीन बातें आयी न? **जो अग्नि पर भले प्रकार पकायी न गयी हो...** एक आया। **अधिक पक गयी हो... कुछ कच्ची (अधपकी) रह गयी हो तथा ५– गरिष्ठ अर्थात् कामोद्दीपक (पुष्टिकारक) वस्तु का आहार करना...** जिसमें काम और विषय की वासना का निमित्त हो, ऐसी गृद्धि का आहार (नहीं लेना)। जिसे आत्मा का साधन करना है, जिसे वीतरागता बढ़ानी है, आत्मा वीतरागस्वरूप है, उसकी दृष्टि हुई है और पर्याय में वीतरागता बढ़ानी है, उसे तो इस प्रकार के दोषों का त्याग करना चाहिए। समझ में आया?

गरिष्ठ अर्थात् कामोद्दीपक (पुष्टिकारक) वस्तु का आहार करना – यह पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं। महागरिष्ठ। यह आकरी होती है और यह भस्म का आहार। समझे न? जो इस काम को उत्पन्न करे। यह लोहे की भस्म, ताँबे की भस्म होती है न? ऐसी बहुत भस्मों का आहार नहीं करना। **कामोद्दीपक (पुष्टिकारक) वस्तु का आहार करना...** यह अतिचार है। समझ में आया? विषय की वासना बढ़े, गरिष्ठ आहार से भार बढ़े। जठर को भार बढ़े। जठर को भार बढ़ने से प्रमाद हो, निद्रा हो, ठिकाना रहे नहीं; इसलिए वह आहार नहीं करना। जिसे आत्मा के स्वभाव का साधन, शुद्ध भगवान पर जिसकी दृष्टि है और उसमें स्थिरता बढ़ाने का जहाँ प्रयोग और आजमाईश है, उसे तो ऐसी सब सावधानी रखनी चाहिए। कहो, समझ में आया इसमें?

भावार्थ : यद्यपि यह भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत का पालक श्रावक

अभी सचित्त का त्यागी नहीं है तो भी सचित्तत्याग प्रतिमा के पालन के अभ्यास के लिये तथा खाद्य पदार्थों में अधिक लालसा मिटाने के लिये... अथवा ऐसा लेना चाहिए कि जिस वस्तु का अमुक अवधि तक त्याग किया हो न, उसमें उसे अतिचार नहीं लगाना चाहिए। ऐसे सब प्रकार लेना। समझ में आया? देखो! ऐसा सब किये बिना इसका साधकपना बढ़ेगा नहीं, हों! बातें करने से नहीं होता, ऐसा कहते हैं। वस्तु की दृष्टि सम्यक् अनुभव होने पर भी, उसे स्वरूप में स्थिरता का प्रयोग करने पर, ऐसे-ऐसे बीच में दोष आवें, उन्हें करना नहीं। ऐसा है। ऐसी कहीं बातें करने से मिल जाये, ऐसा यह नहीं। समझ में आया? और सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए मुक्ति हो जाये, ऐसा नहीं। सम्यग्दर्शन में तो प्रतीति आयी है, उस स्वरूप में स्थिर होऊँगा, तब मेरी मुक्ति होगी। यह आता है या नहीं?

समयसार की १७-१८ गाथा में आया है। स्वरूप शुद्ध भगवान आत्मा ज्ञानानन्द की मूर्ति आनन्दकन्द प्रभु की दृष्टि हुई, अनुभव हुआ, ज्ञान हुआ, तब ऐसा जाना कि इस स्वरूप में स्थिर होने से ही मेरी मुक्ति होगी। इसमें स्थिर होने से, रमने से, चारित्र करने से मुक्ति होगी। ऐसी प्रतीति तो सम्यग्दर्शन होने पर हुई है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : यह तो सब व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चारित्रव्यवहार है। अन्दर स्थिर होना यह। अन्दर स्थिर होना, यह कहा, फिर विकल्प आता है, ऐसी स्थिरता की भूमिका में भी ऐसा निमित्तपना तो होता है न? समझ में आया? ऐसा निमित्तपना (होता है)। जहाँ आगे शुद्ध उपादान अधिक स्थिरता को प्राप्त हुआ तो ऐसे निमित्त ही उस प्रकार के उसे अनुकूलतावाले होते हैं। तीव्र राग और तीव्र गृद्धि—ऐसे भाव नहीं होते, ऐसी बात है। आहा..हा..! समझ में आया?

सम्यक् आत्मा का शुद्धस्वरूप पवित्र भगवान आत्मा का भान हुआ, श्रद्धा हुई, ज्ञान हुआ, तथापि उस श्रद्धा-ज्ञान ने ऐसा सूचित किया कि इस वस्तु में स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी ऐसा आया है इसमें। स्थिरता से होगी। यह हो गया इसलिए नहीं, अब यह स्थिरता से होगी। समझ में आया? अन्दर स्वरूप में स्थिरता, रमणता, जमना, आनन्द की उत्कृष्टता। आनन्द उत्कृष्टरूप से लेना, ऐसी स्थिरता जमने से चारित्र होगा, और फिर इसकी मुक्ति होगी - ऐसा श्रद्धा में पहले आ गया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसे विकल्प हों ऐसा जोर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही होता है। जोर देने का क्या? उसे ऐसा ही होता है। पाँचवाँ गुणस्थान आत्मा का दर्शन और आत्मा की स्थिरता दूसरा कषाय मिटकर हुई है, उसे ऐसे ही बारह व्रत के विकल्प होते हैं और ऐसे अतिचार होते हैं, ऐसी ही उसकी भूमिका होती है। समझ में आया? गजब मार्ग, भाई! वीतरागमार्ग की पर्याय का साधन है यहाँ तो बात अभी... वस्तु तो है, वह दृष्टि में आयी, ज्ञान आया, भान (हुआ) परन्तु फिर पर्याय में निर्मलता, वीतरागता प्रगट करने की यह बात है। समझ में आया? आहा..हा..!

छह खण्ड का स्वामी, छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियाँ और ऐसा जिसका भोजन का एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक पचा सकें नहीं, वे चल निकले। वनवास में चल निकले। किसी के साथ बात नहीं, चीत नहीं, खबर नहीं। हम हमारे आत्मा के साधन में जाते हैं। हमें दूसरा अब कुछ रुचता नहीं, आसक्तिरूप से, हों! दृष्टिरूप से तो पहले से रुचता नहीं। दृष्टिरूप से तो राग रुचता नहीं, पर में सुखबुद्धि है नहीं, परन्तु अब आसक्तिरूप से भी अब हमें यह नहीं (रुचता)। आहा..हा..! जंगल में, वन में अकेले चले गये। बाघ और रीछ के बीच में गये। पोपटभाई! इसके बिना कुछ मिले ऐसा नहीं है। आहा..हा..!

'एकाकी विचरुँगा कब शमशान में' श्रीमद् कहते हैं न? देखो न! भावना भाते हैं या नहीं?

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा।

पोपटभाई! ऐसी चाहना करते हैं। यह स्त्री, पुत्र की सुविधा में रहना, पलंग पर बैठना-सोना। सबेरे देखो तो गर्म चाय मिले और दोपहर को देखो तो गर्म भुजिया खाये, रोटी के समय यह खाये, शाम को कढ़ी, खिचड़ी, पापड़ और.... यह सब छोड़कर चल

निकले। स्थिरता के लिये, हों! आहा..हा..! उस स्वरूप में स्थिरता की रमणता जमे बिना मुक्ति–बुक्ति नहीं होती और ऐसी स्थिरता हो, वहाँ मुनि को पंच महाव्रत के योग, अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प ही उन्हें होते हैं। दूसरा होता नहीं। उसे वस्त्र और पात्र तथा उनके लिये बनाया हुआ आहार और ऐसा भाव ही नहीं होता। ऐसी दशा है, सहज दशा है। आहा..हा..! समझ में आया?

मुमुक्षु : जीमने से पहले हाथ धो डाले तो दिक्कत क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीमने के पहले हाथ धो डाले अर्थात्? खाये बिना? चारित्र पालन किये बिना हमें मुक्ति हो जाये तो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? परन्तु वह चारित्र कैसा? अन्तर स्वरूप में रमणता करे ऐसा। आहा..हा..! उसे ऐसे विकल्पों का भाव, व्यवहार आता है। उसकी भूमिका में ऐसा होता है। निश्चय से आदरणीय नहीं है। आत्मा के स्वभाव को साधने में मदद नहीं, परन्तु निमित्तरूप से सहायक है, ऐसा व्यवहाररूप से कहने में आता है। आहा..हा..! गजब बात, भाई! समझ में आया? लो!

खाद्य पदार्थों में अधिक लालसा... आसक्ति। अरे! आत्मा के अनुभव की लालसा हो, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की धर्मी को वह विशेष लालसा होती है या ऐसी लालसा होती है? समझ में आया? भगवान अतीन्द्रिय मूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप ही भगवान आत्मा है। ऐसे अतीन्द्रिय के स्वाद लेने की भावना विशेष हो या इस धूल के आसक्ति के राग विशेष हों? ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? पोपाबाई का राज नहीं कि वहाँ समझे बिना, पुरुषार्थ किये बिना ऐसे का ऐसा माल मिल जाये। ओहो..हो..!

यह पंचम गुणस्थान की वीतरागता का अंश, मुनि की वीतरागता की आंशिक वृद्धि और ध्यान में चढ़ने पर तो शुक्लध्यान, एकदम केवलज्ञान! आहा..हा..! उस वीतरागता के बिना आत्मा को केवलज्ञान है नहीं। मुक्ति के पुरुषार्थसिद्धि–उपाय की यह बात चलती है। समझ में आया? चैतन्यस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसकी सिद्धि अर्थात् मुक्ति, उसका यह उपाय है। समझ में आया?

गाथा - १९४

वैयावृत्त अतिथिसंविभाग के पाँच अतिचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने।।१९४।।

पर से दिलाना सचित्त रखना, सचित्त से ढकना समय।
का अतिक्रमण मात्सर्य, अतिथिदान में ये दोष तज।।१९४।।

अन्वयार्थ : (परदातृव्यपदेशः) परदातृव्यपदेश, (सचित्त निक्षेपतत्पिधाने च) सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, (कालस्यातिक्रमणं) काल का अतिक्रम (च) और (मात्सर्य्यं) मात्सर्य- (इति) इस प्रकार (अतिथिदाने) अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

टीका : 'अतिथिदाने परदातृव्यपदेशः अतिथिदाने सचित्तनिक्षेपः अतिथिदाने सचित्तपिधानं अतिथिदाने कालस्य अतिक्रमण च अतिथिदाने मात्सर्य्यं-इति पञ्च अतिचाराः वैयावृतस्य सन्ति।' - अर्थ :- १- घर का कार्य अधिक होने के कारण अपने हाथ से आहार न देकर किसी दूसरे के हाथ से दिलवा देना, २- आहार की वस्तु को कमलपत्रादिक हरे पत्तों में रखना, ३- आहार की वस्तु को उपरोक्त हरे पत्तों से ढाँकना, ४- मुनि महाराज की आहारचर्या के समय घर पर न मिलना अर्थात् भोजन के काल का उल्लंघन करना, ५- दान देते समय आदरभाव न होना, अथवा अपने घर मुनिराज के आहार की विधि न मिल सकने के कारण, या अपने घर मुनिराज के न आने के कारण यदि दूसरे श्रावक के घर मुनिराज का आहारदान हो जाय तो उस श्रावक के प्रति द्वेष रखना - यह पाँच अतिचार अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के हैं।।१९४।।

गाथा १९४ पर प्रवचन

वैयावृत्त अतिथिसंविभाग के पाँच अतिचार.. मुनि को, ओहो..हो..! धन्य मुनि, चारित्र अंगीकार करके आत्मा के आनन्द को साधते हैं। शुद्धोपयोग को साध रहे हैं।

ऐसों को आहार देने का एक व्रत होता है। देखो! श्रावक को स्वयं तो मुनिव्रत ले सका नहीं। परन्तु धन्य परमेश्वर आत्मा के आनन्द को, जिसे अकेले शुद्धोपयोग का आदर है। जिसे शुभविकल्प आता है, उसका भी आदर नहीं है। ऐसे सन्त आत्मा के आनन्द में झूलते हुए। अरे! उन्हें मेरे घर में आहार कब हो? ऐसे गृहस्थ, मुनि के लिये ऐसी भावना करता है। मैं मुनिपना ले नहीं सकता, मेरी कमजोरी है, पुरुषार्थ की मेरी कमी है। कर्म के कारण नहीं, हों! मेरे पुरुषार्थ की कमी है कि मैं उग्ररूप से स्थिर नहीं रह सकता। मेरा स्थिरता का पुरुषार्थ कच्चा, बहुत कच्चा है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि...

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो ऐसा वर्णन किया है, अरे! मेरी पर्याय तो तुच्छ तृण जैसी है। अपने को ऐसे तृणवत् मानता है। कहाँ परमात्मा केवलज्ञान, कहाँ सन्त अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते, जिन्हें दुनिया की कुछ परवाह नहीं, उपेक्षा हो गयी है। ऐसे सन्तों का पुरुषार्थ और मेरा यह कहाँ! समझ में आया? अपनी वस्तु को प्रभुरूप से स्वीकार करता है। पर्याय में तृणतुल्य (मानता है)। अरे! पुरुषार्थ बहुत कम। उसे ऐसा नहीं होता कि मैं बहुत कर गया अब। समझ में आया? यह स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में है।

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने।।१९४।।

टीका– प्रत्येक को पृथक् किया है। '**अतिथिदाने परदातृव्यपदेशः**' देखा! प्रत्येक को शब्द अलग किया है। **घर का कार्य अधिक होने के कारण अपने हाथ से आहार न देकर किसी दूसरे के हाथ से दिलवा देना,...** यह दोष है। अहो! मुनि धर्मात्मा आनन्दकन्द के साधनेवाले, खबर है कि अभी आनेवाले हैं, यहाँ घूमते हैं, समझ में आया? और उस काल में घर छोड़कर अन्यत्र जाना, वह दरकार नहीं उसे, यह अतिचार है। आहा..हा..! एक अच्छा मेहमान आवे तो इन्तजार करते हुए बैठता है या नहीं? कितनी तैयारी करता है? मेरे घर में राजा आनेवाले हैं, दीवान आनेवाले हैं, इससे पहले तो भूख-बूख लगी हो तो चाय-वाय नहीं पीता। मकान में ऐसे गद्दी-बद्दी बिछाता है, अहो! महाराज आनेवाले हैं। ऐई! पोपटभाई! रुपये का बिछौना किया था। सयाजीराव आये थे न? सयाजीराव, यह दामनगर उनका था न? जेठालाल त्रिभुवन, अकेले चाँदी के रुपये नगदी की बैठक की थी। उस पर सिंहासन में बैठाया था। मान... मान... उसे मान। चाँदी के

रोकड़ रुपये। तब तो रुपये ही थे न! अभी अब यह हो गया। इन्तजार देखकर बैठते हैं कि यह कौन आया? वह व्यक्ति आया। अब वह तो सब भिखारी, जगत के भिखारी। उसे प्रेम है, उसे-ऐसों को आदर देता है। ये तो महामुनि आत्मा के आनन्द के साधनेवाले हैं। आहा..हा..! मुक्ति के बादशाह। मुक्तिराज के बादशाह हैं। जिन्होंने मुक्ति का साम्राज्य साधा है। ऐसे मेरे घर कब पधारें? ऐसी भावना होती है इसे। समझ में आया? यहाँ कोई अच्छा अधिकारी आता है तो कितना करता है, लटपट करता है या नहीं? पाँच हजार का एक वेतनदार आया हो तो कहे, पधारो... पधारो... पधारो... ओहो..हो..! आपके दर्शन से मेरा आँगन उज्ज्वल हुआ। मेरा घर पवित्र (हुआ)। धूल में भी पवित्र नहीं। अब माँस खाकर आया हो। बाहर में कहते हैं या नहीं? ऐई! न्यालभाई! तुम्हें बहुत करना पड़ा होगा, सेठियों के साथ।

मुमुक्षु : अभी ही मिनिस्टर को बुलाया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इसके भतीजा ने बुलाया तो क्या करे? बीच में बड़ा करके बैठा हो। यह बाहर का करता है या नहीं? यह तो महामुनि! आहा..हा..! जिन्हें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द तो उछल निकले हैं। स्वसंवेदनदशा प्रचुर हो गयी है। जिन्हें कभी आहार आदि का विकल्प आता है, अशुभ की तो गन्ध नहीं रही। ऐसी जिन्हें अन्तर वीतरागता प्रगट हुई होती है। वे गणधर को भी नमस्कार करने योग्य हैं। श्रावका को ऐसे सन्तों को आहार देने की भावना होती है। कहो, समझ में आया? देखो।

घर का कार्य अधिक होने के कारण अपने हाथ से आहार न देकर किसी दूसरे के हाथ से दिलवा देना,... जाओ, देना। यह कहीं लक्षण कहलाता है? समझ में आया? यह दूसरे को सौंपते होंगे? छोटा लड़का हो, उसे सौंपते होंगे कि ये दरबार आनेवाले हैं तो सम्हाल करना। पहले सामने बैठे। समझ में आया? यह... आवे तो पहले सामने आगे बैठे... पहले बैठे। खबर है न? पोपटभाई! अपने बनियों में यह रिवाज है। आठ वर्ष के छोटे लड़के को नहीं बैठाते। वहाँ बैठना मुझे ठीक नहीं है। सब मेहमान आये हों तो वृद्ध बाहर जाकर दरवाजे के बाहर जाकर पहले सिर ओढ़कर रोवे। यह तो सब घर का देखा हुआ है। सब देखी हुई बात है। समझ में आया?

हमारे बड़े भाई गुजर गये तो हमारे पिताजी को वह बड़ा महा आधार था उनका।

बहुत दुःख लगा था, बहुत दुःख लगा था। सुन्दर शरीर, खानदान... काम किये हुए नहीं। दीपचन्दभाई होशियार थे। गुजर गये, फिर ऐसा आघात लगा। सगे–सम्बन्धी आवे। बाहर खिड़की थी न, अभी मकान बनाया। खिड़की के बाहर जाकर बैठे, रोते थे। समझ में आया? (संवत्) १९५९ के वर्ष की बात है। यह सब देखा हुआ है। एक–एक बात नमूना, हों! सब सगे–सम्बन्धी सामने आये न, बाहर जाकर बैठे। हम लड़के तो अन्दर खड़े हों। ऐसा रिवाज था। ऐई! सेठी! क्या कहा? तुम्हारे (ऐसा) नहीं होगा? पहले ऐसा रिवाज था कि गाँव में अपना लड़का गुजर गया हो तो काणे आवे न? काणे क्या कहते हैं? बाहर से रोते–रोते आवे तो घर का जो प्रमुख व्यक्ति हो, उसे बाहर रोने बैठना पड़े। तब उसका आदर किया कहलाये। नहीं तो आदर नहीं कहलाये – ऐसा लगे। इस प्रकार की एक प्रथा है। यह तो (मुनिराज का आगमन तो) उत्साह की प्रथा है। ओहो..! हमारे आँगन में महामुनि (पधारे)! देना उनको, लड़के को ऐसा कहते होंगे? कहो, महेन्द्रभाई! इस वृद्ध को सामने बैठावे। यहाँ स्वयं सामने आवे कि अहो! मेरे घर में... आहा..हा..! यह कल्पवृक्ष उगा। देखो न, भरत चक्रवर्ती की बात शास्त्र में आती है। उसका तो कितना बड़ा बंगला। कहाँ से कहाँ बड़ा दैवीय बंगला आहार के समय, आहार करने बैठे तो सीधे भावना (हो)। अहो! मेरे (आँगन में) मुनि (पधारें)। बंगले से बाहर निकलकर... उसका दरवाजा कहीं हो। चलकर दरवाजे के बाहर खड़ा रहता है। अरे! कोई मुनि, कोई मुनि आवे। आता है न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बाहर खड़ा रहता है। वहाँ ऊपर से मुनि ऐसे चले जाये। पधारो... पधारो.. महाराज! मेरे आँगन और आहार आज उज्ज्वल हुआ। प्रमोद होता है, ऐसा कहते हैं। यह अनादर नहीं करता। समझ में आया? विरह पड़ गया।

घर का कार्य अधिक होने के कारण अपने हाथ से आहार न देकर किसी दूसरे के हाथ से दिलवा देना,... यह अतिचार है, कहते हैं। समझ में आया? परोसने में एक व्यक्ति हो और घर की महिला खास हो। वहाँ घर का आदमी परोसे। लड़के को कुछ रखते होंगे परोसने में? भगवानभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बड़ी महिला हो वह खास। पहले तो ऐसा रिवाज था न कि छोटा मरण हो तो रोटी घी में डुबोकर देते थे। तपेली घी हो। उस समय घी बहुत सस्ता था। रुपये का ढाई सेर, तीन सेर। खाली थाली में घी हो, उसमें गरम रोटी डुबोवे। यहाँ सूखड़ी (गुजराती मिठाई) नहीं खायी जाती। क्योंकि छोटा मरण है। सूखड़ी नहीं खायी जाती। घी खाकर कुकर्म कर डाले। न्यालभाई! तुमने तो सब देखा होगा। तुम्हें खबर नहीं? छोटी उम्र थी परन्तु सब ख्याल था। एक-एक बात का ख्याल था कि यह क्या करते हैं। बोलते कम, क्योंकि उम्र छोटी। इसी प्रकार यह मुनि पधारते हैं... आहा..हा..! तो दूसरों को नहीं सौंपते।

आहार की वस्तु को कमलपत्रादिक हरे पत्तों में रखना,... सचित्त में रखे और मुनि आवे तो फिर वह वस्तु तो देवे नहीं। समझ में आया? इसे पहले से ऐसा सहज ही नहीं करना - ऐसा कहते हैं। हरा पत्ता रखकर देना इसके ऊपर। पत्ता ढँक देना। यह केले के बड़े पत्ते होते हैं न बड़े? बड़े पत्ते होते हैं। मुनि को निर्दोष आहार। साधक जीव है, महा वीतरागता साध रहे हैं। जिन्हें आहार की दरकार नहीं। संयम के हेतु से मात्र एक आहार की वृत्ति होती है। आहा..! उन्हें कहते हैं कि इस प्रकार से आहार देने की वस्तु हो, उसमें हरा पत्ता ढँकना नहीं।

आहार की वस्तु को उपरोक्त हरे पत्तों से ढाँकना,... समझे न? हरे पत्ते पर रखना और उसे ढँकना, ये दोनों दोष है। **मुनि महाराज की आहारचर्या के समय घर पर न मिलना...** घर में न रहना। दुकान में चले जाना। एक-एक बात है यहाँ तो। सबकी नाड़ी पकड़ी है। सिद्ध... सिद्ध.. सिद्ध... हैं ये तो। मुनि तो सिद्ध हैं। आहा..हा..! हमारे नाराणभाई एक बार बीमार पड़े थे न बहुत रोग हो गया था। अन्तिम स्थिति थी। कमरे में रखा हुआ था। हम गोचरी को गये। कमरे में रखा, भान कुछ नहीं। ऐसे जहाँ कमरे में गये... सिद्ध.. सिद्ध.. सिद्ध.. कुछ खबर नहीं, हों! परन्तु ऐसा हो गया। सिद्ध.. सिद्ध.. नाराणभाई वहाँ उनके घर में थे न, भाई गुजर गये नहीं? काका के लड़के। वाड़ीभाई के सामने। बीच में कमरा था, उसमें रखा हुआ था। मैंने कहा, नाराणभाई को देखने तो दो। मस्तिष्क अस्थिर हो गया। ऐसा दरवाजा खोला सिद्ध... सिद्ध... सिद्ध को यह! क्यों पोपटभाई! यहाँ कहते हैं, स्वयं चले जाना और घर का काल याद रखना नहीं। साढ़े दस का समय हो गया, उस समय घर में मुनि आने का काल है। आगे-पीछे समय कर डाले तो दोष है। कहो, समझ

में आया ? अच्छा अधिकारी आवे तो समय पर खड़ा रहता है या नहीं ? अच्छा अधिकारी आवे, राजा आया हो तो ऐसे बराबर पुलिस–बुलिस तैयार होकर खड़े होते हैं। यहाँ हमारे भावनगर दरबार आते थे न, अभी आये थे। सब पुलिस–बुलिस (साथ में थी)। देर लगी हो, मोटर आने में देर लगे तो पहले... हो जाये। तैयार होकर। किया था न उसने। व्याख्यान का हॉल नहीं ? वहाँ आये थे। सब खड़े थे, पहले से आकर खड़े थे।

यह तो मुनि... आहा..हा.. ! सिद्ध भगवान चले आते हैं, कहते हैं। समझ में आया ? सिद्ध के उत्कृष्ट साधक। संवर–निर्जरा के उत्कृष्ट आराधक। वे नवतत्त्व में आते हैं न ? ऐसा कहते (हैं कि) नवतत्त्व की श्रद्धा में संवर–निर्जरा के उत्कृष्ट साधनेवाले वे गुरु हैं। वे गुरु की श्रद्धा में आ जाते हैं। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में नौवें अधिकार में (कहा है)। मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत लिखा है। ऐसा कहे उसको नाम नहीं आता न ? देव–गुरु की श्रद्धा नहीं न ? कि उसमें आ जाते हैं। नौ तत्त्व की श्रद्धा होने पर, मोक्ष की श्रद्धा हुई और मोक्ष का लक्षण वह सिद्ध है। अरिहन्त और सिद्ध है। मोक्ष की प्रतीति हो गयी, वह सर्व शुद्धता को आराधने में हुआ है, इसलिए मोक्ष की श्रद्धा है और मोक्ष की श्रद्धा है, इसलिए उसमें देव की श्रद्धा आ गयी। गुरु की (आयी या नहीं) ? तो कहते हैं संवर–निर्जरा की उत्कृष्ट श्रद्धा है या नहीं ? संवर–निर्जरा के उत्कृष्ट साधक साधु हैं। उसके धारण करनेवाले। संवर–निर्जरा निर्मलानन्द भगवान आत्मा, विकल्प रहित आराधन करनेवाले, इसलिए संवर–निर्जरा की श्रद्धा में गुरु की श्रद्धा आ गयी। गजब मिलाया है यह तो ! ऐई ! देखो ! तुम इतना सब कर सको ? यह तो कितना किया है, नहीं ? इनकार करते हैं। बहुत मिलाया है। एक–एक में हजारों बोल, मोक्षमार्गप्रकाशक में तो हजारों बोल। देखो न, पण्डित को कितना मान आ गया ! कल नहीं कहा ? भाई फूलचन्दजी को। वह (अपर पक्ष) अनादर करे, प्रमाण नहीं, अमुक नहीं, यह है और वह है। वहाँ बैठे थे वहाँ... इस चर्चा में मैं आया हूँ, हे भगवान ! तुम्हारा बल है, हों ! मैं पामर क्या कहूँ ? ऐई महेन्द्रभाई ! यह तो महेन्द्रभाई का गाँव। तुम्हारा वह मन्दिर है न ?

मुमुक्षु : बड़ा मन्दिर ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा मन्दिर, नहीं। जहाँ पढ़ते थे वहाँ। फूलचन्दजी जाकर, वहाँ जाकर फूलचन्दजी ने पहले भगवान के दर्शन किये। यह चर्चा के लिये (जयपुर खानियां

तत्त्वचर्चा के लिये) हे भगवान! हे प्रभु! हे पण्डित! तुम्हारा बल है। इसमें मेरा तो कुछ (है नहीं)। समझ में आया? उन्होंने अन्त में लिखा है। जहाँ प्रस्तावना पूरी की, वहाँ अन्त में ऐसा लिखा है। अन्त में वाणी का लिखा है। जहाँ अपना लेख पूरा किया है, वहाँ लिखा है। देखो, लिखा है। क्या कहते हैं?

अन्त में इतना लिखकर कि उसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं। मुनियों में आता है न कि मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है, ऐसा लिखकर **अन्तर में इतना लिखकर कि इसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं। जो कुछ भी है, वह सब भगवत् वाणी का प्रसाद है। इस वस्तु को पूरा करता हूँ।** भगवत् वाणी है, यह रखा। अन्तिम शब्द। प्रस्तावना पूरी करते हैं। ऐसे तो उसे भक्ति बहुत है। देव के ऊपर, सच्चे उस पर भक्ति बहुत है। समझ में आया?

देखो यहाँ कहते हैं कि अपने को अवसर के समय उपस्थिति नहीं रखना। महाराज आवे तो पड़गाहन कर लेना। समझ में आया? ऐसा नहीं होता। आहा..हा..! तब **समय घर पर न मिलना...** यह खाता हो, बैठा हो, खाने की तैयारी में यों ही बैठा हो, उसमें महाराज आवे। वह पड़गाहन कर लेना। ऐसा न करे। स्वयं खड़े होकर और इसे सामने जाना पड़े। वे आवे भी नहीं, परन्तु फिर भी सामने जाकर दूसरे न आये हों कि तुम जाना सामने। ऐसा नहीं होता, स्वयं जाये। तिष्ठ.. तिष्ठ.. तिष्ठ.. प्रभु! पधारो महाराज! आहा..हा..! मेरे घर में परमेश्वर आये हैं। समझ में आया? देखो न!

ऋषभदेव भगवान पधारे। आहा..हा..! वे राजकुमार, हों! राजकुमार, श्रेयांस राजकुमार मणिरत्न के पुतले। महा अरबोंपति बड़े महाराजा, सुन्दर शरीर, अन्तिम शरीर-चरमशरीर। ऐसे जहाँ आये... आहा..हा..! महाराज पधारे। सामने गये। पधारो.. पधारो.. आहार देने की खबर नहीं पड़ती। कभी विधि की खबर नहीं, टकटकी लगाकर ऐसे देखते हैं। राजकुमार देखो तो घर में महा पद्मिनी जैसी रानियाँ हैं, बड़े महल है। ऐसे एकदम जातिस्मरण (होता है)। एकदम जातिस्मरण आठ भव पहले का। आहा..हा..! ताकत है और उसमें क्या है? ओहो..! मैं पत्नी था और यह भगवान का जीव आठवें भव में पति था। हमने मुनि महाराज को इस विधि से आहार दिया था। अहो! वह याद आया। घर में आहार के-गन्ने के रस के घड़े थे। उठाकर (कहता है), लो महाराज! आत्मा के आनन्द के रस... प्रभु! चखो। आप थोड़ा यह रस लो। स्वयं को रस लेना है न! कहो, समझ में आया?

अपने घर मुनिराज के आहार की विधि न मिल सकने के कारण, या अपने घर मुनिराज के न आने के कारण यदि दूसरे श्रावक के घर मुनिराज का आहारदान हो जाय तो उस श्रावक के प्रति द्वेष रखना... उसके घर में मिल गया। समझे न? वह साधारण था, उसके यहाँ मिल गया और हम बड़े सेठिया, हमें नहीं मिला। अरे! कौन जाने? वह तो साधारण व्यक्ति है। (परन्तु) साधारण भी दान का पात्र है। तुझे क्या काम है? हम बड़े करोड़पति हैं और वह तो बेचारा साधारण व्यक्ति है। सौ-दो सौ का वेतन लाता है। उसके यहाँ आहारदान हो! परन्तु मान न, प्रसन्न हो न! ईर्ष्या किसकी करता है? समझ में आया? धन्य भाग्य भाई तेरा। तेरे घर में महाराज मुनि! आहा..हा..! **उस श्रावक के प्रति द्वेष रखना – यह पाँच अतिचार अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के हैं।**

गाथा – १९५

सल्लेखना के पाँच अतिचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले।।१९५।।

जीने की इच्छा मरण इच्छा, मित्र राग सुखानुबन्ध।
अरु है निदान सल्लेखना के, काल में ये दोष तज।।१९५।।

अन्वयार्थ : (जीवितमरणाशंसे) जीवन की आशंसा, मरण की आशंसा, (सुहृदनुरागः) सुहृद अर्थात् मित्र के प्रति अनुराग, (सुखानुबन्धः) सुख का अनुबन्ध (च) और (सनिदानः) निदान सहित– (एते) यह (पञ्च) पाँच अतिचार (सल्लेखना-काले) समाधिमरण के समय (भवन्ति) होते हैं।

टीका : 'जीविताशंसा मरणाशंसा सुहृदनुरागः सुखानुबन्धः च सनिदानः इति एते पञ्च सल्लेखनाकाले अतिचाराः सन्ति।' – अर्थ :– १– सल्लेखना धारण करने के बाद जीने की वांछा करना, किसी प्रकार मरण न हो ऐसी इच्छा करना, २– सल्लेखना धारण करने के बाद अधिक रोगवेदना हो रही हो तो ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र मरण हो जाय तो अच्छा, ३– पूर्व के मित्रों का स्मरण करना कि अमुक मित्र बहुत अच्छे

थे और मैं उनके साथ क्रीड़ादिक कार्य करता था, ४- पूर्व में जो सुख-साता की सामग्री भोगी थी, उसे याद करना, तथा वह भोग मुझे कब मिलेंगे ऐसा 'चिन्तवन' करना, ५- आगामी काल में अच्छे अच्छे भोगों की प्राप्ति की इच्छा करना - यह पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।

भावार्थ : इस प्रकार १ सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत और १ सल्लेखना - इन चौदह के सत्तर अतिचारों का वर्णन कर चुके। अतः नैष्ठिक श्रावक को इन सबका जहाँ तक जितना बन सके, उतना यथाशक्ति अतिचाररहित पालन करना चाहिये, तभी मनुष्यभव मिलना सार्थक है। उपरोक्त चौदह *व्रत तीनों प्रकार के श्रावक पालते हैं। १- पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शन का धारक होता है, वह सात व्यसनों का त्यागी और आठ मूलगुणों का पालक होता है। २- नैष्ठिक श्रावक ऊपर की बातों सहित बारह व्रतों का पालन करता है, यह नैष्ठिक अवस्था जीवन पर्यन्त रहती है। ३- साधक -श्रावक, जब मरण का समय निकट आवे, तब वह नैष्ठिक श्रावक साधक अवस्था को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार जो मनुष्य तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करता है, वह अवश्य स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष-प्राप्ति का क्रम है।।१९५।।

गाथा १९५ पर प्रवचन

अब **सल्लेखना के पाँच अतिचार...** सल्लेखना करे, श्रावक सल्लेखना करे। आहा..हा..! मरण के समय उस सन्मुख-आनन्द के सन्मुख जाकर, इस देह को ऐसे विसर्जन करे। जैसे विष्टा का विसर्जन करता है। पानी छोड़ता है तब। बोसरे.. बोसरे..। यह पठवा (मलविसर्जन के लिये) जाते हैं न? पटरे तब बोसरे.. बोसरे.. बोलते हैं। यह श्वेताम्बर में ऐसा होता है। पेशाब करे, तब बोसरे.. बोसरे.. (बोले)। ऐसे शरीर को उस अवसर में बोसरावे। भगवानभाई! यह आया है न पोषा में? बाहर पठवा जाते थे, तब नहीं करते? कहो।

* निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथम की दो कषाय की चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध भावरूप (आंशिक वीतरागी स्वाश्रयरूप) निश्चयव्रत का पालन करनेवाले जीव के सच्चा अणुव्रत होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन न हो तो उसके व्रत-तप को सर्वज्ञदेव बालव्रत (अज्ञानव्रत) और अज्ञान तप कहते हैं। ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले।।१९५।।

टीका : सल्लेखना धारण करने के बाद... सत्–सम्यक् प्रकार से कषाय को कृश करके पतला करके देह छोड़ना। देह छोड़ने के काल में आनन्द में झूलते हुए देह छोड़ना, इसका नाम सल्लेखना मरण है। जिसने आत्मदर्शनसहित ऐसी भावना की होगी, उसे यह प्रसंग आये बिना नहीं रहेगा। उसकी बात है। आहा..हा..! समझ में आया? खराब आहार हो तो उसे छोड़ देते हैं। खाने का ऐसा डाल देते हैं न? उस समय तो अब शरीर हो गया, सब बिगड़ गया। छोड़ शरीर। विसर्जन करते हैं। जाओ! मैं मेरे रास्ते में हूँ। मेरे स्वरूप के आनन्द के मार्ग में हूँ। छोड़ो शरीर, छूटने के काल में छूटता है। छूटने के काल में छूटता है, हों! आगे–पीछे नहीं परन्तु समता से छूटता है, वह इसकी बलिहारी है। आहा..हा..! समझ में आया?

पहले से ये सब प्रयोग किये होंगे, उसे यह अवसर आयेगा परन्तु जिसने कभी स्वप्न में भी साधा नहीं कि यह देह छूटे तब क्या होगा? देहरहित मैं आत्मा क्या हूँ, वह देहरहित मेरा स्वरूप है, इस प्रकार होने का प्रसंग आयेगा, तब मेरी कितनी शान्ति चाहिए, कितनी स्थिरता चाहिए? ऐसी भावना होगी, उसे यह प्रसंग आयेगा। कहो, समझ में आया? यह मरण का प्रीतिभोज है। पूरी जिन्दगी में धर्म किया है न? आत्मा की दृष्टि और स्थिरता आदि की है, उसे अन्त में मरण का प्रीतिभोज है। आहा..!

उस श्रावक को **धारण करने के बाद जीने की वांछा करना,...** देखो! जीने की आकाँक्षा। उसे वह नहीं करना। ऐसा उसे नहीं करना। ठीक थोड़ा जीऊँ तो ये सब लोग बहुत आते हैं और मान मिलेगा। थोड़ा जीऊँ तो ठीक, ऐसी आशा नहीं होती। जो समय है, वह है। उसमें कुछ बढ़नेवाला नहीं है और घटनेवाला नहीं है। समता से ज्ञातादृष्टारूप से आत्मा को आराधे। समझ में आया?

सल्लेखना धारण करने के बाद अधिक रोगवेदना हो रही हो तो ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र मरण हो जाय तो अच्छा,... लो! शरीर ऐसा हो, शरीर जीर्ण हुआ हो, अब शीघ्र छूटे तो अच्छा। परन्तु शीघ्र छूटे इसका अर्थ कि तुझे इतनी वापस ममता

हुई। छूटने के काल में छूटेगा। फिर शीघ्र छूटे इसका अर्थ क्या? इतनी समता हो, भाई! आहा..हा..! इस शरीर में वेदना हो, मुनि को तो नग्न शरीर होता है, श्रावक को भी बहुत अन्तिम स्थिति में ऐसी अन्तिम स्थिति है। कहो, समझ में आया? उसमें यह कठोर प्रसंग आ पड़े सर्दी का, ठण्ड का, धूप का-गर्मी का। शीघ्र छूटे.. शीघ्र छूटे। इसका अर्थ क्या? जिस समय में छूटने का है, वह छूटने का है, उसमें कोई फेरफार नहीं होता। समता रखे। समझ में आया? शीघ्र मरण को प्राप्त होऊँ, मैं शीघ्र छूटूँ, ऐसी इच्छा नहीं करना। समझ में आया? यह उतावलिया होते हैं न? शीघ्र जहर पी लो। शीघ्र मरें। परन्तु वहाँ कहाँ माँ-बाप बैठे हैं? तेरी माँ बैठी है? दुकान बदलेगा तो अब लेनदार नहीं आयेंगे? वहाँ भी सब आयेंगे। यहाँ दे न, यहाँ बैठे चुका न! परीषह उपसर्ग आवे, धर्मात्मा मरण के अवसर में कैसी भावना होगी, भाई! इसमें समझ में आया? पोपटभाई! आहा..हा..! नहीं तो ऐसे असाता (होगी)। हाय..हाय..! मन में (होगी), भले बाहर से बोल नहीं सके। आर्तध्यान, आर्तध्यान। जैसे तिल घानी में पिलते हैं वैसे इस राग और द्वेष में पिलते हुए देह छूटे। वह कहीं मरण कहलाता है? ऐसे मरण तो केंचुआ और कुत्ते, पिल्ले बहुत करते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? जिसका समाधिमरण, शान्त मरण से मरना। जिसमें ऐसा दुःख आवे, तथापि शीघ्र छूटे, ऐसा विकल्प न लावे। समझ में आया? देह छूटे, ऐसी वृत्ति नहीं आना। वह तो दृष्टि में छूटी हुई ही है। यह सम्बन्ध क्षेत्रावगाह है, वह निमित्त जिस समय है, वह छूटेगा। आकुलता-व्याकुलता करेगा तो भी समय से छूटेगा, शान्ति रखेगा तो भी उस समय में देह छूटेगा। ऐसे मरण के अवसर की भावना सम्यग्दृष्टि को होती है। समझ में आया? आहा..हा..! ऐसी भावना करता है। आहा..!

पूर्व के मित्रों का स्मरण करना... उनके साथ खेलता था... याद करते हैं न? दुःख होता होवे न, जरा सी प्रतिकूलता आवे तो याद करे। हम साथ खेलते थे न! अरे! यहाँ क्या बापू! यहाँ अब आत्मा के साथ क्रीड़ा कर न! वह कहाँ याद करता है? जवानी में जिसके साथ खेलते हों न, गिल्ली-डण्डा, अमुक-अमुक वह अन्दर याद आ जाये। वह याद करे या यहाँ भगवान आत्मा को याद कर न! उस आनन्द स्मरण में किसी समय ऐसा आनन्द आकर किया है, उसे याद कर न! विशेष दशा आ गयी। समझ में आया? उसे (मित्रादि को) कहाँ याद करता है? समझ में आया?

पूर्व के मित्रों का स्मरण करना कि अमुक मित्र बहुत अच्छे थे और मैं उनके साथ क्रीड़ादिक कार्य करता था, ४– पूर्व में जो सुख–साता की सामग्री भोगी थी उसे याद करना,... लो! कब मिलूँगा? स्मरण करना, हों! ऐसा। सुखानुबन्धी है न वह। **साता की सामग्री भोगी थी उसे याद करना,...** ऐसी भोगते थे। अब यहाँ तुझे क्या काम है? आनन्द का अनुभव कर, भाई! अन्दर जा.. अन्दर जा.. प्रवेश कर। नहीं तो विकल्प द्वारा भी उसे याद कर, उसे स्मरण कर, आत्मा का स्मरण कर। समझ में आया? आहा..हा..!

जिसने पहले आत्मा को राग से भिन्न किया होगा और राग से विशेष आसक्ति छोड़ने की तैयारी की होगी, उसे ऐसा समाधिमरण होगा। मरण तो होनेवाला है या नहीं? उसमें कुछ बदले ऐसा है? जन्मे, वह अवधि से पूरा होगा। वापस अवधि से पूरा होगा। उसमें कहीं आगे अवधि है? शान्ति से मरे, उसका मरण कहलाता है। समझ में आया? **वह भोग मुझे कब मिलेंगे ऐसा 'चिन्तवन' करना,...**

५– आगामी काल में अच्छे अच्छे भोगों की प्राप्ति की इच्छा करना... निदान की बात की है मूल तो। समझे न? स्वनिदान, निदान है। वास्तव में निदान श्रावक तक थोड़ा होता है। आर्तध्यान अमुक होता है। छठवें (गुणस्थान में) मुनि को तो होता नहीं। आर्तध्यान का भेद है न? परन्तु उसे पाँचवें तक न लाना। समझ में आया? रौद्रध्यान आता है न? **यह पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।**

इस प्रकार १ सम्यग्दर्शन,... इसके पाँच अतिचार वर्णन किये। **५ अणुव्रत,...** इसके पाँच वर्णन किये। **३ गुणव्रत,...** इसके एक–एक के वर्णन किये, **४ शिक्षाव्रत और १ सल्लेखना – इन चौदह के सत्तर अतिचारों का वर्णन कर चुके। अत: नैष्ठिक श्रावक को इन सबका जहाँ तक जितना बन सके उतना यथाशक्ति अतिचार रहित पालन करना चाहिये, तभी मनुष्यभव मिलना सार्थक है।** नहीं तो मनुष्यभव मिला... मनुष्य में क्या है अब? दुनिया ने माना कि, दुनिया ने गिना कि दुनिया में अच्छे गिनाये, पहली कुर्सी मिली, उसमें आत्मा को क्या? वहाँ से धवो नम: हो जायेगा। जायेगा नीचे। समझ में आया?

यह ऊपर बताये हुए... नीचे है, देखो! **बतलाये हुए चौदह व्रत तीनों प्रकार के**

श्रावक पालते हैं। इन तीन प्रकार की व्याख्या करेंगे। व्रत के नीचे एकड़ा किया है। **निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथम की दो कषाय की चौकड़ी के अभावरूप शुद्धभावरूप (आंशिक वीतरागी स्वाश्रयरूप) निश्चयव्रत का पालन करनेवाले...** निश्चय तो यह है, ऐसा कहते हैं। निश्चय, सच्चा, स्वतत्त्व के आश्रय से प्रगट हुआ निश्चय -सम्यग्दर्शन; स्व भगवान आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ ज्ञान; उस पूर्वक प्रथम की दो कषाय की चौकड़ी अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणी के अभावरूप शुद्धभावरूप। देखो! उसका अभाव, वह शुद्धभावरूप प्रगट हुआ अन्दर में। इसका नाम श्रावक कहने में आता है। समझ में आया?

उस जीव के सच्चा अणुव्रत होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन न हो तो उसके व्रत-तप को सर्वज्ञदेव बालव्रत... कहा है। लो, समयसार में (कहा है)। जिसे आत्मा निर्विकल्प दृष्टि हुई नहीं, निर्विकल्प आत्मा का सम्यक् अनुभव नहीं, उसके किये हुए व्रत और नियम सब बालव्रत हैं। मूर्खता से भरपूर व्रत और मूर्खता से भरे हुए तप। समझ में आया? **ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।** सर्वत्र अर्थात् जहाँ-जहाँ व्रत और अतिचार का वर्णन (किया) परन्तु उसे यह साथ में होना चाहिए। आया न? पाक्षिक।

१- पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शन का धारक होता है, वह सात व्यसनों का त्यागी और आठ मूलगुणों का पालक होता है। लो! पाक्षिक श्रावक, जो आत्मा के पक्ष में आया है, सम्यग्दर्शन हुआ है, सात व्यसन का त्यागी है। उसे सात व्यसन नहीं होते। समझ में आया? वैश्या, परस्त्री, माँस, शराब, शिकार, जुआ इत्यादि उसे नहीं होते। **आठ मूलगुणों का पालक होता है।** उसे आठ मूलगुण होते हैं। पहला भले पाक्षिक श्रावक नैष्ठिक (होवे) तो भी उसे आठ मूलगुण होते हैं। तीन ऊमर आदि फल अथवा माँस, शराब, शहद आदि उसे नहीं हो सकते। समझ में आया? औषधि में भी शहद-वहद नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! शहद में बहुत पाप है। एक बूँद में सात गाँव मारने जितना पाप है। ऐसा भाव उसे नहीं होता। यहाँ तो भाव की बात है न! बात तो संयोग से होती है न!

२- नैष्ठिक श्रावक ऊपर की बातों सहित बारह व्रतों का पालन करता है, यह नैष्ठिक अवस्था जीवन पर्यन्त रहती है। अन्त तक। **३- साधक-श्रावक, जब मरण का समय निकट आवे...** धर्म का साधक जीव... **तब वह नैष्ठिक श्रावक साधक**

अवस्था को प्राप्त हो सकता है। तब उस दशा को प्राप्त करेगा। **इस प्रकार जो मनुष्य तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करता है, वह अवश्य स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष–प्राप्ति का क्रम है।** पहले तो स्वर्ग में जाये न ? पुण्य बाँधता है इसलिए। मुनिपना चारित्र उत्कृष्ट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह तो अभी श्रावक है। पंचम काल के सच्चे मुनि हों, वे भी कोई मोक्ष प्राप्त नहीं करते। सच्चे मुनि कुन्दकुन्दाचार्य जैसे पंचम काल में हैं, केवलज्ञान नहीं। पहले तो स्वर्ग में जाते हैं, लोकान्तिक आदि में (जाते हैं)। समझ में आया ? फिर वहाँ से निकलकर मनुष्य होते हैं, वहाँ आगे चारित्र उत्कृष्ट लेकर, केवलज्ञान लेकर मुक्ति को पधारते हैं। **यही मोक्ष–प्राप्ति का क्रम है।** लो!

अतिचार के त्याग करने का फल... कहेंगे। यह अतिचार छोड़ने का फल क्या, इसकी बात करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अत: जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-82)*

गाथा - १९६

अतिचार के त्याग करने का फल

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्।।१९६।।

यों इन अतिचारों अपर भी, सोच तज सम्यक्त्व व्रत।
शीलादि निर्मल से पुरुष की, अर्थ सिद्धि शीघ्र नित।।१९६।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार गृहस्थ (एतान्) इन पूर्वोक्त (अतिचारान्) अतिचार और (अपरान्) दूसरे दोषोत्पादक अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि का (अपि) भी (संप्रतर्क्य) विचार करके (परिवर्ज्य) छोड़कर (अमलैः) निर्मल (सम्यक्त्वव्रतशीलैः) सम्यक्त्व, व्रत और शील द्वारा (अचिरात्) अल्प काल में ही (पुरुषार्थसिद्धिम्) पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि (एति) पाते हैं।

टीका : 'इति एतान् अतिचारान् अपि अपरान् सम्प्रतर्क्य च परिवर्ज्य अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः अचिरात् पुरुषार्थसिद्धम् एति।' - अर्थ :- इस प्रकार इन अतिचारों तथा अन्य भी जो दोष हैं, उसे जो पुरुष भले प्रकार विचार करके छोड़ता है और निर्दोष सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ३ गुणव्रत इन सभी व्रतों के पालन द्वारा जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ : पुरुष नाम आत्मा का है और अर्थ नाम मोक्ष का है। इस प्रकार (स्वाश्रय निश्चयशुद्धिसहित) व्रतों के पालन से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। बिना *तप के सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।।१९६।।

---

* सम्यक्तप का अर्थ=शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अथवा निजपरमात्मा के आश्रय से निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धि से शुभाशुभ इच्छाओं के निरोधपूर्वक आत्मा में निर्मल-निराकुल ज्ञान-आनन्द के अनुभव से अखण्डित प्रतापवन्त रहना, निस्तरङ्ग चैतन्यरूप से शोभित होना-तप है। ऐसा निश्चयतप भूमिकानुसार श्रावक तथा मुनि के होता है, वहाँ बाह्य में १२ प्रकार के तप में से यथायोग्य निमित्त होता है, उसका ज्ञान कराने के लिये उसे व्यवहार तप कहा जाता है (विशेषरूप से समझने के लिये देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७, निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा की अयथार्थता)।

प्रवचन नं. ७६ गाथा-१९६ से १९९ सोमवार, आषाढ़ कृष्ण १०, दिनांक ३१.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, १९६ गाथा। सम्यग्दर्शन की व्याख्या हो गयी, बारह व्रत की व्याख्या हो गयी और सल्लेखना की हो गयी, उसके अतिचारों की हुई। ज्ञान के अतिचार इसमें नहीं डाले हैं। दर्शन के लिये हैं। पाँच अणुव्रत के, तीन गुणव्रत के, चार शिक्षाव्रत के और सल्लेखना के (कुल) सत्तर। ज्ञान के इसमें नहीं लिये हैं। उन लोगों में-श्वेतामबर में ज्ञान के चौदह (अतिचार) आते हैं। .....आते हैं न? चौदह आते हैं। उसमें ज्ञान के आचार के आठ आते हैं। काल में पढ़ना, विनय से पढ़ना, (ऐसा) आता है न? आठ। उनसे विरुद्ध वैसे दोष लेना।

अतिचार के त्याग करने का फल

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्।।१९६।।

टीका : इस प्रकार इन अतिचारों... टीका है न टीका? **तथा अन्य भी जो दोष हैं**... उसे लगते अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि। सम्यग्दर्शन में, व्रत में, सल्लेखना के आ गये हैं। **उसे भले प्रकार विचार करके**... '**सम्प्रतर्क्य**' है न? **भले प्रकार विचार करके छोड़ता है**... उनका भलीभाँति ज्ञान करके कि ये दोष हैं - ऐसा जानकर छोड़ता है। **और निर्दोष सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ३ गुणव्रत**... ऐसा लिया है। **इन सभी व्रतों के पालन द्वारा जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।** इसका भावार्थ है।

भावार्थ : पुरुष नाम आत्मा का है और अर्थ नाम मोक्ष का है। आत्मा को मोक्ष अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति कैसे हो? **इस प्रकार (स्वाश्रय निश्चयशुद्धिसहित)**... यह अपने को कोष्टक में डालना पड़ा। अन्दर में नहीं है। क्योंकि पाठ इतना है सही न! **इस प्रकार व्रतों के पालन से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है**... इसका अर्थ वहाँ रखा कि भाई! इस प्रकार स्व चैतन्यमूर्ति जो आनन्दस्वरूप, उसका आश्रय करके जो चारित्र और व्रत हों, उसके कारण मुक्ति होती है। आत्मा आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु का अन्तर में आश्रय करके, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, तब उसे अन्दर में बारह

व्रतादि के जो विकल्प हैं, उसे निमित्तिरूप गिनकर, उससे मुक्ति होती है – ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने से... भगवान आत्मा अपना शुद्ध आनन्द, त्रिकाली आनन्द। चारित्रस्वभाव कहो या आनन्दस्वभाव। आनन्द, यह सुख की प्रधानता है। चारित्रस्वभाव, समस्वभाव, यह चारित्र की प्रधानता से कथन है। आत्मा में समस्वभाव और आनन्दस्वभाव का आश्रय होकर जो चारित्र प्रगट होता है, वह चारित्र वास्तव में मुक्ति का कारण है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें फिर व्रत आवे न! वे व्रत निमित्तरूप से बताते हैं। उसमें ऐसे व्यवहारव्रत होते हैं, वे बताते हैं कि वहाँ इतनी शुद्धि उसे होती है। ऐसा अन्दर है। वह तो मोक्षमार्ग दो प्रकार का कहते हैं न, वे इसके कहने में आते हैं न? कथन तो दो प्रकार का है न? निश्चयव्रत और व्यवहारव्रत, ये दोनों मोक्ष के कारण हैं – ऐसा कहने में आता है। प्ररूपणा ऐसी आती है, परन्तु वास्तव में तो निश्चयव्रत ही मोक्ष का कारण है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप के आश्रय से जितनी स्थिरता हो, वही मोक्ष का कारण है, परन्तु उसका निरूपण – कथन दो प्रकार से है। व्यवहार और निश्चय। आत्मा का जो शुद्धस्वभाव (है), उसके आश्रय से जो चारित्र प्रगट हुआ है, वह यथार्थ निश्चय है और बारह व्रतादि हैं, वे व्यवहार से – उपचार से व्रत हैं। इन दो से मुक्ति होती है – ऐसा निरूपण / कथन है। कहो, समझ में आया? बाकी वास्तविक वस्तु तो एक ही (है)। भगवान आत्मा अपने स्वाश्रय से दर्शन प्रगट करे, स्व-आश्रय से ज्ञान और स्व-आश्रय से चारित्र, बस। – यही मुक्ति का यथार्थ कारण है। दूसरे साथ में व्यवहारव्रत से मुक्ति होती है – ऐसा निरूपण, निमित्त देखकर किया गया है। समझ में आया?

बिना तप के सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। यह बोल है न अब ?**बिना तप के...** तप साथ में होता है। जहाँ चारित्र हो, वहाँ निश्चय तप और व्यवहार तप निमित्तरूप से होता है। जहाँ आत्मा अपने आनन्द शुद्धस्वरूप का आश्रय करके, दर्शन-ज्ञान और चारित्र प्रगट करता है, उसमें निश्चय तप के साथ चारित्र साथ में होता है और

व्यवहार तप भी बारह प्रकार के तप भी निमित्तरूप से होते हैं। कहो, अमरचन्दभाई! कथन तो दो प्रकार के हैं, भाई! वस्तु एक ही प्रकार से है, परन्तु निरूपण दो प्रकार से है।

टोडरमलजी का वाक्य। यह सर्वत्र व्यवहार–निश्चय का यह लक्षण 'ज्ञातव्यम्' जानना। यह महा सिद्धान्त है। निश्चय है, वह यथार्थ है; व्यवहार है, वह साथ में निमित्त –उपचार देखकर उसे व्यवहार कहने में आता है। व्यवहार देखकर उपचार करने में आया है, परन्तु वास्तव में वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। व्यवहारव्रत, व्यवहारदर्शन, व्यवहारज्ञान, वह वास्तव में मोक्ष का मार्ग नहीं है। क्या हो? जगत की शैली, तत्त्व की कथन पद्धति ऐसी हो, उसे मान ले कि दो प्रकार से मोक्ष है। क्या हो? मोक्षस्वरूप तो आत्मा है। पूर्णानन्द का नाथ, आनन्द का धाम है वह। उसमें अन्दर में स्थिर होने से, दृष्टि–ज्ञान–स्थिरता से मुक्ति होती है। बाहर के विकल्प जो हों, उनसे बन्ध होता है, तथापि उसे निमित्तरूप से कथन गिनकर, व्यवहार से अनुकूल निमित्त है, इसलिए; ऐसा करके उससे मुक्ति होती है, ऐसा आरोप से कथन है। कहो, समझ में आया इसमें? अब निश्चय की व्याख्या है। तप शब्द पड़ा है न? नीचे नोंध।

सम्यक्तप का अर्थ... सच्च तप उसे कहा जाता है कि **शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म**... शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को सम्यक्तप कहा जाता है। तपकल्याणक कहा जाता है न? भगवान के गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, केवलकल्याणक, मोक्षकल्याणक आते हैं न? उस तपकल्याणक का अर्थ? मुनिपना; और मुनिपने का अर्थ शुद्धोपयोग। आहा..हा..! पंच कल्याणक आते हैं न? तो उसे तपकल्याणक कहते हैं न? चारित्र लेते हैं, उसे तपकल्याणक कहते हैं। चारित्र है, वह वास्तव में तप है। समझ में आया? भगवान आत्मा अपने स्वरूप में चरना, रमना, आनन्द में जमावट हो जाना, यही एक चारित्र और यही उसके अन्दर में इच्छा का उग्ररूप से अभाव, उसे तप कहने में आता है। बाह्य तप है, वह निमित्तरूप से व्यवहार है।

सम्यक्तप का अर्थ=शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म... एक बात। सच्चे तप की व्याख्या, चारित्रवन्त होना वह (है)। चारित्रवन्त होना अर्थात्? शुद्धोपयोग की प्राप्ति होना। ऐ.. दीपचन्दजी! यह बात है, भाई! आहा..हा..! आत्मा में शुभ और अशुभ जो उपयोग है, वह अशुद्ध–उपयोग है, वह तो बन्ध का कारण है। शुभ और अशुभ उपयोग है, वह सब

बन्ध का कारण है। वह तप नहीं तथा यथार्थ चारित्र अर्थात् मुनिपना नहीं। यथार्थ मुनिपना तो मोक्ष का कारण है। यह शुभभाव, वह बन्ध का कारण है। तब यथार्थ मुनिपना अर्थात् शुद्धोपयोगरूप मुनिपना। सम्यक्तप की व्याख्या ही यह है कि इसने चारित्र अंगीकार किया अर्थात् साम्यभाव अंगीकार किया। यह प्रवचनसार में पहली गाथाओं में आता है। साम्य-चारित्र अंगीकार करने की वास्तविक व्याख्या ही यह है। उसने साम्यभाव अंगीकार किया, वीतरागभाव अंगीकार किया, शुद्धोपयोगरूप भाव अंगीकार किया। कहो, समझ में आया? प्रवचनसार की पहली पाँच गाथा में यही आता है - शुद्धोपयोग। आचरण का वर्णन किया, वहाँ यह वर्णन किया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र शुद्ध उपयोग में।

टोडरमलजी ने लिया है कि यह मुनिधर्म कैसा? शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके (निज) स्वभाव साधन द्वारा, चार घातिकर्मों का नाश करके, अरिहन्तपद को प्राप्त हुए हैं। आता है न यह? बहुत सरस बात की है। लोगों को अपनी चतुराई के कारण, दूसरे पण्डितों का बहुमान हो जाता है, यह उन्हें नहीं रुचता। समझ में आया? यह तो गुजराती मे हैं। हिन्दी में भी ऐसा ही लिखा है। पहली ही व्याख्या यह प्रवचनसार की अपेक्षा से रख दी है। अरिहन्त का स्वरूप।

जो गृहस्थपना छोड़कर मुनिधर्म अंगीकार करके... मुनिधर्म अर्थात् शुद्धोपयोग। **निजस्वभाव साधन द्वारा...** देखा? निजस्वभाव, शुद्धस्वभाव के साधन द्वारा... **चार घातिकर्मों का नाश करके, अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए।** इसका नाम अरिहन्त। सिद्ध में ऐसा लिखा है, देखो! **जो गृहस्थ अवस्था... त्यागकर मुनिधर्म साधन द्वारा...** त्याग- ऐसा लिया। देखा! जो निजस्वभाव साधन कहा था न? और उसे इनने मुनि (धर्म साधन कहा)। मुनिधर्म साधन द्वारा चार घाति का नाश करके। फिर आचार्य-उपाध्याय-साधु। **जो विरागी होकर...** गृहस्थपना छोड़कर - ऐसा कहा न! विरागी होकर-बराबर पर से उदासीन होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके। उन्हें आचार्य-उपाध्याय और साधु कहा जाता है। सेठी!

शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके... अट्ठाईस मूलगुण, वह तो व्यवहार बीच में आवे, उसे कहा जाता है। यह फिर आगे कहेंगे। वे स्वयं ही कहेंगे। अट्ठाईस मूलगुण पालन करे। अंगीकार किया है, जो साम्यभाव प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने

लिया है कि 'मैं साम्य अंगीकार करता हूँ।' बीच में संज्वलन के उदय का मन्द भाग आ जाता है, उसे उल्लंघकर मैं शुद्धोपयोगरूप साम्यभाव अंगीकार करता हूँ, इसका नाम मुनिपना है। बापू! मुनिपना अर्थात्? देखा? शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार है। अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपने को अनुभव करते हैं। उन्हें आचार्य और उपाध्याय कहते हैं। यह तुम्हारे गाँव में दस हजार, ग्यारह हजार छपाये हैं। तुम्हारे चिरंजीव ने छपाये हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मीठालालजी है न? मीठाभाई। पहले थी, वह प्रकाशित की है न, नया कहाँ है? बात तो सत्य है।

अन्तरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपने को अनुभव करते हैं। परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते। अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना मानते हैं। परभाव में ममत्व नहीं करते। कितनी सरस बात ली है! आहा..हा..! मोक्षमार्गप्रकाशक। उन्हें आचार्य–उपाध्याय–साधु कहना। समझ में आया?

यह यहाँ कहा देखो! **सम्यक्तप का अर्थ=शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म...** अपने इसकी व्याख्या यहाँ है। समझ में आया? शुद्धोपयोग अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे शुभ उपयोग हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, वे अशुभ उपयोग हैं। दोनों मुनिपना नहीं है। आहा..हा..! वे आचार्य, उपाध्याय पद भी नहीं। आचार्य, उपाध्याय और साधुपद भगवान उसे कहते हैं कि जहाँ आगे शुभ–अशुभ उपयोग, अशुद्ध उपयोग से हटकर अपने आत्मा के दर्शन–ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्ध आचरण, शुद्ध आचरण, उसकी वीतरागता का आचरण, उसे यहाँ मुनिपना—आचार्य, उपाध्याय (साधु) कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : यह सच्चा मुनिधर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वीतरागमार्ग का सच्चा मुनिधर्म है। अन्य में तो है ही नहीं। परमेश्वर जैन के अतिरिक्त (कहीं नहीं)। सर्वज्ञ परमेश्वर, त्रिलोकनाथ परमात्मा, वीतरागमूर्ति प्रभु की वाणी में यह आया है। जिन की वाणी; उनकी वाणी में, वीतरागमूर्ति बिम्ब हो गये, वाणी निकली है। समझ में आया?

अथवा... दो प्रकार करते हैं। **सम्यक्तप का अर्थ=शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अथवा निजपरमात्मा के आश्रय से...** वास्तव में तो यह शुद्धोपयोग की व्याख्या कहते हैं। नया नहीं। **निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धि से शुभाशुभ इच्छाओं के निरोधपूर्वक...** अस्ति-नास्ति से बात की है। आत्मा में इस निज परमात्मा के आश्रय से.. कहो, समझ में आया ? निज शुद्धपरमात्मा, कारणपरमात्मा अपना त्रिकाल स्वभाव, उसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-सच्चा सम्यग्दर्शन; निश्चय अर्थात् सच्चा सम्यग्दर्शन; व्यवहार अर्थात् औपचारिक सम्यग्दर्शन। निश्चय ज्ञान। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके ज्ञान के वेदन से ज्ञान का प्रगट होना, वह शुद्धस्वभाव के आश्रय से (प्रगट हुआ है), उसे सम्यग्ज्ञान कहने में आता है और सम्यक्चारित्र। निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चयज्ञान, इन तीनों को लागू करना। निश्चय चारित्ररूप। निश्चय चारित्ररूप। सच्चे चारित्ररूप।

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप **चारित्ररूप शुद्धि से...** उसकी निर्मलता द्वारा। **शुभाशुभ इच्छाओं के निरोधपूर्वक...** यह नास्ति से बात की है। ऐसे भाव से उसमें शुभाशुभ इच्छा का निरोध हो जाता है। उससे क्या होता है ? **आत्मा में निर्मल-निराकुल...** मलरहित, आकुलतारहित का ज्ञान और आनन्द के अनुभव से। भगवान आत्मा के ज्ञान का और आनन्द का जो अनुभव, शुभाशुभभाव का रोधन होने से, स्वभाव के ज्ञान और आनन्द का जो अनुभव, वह **अखण्डित प्रतापवन्त रहना,..** यहाँ तप है न तप ? 'प्रतपन्ति इतिः तपः' उसमें **अखण्डित प्रतापवन्त रहना,..** अपनी अन्तर आनन्द की प्रतापवन्त शोभा से अन्तर में स्थिर अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में रहना।

निस्तरङ्ग चैतन्यरूप से शोभित होना... जिसमें विकल्प की तरंग नहीं, जिसमें भेद नहीं। अकेला भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द, स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की उग्रता में पड़ा है, उससे **चैतन्यरूप से शोभित होना...** देखा! चैतन्यरूप से। राग-फाग की शोभा वह नहीं। **निस्तरङ्ग...** तरंगरहित के, भेदरहित के चैतन्यरूप से, **शोभित होना-तप है।** इसका नाम तप की सच्ची व्याख्या है। तब फिर बारह प्रकार के तप, उन्हें निमित्त और व्यवहार से कहा जाता है। कहो, समझ में आया ?

ऐसा निश्चयतप भूमिकानुसार साधक के होता है... ऐसा वास्तविक तप

भूमिकानुसार श्रावक को मुनि को इत्यादि साधकों को होता है। **वहाँ बाह्य में १२ प्रकार के तप में से यथायोग्य निमित्त होता है,...** फिर बारह प्रकार के तप में व्यवहार भी तप का होता है। निश्चय ऐसा हो, तब ऐसा निमित्त उसे होता है। **उसका ज्ञान कराने के लिये उसे व्यवहार तप कहा जाता है...** निश्चय के तप का ज्ञान कराने के लिये विकल्पादि जो बारह प्रकार के आवें, अनशन करूँ, या विकल्प आदि, उसे निश्चयतप का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार तप को व्यवहार कहने में आता है। **(विशेषरूप से समझने के लिये देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७, निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा की अयथार्थता)**। सातवें अध्याय में बहुत लिया है। १९६ (गाथा पूरी) हुई।

सकलचारित्र व्याख्यान

गाथा - १९७

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः।।१९७।।

चारित्र अन्तर्भाव से, तप भी सुसाधन मोक्ष का।
नहिं छुपा सेवो यथाशक्ति, सावधानी से कहा।।१९७।।

अन्वयार्थ : (आगमे) जैन आगम में (चारित्रान्तर्भावात्) चारित्र का अन्तर्वर्त्ती होने से (तपः) तप को (अपि) भी (मोक्षाङ्गम्) मोक्ष का अंग (गदित्तम्) कहा गया है अतः (अनिगूहितनिजवीर्यैः) अपना पराक्रम न छुपानेवाले तथा (समाहितस्वान्तैः) सावधान चित्तवाले पुरुषों को (तदपि) उस तप का भी (निषेव्यम्) सेवन करना योग्य है।

टीका : 'चारित्रान्तर्भावात् तपः अपि आगमे मोक्षाङ्गम् गदितम् अतः एव अनिगूहितनिजवीर्यैः समहितस्वान्तैः तदपि निषेव्यं।' - अर्थः- सम्यक्चारित्र में समाविष्ट हो जाने के कारण तप को भी जैनसिद्धान्त में मोक्ष का कारण कहा गया है, अतः अपनी शक्ति छिपाये बिना मन को वशीभूत करके उस तप का भी आचरण करना चाहिये।

भावार्थ : तप एक प्रकार का व्यवहारचारित्र है। (भूतार्थ का आश्रय करनेवाले को) व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र की-जो कि सम्यक्चारित्र है-उसकी प्राप्ति होती है अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती ही नहीं, इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अवश्य (सर्वज्ञ वीतराग कथित सम्यक्) तप धारण करना चाहिए।।१९७।।

(नोट :- चारित्र तो वीतरागता ही है और वह निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। परन्तु वहाँ उस समय व्यवहारचरण कैसा होता है, उसे बताने के लिये उसे

व्यवहारनय से कारण कहा है। राग है, वह तो बाधक ही है परन्तु उस–उस भूमिका के योग्य उस गुणस्थान का नाशक नहीं है, इतना सम्बन्ध (मेल) बताने के लिये उपचार–व्यवहार निरूपण की यह रीति है। राग करते–करते निश्चयचारित्र नहीं हो सकता; इस प्रकार प्रथम से ही निस्सन्देह प्रतीति करनी चाहिए।)।।१९७।।

गाथा १९७ पर प्रवचन

१९७ गाथा **सकलचारित्र व्याख्यान** यह गर्भित में अभी गृहस्थों को चारित्र अंगीकार करना, इस अपेक्षा से बात है। समझ में आया? बाद में फिर मुनि की व्याख्या लेंगे। मुनिपने का, देखो! आगे कहते हैं। मुनिपना अंगीकार करेगा। कहते हैं न यह? मुनिव्रत धारण करने का उपदेश। वहाँ से लेंगे। इस श्रावक की सन्धि करते हुए इसे चारित्र लेना, ऐसी व्याख्या है। इसलिए चारित्र में मुनिपना, ऐसी व्याख्या आयेगी। बाद में आयेगी न? मुनिव्रत धारण करने का उपदेश। २०० गाथा से लेंगे। अर्थ में भी ऐसा है। अर्थ में है। १९९ में कहा है।

यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन किया। १९९ गाथा के भावार्थ में यह है। **यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन किया। तत्पश्चात् श्री अमृतचन्द्रस्वामी मुनियों के चारित्र का वर्णन करते हैं।** कहाँ से? २०० से लो, समझ में आया? श्रावक को भी मुनिपना लेने की भावना करना, ऐसा कहना चाहते हैं। जिसे लाभ देखे, वह अधिक लाभ की भावना क्यों न करे। समझ में आया? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से लाभ है, सम्यक्चारित्र से भी महा लाभ है। समझ में आया? गृहस्थ को भी ऐसी भावना यथाशक्ति, योग हो तब उसे भी चारित्रभाव लेना, ऐसा कहने के लिये यह अधिकार लिया है। १९७ गाथा

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः।।१९७।।

टीका : सम्यक्चारित्र में समाविष्ट हो जाने के कारण तप को भी शास्त्रों में मोक्ष का कारण कहा गया है... उसमें निश्चय तप लेना और व्यवहार तप, दोनों लेना। यहाँ निश्चय की बात की है। **अतः अपनी शक्ति छिपाये बिना...** देखा? श्रावक

को। यथाशक्ति, हों! शक्तिप्रमाण। समझे बिना, दर्शन बिना, ज्ञान बिना तो चारित्र होता नहीं परन्तु दर्शन और ज्ञानसहित में शक्ति, तप, त्याग आता है न? शक्तिप्रमाण का व्यवहार और निश्चयचारित्र लेना। शक्ति देखकर, परिणाम देखकर। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अपना निर्वाह होगा या नहीं? ऐसा विचारकर सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र ग्रहण करना। कहो, समझ में आया? ऐसी बात आवे, इसलिए वे समझे बिना आवे इसलिए चलो, अंगीकार चारित्र ले लो।

मुमुक्षु : ऊपर के चारित्र के...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपर के चारित्र के, निश्चय-दर्शन का ठिकाना नहीं और चारित्र ले लो, पाँच महाव्रत ले लो। आहा..हा..! यह तो श्रावकपना प्रगट हुआ है और उसे चारित्र की भावना होनी चाहिए। यथाशक्ति ग्रहण करने की भावना होती है, ऐसा कहते हैं। पोपटभाई!

अत: अपनी शक्ति छिपाये बिना... 'अनिगूहित' है न? **'अनिगूहितनिजवीर्यैः'** अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना, पुरुषार्थ की गति काम करे तो इसे चारित्र अंगीकार करना। **मन को वशीभूत करके...** वापस मन को वश रखकर। इच्छा निरोध करके। **उस तप का भी आचरण करना चाहिये। तप एक प्रकार का व्यवहारचारित्र है।** मुनिपना कहा न मुनिपना? मुनिपना। मुनिपना व्यवहार से व्यवहारचारित्र है। मुनिपना निश्चय शुद्धोपयोगरूप चारित्र है। समझ में आया? मुनिपना निश्चय शुद्धोपयोगरूप चारित्र है और मुनिपना व्यवहार से पंच महाव्रत आदि का चारित्र और तप है। जहाँ निश्चय हो, तब ऐसा व्यवहार होता है, ऐसा गिनकर यहाँ तप व्यवहारचारित्र (कहा है)।

(भूतार्थ का आश्रय करनेवाले को)... यह अपने कोष्टक में डाला है। **व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र जो कि सम्यक्चारित्र है,...** यह अन्दर भावार्थ में है। जहाँ पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प होते हैं, वहाँ अन्तर अपने को तीन कषाय के अभावरूप चारित्र होता है। उसे होता है, यह बताने के लिये इससे प्राप्त होता है, ऐसा कहने में आया है। कहो, समझ में आया? **अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती ही नहीं...** समझ में आया? व्यवहार मुनिपना अंगीकार किये बिना निश्चय स्वरूप की स्थिरता नहीं होती। विकल्प आदि से पहला व्यवहार लेता है न? फिर स्वरूप में रमे, तब उसे निश्चय चारित्र होता है। कहो,

समझ में आया ? **इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अवश्य (सर्वज्ञ वीतराग कथित सम्यक्) तप धारण करना चाहिए।** मुनिपना लेना चाहिए – मूल तो ऐसा कहना है।

नोट... यह इसमें नहीं। अपने डाला है। जिसने डाला, उसने डाला है, लो न! वजुभाई ने डाला है न? **चारित्र तो वीतरागता ही है और वह निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। परन्तु वहाँ उस समय व्यवहारचरण कैसा होता है, उसे बताने के लिये उसे व्यवहारनय से कारण कहा है। राग है, वह तो बाधक ही है परन्तु उस–उस भूमिका के योग्य उस गुणस्थान का नाशक नहीं है, इतना सम्बन्ध (मेल) बताने के लिये उपचार–व्यवहार निरूपण की यह रीति है।..** उपचार कहो, या व्यवहार की विधि है। **राग करते–करते निश्चयचारित्र नहीं हो सकता, इस प्रकार प्रथम से ही निस्सन्देह प्रतीति करनी चाहिए।** वह लिखा है न, उसका जरा बचाव लिखा है। ऐसा कहे न सामने तो ऐसा कहे। तुमने बचाव लिखा है।

बात तो यह है कि पहला विकल्प वह आता है। सम्यग्दर्शन हो और श्रावक हो। पहला विकल्प आता है कि मैं चारित्र लूँ। उस गुणस्थान में गुरु के पास से व्यवहारचारित्र अंगीकार करे। वह अंगीकार (करे), परन्तु उसे वास्तव में व्यवहार कब कहा जाता है ? कि जब स्वरूप में ध्यान में होकर अप्रमत्त गुणस्थान आवे, तब पहले व्यवहार विकल्प को व्यवहारचारित्र कहने में आता है। ऐसी अटपटी बाते हैं। कहो, समझ में आया ? चौथे–पाँचवें गुणस्थान में पहले कहीं सातवाँ गुणस्थान आ जाये, ऐसा नहीं होता। अंगीकार करे तब तो व्यवहार अंगीकार (करे)। सर्वसावद्ययोग का त्याग, अशुभयोग का त्याग, ऐसा करके व्रत अंगीकार करे। गुरु भी ऐसा दे। परन्तु फिर जब अन्दर स्थिर हो, स्वरूप के ध्यान में स्थिर हो, तब उसे सप्तम गुणस्थान पहले प्रगट होता है। तब उसे उस व्यवहारचारित्र को–व्यवहार विकल्प को व्यवहाररूप से कहने में आता है। समझ में आया ? फिर व्यवहार से निश्चय पाया, ऐसा भी व्यवहारनय से कहने में आता है। कहो।

वास्तव में तो अन्दर शुद्धि की वृद्धि करके एकाग्र ध्यान में मुनि लीन होते हैं। मुनिपना तो सातवें गुणस्थान ध्यान में पहले आता है। सातवाँ गुणस्थान। समझ में आता है ? **'दुविहं पि मोक्खहेउं जाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।'** (वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४७) ध्यान में। फिर जो विकल्प बाकी रहता है, उसे व्यवहारचारित्र कहने में आता है। ऐसा

स्वरूप है कि जगत को बाहर से ले लेना है और अन्तर की वस्तु का आश्रय करना नहीं।

मुमुक्षु : ऐसे तो मिले वैसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मिले ऐसा नहीं। कहाँ से मिले ? परन्तु जिसमें हो, उसमें से मिले। कहीं राग में चारित्र है ? भगवान आत्मा में है। पूरा वीतरागभाव पड़ा है। समरसभाव अर्थात् ? ज्ञानस्वभाव, ऐसा चारित्रस्वभाव। त्रिकाल, हों ! त्रिकाल। चारित्रस्वभाव अर्थात् समरसस्वभाव, वह त्रिकाल पड़ा है। उसमें से उसका अवलम्बन करे तो सम्यग्ज्ञान और चारित्र होता है। यहाँ तो श्रावक को भी ऐसी भावना करके यथाशक्ति मुनिपना करना। भावना तो ऐसी ही (होवे न)। उत्कृष्ट बात करते हैं न ? समझ में आया ?

गाथा - १९८

बाह्य और अन्तरङ्ग के भेद से तप दो प्रकार का है। पहले बाह्य तप के भेद कहते हैं।

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः सङ्ख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम्।।१९८।।

अनशन अवमौदर्य, शैयासन विविक्त रस त्याग हैं।
तनक्लेश वृत्ति परी संख्या, बाह्य तप नित सेव्य हैं।।१९८।।

अन्वयार्थ : (अनशनं) अनशन, (अवमौदर्यं) ऊनोदर, (विविक्तशय्यासनं) विविक्त शय्यासन, (रसत्यागः) रस परित्याग, (कायक्लेशः) कायक्लेश (च) और (वृत्तेः संख्या) वृत्ति की संख्या–(इति) इस प्रकार (बाह्य तपः) बाह्यतप का (निषेव्यम्) सेवन करना योग्य है।

टीका : 'अनशनं अवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः कायक्लेशः च वृत्तेः संख्या बाह्यं तपः इति निषेव्यम्।' – अर्थ :– १– अनशन तप– अर्थात् उपवास द्वारा चार प्रकार के आहार का त्याग करना। खाद्य (खाने की वस्तुएँ), स्वाद्य (ताम्बूल, सुपारी, इलायची आदि स्वाद लेने की वस्तुएँ), लेह्य (चाटने की वस्तुएँ), पेय (पीने

की वस्तुएँ) – इन सभी का त्याग करना अनशन है। २– अवमौदर्य तप– अर्थात् एकाशन करना, भूख से कम खाना, इन दोनों प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, ध्यान की प्राप्ति होती है, निद्रा मिटती है, सन्तोष होता है, स्वाध्याय करने में मन लगता है तथा दोष घटता है। ३– विविक्त शय्यासन – जहाँ विषयी जीवों का संचार– आवागमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान में रहना (इससे बाधारहित ब्रह्मचर्य का पालन होता है और ध्यानाध्ययन भी होता है) ४– रसत्याग – दूध, दही, घी, शक्कर, तेल इन पाँच रस का त्याग तथा नमक और हरी वस्तुओं का भी त्याग करना रसत्याग कहलाता है। यद्यपि रस तो पाँच ही हैं तो भी इन्द्रिय–संयम की अपेक्षा से सातों का त्याग करना चाहिए। इनके त्याग का क्रम – नमक, हरी वस्तु, मिष्ट वस्तु, घी, दूध, दही और तेल – इस प्रकार है, और यह रविवार के दिन से प्रारम्भ करना चाहिए। (इसमें परिणामों की शुद्धि के अनुसार इन्द्रियों का दमन होता है, निद्रा जीती जाती है, आलस्य मिटता है, स्वाध्याय सुख की सिद्धि होती है) ५– कायक्लेश – शरीर को परीषह उत्पन्न करके पीड़ा सहन करना कायक्लेश है। इसके अभ्यास करने से अनेक कठोर उपसर्ग सहन करने की शक्ति बढ़ती है, शरीर के साथ ममत्वभाव घटता है और राग का अभाव होता है। ६– वृत्तिसंख्या – वृत्ति की मर्यादा कर लेना। जैसे कि आज मुझे ऐसा भोजन मिले, तभी आहार करूँगा अथवा इतने घर भोजन के लिये जाऊँगा, इत्यादि प्रकार से नियम कर लेना – इस प्रकार यह षट् भेदरूप बाह्यतप का निरूपण किया।।१९८।।

गाथा १९८ पर प्रवचन

बाह्य और अन्तरङ्ग के भेद से तप दो प्रकार का है। पहले बाह्य तप के भेद कहते हैं। देखो! निमित्त व्यवहार होता है न? इसकी व्याख्या करते हैं।

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः सङ्ख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम्।।१९८।।

टीका : अनशन तप– अर्थात् उपवास द्वारा चार प्रकार के आहार का त्याग करना। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानसहित, आत्मा के भानसहित इसे चार प्रकार के आहार का त्याग करना, उसे अनशन तप कहने में आता है। **खाद्य..** खानेयोग्य वस्तु, **स्वाद्य..** स्वाद

करनेयोग्य, **लेह्य (चाटने योग्य) और पेय**... पीनेयोग्य। **इस प्रकार आहार चार प्रकार का**... त्याग करना। इच्छा का त्याग करके इसने पर का त्याग किया, ऐसा कहने में आता है। आत्मा के अमृत के अनुभव के लिये इन चार प्रकार की इच्छा का त्याग (करे), उसे चार आहार का त्याग कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : पर का त्याग हो नहीं सकता - ऐसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का त्याग कहाँ करेगा? क्या कर सकेगा? वह था ही कब अन्दर में? वह तो यहाँ स्पर्श भी नहीं करता, लिया नहीं, छोड़ा नहीं। ले-दे कौन बाहर को? परन्तु उसके निमित्त से जो इच्छा होती थी, उस इच्छा को स्वरूप की एकाग्रता द्वारा छोड़ी है तो इसने चार (प्रकार का) आहार छोड़ा, ऐसा व्यवहार से-असद्भूत व्यवहारनय से यह कथन किया जाता है। गजब बात, भाई! समझ में आया?

आत्मा में ग्रहण-त्याग रहित तो इसका स्वभाव है। परवस्तु का ग्रहण या त्यागरहित (स्वभाव है)। त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। त्याग और उपादान। परवस्तु का त्याग करना या परवस्तु को ग्रहण करना। उपादान अर्थात्? उपादान अर्थात् ग्रहण करना। पर का ग्रहण करना और त्याग, वह आत्मा में है ही नहीं। ग्रहण-त्यागरहित आत्मा में गुण है। ग्रहण-त्याग का भाव जीव में नहीं है। समझ में आया?

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। पर रजकणों का त्याग और रजकणों का ग्रहण - इससे शून्य ऐसा आत्मा का एक स्वभाव है। गुण ऐसा आत्मा का है। पर को छोड़ना या ग्रहण करना, ऐसा कोई गुण नहीं है। गुण नहीं तो उसकी पर्याय भी ऐसी नहीं है परन्तु पर के त्याग-ग्रहण से रहित, ऐसा गुण है तो उस गुण के धारक आत्मा का अवलम्बन करने से पर्याय में पर के त्याग-ग्रहणरहित की निर्मल पर्याय होती है, उसे वास्तव में पर का त्याग किया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा..! पोपटभाई! यह सब बातें समझनी पड़ेगी, हों!

मुमुक्षु : समझने के लिये तो आया हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ठीक। रुपये के लाभ में ऐसा हो जाता है, मानो पाँच-पच्चीस लाख हो, दस लाख हो, बीस लाख हो वहाँ, आहा..हा..! धूल में भी नहीं। दुःख

हुआ है, दु:ख हुआ है। क्योंकि उनके ऊपर लक्ष्य जाये, उतना दु:ख–आकुलता है। यह तो निराकुलता भगवान आत्मा है। भगवान आत्मा निराकुलस्वरूप है। परमात्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा कहा और देखा है। कहा और देखा अर्थात् ऐसा है, ऐसा कहा है। समझ में आया? आहा..हा..! ऐसे अन्तर में देख। भगवान अनाकुलस्वरूप है, प्रभु! आनन्दस्वरूप है। उसमें आकुलता का विकल्प भी नहीं, तो पर के ग्रहण–त्याग की बात कहाँ रही? आहा..हा..! समझ में आया? क्या कहा? यह अनशन तप का आया।

दूसरा भेद। **अवमौदर्य तप– अर्थात् एकाशन करना,...** एक आसन से बैठना। **भूख से कम खाना,...** मूल तो अवमौदर्य – उदर को कम करना, उदर को कम रखना। यह कम रखना, वह निमित्त का कथन है। उसमें उस प्रकार की इच्छा घटायी... भाषा तो ऐसी आती है। व्यवहार के कथन चरणानुयोग में क्या आवें? उदर अर्थात् **भूख से कम खाना,...** लो, ठीक। यह खा सकता है? इसका अर्थ कि अन्दर खाने में जो राग था, उसे कम खाने में राग की कमी की, उसने अवमौदर्य किया, पेट को न्यून रखा, ऐसा कहने में आता है। अरे! कथनी समझे नहीं, क्या हो? समझ में आया?

भूख से कम खाना, इन दोनों प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है,.. देखा! यह कर्मों की निर्जरा होती है। अर्थात् यह निमित्त से बात की है। बाकी तो स्वरूप में–आनन्द में रहने से उस प्रकार की इच्छा का नाश होने पर उस प्रकार की दशा होती है, उसे निमित्त से निर्जरा होती है, ऐसा कहने में आता है। वास्तव में तो अपने आश्रय से जो स्थिरता हुई, उससे निर्जरा होती है। 'तपसा निर्जरा च' ऐसा आता है न? भाषा सब व्यवहार की ऐसी होती है। कहो, समझ में आया?

एकाशन करना,... एक आसन से खाना, **भूख से कम खाना, इन दोनों प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, ध्यान की प्राप्ति होती है,...** अब लाभ का कारण कहते हैं। ऐसा आहार कम लेने से वृत्ति की थोड़ी इच्छा रुकती है, बाहर में नींद कम आती है। समझ में आया? **निद्रा मिटती है,...** ध्यान की प्राप्ति होती है अर्थात् स्वरूप में स्थिर होने का अनुकूल पड़ता है। निमित्त से बात है, हों! यह। समझ में आया? आहार कम हो तो अन्दर एकाग्र होने को, प्रमाद होने की हरकत छूट जाती है। अन्दर एकाग्र होता है।

निद्रा मिटती है,... पेट बहुत भरा हुआ हो तो झोंकेआते हैं। पेट भले प्रकार से अभी सबेरे भरा हुआ हो और यह सब शीतल हवा हो, लो, फिर सुनते हुए भी झोंके आते हैं। जरा आँखें भारी हो जाती है परन्तु पेट कम (भरा) हो,... वह राग की मन्दता करने के लिये बात है। समझ में आया? तो इसे **निद्रा मिटती है, दोष घटता है।** उस प्रकार का प्रमाद का दोष मिटता है और **सन्तोष होता है,..** लो। **स्वाध्याय करने में मन लगता है...**

मुमुक्षु : ....लगे तब वह निमित्त कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दलाल है, इसलिए दो भाषा बोले ऐसा है यह। वास्तव में अर्थात् कि इसे आत्मा का दर्शन–ज्ञान तो है, परन्तु उस प्रमाण में राग मन्द करने से, उसमें निमित्त में प्रमाद नहीं होता, निद्रा नहीं होती, ध्यान में एकाग्र होने का इसे प्रसंग है। कहो, समझ में आया? यह तो व्यवहार से बात है या नहीं? **स्वाध्याय करने में मन लगता है...** पेट हल्का हो तो बराबर मन लगता है। यह करे, तब उसे निमित्त कहने में आता है। क्या है? कहो, ऐसी बात है।

विविक्त शय्यासन – जहाँ मनुष्यों का आवागमन न हो ऐसे एकान्त स्थान में वास करना... पदचाप न हो पदचाप। मनुष्य आदि न हों, शान्त (स्थान हो)। जिससे अपने अन्दर में चित्त लागू पड़े, अन्दर में एकाग्र हो। समझ में आया? यह सब सम्यग्दर्शन–ज्ञानसहित और श्रावक के व्रत लिये हैं, उनसहित ऐसा चारित्र का, तप का, निश्चय का और व्यवहार का भाव इसे पहले प्रगट करना, ऐसी बात करना चाहते हैं। समझ में आया?

४– रसत्याग – दूध, दही, घी, शक्कर, तेल इन पाँच रस का त्याग तथा नमक और हरी वस्तुओं का भी त्याग... मीठू समझे न? मीठू अर्थात् नमक। तुम्हारे नमक कहते हैं, यहाँ मीठू (कहते हैं)। **यद्यपि रस तो पाँच ही हैं तो भी इन्द्रिय–संयम की अपेक्षा से सातों का त्याग करना चाहिए।** नमक और हरित काय दो मिलाकर। नहीं तो रस पाँच प्रकार के हैं। समझ में आया? **इनके त्याग का क्रम...** थोड़ा व्यवहार डाला। **नमक,...** रविवार को नमक छोड़ना, ऐसा कहते हैं। यह व्यवहार की पद्धति में आता है। सात वार हैं न? सात। सात के रस रविवार से शुरु किये हैं। समझे न? लवण–लवण। आत्मा के दर्शन और ज्ञान–भानपूर्वक – इच्छा–निरोधपूर्वक इस प्रकार का त्याग इसे रविवार को ऐसा (करना)। यह व्यवहार से बात तो ऐसी ही होती है न? रविवार को

नमक छोड़ना, सोमवार को हरित काय, ऐसे आगे (करे)। मंगलवार को शक्कर, बुधवार को घी छोड़ना, गुरुवार को दूध, शुक्रवार को दही, शनिवार को तेल। **यह रविवार के दिन से प्रारम्भ करना चाहिए।** यह व्यवहार से बात है। सात वार हैं सही न? सात ग्रह हैं न, उस हिसाब से। चन्द्र, सूर्य आदि आते हैं, उस हिसाब से निमित्त से बात की है। बाकी छोड़ना हो तो सातों एक दिन में, उसमें क्या है? परन्तु कदाचित् उन सात का त्याग न कर सके, ऐसा कहना। तो एक-एक रस क्रम-क्रम से रस का राग छोड़ना। उस प्रकार के रस का राग छोड़ना और अरागी परिणाम प्रगट करना, ऐसी बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर कहाँ आया? यहाँ तो राग घटाने के लिये बात है। आत्मा में स्थिर होने में निमित्तपना होते ऐसा होता है, उसकी बात है। छल-कपट से करे, उसे यह वस्तु कहाँ है? नमक खाये और आम का रस बहुत खाये। समझे न? आम का रस और पूड़ी पेट भरकर उड़ावे। उसकी बात कुछ (नहीं है)। यह तो कहीं आत्मार्थी है? यह तो आत्मार्थी को आत्मा का प्रयोजन सिद्ध होने में ऐसे साधन होते हैं। ऐसी बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह (बाहर का) रह गया अकेला, पहला मूल रह गया। न्यालभाई! हमारे भाई! एक महीने में ऐसा रिवाज है। इन चार महीनों में वर्षा बहुत होती है न? एक महीने रूखा खाते थे। समझे न? घी नहीं खावे। उसके बदले अथाणा (अचार) ले। उसके बदले आम का मौसम है तो आम का रस ले। अच्छे प्रकार से जहाँ हो वहाँ। परन्तु यह तुम करते हो, उसमें तुम्हारे रस का त्याग कहाँ आया?

मुमुक्षु : एक के बदले दूसरा आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो हमारे तब ३५ वर्ष पहले बीती हुई (बात) है न? इसमें क्या तुम्हें... ? फिर हमारे हीराजी महाराज बहुत भद्रिक थे। कानजी! अपने घी नहीं छोड़ना। अपने घी लेंगे। परन्तु अपने स्वाध्याय बहुत करना, ऐसा कहते थे। बहुत भद्रिक थे और बहुत प्रेम। हीराजी महाराज को देखा था या नहीं? हीराजी महाराज (संवत्)

१९९० में 'वढाल' आये थे। जूनागढ़ जाना था न? मैं तो नवदीक्षित सही न, इसलिए (कहा) वे दोनों भले करे। अपन दोनों (खायेंगे) ऐसा कि कानजी अकेले नहीं खा सकेंगे। हम दोनों घी लेंगे। अपने घी की छूट रखेंगे। परन्तु अपने स्वाध्याय अधिक करेंगे। वे लोग स्वाध्याय नहीं करते। बहुत मधुर थे। भद्रिक, बेचारे। तत्त्व की यह बात तो थी ही कहाँ? अपने एक महीने तक दूसरा कुछ नहीं लेना। एक घी लेना, परन्तु उसके बदले हमेशा, हजार-पन्द्रह सौ, दो हजार श्लोक का स्वाध्याय करेंगे। यह तो सब ३५-४० वर्ष पहले व्यतीत हो गया है। यह ५४ वाँ वर्ष चलता है। पोपटभाई! परन्तु यह सब बाहर से माना हुआ कि यह सब तप है और यह निर्जरा है। समझ में आया? इस चीज़ की खबर नहीं। यहाँ तो आत्मा के दर्शनपूर्वक-ज्ञानपूर्वक अणुव्रतवाला जीव ऐसी भावना, ऐसे त्याग के लिये भावना करता है। ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार का आवे न तो कुछ।

५- कायक्लेश - शरीर को परीषह उत्पन्न करके पीड़ा सहन करना कायक्लेश है। है? **शरीर को परीषह उत्पन्न करके...** इसका अर्थ कि आहार-पानी घटाकर और शरीर को क्लेश हो, समझे न? **पीड़ा सहन करना...** समझ में आया? अर्थात् कि जो प्रतिकूलता होती है, उसे समताभाव से सहन करने का नाम कायक्लेश है। **इस कायक्लेश का अभ्यास करने से अनेक कठोर उपसर्ग सहन करने की शक्ति बढ़ती है,...** पहले से ही इस प्रकार का अभ्यास होवे तो आगे परीषह / प्रतिकूलता आवे, उस समय समता रखने का स्वभाव प्रयोग उत्पन्न होता है। नहीं तो अकस्मात कोई कठोर उपसर्ग आया तो उस समय अभ्यास नहीं हो तो आकुलता हो जायेगी, ऐसा कहते हैं। यह तो अपने को करने की बात है। यह तो कुछ ठगना है, यह करना है, यह करना है, उसकी यह बात नहीं है। समझ में आया? **शरीर के साथ ममत्वभाव घटता है और राग का अभाव होता है।** देखा! बात यह है। शरीर में प्रतिकूलता आने पर ममता, आसक्ति कम होती है। आसक्ति कम, हों! दृष्टि में तो है नहीं, उसका सब त्याग ही है। आसक्ति कम होती है।

६- वृत्तिसंख्या - वृत्ति की मर्यादा कर लेना। जैसे कि आज मुझे ऐसा

भोजन मिले तभी आहार करूँगा... ऐसा। अमुक का गेहूँ मिले तो ही (लूँगा)। कहे नहीं किसी को, हों! **अथवा इतने घर भोजन के लिये जाऊँगा, इत्यादि प्रकार से नियम कर लेना – इस प्रकार यह षट् भेदरूप बाह्यतप का निरूपण किया।** लो!

अब अतरङ्ग तपों का निरूपण करते हैं।

गाथा – १९९

अब अतरङ्ग तपों का निरूपण करते हैं :-

अन्तरङ्ग तप के छह भेद

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति।।१९९।।

नित प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत व्युत्सर्ग अध्ययन।
है ध्यान तप आभ्यन्तरी, नित सेव्य ये जिनवर कथन।।१९९।।

अन्वयार्थ : (विनयः) विनय, (वैयावृत्त्यं) वैयावृत्त्य, (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त (तथैव च) और इसी प्रकार (उत्सर्गः) उत्सर्ग, (स्वाध्यायः) स्वाध्याय (अथ) और (ध्यानं) ध्यान– (इति) इस तरह (अन्तरङ्गम्) अन्तरङ्ग (तपः) तप (निषेव्यं) सेवन करने योग्य (भवति) है।

टीका : 'विनयः वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं च उत्सर्गः तथैव स्वाध्यायः ध्यानं इति अन्तरङ्ग तपः निषेव्यम्।'

अर्थ :– १– विनय – विनय (अर्थात् पूज्य में आदरभाव। पूज्यपना सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में पाया जाता है, अतः इन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक अंगीकार करना चाहिए, यही वास्तविक विनय है); विनय नामक अन्तरङ्ग तप चार प्रकार का है। १–दर्शन विनय, २–ज्ञान विनय, ३– चारित्र विनय और ४– उपचार विनय।

१– दर्शन विनय : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना, सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का प्रचार करना, सम्यग्दृष्टि जीवों की वृद्धि हो, ऐसा प्रयत्न करना तथा

अपना सम्यग्दर्शन सदा निर्दोष रखना–यह दर्शन विनय है। २– ज्ञान विनय : ज्ञान की प्राप्ति करना, ज्ञान का प्रचार करना, स्वाध्यायशाला, विद्यालय खुलवाना, शास्त्र विनयसहित बाँटना–देना, शास्त्र वाँचना–यह सभी ज्ञान विनय है। ३– चारित्र विनय : चारित्र प्राप्त करना, चारित्र का उपदेश देना इत्यादि चारित्र विनय है। ४– उपचार विनय : रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के धारक–धर्मात्माओं का तथा अन्य धर्मात्मा बन्धुओं का शारीरिक विनय करना। उसके आने पर उठकर खड़ा हो जाना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, चरणस्पर्श करना आदि यह सब उपचार विनय है। तीर्थक्षेत्र की वदना करना भी उपचार विनय है। पूजा–भक्ति करना भी उपचार विनय है। रत्नत्रय की प्राप्ति करना, वही सच्चा विनय है। इस प्रकार विनय तप का वर्णन किया। (इससे मानकषाय मिटती है तथा ज्ञानादि गुण की प्राप्ति होती है।)

२– वैयावृत्त्य :– अपने गुरु आदि पूज्य पुरुष आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, अर्जिका, श्रावक, श्राविका, त्यागी इत्यादि धर्मात्मा सज्जनों की सेवा–सुश्रूषा करना, कभी किसी व्रतधारी को कोई रोग हो जाये तो शुद्ध प्रासुक औषधि द्वारा उनका रोग दूर करना, जंगलों में वसतिका, कुटी आदि बनवाना – यह सब वैयावृत्त्य ही है।

३– प्रायश्चित्त :– प्रमाद से जो कुछ दोष लगा हो, उसको अपने गुरु के सामने प्रगट करना, उसकी आज्ञा–प्रमाण उस दोष को स्वीकार करके, भविष्य में पुन: उसे न करने की प्रतिज्ञा करना तथा उनके द्वारा आदेशित दण्ड को स्वीकार करके तदनुरूप आचरण करना प्रायश्चित्त अन्तरङ्ग तप है। इससे व्रत–चारित्र की शुद्धि होती है। (परिणामों की शल्य मिटती है तथा मानादि कषाय घटते हैं।) प्रायश्चित्त तप के ९ भेद हैं। १– आलोचन, २–प्रतिक्रमण, ३– आलोचन प्रतिक्रमण, ४– विवेक, ५– व्युत्सर्ग, ६– तप, ७– छेद, ८– परिहार, ९– उपस्थापना – यह ९ भेद हैं।

४– उत्सर्ग :– शरीर में ममत्व का त्याग करना, अन्तरङ्ग परिग्रह क्रोधादि कषायों का त्याग करना, संसार की वस्तु को अपनी नहीं मानना, इत्यादि अहंकार–ममकार का त्याग करना। किसी को अपना मानना कि ''यह है वही मैं हूँ'' अथवा किसी को ऐसा मानना कि ''यह मेरा है, मैं इसका हूँ'' इस प्रकार की अहंकार और ममकारबुद्धि का (स्वसन्मुखतारूप भेदज्ञान के द्वारा) त्याग करना उत्सर्ग नामक अन्तरङ्ग तप है।

५– स्वाध्याय :– (अर्थात् ज्ञानभावना में आलस्य न करना।) प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग, इन चारों प्रकार के शास्त्रों का स्वाध्याय करना (जहाँ संशय हो अथवा श्रद्धान गाढ़ा करना हो, वहाँ दूसरे विशेष ज्ञानियों से पूछना। जिसका श्रद्धान दृढ़ हो उसको बार–बार मन में अभ्यास रखना अथवा चिन्तवन करना, पाठ को शुद्धतापूर्वक बार–बार पढ़ना, तथा धर्मार्थी–धर्म के लोभी भव्य जीवों को धर्मोपदेश देना) सीखना, सिखाना, विचारना, मनन करना इत्यादि स्वाध्याय नामक तप है। इसके द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्य जीवों को सम्यग्ज्ञान का बोध होता है, परिणाम स्थिर रहता है, संसार से वैराग्य होता है, धर्म की वृद्धि होती है इत्यादि अनेक गुण प्रगट होते हैं, अतः स्वाध्याय करना चाहिए।

६– ध्यान :– एकाग्रचित्त होकर, समस्त आरम्भ–परिग्रह से मुक्त होकर, पंच परमेष्ठी और आत्मा का ध्यान करना, उसी को ध्यान कहते हैं। वहाँ प्रशस्त रागपूर्वक अरिहन्तादि के चिन्तवन में प्रवर्त्तन करना शुभध्यान है और केवल शुद्धात्मा में एकाग्र होना शुद्धध्यान है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। उनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसार के कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

ध्यान के सामान्यतया तीन भेद हो सकते हैं – अशुभध्यान, शुभध्यान और शुद्धध्यान। इनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दोनों अशुभध्यान हैं, धर्मध्यान शुद्धता युक्त शुभध्यान है तथा शुक्लध्यान शुद्धध्यान है। इसलिए मोक्षार्थी जीवों को धर्मध्यान और शुक्लध्यान अवश्य अपनाना चाहिए। ध्यान के अवलम्बनरूप से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत – यह चार भेद हैं। इनका विशेष वर्णन ज्ञानार्णव ग्रन्थ से ज्ञात करना चाहिए। यहाँ लिखने से बहुत विस्तार हो जायेगा।

भावार्थ : ध्यान तप से चारित्रभाव सम्पूर्णता को प्राप्त होता है, मन वशीभूत होता है, अनाकुलता होने से परमानन्द होता है। इस प्रकार छह भेद युक्त अन्तरंग–तप सेवन करने योग्य है। यह तप मन के आधीन है, इसीलिए इसे अन्तरंग–तप कहते हैं, अतः इसका निरन्तर सेवन करना योग्य है। यहाँ यह बात भी जान लेना अत्यावश्यक है कि बाह्यतप और अन्तरंग–तप में क्या अन्तर है। बाह्य–तप में केवल बाह्यपदार्थ तथा शरीर की क्रिया ही प्रधान कारण होती है और अन्तरंग–तप में आत्मीय भाव तथा मन का

अवलम्बन ही प्रधान कारण पड़ता है। जैसे अग्नि सोने को शुद्ध बनाती है, वैसे ही यह दोनों प्रकार के तप आत्मा को शुद्ध बनाते हैं। कारण कि तप के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अतः दोनों प्रकार के तपों का आचरण अवश्य करना चाहिए। यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन हुआ। तत्पश्चात् श्री अमृतचन्द्रस्वामी मुनियों के चारित्र का वर्णन करते हैं। मुनिपद धारण किए बिना मोक्ष की प्राप्ति कभी होती नहीं; इसलिए मोक्षार्थी भव्यात्माओं को जहाँ तक बन सके, वहाँ तक समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके मुनिपद धारण कर, अष्टकर्मों का क्षय करके मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति करनी चाहिए।।१९९।।

गाथा १९९ पर प्रवचन

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति।।१९९।।

टीका – विनय-विनय अन्तरङ्ग तप चार प्रकार का है। टीका है न टीका? **विनय अन्तरङ्ग तप, चार प्रकार का है। दर्शन विनय,...** सम्यग्दर्शन का विनय। सम्यक् **ज्ञान विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय।** देखो! अन्तरंग प्रकार के विनय के चार प्रकार हैं। देखो! यह बात समझनेयोग्य है। सम्यग्दर्शन का विनय अर्थात् क्या? **सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना,...** आत्मा के अन्तरसन्मुख झुकने की दृष्टि का प्रयत्न करना, वह सम्यग्दर्शन का विनय है।

मुमुक्षु : उसे विनय तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे होता है परन्तु उसे विशेष विनय है न? विशेष विनय की बात है न? शुरुआत से यह बात करे, करे तो सब करे न! समझ में आया? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, विशेष शुद्धि की प्राप्ति का विनय करना। क्षयोपशम हो तो क्षायिक के लिये विनय करना। देखो! यह सम्यग्दर्शन का विनय अन्तरंग तप है। ऐसी भावना धर्मी को होती है। समुच्चय बात में सब आता है न। शुरुआत से आता है।

सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का प्रचार करना,... लो, सम्यग्दर्शन का माहात्म्य क्या है ? उसकी अचिन्त्यता क्या है ? उसका फल क्या है ?—ऐसा उसका प्रचार करना, वह भी एक सम्यग्दर्शन का विनय है। कहो, समझ में आया इसमें ? **सम्यग्दृष्टि जीवों की वृद्धि हो, ऐसा प्रयत्न करना...** लो ! सम्यग्दृष्टि जीवों की वृद्धि हो, ऐसे प्रयत्न करना। तीन हुए। बहुत सरस बात ली है। यह लिखनेवाले ने स्वयं ली है, हों ! **तथा अपना सम्यग्दर्शन सदा निर्दोष रखना...** लो, ठीक ! अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्य की दर्शन विशुद्धि हुई है, उसे निर्दोष रखना। यह सम्यग्दर्शन का तप विनय कहलाता है। कहो, इस पहले का ठिकाना न हो, फिर दूसरे की—ज्ञान की, चारित्र–व्रत की बातें करे। इसलिए पहले यह लिया है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन का पहला विनय। प्राप्त न हुआ हो तो इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना। प्राप्त हुआ है, उसे निर्दोष रखने का प्रयत्न करना। कहो, समझ में आया ?

उसका ही **माहात्म्य का प्रचार करना,...** सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान होता नहीं, सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र होता नहीं। छहढाला में आता है या नहीं ? ज्ञान, चारित्र क्या लिया ? ... 'या बिन ज्ञानचरित्ता' सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान–चारित्र मिथ्या हैं। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र—ग्यारह अंग पढ़ा हो, नौ अंग पढ़ा हो तो मिथ्या; और पंच महाव्रत चुस्त पालन करता हो परन्तु सम्यग्दर्शन बिना मिथ्या और झूठा है। वह आत्मा भी झूठा और वह चारित्र भी झूठा। कहो। **सदा निर्दोष रखना–यह दर्शन विनय है।** निरतिचार। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन को निरतिचार भाना। पाँच अतिचार कहे थे न ? वे छोड़ना।

ज्ञान विनय : ज्ञान की प्राप्ति करना,... सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करना। **ज्ञान का प्रचार करना,...** सम्यग्ज्ञान का प्रचार। विकल्प है परन्तु उसे उसमें प्रेम है। अन्तर के स्वभाव आश्रय से प्रचार करना, अन्तर का। बाहर में विकल्प से व्यवहार का। अन्तर के स्वरूप के आश्रय से ज्ञान का प्रचार करना, वह निश्चय है। बाहर का प्रचार है, वह व्यवहार है। निश्चय हो तो व्यवहार प्रचार किया कहलाये। समझ में आया ?

स्वाध्यायशाला,... लो ! महेन्द्रभाई ! लो। **स्वाध्यायशाला,...** अभी बनायी न ? टोडरमल स्मारक हॉल – तुम वहाँ जयपुर आये थे न ? अमृतचन्द्रभाई ! वापस बीच में गये थे, नहीं ? **स्वाध्यायशाला,...** ऐसी स्वाध्यायशाला बनावे, जिससे स्वाध्याय, सच्चे तत्त्वसूत्र पढ़े और स्व का आश्रय करने का जिसमें कथन है, ऐसे शास्त्र, जिसे पढ़ने का

स्वाध्याय बनाना, गोष्ठी करना चाहिए। समझ में आया ? **विद्यालय खुलवाना,...** किसका ? धर्म का विद्यालय, हों ! यूनिवर्सिटी करते हैं न ? यह भी एक ऐसी धर्मसभा बनावे कि जिसमें सब आत्मा अध्यात्म का ज्ञान प्रचार पावे, अध्यात्म सुने, विचारे, मनन करे, ऐसे विद्यालय खोलना। परन्तु उसमें दुनिया मान दे नहीं। उनमें मान दे, लो ! यूनिवर्सिटी में पाँच लाख दे तो चारों ओर नाम बाहर प्रसिद्ध हो। बहुत पाँच–दस लाख देना हो तो चुपचाप दे दे। अध्यात्म का यह होता है। इसमें नाम तो बाहर आवे नहीं।

जिसे अपने आत्मा के ज्ञान की अन्तर स्वाश्रय शुद्धि विशेष करनी है, उसे ऐसे विकल्प के भाव होते हैं, ऐसा कहते हैं। मात्र बाहर की बात नहीं है, हों ! अकेला बाहर का करे इसलिए तो स्व–आश्रय का ज्ञान प्रगट करने की विशेष शुद्धि करे, तब उसे ऐसे विकल्प के भाव निमित्तरूप से व्यवहार से होते हैं। आहा..हा.. ! वहाँ अकेला ही मान ले बाहर में से कि हो गया ज्ञान का विनय (तो ऐसा नहीं है)। आहा..हा.. !

विद्यालय खुलवाना,... समझे न ? वह कहे, मुझे यूनिवर्सिटी करनी है। मैंने कहा यहाँ तो भाई ! अध्यात्म का एक विद्यालय हो, वह कहो। यह तुम्हारी यूनिवर्सिटी किस काम की ? सेठी ! जिसमें अध्यात्म की बात, तत्त्व की बात स्व आश्रय आना, पराश्रय छोड़ना—ऐसी श्रद्धा, ऐसा ज्ञान, ऐसा चारित्र ऐसा तप, उसकी स्वाध्याय और बहुत धमाधम। गुच्छागुच्छ ऐसा शास्त्र में आया है। गुच्छ (समूह) पड़े हों न ऐसे पाँच–पच्चीस लोग गुच्छ होकर चर्चा करते हों, कोई यहाँ करता हो, कोई यहाँ करता हो, ऐसा चलता है। समझ में आया ? सच्चे ज्ञान की धगश से स्वाध्याय... है न ? कैसा ?

विद्यालय खुलवाना, शास्त्र (विनय सहित) बाँटना–देना,... लो शास्त्र, परन्तु भानपूर्वक की बात है, हों ! अकेले शास्त्र वितरण करे और उसमें से पुण्य बाँधे। ऐ ! भाई ! यहाँ यह तो व्यवहार से बात है। वहाँ निश्चय ज्ञान का स्वरूप ऐसा होता है। स्वसंवेदन की वृद्धि करे, तब उसे ऐसे विकल्प के भाव अन्दर होते हैं, वह प्रसिद्ध करता है कि अन्दर ज्ञान की शुद्धि है। वह न हो, अकेली प्रसिद्धि करता है, वह किसे प्रसिद्ध करे ? आत्मख्याति वस्तु ही जहाँ नहीं, वहाँ प्रसिद्धि किसकी करे ? समझ में आया ? ऐसी कथनी फेर है न, भाई ! यह कहे, ऐसा होवे न, तो ठीक पड़े। भाई ! यहाँ तो बात सब आती

है। निश्चयसहित का विकल्प कैसा होता है, कैसा हो, वह सब आता है परन्तु तीन लोक के नाथ परमात्मा, लो उनका आदर करना, वह व्यवहार है। लो, आता तो है न?

परमात्मा परमेश्वर ऐसे विराजमान परमात्मा हैं। यह व्यवहार है, लो! विनय करना। आता है न, आये बिना रहता है? अहो! भगवान! आपकी जिनवाणी! सब आता है। व्यवहार आता है। निश्चय से आवे, तब साथ में परद्रव्य से कुछ लाभ नहीं होता। अरे रे! वाणी से लाभ नहीं होता। यह दिव्यध्वनि तुझे क्या करती है? आहा..हा..! समझ में आया? परमात्मप्रकाश में नहीं आया? दिव्यध्वनि, मुनियों की वाणी... वहाँ राजकोट में आया था, नहीं? किसी भी आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराने में ताकत है नहीं। ऐसा आवे।

मुमुक्षु : पचास प्रतिशत।

पूज्य गुरुदेवश्री : पचास प्रतिशत कहाँ? और यहाँ कहते हैं कि शास्त्र में बुद्धि लगाना, वह व्यभिचारिणी (बुद्धि है), ऐसा भी शास्त्र में आता है क्योंकि वह बुद्धि आत्मा की है और शास्त्र में रुकती है, वह पुण्य बँधता है। समझ में आया? ऐसा जब निश्चय का यथार्थ तत्त्व कहना हो, तब ऐसा आता है। व्यवहार से बात करनी हो तो तब (ऐसा कहे), भाई! शास्त्र स्वाध्याय करो, बहुमान करो परन्तु उसकी मर्यादा-हद होती है। क्या हो? समझ में आया?

यह सभी ज्ञान विनय है। यह ज्ञान का विनय कहा। अब चारित्र की व्याख्या आगे कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

त्रिकाली द्रव्य की दास

जैसे भगवान किसी को वन्दन नहीं करते; वैसे ही निर्मल आत्मस्वभाव भी किसी को वन्दन या किसी का आदर नहीं करता। निर्मल पर्याय तो स्वभाव का वन्दन या आदर करती है, किन्तु निर्मल द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। वह तो दृष्टि का विषय परिपूर्ण तत्त्व है, वह किसी को नमस्कार नहीं करता, किसी का सत्कार नहीं करता।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे त्रिकाली द्रव्य की दास हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य किसी का दास नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन, पृष्ठ ११६

प्रवचन नं. ७७ गाथा-१९९ से २०१ मंगलवार, आषाढ़ कृष्ण ११, दिनांक ०१.०८.१९६७

वस्तु निर्दोष ज्ञायक चैतन्यमूर्ति है, ऐसा दृष्टि में लेकर अन्दर में रमना, स्थिर होना, इसका नाम सच्ची सामायिक कहने में आता है और सभी आत्माओं को भी ज्ञायक शुद्ध स्वरूप ही विराजमान आत्मा है, ऐसी दृष्टि से देखने पर समता प्रगट होती है। यह परमात्मप्रकाश में आ गया है। समझ में आया? योगसार में आता है। सभी जीव ज्ञानस्वरूप हैं, चैतन्यमूर्ति हैं। एक समय की विकृतदशा को स्वयं गौण किया है, इसलिए स्वयं अपने स्वभाव को जैसे दृष्टि में लिया है, वैसे दूसरे आत्मा भी समस्वभावी शुद्ध चैतन्यमूर्ति वीतराग आनन्दकन्द हैं, उनके प्रति द्वेष या राग करना नहीं है। कहो, सेठी! आहा..हा..! कहो, अमरचन्दभाई! इसका नाम सामायिक। यह भी वीतराग के कन्द चिदानन्दस्वरूप परमात्मस्वरूप ही अन्तर है। एक समय की भूल को जैसे तूने पर्यायदृष्टि से छोड़ा है और वस्तुदृष्टि है, ऐसी सभी वस्तु-भगवान है। किसी के ऊपर द्वेष करना वहाँ नहीं रहता।

इसी प्रकार अनुकूल सर्वज्ञ परमेश्वर हैं परन्तु उनकी पर्याय देखकर राग करने योग्य नहीं रहता। ये केवलज्ञानी हैं, परमेश्वर हैं, ऐसी पर्यायदृष्टि से उन्हें देखकर राग करना नहीं रहता; और यह अवगुणी है, मिथ्यादृष्टि है, ऐसा करके उसके प्रति द्वेष करना नहीं रहता - ऐसा कहना है। अपनी कमजोरी के कारण राग आवे, वह अलग बात है परन्तु यह वस्तु ऐसी है, इसलिए राग आया - ऐसा है नहीं। ऐसी समता गृहस्थों को और मुनियों को हमेशा आवश्यक का यह काम उन्हें करना।

दूसरा, स्तवन। श्री भगवान अरिहन्तदेव तीर्थंकर भगवान के गुणों का कीर्तन करना अर्थात् स्तुति करना। यह स्तवन भी व्यवहार स्तवन और निश्चय स्तवन दो प्रकार से है। यह भी निश्चय आत्मा के पूर्णानन्दस्वरूप का अन्दर एकाग्र होना, वह निश्चय स्तवन है।

३१ वीं गाथा में केवली की स्तुति कही है न? केवलज्ञानी की स्तुति किसे कहना?

ऐसा शिष्य ने समयसार में प्रश्न किया है। अमरचन्दभाई! ३१ गाथा। केवलज्ञानी का स्तवन किसे कहते हैं? किसे कहना?

उत्तर ऐसा दिया, ऐसा उत्तर दिया... श्रद्धा ऐसी आती है शामिल कि इसमें स्थिरता करने से मेरी मुक्ति होगी। यह बात पहले से की है। समझ में आया? इसमें लीन होने से मेरी मुक्ति होगी। इसलिए उसे पहले श्रावक के स्थिरता का भाव आने पर, श्रावक के बारह व्रतादि होते हैं और उसे चारित्र लेने की भावना (होती है)। वह चारित्र कैसा, उसकी व्याख्या करते हुए चारित्र के अन्तर्गत तप, यह बाह्य मुनिपना व्यवहार, इसका वर्णन करते हैं। कहो, समझ में आया? इसमें निमित्तरूप की छह बाह्य तप की बात तो आ गयी। अभ्यन्तर, वह भी निमित्तरूप विकल्प है परन्तु अन्दर में स्थिरता...

शुद्धस्वरूप है, उसकी जहाँ लगन लगी है। समझ में आया? अपना स्वभाव शुद्ध आनन्द है। उस आनन्द को अनुभव करने की लगन जहाँ लगी है, उसका नाम चारित्र है। समझ में आया? सहजानन्द प्रभु आत्मा आनन्द की मूर्ति, अतीन्द्रिय रस वस्तु है, समरस। उसमें समता अर्थात् आनन्द से उसमें स्थिर होने का नाम चारित्र है। वह चारित्र लेने की श्रावक को भावना होती है, इसलिए साथ में उसे यह भी ग्रहण करना, ऐसा साथ में चलता है। समझ में आया? गृहस्थाश्रम में पाँचवें गुणस्थान में ऐसा का ऐसा पड़ा रहे और मुक्ति हो, ऐसा नहीं है। इसलिए उसके अन्तर में यह वर्णन करते हैं। मुनि की व्याख्या तो बाद में लेंगे। २०० गाथा से। यह तो १९९ चलती है न?

३– चारित्र प्राप्त करना,... आत्मा... लो, यह सबेरे प्रश्न उठा था। हीरालालजी साथ में थे न? हीरालालजी! मारवाड़ी में हीरालालजी कहे न? एक घोड़ा चला जा रहा था, भाई! घोड़ा बहुत नहीं खब.. खब.. खब.. करता हुआ। घोड़ा होता है न घोड़ा? घोड़ा क्या? घोड़ा नहीं समझते? अश्व। एक व्यक्ति बैठा था। खब.. खब.. बहुत चले। अन्दर बोले न? आवाज निकले। पवन.. पवन..। भगवती में ऐसा चला है कि एक घोड़ा ऐसा निकला और अन्दर आवाज होती है, तो गौतमस्वामी भगवान को पूछते हैं, ऐई! यह सब सुना होगा। सब वृद्ध बहुत वर्ष पुराने हैं न। कि महाराज! इस घोड़े में अन्दर खब.. खब.. होता है यह क्या है? तो भगवान कहते हैं कि एक कुरकट नामक वायु उत्पन्न होती है।

कुरकट नाम की वायु। ऐसा प्रश्न रास्ते में हुआ। यहाँ तो रास्ते में भी सब चलता है न? वह घोड़ा चलता था। ऐसा पूछा?

यहाँ (समयसार) छठी गाथा में तो ऐसा पूछा जाता है कि महाराज! आप शुद्धात्मा किसे कहते हो कि जिसे जानना चाहिए? भाई! सेठी! समयसार की छठी गाथा में पूछा है न? महाराज! आप शुद्धात्मा कहते हो, वह कौन है? कि जिसे जानना चाहिए? वह शुद्ध आप किसे कहते हो? देखो, आहा..हा..! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य को ऐसा पूछने में आया कि महाराज! इस शुद्धात्मा को जानना और यही मोक्ष का उपाय है, तो प्रभु! वह शुद्धात्मा किसे कहना कि जिसे हमें जानना चाहिए? ऐसा प्रश्न है न? क्यों, हीराभाई! कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : कुछ सार हमको समझाओ न!

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! यह तो अलौकिक बात है। अन्य तो व्यवहार की बातें, ऐसा कहा था। वे व्यवहार की बातें पूछी है। मानो भगवान के भक्त हों और बहुमान इतना किया है। परन्तु आत्मा का बहुमान और आत्मा क्या है, यह बात उसमें नहीं। रास्ते में यह प्रश्न था। ओहो..हो..! महाराज! यह शुद्धात्मा जानना चाहिए, वह शुद्ध किसे कहना?

प्रभु गुरु कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं कि भाई! भगवान आत्मा को परद्रव्य से भिन्न करके आत्मा की सेवा करने से वह आत्मा शुद्ध ऐसा कहने में आता है। आहा..हा..! वह भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानपिण्ड, आनन्दपिण्ड वस्तु को शुद्ध कैसे कहा? और उसे शुद्ध जानना, ऐसा शुद्ध जानने से आत्मा की मुक्ति होती है। तो कहते हैं कि भाई! अन्य द्रव्य से भिन्न उपासित किये जाने पर, शुद्ध ऐसा कहने में आता है। यह टीका का शब्द है। अर्थात्? कि भगवान आत्मा चैतन्यघन विज्ञान का धाम-क्षेत्र, आनन्द का स्थान, ऐसा आत्मा, पर के कर्म से भिन्न सेवन किया जाता हुआ, कर्म से भिन्न सेवन किया जाता हुआ, उपासित किया जाता हुआ, ऐसा पाठ है न? अर्थात् पर का लक्ष्य छोड़कर, स्वस्वभाव के लक्ष्य से पर्याय में द्रव्य की सेवा होने से उसे शुद्ध कहने में आता है अर्थात् उस सन्मुख आश्रय जाने पर, पर का आश्रय छूटने पर, जो पर से लक्ष्य छूटकर स्व के ऊपर गया, तब शुद्धता की श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रगट हुई, उसके द्वारा ऐसा जाना कि यह शुद्ध है। समझ में आया? लो!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूल बात। मूल बात। आहा... ! छठी का लेख। छठवीं गाथा है न ? छठी के लेख नहीं बदलते, ऐसी बात है यह।

भगवान आत्मा... कहते हैं कि भाई ! उसे हम शुद्ध क्यों कहते हैं ? उसे शुद्ध क्यों कहते हैं ? और वह शुद्ध कहाँ कहते हैं ? और शुद्ध किस प्रकार कहते हैं ? वह भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन ज्ञायकभाव को परवस्तु के लक्ष्य से भिन्न करके, ऐसे भिन्न करके, ऐसे अभिन्न एकाकार में तो कर्म की सेवा थी अर्थात् राग-द्वेष की सेवा थी। पर के लक्ष्य से तो राग-द्वेष की सेवा थी। वह तो संसार है। अशुद्धता का सेवन। उसका लक्ष्य छोड़कर चैतन्य भगवान ज्ञायकमूर्ति की ओर दृष्टि देने पर जो पर्याय में सेवन से शुद्धता, शुद्धता प्रगट हुई। आत्मा के सेवन से शुद्धता प्रगट हुई, वह शुद्धता प्रगट हुई, उसके द्वारा यह द्रव्य शुद्ध है – ऐसा जानने में आता है। पर्याय शुद्ध नहीं, वस्तु तो पहले शुद्ध है। समझ में आया ? देखो तो सही... आहा..हा.. ! सेठी ! देखो ! यह प्रश्न, कैसा यह उत्तर ! ऐसा परमार्थस्वरूप सन्तों ने, दिगम्बर मुनियों ने शास्त्रों में वर्णन किया है। ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं है। ऐसी वस्तु, ऐसी वस्तु। ओहो..हो.. !

भावलिंगी सन्त थे, भावलिंगी सन्त थे। उन्होंने कहा न, हम यह मार्ग के प्रणेता ये खड़े ! आहा..हा.. ! हम मार्ग / साधुपना कैसा है, यह अनुभवते हैं और किस प्रकार यहाँ व्यवहार के विकल्प होते हैं और अनुभवदशा की स्थिरता कितनी होती है, वह सब हमारे ज्ञान में वर्तती है; इसलिए हम तुम्हें चरणानुयोग कहेंगे, ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. ! भगवान कहते हैं ऐसा कहूँगा, ऐसा नहीं। हमारे अनुभव में यह वर्तता है कि यह चारित्र है, वीतरागी दशा यह है और उसके साथ पंच महाव्रत आदि के विकल्पों का ऐसा ही प्रकार हो, वह हमारे अनुभव की भूमिका से हम तुम्हें चरणानुयोग कहेंगे। आहा..हा.. ! पद्धति वह पद्धति भी। समझ में आया ? कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त, उनकी पद्धति केवलज्ञान को स्पर्श कर सब बातें हैं।

यहाँ कहते हैं कि **चारित्र प्राप्त करना,...** अपने इसकी व्याख्या चलती है न ? इस चारित्र का विनय अर्थात् क्या ? यह वस्तुस्वरूप है, भगवान ! उसमें अन्तर स्थिर होना,

उसमें चरना, रमना, जमना। वस्तु जो ज्ञायकमूर्ति त्रिकाल शुद्ध आनन्दधाम भगवान आत्मा है, उसमें लीन होना, चरना। चारित्र अर्थात् चरना। वीतरागभाव से रमना, उसका नाम चारित्र है। वह चारित्र प्राप्त करना, यही चारित्र का विनय है, कहते हैं। कहो, समझ में आया?

चारित्र का उपदेश देना... सम्यग्दर्शन ज्ञानसहित चारित्र कैसा होता है, स्वरूप में रमणता को पंच महाव्रत के विकल्प व्यवहार, ऐसा जो वर्णन करना, वह भी एक चारित्र का विनय है। अमरचन्दभाई! आहा..हा..! उसके ज्ञान में पहले यह बात आनी तो चाहिए न! चारित्र किसे कहना, दर्शन किसे कहना, ज्ञान किसे कहना – इसकी खबर नहीं होती। **चारित्र का उपदेश देना... इत्यादि चारित्र विनय है।** चारित्र की प्रशंसा करना, चारित्र में प्रमोदभाव प्रसिद्ध करना कि अहो! वीतरागभाव चारित्र अलौकिक वस्तु! जिसका कार्य मुक्ति है। चारित्र का साक्षात् फल मुक्ति है। समझ में आया? ऐसी चारित्र की अलौकिक दशा, परमेश्वर पद में मिलती है वह। चारित्रवन्त तो परमेश्वर पद! पंच परमेष्ठी में णमो लोए सव्व साहूणं। ग्यारह प्रतिमावाला क्षुल्लक भी कहीं णमो लोए सव्व साहूणं में नहीं आता। आहा..हा..!

तीन कषाय का अभाव और आत्मा के स्वसंवेदन की प्रचुरता, आत्मा के स्वसंवेदन के आनन्द के वेदन की प्रचुरता / उग्रता को चारित्र कहा जाता है। कहो समझ में आया? श्रावक को ऐसी चारित्र लेने की भावना होती है। कहते हैं कि चारित्र लेना, ऐसा यहाँ स्थापन करते हैं न! समझ में आया? न ले सके तो शक्ति नहीं, ऐसा प्रसिद्ध करे। परन्तु यह लेने योग्य है, यह तो उसकी प्रतीति में आना चाहिए। आहा..हा..! समझ में आया?

४- रत्नत्रय के धारकों का... समझ में आया? उपचार विनय की बात करते हैं। रत्नत्रय धारक—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारकों **तथा अन्य धर्मात्मा भाईयों का शारीरिक विनय करना।** शरीर से। **उसके आने पर उठकर खड़ा हो जाना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, चरणस्पर्श करना आदि यह सब उपचार विनय है।** उपचार विनय हुआ न, बाहर पर का है इसलिए। समझ में आया? ऐसा विनय श्रावक को चारित्र में, तप में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

तीर्थक्षेत्र की वन्दना करना भी उपचार विनय है। जहाँ-जहाँ परमात्मा मोक्ष पधारे हैं, ऐसे तीर्थ की वन्दना करना। यह तो उपचार-व्यवहार विनय की बात चलती है

न! पहली तीन अन्दर की बात थी। तीर्थक्षेत्र अर्थात् जहाँ भगवान मोक्ष पधारे हों, वहाँ स्मृति में आवे कि भगवान यहाँ ऊपर विराजते हैं। जहाँ से मोक्ष गये वहाँ से सादि-अनन्त विराजते हैं। वहाँ नीचे जाकर उनका स्मरण करने के लिये वह भी एक तीर्थक्षेत्र वन्दना है, वह उपचार विनय है। पोपटभाई! वहाँ से मोक्ष पधारे न! यहाँ बात नहीं याद करते? मेरे पिता यहाँ बैठे थे, मेरे पिता यहाँ माला जपते थे। भाई! यह कहता हूँ। पटेल!

चन्दूभाई पटेल पूरे गोंडल राज के शिक्षा अधिकारी रहे थे। स्वयं शिक्षा के अधिकारी और इनके पिता अध्यापक। स्वयं पूरे (गोंडल के) शिक्षा अधिकारी और इनके पिता अध्यापक। इनके पिता का विनय बहुत करे। गोंडल। चन्दूभाई बेचरभाई दोनों हमारे पास यहाँ आये थे। हीराभाई के मकान में दोनों आये थे। सब बहुत बार आ गये हैं। चन्दूभाई तो बहुत बार यहाँ पहले आते थे। एक बार उनके घर आहार लेने गये थे, वहाँ उतरे थे, फिर सब बताया था। यहाँ मेरे पिताजी बैठते थे, यहाँ माला जपते थे। स्वयं पूरे गोंडल के शिक्षा अधिकारी और राजा का उनके प्रति बहुत प्रेम। मकान भी उसने दिया था। दो लाख, तीन लाख का बड़ा मकान दरबार ने दिया, थोड़ा पच्चीस हजार-दस हजार दिये। राजकुमार बाद में न ले लेवे इसलिए। वहाँ मकान में उतरे थे। क्या कहलाता है अपने? जब वेदी प्रतिष्ठा हुई, तब वहाँ उतरे थे, उनके मकान में उतरे थे। वे बारम्बार कहते थे कि यहाँ मेरे पिताजी बैठते थे, यहाँ माला जपते थे। इस प्रकार का पिताजी के प्रति बहुमान था।

इसी प्रकार मेरे भगवान यहाँ से मोक्ष पधारे हैं। यहाँ भगवान मोक्ष पधारे हैं, यहाँ सन्त थे। पाण्डव यहाँ तीर्थ क्षेत्र में ध्यान में थे, आनन्द में थे, ऐसा किया यहाँ से मोक्ष पधारे। ऐसा भाव शुभ है, वह विकल्प पुण्य है परन्तु उस भाव के पीछे जितनी स्थिरता उग्र होती है, उसका नाम निर्जरा है और वह भाव है, उतना पुण्य है। समझ में आया? जितनी इच्छा कटकर स्थिरता होती है, उसका नाम चारित्र कहो या तप कहो और जितनी शुभ इच्छा रही, उसे पुण्य-व्यवहारचारित्र कहने में आता है। समझ में आया?

पूजा-भक्ति करना भी उपचार विनय है। लो! भगवान की पूजा, भक्ति वह भी उपचार विनय है न? तीर्थंकर के विरह में तीर्थंकर की प्रतिमा आदि की पूजा, भक्तिभाव वह सम्यग्दृष्टि को आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? वास्तव में तो सम्यग्दृष्टि को ही वह निक्षेप होता है, भाई! यह चर्चा हमारे बहुत वर्ष पहले बहुत चलती थी। ऐसा कहे

- यह मिथ्यादृष्टि यह निक्षेप-मूर्ति को माने। फिर सम्यग्दृष्टि न माने। कहा, सम्यग्दृष्टि के बाद ही निक्षेप होते हैं, पहले निक्षेप होते ही नहीं। यह स्थापना निक्षेप सम्यग्दृष्टि हुआ, अर्थात् आत्मा के आश्रय से ज्ञान हुआ, उस प्रमाणज्ञान के दो भाग पड़ गये। एक निश्चय और एक व्यवहार। व्यवहारनय, फिर इस निक्षेप के चार प्रकार हैं, वे ज्ञेय के भाग हैं। ज्ञेय के भाग का ज्ञान और नय, ये भगवान हैं ऐसा निक्षेप, उसे ही व्यवहार लागू पड़ता है। समझ में आया? हमारे सामने ऐसा पड़ा था न सब, यह बहुत चलता था। समझ में आया? कहा, वास्तव में तो तब ही निक्षेप होते हैं। मिथ्यादृष्टि को मूर्ति (होवे) और सम्यग्दर्शन होने के बाद मूर्ति नहीं, इसका अर्थ क्या? ए... न्यालभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। वह तो ऐसा कहे फिर निक्षेपपना, शुभभाव का यथार्थपने व्यवहारनय का निक्षेप वहाँ ही लागू पड़ता है। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार निक्षेप लागू पड़ता है। मिथ्यादृष्टि को वास्तव में लागू नहीं पड़ता नयज्ञान के बिना निक्षेप कैसा और निक्षेप के बिना उसका जाननेवाला नयवाला कैसा? समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! सेठी! पूजा, भक्ति ऐसा भाव समकिती को पाँचवें गुणस्थान में आये बिना नहीं रहता। मुनि को भी भाव आता है।

रत्नत्रय की प्राप्ति करना वही सच्चा विनय है। लो वास्तविक निश्चय विनय तो यह कि भगवान आत्मा का अन्तर-दर्शन, अन्तर ज्ञान और अन्तर लीनता, वह वास्तविक निश्चय विनय उसे कहने में आता है। **यह विनय तप का वर्णन पूर्ण किया।** अब वैयावृत्त्य है।

अपने गुरु आदि पूज्य पुरुष आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु... देखो! **अर्जिका, श्रावक, श्राविका, त्यागी इत्यादि धर्मात्मा सज्जनों की सेवा-सुश्रूषा करना, यह सब वैयावृत्त्य ही है।** कहो समझ में आया? देखो न! टोडरमलजी ने यह पहले विनय में लिया है न, भाई! पहले से लिया। सबको लेते... लेते... लेते... श्रावक, श्राविका, ये मेरे समान हों, उन सबको यथायोग्य मैं विनय करता हूँ। मुझसे छोटे हों या ऐसे हों, उन्हें भी यथायोग्य विनय करता हूँ। गजब! ओहो..हो..! कितनी उनकी शैली ली! समझ में आया? बहुत परन्तु एकाग्रता। एक-एक वस्तु को स्थापित किया है। गजब काम किया

है। अन्दर से सब वापस याद रखा है। समझे न? विनय लिया है न? पहले तीर्थंकर का सब लिया है न?

मुमुक्षु : तीर्थक्षेत्र सबको याद किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब। वन्दन किया है न! पाँच–छह पृष्ठ, देखो! **चैत्यालय, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य; तीर्थक्षेत्रादि क्षेत्र; कल्याणकाल आदि काल तथा रत्नत्रय आदि भाव; जो मेरे नमस्कार करने योग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ, तथा जो किंचित् विनय करने योग्य हैं, उनकी यथायोग्य विनय करता हूँ।** फिर शुरु करते हैं। समझ में आया? कितनी बात रखी है! ओहो..हो..! **इस प्रकार अपने इष्टों का सम्मान करके मंगल किया है।** अब इष्ट कैसे कहलाये, वह तो बाद में। समझ में आया? यहाँ भी कहते हैं... यों भी दस प्रकार वैयावृत्त्य आता है न? भाई! दस प्रकार। उसमें अन्तिम एक मनोज्ञ आता है। मनोज्ञ, गृहस्थाश्रम में भी समकिती को होता है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल है न, यह तो उसमें श्वेताम्बर में भी है। तब भी मैं कहता था। श्वेताम्बर में दसवाँ बोल है। मनोज्ञ अर्थात् पुण्यवन्त है, कुल में ऊँचा है और धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि है, उसे भी वहाँ वैयावृत्त्य में रखा है। दस बोल हैं न, उसमें रखा है। जिसे पुण्य का विशेष प्रभाव है, कुल ऊँचा है, उसमें सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है, उसकी भी सेवा का लिखा है, देखो! शास्त्र में। यहाँ आता है न, देखो न, लिखा है न यह? सब आये हैं या नहीं? **श्रावक, श्राविका, त्यागी इत्यादि...** ब्रह्मचारी, सम्यग्दृष्टि **धर्मात्मा सज्जनों की सेवा–सुश्रूषा करना,...** समझ में आया? **यह सब वैयावृत्य ही है।** समझ में आया?

देखो न! वहाँ भी कहा है न? रत्नकरण्ड श्रावकाचार में। देव। चाण्डाल, देव है, देव है। सम्यग्दृष्टि देव है।

मुमुक्षु : चक्रवर्ती को भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : और उसमें तो ढाल में (छहढाला में) आया – 'जजै' – 'सुरनाथ जजै हैं'। देव भी जिसे पूजते हैं। अहो! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या! अलौकिक बात!! समझ में आया? देव भी पूजते हैं। पद्मनन्दिपंचविंशति में आता है। श्रावक मन्दिर

आदि... सम्यग्दृष्टिसहित है, मन्दिर आदि बनावे, वह किसे वन्द्य नहीं होगा? पन्दनन्दिपंचविंशति में व्रतोद्योतन-उपासक संस्कार है न? उसमें आता है। आवे न यह वस्तु। समझ में आया?

वैयावृत्य ही है। लो। फिर उसका जरा बाहर का रोग का कारण कहते हैं। **कभी किसी व्रतधारी को कोई रोग हो जाय तो शुद्ध प्रासुक औषधि द्वारा उनका रोग दूर करना, जंगलों में वसतिका, कुटी आदि बनवाना...** गृहस्थ के लिये, हों! मुनि के लिये नहीं हो सकता। **यह सब वैयावृत्य ही है।**

३- प्रायश्चित्त :- प्रमाद से जो कुछ दोष लगा हो, उसको अपने गुरु के सामने प्रगट करना, उसकी आज्ञा-प्रमाण उस दोष को स्वीकार करके, भविष्य में पुनः उसे न करने की प्रतिज्ञा करना तथा उनके द्वारा आदेशित दण्ड को स्वीकार करके तदनुरूप आचरण करना प्रायश्चित्त अन्तरङ्ग तप है। यह भाव होता है, ऐसा कहते हैं। **इससे व्रत-चारित्र की शुद्धि होती है।** फिर उसके नौ भेद हैं।

१- आलोचन, २-प्रतिक्रमण, ३- आलोचन प्रतिक्रमण,... बोलना और मिच्छामि दुक्कडं **४- विवेक,...** अमुक वस्तु का विवेक करना। अन्दर पर से भिन्न करना। **५- व्युत्सर्ग,...** छोड़ देना, वस्तु छोड़ देना। **६- तप,...** प्रायश्चित्त है। **७- छेद, ८- परिहार, ९- उपस्थापना - इस प्रकार प्रायश्चित्त के ९ भेद हैं।**

४- उत्सर्ग... यह भी तप है। **शरीर में ममत्व का त्याग करना, अन्तरङ्ग परिग्रह क्रोधादि कषायों का त्याग करना, संसार की वस्तु को अपनी नहीं मानना, इत्यादि अहंकार-ममकार का त्याग करना। उसे ही उत्सर्ग नामक...** कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग कहते हैं न? कायोत्सर्ग अर्थात् काया शब्द निकाल दिया। उत्सर्ग कह दिया। छोड़ देना। कषाय और काया छोड़ना। अकषाय और स्थिरता ग्रहण करना, उसका नाम कायोत्सर्ग है। आता है न? ....यह शरीर ऐसे... ऐसे (करना), ऐसा नहीं। अन्दर में आत्मा शुद्ध आनन्द को ग्रहण करना, उसमें स्थिर होना, कषाय और काया की ममता छोड़ना, उसे कायोत्सर्ग कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया? दोनों हाथ (जोड़कर) ऐसे का ऐसा खड़ा रहा, काया को मन्द करना, वह वास्तव में उत्सर्ग नहीं है। अन्दर स्थिर खड़ा

रहे। चैतन्यबिम्ब, चैतन्य की पुतली! अन्दर स्थिर हो जाये। उसे कषाय का त्याग, स्वरूप की स्थिरता, उसका नाम कायोत्सर्ग कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

५– स्वाध्याय... स्वाध्याय करना। **प्रथमानुयोग,**... कथानुयोग का स्वाध्याय। **चरणानुयोग,**... पुण्य-पाप का अधिकार, जहाँ पुण्य चारित्र व्यवहार। **करणानुयोग**... सूक्ष्म परिणाम का अधिकार। **द्रव्यानुयोग,**... जिसमें तत्त्व का अधिकार है। **इन चारों प्रकार के शास्त्रों का स्वाध्याय करना**... कहो, समझ में आया? **सीखना, सिखाना,**... सीखना और सिखाना। चारों अनुयोग भगवान के कहे हुए हैं, उनकी स्वाध्याय करना। **मनन करना**... वापस उसे मनन करना। क्या कहना है? इसमें! क्या अभिप्राय है? किस नय का इसमें कथन है? चरणानुयोग में किस नय से कहा है? द्रव्यानुयोग में किस नय से कहा है? उस नय का मनन करना।

इसके द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्य जीवों को सम्यग्ज्ञान का बोध होता है,... स्वाध्याय करने से दूसरों को भी बोध होता है। स्वाध्याय में उपदेश आ जाता है न? समझ में आया? **परिणाम स्थिर रहता है,**... स्वाध्याय करने से उसमें परिणाम स्थिर रहते हैं। अशुभ नहीं होते, ऐसा। **संसार से वैराग्य होता है, धर्म की वृद्धि होती है, इत्यादि अनेक गुण प्रगट होते हैं,**... स्वाध्याय से। देखो! यह स्वाध्याय। निश्चय स्वाध्याय—स्व-आत्मा का अध्याय / एकाग्र होना वह। व्यवहार स्वाध्याय चार अनुयोग में विकल्प से स्वाध्याय करना, वह।

निश्चय स्व-अध्याय। स्वाध्याय। अपने ज्ञानस्वरूप मूर्ति में एकाकार होना, वह निश्चय स्वाध्याय। स्व-अध्याय, उसका अध्याय लेना अन्दर एकाकार का। व्यवहार स्वाध्याय यह चार अनुयोग का, विकल्प का स्वाध्याय करना वह। समझ में आया? स्वाध्याय का ऐसा भाव होता है। मुनि को होता है न! मुनि को ध्यान और स्वाध्याय दो ही हैं। दूसरा कुछ होता नहीं। या अन्दर ध्यान में अनुभव में होते हैं अथवा विकल्प आवे तो स्वाध्याय करे। दूसरा तो कुछ है नहीं उन्हें। समझ में आया? है विकल्प पुण्य का कारण, परन्तु पीछे स्वभाव की उस क्षण में विशेष एकाग्रता वर्तती है न! वह वास्तविक स्वाध्याय कहने में आती है। **इत्यादि अनेक गुण प्रगट होते हैं, अतः स्वाध्याय करना चाहिए।**

६– ध्यान :– एकाग्रचित्त होकर समस्त आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर,...

एकाग्रचित्त होकर अन्दर में शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होकर। समस्त आरम्भ परिग्रह से (मुक्त होकर) नास्ति से है, यहाँ मुक्त होकर, **पंच परमेष्ठी और आत्मा का ध्यान...** व्यवहार-निश्चय दोनों डाला है। पंच परमेष्ठी का, यह व्यवहार है और अन्तर का, यह निश्चयध्यान है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित श्रावक की यह बात चलती है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं तथा अकेली यह क्रिया होती है, उसकी यह बात नहीं है। समझ में आया?

यहाँ तो वीतराग दृष्टि हुई है और उस वीतराग भूमिका का अंश विशेष बढ़ा है, उसे ऐसे प्रकार के विकल्प होते हैं और वीतरागता की शान्ति भी थोड़ी विशेष होती है, ऐसा कहते हैं। पूरा मूलमार्ग जो निश्चय है, वह पड़ा रहा और व्यवहार की बात अकेली रह गयी। व्यवहार होता है; नहीं होता, ऐसा नहीं है। समझ में आया? जब तक वीतरागता पूर्ण न हो, तब तक दृष्टि में द्रव्य का आश्रय होने पर भी, अस्थिरता के ऐसे शुभभाव आये बिना नहीं रहते। होते हैं, परन्तु उन्हें वह पुण्य-बन्धरूप से जानता है और स्वभावसन्मुख की जितनी शुद्धता, एकाग्रता (हुई), उसे मोक्ष का मार्ग जानता है। पहला (राग) बन्ध का मार्ग है, परन्तु वह आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? जिसके जितने दोकड़ा, उतने दोकड़ा दे। दोकड़ा क्या कहते हैं? कीमत। जिसकी जितनी कीमत हो, उतनी दे, कहीं अधिक कीमत दे?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया तब। खोटा दे, उसे भान कहाँ है कुछ।

वह आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। उनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसार के कारण हैं... पाप के कारण हैं। यह कमाना, खाना, पीने का भाव, कमाना यह सब,... दुकान पर बैठना, चूड़ी का व्यापार, यह सब पाप व्यापार है - ऐसा कहते हैं। चूड़ी का है तुम्हारे? किसका? खोटे गहने। खोटी जवाहरात के गहने। कहो, समझ में आया? इन सबमें रुकना, विचार में रुकना, विकल्प, वह सब आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। ध्यान के सामान्यतया तीन भेद हो सकते हैं - अशुभध्यान, शुभध्यान और शुद्धध्यान। अब वापस इसका स्पष्टीकरण करते हैं। **आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों अशुभध्यान हैं,...** पाप।

धर्मध्यान शुभध्यान है तथा शुक्लध्यान शुद्धध्यान है। शुभ। धर्मध्यान में जरा शुभविकल्प हो, उसे व्यवहार से धर्मध्यान कहते हैं। वास्तव में तो अन्दर शुद्धता की एकाग्रता कम है, उसे धर्मध्यान कहते हैं। विशेष शुद्धता बढ़ावे, उसे शुक्लध्यान कहते हैं। मूल तो ऐसा है। इसमें ही सब विवाद उठाये हैं न? शुभध्यान को धर्मध्यान कहा है, इसलिए वह निर्जरा है, संवर है। होता है, उसे व्यवहार धर्मध्यान। आत्मा में जो स्वभाव शुद्ध है, ऐसा जो धर्म स्वभाव, उसकी अन्तर की एकाग्रता, उसे वास्तव में धर्मध्यान कहते हैं। स्वभाव का ध्येय करके एकाग्रता होना, उसे धर्मध्यान कहते हैं, परन्तु उसमें एकाग्रता कम है, शुक्लध्यान में विशेष है। इसलिए वहाँ साथ में शुभभाव होता है, उसे भी व्यवहार धर्मध्यान कहने में आता है। समझ में आया? वह शुभभाव ही मानो सब हो पड़ा है।

मुमुक्षु : मानो धनी हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : धनी हो गया। संवर-निर्जरा, परलक्षी, उसे स्वलक्ष्य का आश्रय दिये बिना उससे संवर-निर्जरा (होगी), जाओ। ओहो..हो..! यही स्थापन करते हैं अभी, देखो न! परन्तु अब ऐसा स्पष्ट बाहर आया। समझे न? तब तो भगवान भी थे और करते थे, हमें क्या? ऐसी बात और उसमें सीधी सट्ट दो और दो चार जैसी बात है। उसमें कहीं तीन काल में बदले नहीं।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है। उसका आश्रय करे, उतनी संवर-निर्जरा होती है। पर का आश्रय जितना करे, उसमें पुण्य-पाप के भाव होते हैं। धर्मध्यान आदि हो तो शुभ है। यह स्त्री, पुत्र का आश्रय करे तो पाप है। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र आदि का आश्रय करे, वह शुभभाव है। स्त्री, पुत्र का आश्रय और व्यापार का आश्रय, वह पापभाव है। पर के आश्रय से तो पुण्य-पापभाव हों। उसमें कहीं संवर-निर्जरा नहीं होते। समझ में आया?

इसलिए मोक्षार्थी जीवों को धर्मध्यान और शुक्लध्यान अवश्य अपनाना चाहिए। अपनाना चाहिए। यह गुजराती में आता होगा? यह शब्द हिन्दी है। चलता है। अपनाना चाहिए। भाई! हम तो अपनी गुजराती भाषा साधारण नहीं समझते हों।

मुमुक्षु : यह गाँधीजी से चला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाँधीजी से चलता होगा। परन्तु अपने अपनाना चाहिए, यह शब्द साधारण लड़के समझेंगे? अपनाना चाहिए।

मुमुक्षु : बनाना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास हो गया इसलिए।

ध्यान के अवलम्बनरूप से... ध्यान के आधाररूप से, निमित्तरूप से **पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत – यह चार भेद हैं।** ये भेद ज्ञानार्णव में हैं। पिण्ड अर्थात् आत्मा में रहा हुआ भगवान आत्मा का ध्यान, पदस्थ-पाँच पद हैं न? अरिहन्त। उनका ध्यान। **रूपस्थ..** रूपस्थ अर्थात् अरिहन्त का। **रूपातीत...** अर्थात् सिद्ध का। **इनका विशेष वर्णन ज्ञानार्णव ग्रन्थ से ज्ञात करना चाहिए। यहाँ लिखने से बहुत विस्तार हो जायेगा।**

यहाँ यह बात भी जान लेना अत्यावश्यक है कि बाह्यतप और अन्तरंग-तप में क्या अन्तर है? बाह्य-तप में केवल बाह्यपदार्थ तथा शरीर की क्रिया ही प्रधान कारण होती है और अन्तरंग-तप में आत्मीय भाव तथा मन का अवलम्बन ही प्रधान कारण पड़ता है। निश्चय और विकल्प दो। **जैसे अग्नि सोने को शुद्ध बनाती है वैसे ही यह दोनों प्रकार के तप आत्मा को शुद्ध बनाते हैं।** व्यवहार तप कहे न? व्यवहार तप और निश्चय तप, ऐसा। **कारण कि तप के बिना चारित्र नहीं होता...** मुनिपना लिये बिना चारित्र अंगीकार नहीं होता। **चारित्र के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अतः दोनों प्रकार के तपों का आचरण अवश्य करना चाहिए। यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन हुआ।** देखा! यह गृहस्थ में आया। है तो चारित्र परन्तु गृहस्थों को ऐसा करना।

तत्पश्चात् श्री अमृतचन्द्रस्वामी मुनियों के चारित्र का वर्णन करते हैं। मुनिपद धारण किए बिना मोक्ष की प्राप्ति कभी होती नहीं... तीन काल में (नहीं होती)। क्षायिक सम्यक्त्वी हो तो भी उसे मुनिव्रत धारण करना चाहिए। समझ में आया? मुनिपना (अर्थात्) अन्दर स्वरूप में रमणता का चारित्र और व्यवहार से अट्ठाईस मूलगुण के, पंच महाव्रत के विकल्प होते हैं, उसके बिना कभी मुक्ति हो जाये, घर में-गृहस्थाश्रम में रहते-रहते... समझ में आया? ऐसा नहीं होता।

मुमुक्षु : कोई अपवाद तो होगा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई अपवाद नहीं होता। भरत चक्रवर्ती को काँच भवन में हो गया। क्या काँच भवन में ? अन्दर ध्यान हुआ था। दो घड़ी नग्न दिगम्बर (मुनिदशा हुई), फिर ध्यान हुआ, तब मुक्ति को प्राप्त हुए।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें।

आत्मा के अन्तर में आनन्द के ध्यान बिना और नव-नव कोटि से त्याग बिना, काया से त्याग करना, कराना और अनुमोदना। काया से त्याग कब होता है ? कि वस्त्र-पात्रादि सब अन्दर से छूट जाये, तब काया का करना, कराना, अनुमोदन करना त्याग होता है। उसके त्याग बिना चारित्र नहीं हो सकता। समझ में आया ?

मुमुक्षु : मुनि को भी अपवाद होता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवाद-वपवाद नहीं होता। अपवाद तो दोष कहलाता है। नहीं कहते ? मन-वचन और काया, कृत-कारित और अनुमोदन - नव-नव कोटि से पर का त्याग हो जाये। तब तो काया से भी वस्त्र रखना, यह रहे नहीं। समझ में आया ? ऐसी बात है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यह कहीं किसी के पक्ष की यह बात नहीं है। समझ में आया ? ऐसी दशा अंगीकार करना। इसके बिना मोक्ष नहीं होता। **इसलिए मोक्षार्थी भव्यात्माओं को जहाँ तक बन सके, वहाँ तक समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके मुनिपद धारण कर, अष्टकर्मों का क्षय करके मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति करनी चाहिए।** लो, १९९ तक आया।

गाथा - २००

मुनिव्रत धारण करने का उपदेश

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि।।२००।।

सब जिनागम में मुनिवरों का, कहा है जो आचरण।
निज वीर्य पदवी सोचकर, उस रूप करना निज चरण।।२००।।

अन्वयार्थ : (जिनपुङ्गवप्रवचने) जिनेश्वर के सिद्धान्त में (मुनीश्वराणाम्) मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतधारियों का (यत्) जो (आचरणम्) आचरण (उक्तम्) कहा है, (एतत्) यह (अपि) भी गृहस्थों को (निजां) अपने (पदवीं) पद (च) और (शक्तिं) शक्ति को (सुनिरूप्य) भले प्रकार विचार करके (निषेव्यम्) सेवन करना योग्य है।

टीका : 'जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यत् आचरणं उक्तं एतत् अपि निजां पदवीं सुनिरूप्य शक्तिं च सुनिरूप्य निषेव्यम्।' - अर्थ :- अरहन्त भगवान तथा गणधरादि कथित जिन शास्त्रों में जो मुनि-महात्माओं का सर्वदेश त्यागरूप आचरण कहा है, वह आचरण गृहस्थ को अपने पद की योग्यता और अपनी शक्ति को देखकर अवश्य करना चाहिए।

(भावार्थ : जैसे मुनिराज मोक्षमार्ग को सर्वदेश प्राप्त हुए हैं, वैसे ही श्रावक भी मोक्षमार्ग में एकदेश प्रवर्तन करता है, इसलिए शास्त्र में जैसा जैसा आचरण-क्रियाकाण्ड मुनियों का कहा है, वैसा ही श्रावक को भी अंगीकार करना चाहिए, परन्तु अपनी पदवी और शक्ति विचार कर जैसी प्रतिमा का धारक हो, तदनुसार ही यथायोग्य आचरण करना योग्य है।) जहाँ तक बन सके, वहाँ तक वह प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी को मुनिपद को स्वीकार करके अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए। यदि वह किसी भी तरह सर्वदेशव्रत का पूर्णरूपेण पालन न कर सके तो पहले अणुव्रत पालना चाहिए पश्चात् महाव्रत धारण करना चाहिए।।२००।।

गाथा २०० पर प्रवचन

अब **मुनिव्रत धारण करने का उपदेश**

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि।।२००।।

इसकी टीका लो न। **अरहन्त भगवान तथा गणधरादि कथित 'जिनपुङ्गव'** है न? **'जिनपुङ्गव'** वीतरागी पुरुषों। **'पुङ्गव'** अर्थात् पुरुषों। वीतरागी पुरुषों। जिन्हें **अरहन्त भगवान तथा गणधरादि कथित जिन शास्त्रों में...** कहे हुए की बात लेनी है न? यहाँ कोई सिद्ध नहीं लेना। यहाँ तो **'जिनपुङ्गवप्रवचने'** ऐसा लेना है न? सिद्ध को प्रवचन नहीं होता। अरिहन्त भगवान, परमेश्वर और अथवा चार ज्ञान के धनी गणधर, महातीर्थंकर के वजीर, दीवान, प्रधान। ये दोनों। है न? **'जिनपुङ्गव'** की व्याख्या की। **कथित जिन शास्त्रों में...** उनके कहे हुए जिन शास्त्र। कोई कल्पित स्वयं बनाये हों और फिर भगवान का नाम ऊपर डाला हो, यह बात नहीं। समझ में आया? **'जिनपुङ्गव'** वीतराग में प्रधान। अरिहन्त और गणधर।

जो मुनि–महात्माओं का... उन्होंने मुनि महात्माओं का **सर्वदेश त्यागरूप आचरण कहा है...** कहो, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर और गणधरों ने, जो मुनि का आचरण शास्त्रों में कहा है, **सर्वदेश त्यागरूप आचरण कहा है, वह आचरण अपने पद की योग्यता और अपनी शक्ति को देखकर अवश्य करना चाहिए।** शक्ति देखकर अवश्य आचरण करना चाहिए। ऐसे का ऐसा ले लेना, ऐसे नहीं, ऐसा कहते हैं। शक्ति न हो और मुनिपना ले लिया। फिर वह... द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखे नहीं। अपनी शक्ति कितनी है? सामर्थ्यता कितनी है? सहनशीलता कितनी है? देखे नहीं। ऐसा नहीं। अपनी शक्ति कितनी है? संयोगों में निमित्त, निर्दोष आहार–पानी देने के साधन,... क्या साधन है? समझ में आया? द्रव्य–क्षेत्र–काल, भाव चाहिए। यथाशक्तिरूप से अवश्य ग्रहण करे। समझ में आया? ग्रहण करने की बात है न?

जहाँ तक बन सके, वहाँ तक वह प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी को मुनिपद

को स्वीकार... करना। पहला लो। पहला प्ररूपणा में आ गया था न? पहला मुनि का उपदेश देना। दर्शन-ज्ञानसहित, हों! अकेला मुनि का (उपदेश नहीं)। दर्शन-ज्ञानसहित में चारित्र का। चारित्र में पहला मुनि का उपदेश लेना, पहला श्रावक का नहीं। चारित्र में पहले दर्शन-ज्ञान का देना, वह तो मूल वस्तु है, परन्तु चारित्र में पहले मुनिपने का उपदेश देना, ऐसी बात है। समझ में आया? चारित्र में दर्शन-ज्ञान बिना चारित्र, वह तो बात नहीं। वह तो तीन रत्न में पहला दर्शन ही पहला और ज्ञान। परन्तु चारित्र के वर्णन में-उपदेश में पहले चारित्र का उपदेश करना, ऐसा। बात तो ऐसी ही होती है न! फिर इतनी शक्ति न हो तो श्रावक का करना।

जंगलवासी अन्तर कहीं दरकार नहीं होती, शरीर की भी दरकार नहीं होती। ऐसे आनन्दघन में झूलना। आहा..हा..! सिर पर वर्षा का प्रपात गिरता हो, कोमल राजकुमार का शरीर हो, फट.. फट... ऊपर से गिरे न! जोरदार धूप हो; प्रपात गिरता हो; सर्दी हो। आनन्द... आनन्द... आनन्द... उसके अन्तर आनन्द में रमते हों, उसका नाम चारित्र है। अकेला बाहर से सहन करे और नग्न है, वह कहीं चारित्र नहीं। समझ में आया? ऐसे चारित्र की भावना सम्यग्दृष्टि को भाना चाहिए और मुनिपना अंगीकार करना चाहिए। ऐसा ही कहे न? समझ में आया? आहा..हा..!

जहाँ तक बन सके, वहाँ तक वह प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी को मुनिपद को स्वीकार करके अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए। यदि वह किसी भी तरह सर्वदेशव्रत का पूर्णरूपेण पालन न कर सके तो पहले अणुव्रत पालना चाहिए... ऐसा लगे कि मुझसे यह शक्ति (अभी नहीं है)। कर्म के कारण नहीं, हों! अमुक काल के कारण नहीं; मेरे पुरुषार्थ की कमी है। मुझमें इतनी सहनशक्ति नहीं है। वे और कहे कि क्यों नहीं लेते? कहे, काल पका नहीं इसलिए। अरे भगवान! ऐसा का ऐसा घर का घोड़ा दौड़ावे। भाई! पुरुषार्थ की अपनी कमी के कारण। पुरुषार्थ इतना तैयार नहीं है, सहनशीलता इतनी नहीं है; इसलिए श्रावक के व्रत पालन करे। ऐसा नहीं कि उसमें कर्म का हमारे इतना जोर है, काल ऐसा नहीं इसलिए भगवान के ज्ञान में देखा नहीं अभी मुनिपना लेना इसलिए, ऐसा नहीं होता। वे और ऐसा कहते हैं। अरे! भगवान! क्या करता है तू?

जीव उल्टा पड़े तो क्या न करे? और सुलटा पड़े तो क्या न करे? आहा..हा..!

सुलटा पड़ने से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष ले। उल्टा पड़ने से अन्तर्मुहूर्त में निगोद ले। आहा..हा..! इतना पुरुषार्थ से पूरा भरा हुआ है न? अकेला आत्मबल.. आत्मबल.. आत्मबल.. ज्ञानबल। वह बल प्रत्येक में बल है। ज्ञानबल, दर्शनबल, चारित्रबल। ऐसा अनन्त बेहद बल है। विपरीत पड़े तो ऐसा प्रयोग करे, सुलटा पड़े तो ऐसा प्रयोग करे। समझ में आया? उसमें किसी का–दूसरे का दोष नहीं कि भाई! कर्म का बहुत जोर है, मैं ले नहीं सकता। जोर तो तू विपरीत पुरुषार्थ करता है तो कर्म का निमित्त कहा जाता है। समझ में आया? कर्म तुझे पुरुषार्थ नहीं करने देता, ऐसा कहीं नहीं है। वह तो बेचारा जड़ है। 'कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकायी' आता है या नहीं? पूजा के पाठ में आवे, इसका अर्थ समझे नहीं। यह सब ऐसे सेठियों ने भी ऐसा का ऐसा समय बिताया है। सेठी!

मुमुक्षु : कैसा बिताया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझे बिना ऐसा का ऐसा। कहो, बाबूभाई! क्या है?

मुमुक्षु : यह तो पैसा कमावे, उसका नाथ सेठिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! पैसा कमावे वह सेठिया! यह तो ऐसा श्रेष्ठपना। धर्म में प्रमुख हो। मुख के सामने हो, मुख के सामने पड़े। भाई! चलो अपने ऐसा करते हैं। इसमें एक अधिकार आता है। कल बात नहीं की थी? भगवती में एक शंख और पोकली श्रावक का अधिकार है। शंखपोकली। शंखपोकली का सुना है या नहीं? ऐई! न्यालभाई! शंखपोकली श्रावक, भगवती में आता है।

फिर सब एकत्रित होकर ऐसा विचार किया कि आज हम सबको इकट्ठा जीमना है। जीम कर रात्रि में हम सबको धर्मध्यान में इकट्ठा होना है। पूरी रात धर्मध्यान करना। पूरी रात। उसमें यह शंख और पोकली श्रावक। यह बात है। यह तो विनय कहा, उससे याद आया। वह शंख फिर जब घर जाता है, तब विचार बदल जाता है कि मुझे तो आज सबेरे से प्रौषध करना है, अभी से उस कल तक। आज आहार करके सब एकत्रित होना। मैं कह आया हूँ, कहा है अवश्य, परन्तु अब मेरा विचार नहीं है। सबेरे से प्रौषध करके... स्त्री को पूछकर एकान्त बैठकर... पोकली आता है। शाम को भोजन करने को कहा था न? सब अपने इकट्ठे भोजन करेंगे, फिर अपने चार पहर रात्रि में धर्मध्यान में व्यतीत करेंगे। वहाँ वे आये। साहेब! आपने कहा था न? मुझे यह भाव हुआ था। वह पोकली श्रावक

पहले उसके पैर लगता है। ऐसा होता है। शंख की बहू आती है, उससे पूछते हैं कि कहाँ गये? हमसे कह गये थे, यहाँ आना। उन्होंने तो प्रौषध किया है। फिर स्त्री भी पोकली के पैर छूती है। श्राविका, श्रावक को। वह श्रावक वापस बड़ा श्रावक शंख है, उसके पैर छूता है। प्रौषध में। ऐसा आता है। मुझे तो आज से चौबीस घण्टे का प्रौषध करने का भाव हो गया। मैंने कहा था अवश्य परन्तु मुझे यह भाव है। अरे! परन्तु पहले से हमें क्यों नहीं कहा? भाई! अभी मेरा भाव यह हुआ। उस समय मैंने कहा था। फिर निवृत्ति का भाव हो गया। पोपटभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें अच्छा क्या है? चार व्यक्ति इकट्ठे होकर आहार करके रात्रि में करना था, मुझे सबेरे से निवृत्ति से पूरे चौबीस घण्टे व्यतीत करने का भाव हुआ।

मुमुक्षु : ....प्रौषध करनेवाला बढ़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह प्रौषध कैसा? सम्यग्दर्शनसहित आत्मा के पोषण में (रहे), वह प्रौषध। उसका नाम प्रौषध कहलाये न?

भगवान आत्मा में अनन्त स्वरूप जहाँ अन्तर में शान्तमूर्ति प्रभु! उसकी अन्तर्दृष्टि हुई है और उसकी शान्ति में अधिक रहने के लिये करना, उसका नाम प्रौषध है। स्वरूप की शान्ति और सामायिक वह है कि दो घड़ी शान्ति रहती है या कैसे कितनी? यह उसका प्रयोग, अजमाईश है। दो घड़ी की सामायिक अन्तर शान्ति की जो दृष्टि हुई है, उस शान्ति में स्थिर कितना रह सकता हूँ, उसका प्रयोग सामायिक है और आठ दिन में महीने के जो चार अपवास कहने में आते हैं, उन चौबीस घण्टों में मेरी स्थिरता कैसे बारम्बार कितनी रहती है, यह आजमाईश का आठ दिन का यह प्रौषध प्रयोग है। मुनिपना सदा लेने के लिये जिसे जिसकी भावना है। मुनिपना तो प्रतिक्षण आनन्द और क्षण-क्षण में विकल्प, ऐसी दशा का जिसे भाव है, उसे इस सामायिक का प्रयोग और प्रौषध का प्रयोग वह वास्तव में मुनिपना लेने की प्राप्ति का वह पूर्व रूप है। समझ में आया? यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है। यह कहीं बातें शास्त्र ने नहीं की है। आहा..हा..! समझ में आया? यह उस दिन कहते थे, हों! यह। मूल वस्तु की अलग बात है परन्तु सामायिक अर्थात्? यह निवृत्ति का प्रयोग है। प्रौषध, वह आठ दिन में निवृत्ति का प्रयोग है। समझ में आया? बाकी कहने पर

यह... जिसका आत्मा समीप में दृष्टि में वर्तता है, उसे सामायिक औरा प्रौषध होते हैं। सेठी! यह उनमें आता है, हों! अनुयोग द्वार। ....समझे न? ऐसा आता है। फिर भूल गये, पहले सब कण्ठस्थ था।

जो श्रद्धा–ज्ञान और शान्ति में आत्मा समीप में वर्तता है, उसे शान्ति और चारित्र और प्रौषध कहने में आता है। जिसकी दृष्टि में आत्मा दूर वर्तता है और राग समीप में वर्तता है, उसे सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण नहीं होता। समझ में आया? दृष्टि में आत्मा बारम्बार तैरे, ऐसा। ज्ञायकमूर्ति शुद्ध। वह समीप में वर्ते, उसे सामायिक और प्रौषध और चारित्र होता है परन्तु जिसकी दृष्टि में आत्मा ही विरह में पड़ा है, ख्याल ही नहीं और समीपपना जिसे राग, पुण्य और संयोग का वर्तता है, उसे कहाँ वस्तु है, वह तो संसार है। समझ में आया? आहा..हा..!

गाथा - २०१

प्रथम ही छह आवश्यक का वर्णन करते हैं –

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।।२०१।।

ये नित षडावश्यक करो, समता रु स्तव वन्दना।
प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग जिससे बन्ध ना।।२०१।।

अन्वयार्थ : (समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्) समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (प्रत्याख्यानं) प्रत्याख्यान (च) और (वपुषो व्युत्सर्गः) कायोत्सर्ग–(इति) इस प्रकार (इदम्) यह (आवश्यक षट्कं) छह आवश्यक (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए।

टीका : 'समता स्तव वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गः इति इदं आवश्यक षट्कं।' –

१– समता–समस्त जीवों पर समताभाव रखना (अर्थात् लाभ–अलाभ, सुख–दुख, जीवन–मरण में हर्ष–विषाद न करके समभाव रखना) अथवा सामायिक करना।

(सर्व जीव हैं ज्ञानमय ऐसा जो समभाव; सो सामायिक जिन कह्यो प्रगट करे भवपार। -योगसार दोहा नं० ९९)

२- स्तव- श्री भगवान अरहन्तदेव-तीर्थंकर भगवान के गुणों का कीर्तन करना अर्थात् स्तुति करना। यह स्तव व्यवहारस्तव और निश्चयस्तव के भेद से दो प्रकार का होता है।

३- वन्दना - पंच परमेष्ठी को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साष्टांग नमस्कार करना।

४- प्रतिक्रमण - अपने किये हुए दोषों का प्रश्चात्ताप करना। अर्थात् अपने से कोई दोष या भूल हो जाय तो उसे अपने गुरु के समक्ष प्रगट करके उस भूल को स्वीकार करना-यही प्रतिक्रमण है।

५- प्रत्याख्यान - (आगामी आस्रव का निरोध) - जो रत्नत्रय में विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं, उन्हें मन, वचन और काय से रोकना और उनका त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रत्याख्यान १- अखण्डित, २- साकार, ३- निराकार, ४- परिमान, ५-इतरत्, ६- वर्तनीपात, ७- सहेतुक इत्यादि भेद से १० प्रकार का है।

६- व्युत्सर्ग - शरीर का ममत्व छोड़कर विशेष प्रकार के आसनपूर्वक ध्यान करना, यह व्युत्सर्ग नाम का आवश्यक है।

भावार्थ : इस प्रकार यह छह आवश्यकों का वर्णन किया। मुनि तथा श्रावक दोनों को इनका पालन प्रतिदिन अवश्य ही करना चाहिए, इसीलिए इन्हें आवश्यक कहा गया है, अत: मुनियों को उसका पालन सर्वदेश करना चाहिए और श्रावकों को अपनी योग्यतानुसार एकदेश करना चाहिए।।२०१।।

गाथा २०१ पर प्रवचन

अब, छह आवश्यक का वर्णन करते हैं - देखा! सामायिक आदि की बात चलती है न?

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।।२०१।।

'समता स्तव वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गः इति इदं आवश्यक षट्कं।' शरीर का त्याग। अब इसकी व्याख्या।

१- समता - समस्त जीवों पर समताभाव रखना अथवा सामायिक करना। छह आवश्यक अवश्य करने योग्य, समकिती को अवश्य करने योग्य ये हैं। संसार के भाव और व्यापार-धन्धा, ये कहीं आवश्यक नहीं हैं। यह आवश्यक नहीं है। व्यर्थ का अनर्थ का अन्दर पाप आता है। ऐई! महेन्द्रभाई! आहा..हा..!

मुमुक्षु : दुकान लेकर बैठे हों, उसे क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दुकान थी अन्दर? व्यर्थ की। क्या आया पहला नहीं? नियमसार, उसका बोल हर समय रखते हैं न? **णियमेणकज्जं** हम तो बहुत बार कहते हैं। नियम से करने योग्य हो तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र। निश्चय, हों! आहा..हा..! **जं णियमेण कज्जं** - ऐसा शब्द है। कुन्दकुन्दाचार्य का (शब्द है)। यदि धर्मात्मा को निश्चय से करने योग्य हो तो आत्मा का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, यही करने योग्य है। समझ में आया? मूल तो पड़ी रही और ऊपर के फिर अकेले पत्ते टूटे।

यहाँ तो यह कहते हैं कि समता। समता किसे प्रगट होती है? कि समतावन्त स्वरूप, वीतरागस्वरूप है, ऐसी दृष्टि हुई है, उसे उसमें स्थिर होने से समता प्रगट होती है। समझ में आया? जिसे आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध शान्त अकषाय (स्वरूप है), (जिसमें) विकल्प नहीं, वाणी नहीं। जिसमें वाणी नहीं, विकल्प नहीं, ऐसा शुद्धस्वभाव जो अन्तर्दृष्टि में आया है, उसमें स्थिरता का प्रयत्न है, उसका नाम समता है। पुण्य-पाप में स्थिर होना, वह तो असमता-विषमभाव है। समझ में आया? जिसने अपना घर देखा है, उस घर में सिथर होने को सामायिक और समता कहते हैं। घर स्वयं आत्मा, उसका निज घर, निज सम्पदा, अविकारी वीतरागी सम्पदारूप आत्मा है। समझ में आया? पोपटभाई! कितनी ही सामायिक तो की होगी। छह कोटि, आठ कोटि की। आहा..हा..!

स्वरूप की दृष्टि हुई और स्व-रूप में समतारूप से रहना, उसे भगवान सामायिक / समताभाव कहते हैं। इस श्रावक को तो यह कर्तव्य है। प्रतिदिन ऐसी सामायिक करना, ऐसा है। समझ में आया? विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७८ गाथा-२०१ से २०५ बुधवार, आषाढ़ कृष्ण १२, दिनांक ०२.०८.१९६७

प्रतिक्रमण – अपने किये हुए दोषों का प्रश्चात्ताप करना। अर्थात् जब अपने से कोई दोष या भूल हो जाय, तो उसे अपने गुरु के समक्ष प्रगट करके उस भूल को स्वीकार करना... वह भूल मान लेना। अभूल के रास्ते जाना है न? निर्दोष गुण के रास्ते जाना है, उसमें कोई भूल हो गयी हो तो स्वीकार करने से उस भूल का नाश होता है। भूल हुई। समझ में आया? यह प्रतिक्रमण। निश्चय प्रतिक्रमण रागादि से हटकर स्वरूप में रमना, वह निश्चय प्रतिक्रमण है और कोई दोषादि का विकल्प उठता है, उससे प्रायश्चित्त आदि लेना, वह व्यवहार प्रतिक्रमण कहा जाता है। ये दोनों वस्तु होती है।

५- प्रत्याख्यान – जो रत्नत्रय में विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं, उन्हें मन-वचन और काय से रोकना... लो! इसका नाम प्रत्याख्यान। इस शुभाशुभ परिणाम को उत्पन्न होने न देना। भविष्य में शुभाशुभभाव न हो, वैसे अन्दर में एकाकार होना, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। निश्चय प्रत्याख्यान, भविष्य में शुभाशुभ परिणाम न होने देना, ऐसी अन्तर की वर्तमान स्थिरता करना, उसका नाम पच्चखाण और प्रत्याख्यान कहने में आता है। कहो, समझ में आया? यह बाहर की रूढ़िगत की बात नहीं है, यह तो निश्चय से वस्तु सत्य यह है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का वह भण्डार है। प्रगट में ज्ञान का अंश है परन्तु उस ज्ञान के अंश द्वारा अन्तर में एकाकार होने से आनन्द आदि का जो वेदन हो... समझ में आया? उसे वास्तव में प्रत्याख्यान अथवा राग का त्याग कहने में आता है। व्यवहार से प्रत्याख्यान शुभविकल्प होता है, उसे कहते हैं। समझ में आया? इस प्रत्याख्यान के भेद लिये हैं। **अखण्डित,...** प्रत्याख्यान और **साकार,...** छूटना। **निराकार,...** ऐसे इत्यादि-इत्यादि कुछ हैं। **परिमान,...** करना थोड़ा। **इतरत्, वर्तनीपात, सहेतुक इत्यादि भेद से १० प्रकार का है।**

६– व्युत्सर्ग – शरीर का ममत्व छोड़कर... व्युत्सर्ग। विशेष उत्सर्ग। **विशेष प्रकार के आसनपूर्वक ध्यान करना,...** आत्मा में आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध परमेश्वर स्वयं है, उस पर दृष्टि लगाकर स्थिर हो जाना, उसे राग और शरीर छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। उसे कायोत्सर्ग कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

भावार्थ : इस प्रकार यह छह आवश्यकों का वर्णन किया। मुनि तथा श्रावक दोनों को इनका पालन अवश्य करना चाहिए... दोनों को। आगे २०९ गाथा में कहेंगे। जितना यह अधिकार कहते हैं, वह विकल–थोड़ेरूप से श्रावक को होता है और पूर्णरूप से मुनि को होता है। २०९ गाथा में स्वयं पाठ कहेंगे। समझ में आया? **मुनि तथा श्रावक दोनों को इनका पालन प्रतिदिन अवश्य ही करना चाहिए...** लो। इसमें तो प्रतिदिन का आया। इस सामायिक का प्रयोग हमेशा करना। समझ में आया? इन छहों आवश्यकों का। छह आवश्यक—सामायिक, चौबीसन्तों वन्दन, प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, छहों का प्रतिदिन प्रयोग, आजमाईश अन्दर ध्यान करना।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिदिन सामायिक होती थी। कहो, भगवान भाई! कहते हैं, छह आवश्यक प्रतिदिन होते थे। यह और दूसरे प्रकार के निकले, ऐसा कहते हैं। वह सब विकल्प की बातें, वह वस्तु नहीं। यह तो आत्मा अत्यन्त रागरहित निष्क्रियस्वरूप भगवान आत्मा समरस की मूर्ति, समरस की मूर्ति प्रभु आत्मा है। यह छोड़ा या यह रखा, यह लूँ – ऐसा विकल्प का जहाँ अवकाश नहीं, ऐसी वह चीज़ है। उस चीज़ में अन्तर में एकाकार होकर ये छह आवश्यक करना, ऐसा कहने में आता है। फिर स्थिर नहीं रह सके तो विकल्प आदि होते हैं, वह व्यवहार होता है। होता है व्यवहार। वे लोग बहुत व्यवहार की बात करते हों, परन्तु होता है, अब उसमें क्या? सुन न अब! करना तो यह है। '**नियमेण कज्जम**' यह आवश्यक नियम से तो अन्तर में एकाकार होना, वह निश्चय रत्नत्रय, वह आवश्यक है। समझ में आया? जिसमें से शुद्धि बढ़े, पवित्रता बढ़े और पूर्ण के सन्मुख, पूर्ण पर्याय प्रगट होने के सन्मुख हो, उसका नाम आवश्यक की क्रिया वास्तव में कहने में आती है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : छिछला (उथला) परन्तु यह गहरा कहाँ, वही है। गहरा या सच्चा वही है। छिछला अर्थात् समुद्र के पानी के छिछला खारा में जाना। पानी जहाँ ठण्डा हो, वहाँ उसका छिछला लेना या नहीं? तो वहाँ छिछला में पानी होगा या नहीं? ठण्डा पानी खारा होगा या नहीं या मीठा होगा? ऐसे छिछला में भी पहली शुरुआत में भी इसका दर्शनशुद्धि आदि की स्थिरता तो शुरुआत में होती ही है। यह तो बात करते हैं। समझ में आया?

इसीलिए इन्हें आवश्यक कहा गया है, अत: मुनियों को उसका पालन सर्वदेश करना चाहिए... मुनि, वीतरागी सन्त जंगल में बसनेवाले, आनन्दस्वरूप में (बसनेवाले), वनवासी, वन के बाघ, वीतरागरूप। राग पर तो त्राड़ पाड़कर अन्दर वीतरागता प्रगट करनेवाले। आहा..हा..! जिनके असंख्य प्रदेश में उपशमरस के झरने झर गये। ऐसे झरते हों, आहा..हा..! समझ में आया? जैसे पर्वत में से पानी झरे, वैसे भगवान आत्मा शान्ति का झरना है। आत्मा तो अकषाय वीतरागस्वभाव का ही वह झरना है। ऐसा भगवान आत्मा है, उसमें अन्दर स्थिर होना। श्रावकों को वह एकदेश, मुनियों को सर्वदेश (पालन करना), कहो, समझ में आया? परन्तु भाई! आत्मा के घर की जिसे गरज पड़ी हो, यह तो उसकी बात है।

गाथा - २०२

तीन गुप्तियों का वर्णन

सम्यग्दण्डो वपुष: सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनस: सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्।।२०२।।

सम्यक् विधि से करे तन वश, वचन सम्यक् रोध हों।
सम्यक् विधि से मन सुथिर, त्रय दण्ड रुक त्रय गुप्ति हों।।२०२।।

अन्वयार्थ : (वपुष:) शरीर को (सम्यग्दण्ड:) भले प्रकार-शास्त्रोक्त विधि से वश करना, (तथा) तथा (वचनस्य) वचन का (सम्यग्दण्ड:) भले प्रकार अवरोधन करना (च) और (मनस:) मन का (सम्यग्दण्ड:) सम्यक्रूप से निरोध करना - इस प्रकार (गुप्तीनां त्रितयम्) तीन गुप्तियों को (अवगम्यम्) जानना चाहिए।

टीका : 'वपुषः सम्यग्दण्डः तथा वचनस्य सम्यग्दण्डः च मनसः सम्यग्दण्डः इति गुप्तीनां त्रितयं समनुगम्यम्।' – अर्थ :– शरीर को वश करना, वचन को वश करना, और मन को वश करना – यह तीन गुप्ति जानना चाहिए।

भावार्थ : गुप्ति का अर्थ गोपना अथवा छिपाना है। जैसे कि मन की क्रिया रोकना अर्थात् मन की चञ्चलता रोककर एकाग्रता कर लेना मनगुप्ति है। वचन का न बोलना अर्थात् मौन धारण करना वचनगुप्ति है। शरीर की क्रिया रोकना–निश्चल हो जाना कायगुप्ति है। इन तीनों गुप्तियों में से मनोगुप्ति का पालन करना अति कठिन है। जहाँ तीनों गुप्ति हो जाती हैं, वहाँ आत्मध्यान होता है।।२०२।।

गाथा २०२ पर प्रवचन

तीन गुप्तियों का वर्णन

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्।।२०२।।

टीका : शरीर को वश करना,... लो। आया या नहीं? देखो! **'वपुषः'** है यहाँ। है न? परन्तु इसका अर्थ? शरीर को वश करने का अर्थ कि उसके प्रति विकल्प करना नहीं, राग नहीं करना। ऐसे यह निमित्त से कथन है। समझ में आया? वहाँ सामनेवाले और यह कहें, देखो! शरीर से यह हो, ऐसा लिखा है। समझ में आया? ऐसा लिखा है। पहला भाग है न? कौन है? शरीर से सब होता है, देखो! समझ में आया? ऐसा है देखो। ***जीवित शरीर इष्ट स्थान पर जाता है, मृतक शरीर इष्ट स्थान पर नहीं जाता।***

मुमुक्षु : शरीर को और इष्ट स्थान कैसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! क्या कहते हैं इसमें कुछ?

मुमुक्षु : शरीर को और इष्ट क्या तथा अनिष्ट क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के पास जाना हो, वह शरीर जाये। आत्मा जा सके? कहो, भगवान के पास जाना हो, समवसरण में सुनना हो। तुम पण्डित हो? लिखा–पढ़ा

है तुमने ? देखो ! सेठी ! ऐसा कहते हैं भाई ! ***जीवित शरीर इष्ट स्थान पर जाता है, मृतक शरीर इष्ट स्थान पर नहीं जाता।*** भाषा देखो ! अरे रे ! भगवान ! क्या करता है यह ? ***दाँतों से काटना...*** देखो, यह क्रिया। सचेत शरीर ऐसा कर सकता है, कहते हैं। शरीर सचेत ऐसा करता है। ऐई ! देवानुप्रिया ! तुमने पढ़ा नहीं होगा, रख दिया होगा। ***मारना, पीटना, तलवार, बन्दूक, लाठी चलाकर दूसरों का घात करना, पूजा प्रक्षालन करना।*** वह शरीर करे। जीवित शरीर करे। गजब बात ! तुम्हें कल याद किया था। तुम नहीं थे। ऐई ! राजमलजी ! कहा, हमारे राजमलजी ऐसा कहते हैं कि ऐसे जीवित शरीर से धर्म हो। ऐसे प्रश्न ! अब यह प्रश्न है देखो, भाई ! यह लेख है देखो ! गोष्ठी में। पहला प्रश्न आया था न ? जीवित शरीर धर्म करे। राजमलजी कहे अर..र ! ऐसे प्रश्न ? जैनधर्म में ऐसे (प्रश्न) लज्जित करते हैं। देखो ! यह शब्द आया। तुम्हारे सामने देखा। अभी पढ़ा गया, इसलिए याद है, हों ! समझे न ?

घात करना, पूजा-प्रक्षालन करना, सत्पात्रों को दान देना, लिखना, केशलोंच करना, देखना, सुनना, सूँघना, बोलना, प्रश्नोत्तर करना, शराब पीना, माँस खाना आदि क्रिया यदि अजीवतत्त्व की है तो इन क्रियाओं द्वारा आत्मा को सन्मान, अपमान, दण्ड, जेल आदि क्यों भोगना पड़ता है ? यदि अजीवतत्त्व कहें तो, ऐसा कहते हैं। वे सजीव तत्त्व (हैं ऐसा उन्हें कहना है) ऐई ! ऐसा प्रश्न है। शंका दूसरी है, लो ! समझ में आया ? ***और अणुव्रत, महाव्रत, बहिरंग तप, समिति आदि जीवित शरीर से होते हैं। भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तपस्या शरीर द्वारा की थी। अरिहन्त भगवान का विहार, दिव्यध्वनि शरीर द्वारा होता था।*** शास्त्र में भी कायवन्त, मन, कर्मयोग कहा है। अजीव को अधिकरण का आस्रव कहा है। लो। इसमें शास्त्र सब भरे हैं। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

अरे ! भाई ! आत्मा में जितना रागरहित होकर स्थिर होता है, वह सब क्रिया आत्मा की है। शरीर की क्रिया वह तो इसमें निमित्त है। वह तो जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय के कारण नुकसान है और जड़ की पर्याय के कारण लाभ है या जड़ की पर्याय के कारण शुभभाव है या अशुभ है या शुद्ध है, ऐसा नहीं है। जीवित शरीर हो तो जा सकता है, अमरचन्दभाई !

मुमुक्षु : कहीं मुर्दा समवसरण में जाता है किसी दिन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं मुर्दा समवसरण में जाता है ? भगवान के पास चलकर जाये। देखो ! अरे भगवान ! सुन न भाई ! यह तू क्या करता है ? सचेत जीव कहा न ? सचेत शरीर। सचेत शरीर। वह तो जीव के निमित्त से बोलने में आया। सचेत शरीर होता है ? शरीर तो अचेत ही है। ओहो..हो.. ! गजब !

टोडरमलजी कहते हैं न, अजीव का अंश भी जीव में नहीं मिलाना। जीव का अंश भी अजीव में नहीं मिलाना। जीव-अजीव की भूल कही है न वहाँ ? आहा..हा.. ! क्या हो ? वह जड़ की पर्याय आवे-जावे, वह शरीर तो मिट्टी है, वाणी जड़ है; आत्मा तो अन्दर ज्ञानमूर्ति भिन्न है। वह राग-द्वेष करे और या वीतरागता करे, दूसरा क्या करे वह ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : आवे-जावे, वह दिखता है न, राग-द्वेष कहाँ दिखते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन आवे-जावे ? क्या दिखता है आवे-जावे ? शरीर की पर्याय हो, उसमें आत्मा भिन्न है, वह भी अन्दर शामिल नहीं ? उसकी क्रिया भिन्न है, इसकी क्रिया भिन्न है। दो तत्त्व हैं तो दोनों की समय-समय की क्रिया भिन्न है। आहा..हा.. ! जब अनुभवप्रकाश में ऐसा लिया कि यह अमुक-अमुक यह सब पुद्गल की क्रिया, तब यह कहता है कि जीव की क्रिया। सामने-सामने पड़ा है। अनुभवप्रकाश में आता है न ? नहीं कहा था ? है न अनुभवप्रकाश ? कहाँ गया भाई ? लाओ न जरा ! इनके सामने यह बोल और इसके सामने यह बोल। अरे ! भगवान ! गृहस्थ, दीपचन्दजी साधर्मी ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वे गृहस्थ हैं परन्तु वे पण्डित हैं। कितने पृष्ठ पर ? ६५ है न ? ६५ है। लिखा नहीं। पृष्ठ ६५ है देखो ! ***दस प्रकार का परिग्रह-क्षेत्र, बाग, नगर, कूप, वापी, तालाब, नदी आदि सब पुद्गल; माता, पिता, कलत्र, पुत्र, पुत्री, वधू, बन्धु, स्वजन आदि सभी (कुटुम्बीजन); सर्प, सिंह, व्याघ्र, गज, भैंसा आदि सब दुष्ट, अक्षर, अनक्षर, शब्दादि; गाना, बजाना, स्नान, भोग, संयोग-वियोग की सब क्रिया, परिग्रह का मिलाप वह बड़ा, परिग्रह का नाश, वह दरिद्र इत्यादि सब क्रिया, चलना, बैठना, हिलना, बोलना, काँपना इत्यादि सब क्रिया; लड़ना, भिड़ना, चढ़ना-उतरना, लड़ना,***

नाचना, खेलना, गाना, बजाना इत्यादि सब क्रियाएँ - यह सर्व पुद्‌गल का खेल जानो।

मुमुक्षु : यहाँ ऐसा कहा शरीर का खेल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह सचेत शरीर करता है, ऐसा कहते हैं वे। वह सचेत शरीर होवे तो करे, अचेत शरीर करे? ऐसा वे कहते हैं। आया न पहले? इष्ट स्थान पर वह जा सकता है, अनिष्ट स्थान पर वह जा सकता है। मुर्दा जा सकता है? गजब बात भाई, कहो समझ में आया? सर्व पुद्‌गल का नाटक है, देखा? ***नर, नारक, तिर्यंच, देव, उनका वैभव, भोगकरण, विषयरूप इन्द्रियों की क्रिया आदि सर्व पुद्‌गल का नाटक है। द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि सर्व पुद्‌गल का अखाड़ा है। उसमें तू चिदानन्द रंजित होकर अपने मानता है।*** तेरा गजब हुआ भाई! वह तो जड़ की-पुद्‌गल की क्रिया है, उसमें मेरी होती है और मैं हूँ, तू भूला है।

मुमुक्षु : इससे धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे धर्म, वह फिर बाद में और कहा है कि वह निमित्त मैं कहता हूँ। निमित्त उसे है या नहीं? भाई! निमित्त है, उसका क्या अर्थ? परन्तु तूने तो पूछा था कि उससे धर्म होता है या नहीं? आहा..हा..! कहाँ शरीर? वह तो जड़ है। उसकी पर्याय हो, वह सब जड़ की पर्याय है, हिलना, चलना, बोलना आदि जड़ की पर्याय है। यह आत्मा करता है? आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। आहा...! जीवित शरीर से इष्ट स्थान में जाया जाता है, अनिष्ट स्थान में जाया जाता है। मुर्दा जाये? भारी तर्क भाई! ऐई! राजमलजी! आहा..हा..!

यहाँ तो अपने आया न? **शरीर को वश करना,...** उसका अर्थ यह कि शरीर को अन्दर में, शरीर को अयत्न के भाव से न होने देना। समझ में आता है न? **वचन को वश करना,...** अर्थात् वचन में भी राग का होना होने देना नहीं। **और मन को वश करना...** मन में संकल्प-विकल्प होने देना नहीं। ऐसे उसे वश किया, ऐसा कहने में आता है। **यह तीन गुप्ति जानना चाहिए।**

गुप्ति का अर्थ गोपना अथवा छिपाना है। जैसे कि मन की क्रिया रोकना अर्थात् मन की चञ्चलता रोककर एकाग्रता कर लेना... देखो! **मनगुप्ति है।** मन के

संकल्प–विकल्प को रोककर आत्मा में एकाग्र करना, उसका नाम निश्चयगुप्ति। व्यवहारगुप्ति–अशुभ से छूटकर शुभ में आवे, वह व्यवहारगुप्ति कहलाती है। **शरीर की क्रिया रोकना–निश्चल हो जाना कायगुप्ति है।** स्थिर हो जाने का अर्थ ? शरीर स्थिर होता है, तब वह राग था और उसके प्रति अस्थिरता करने का, वह राग नहीं, इसलिए शरीर स्थिर हुआ, उसमें राग घटाया है, यह बात लेनी है।

मुमुक्षु : इसमें तो सीधा लिखा हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सीधा लिखा हुआ परन्तु इसका अर्थ समझना चाहिए न ? घी का घड़ा तो लिखा हो। कहो, समझ में आया ? घी का घड़ा होता होगा कहीं ? घड़ा तो मिट्टी का होता है।

इन तीनों गुप्तियों में से मनोगुप्ति का पालन करना अति कठिन है। देखा ! बात तो राग को घटाकर स्वरूप में स्थिर होना, वही वास्तविक गुप्ति है। अन्य तो निमित्त की बात है। ***जिन मुनि को गुप्ति होती है, उन्हें अवधिज्ञान अवश्य नियम से होता है...*** वास्तविक मनोगुप्ति हो। कोरी मन की गुप्ति हो, उसे अवधिज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? **जहाँ तीनों गुप्ति हो जाती हैं, वहाँ आत्मध्यान होता है।** मन, वचन और काया, तीनों ओर का लक्ष्य छूटकर भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वभाव में स्थिर हो, तब उसे तीन गुप्ति होती है। मूल भगवान आत्मा पड़ा रहा। वर पड़ा रहा और बारात जोड़ दी। समझ में भाषा आती है ? दूल्हा। दूल्हा पड़ा रहा, बारात जोड़ी। दो सौ लोग, तीन सौ लोग साथ में परन्तु साथ में वर है या नहीं ? – यह भूल गये। जाओ वापिस गाड़ी और बस को ठीक से शृंगार किया। लोग बैठे, ए... परन्तु वर रह गया। अब क्या करना ? यहाँ पहुँच गये न ?

इसी प्रकार आत्मा जहाँ न मिले, उसमें यह सब क्रियाकाण्ड के राग और शरीर का मान, वह तो सब खोटी बारात है। भगवान चिदानन्दस्वरूप अनाकुल शान्तरस का कन्द, उसे दृष्टि में लेकर स्थिर होना, उसका नाम यहाँ गुप्ति कहने में आता है। कहो, समझ में आया ?

गाथा - २०३

पाँच समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः।।२०३।।

गमनागमन एकाग्रता से, वचन हित मित एषणा।
सम्यक् ग्रहण निक्षेप अरु, व्युत्सर्ग समिति जानना।।२०३।।

अन्वयार्थ : (सम्यग्गमनागमनं) सावधानी से देख भालकर गमन और आगमन (सम्यग्भाषा) उत्तम हितमितरूप वचन, (सम्यक् एषणा) योग्य आहार का ग्रहण, (सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ) पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण करना (तथा) और (सम्यग्व्युत्सर्गः) प्रासुक भूमि देखकर मल–मूत्रादि का त्याग करना–(इति) इस प्रकार यह पाँच (समितिः) समिति हैं।

टीका : 'सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथा सम्यक् एषणा च सम्यग्ग्रहनिक्षेपः सम्यक् व्युत्सर्गः इति (पञ्च) समितिः।' –

अर्थ : १– ईर्यासमिति – मुनिराज दिन के समय में ही सूर्योदय के दो घड़ी बाद जब सूर्य की किरणें स्पष्ट हो जावें और मार्ग प्रासुक हो जाये, तब यत्नाचारपूर्वक चार हाथ –प्रमाण भूमि स्थूल दृष्टि से देखकर गमनागमन करें तथा पैरों को देख देख कर रखें। (जब मार्ग पर घोड़ा–गाड़ी–पथिक आदि चलने लगते हैं, तब वह सहज ही प्रासुक हो जाता है।)

२– भाषासमिति – हितमित और असन्देहरूप वचन बोलना कि जिससे सुननेवाले कोई भी प्राणी को दुःख न हो।

३– एषणासमिति – छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर आचारसहित विधिपूर्वक शुद्ध प्रासुक आहार दिन में एक बार लेना।

४– आदाननिक्षेपणसमिति – यत्नाचारपूर्वक देखकर सँभालकर पुस्तक, पींछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना।

५– प्रतिष्ठापनासमिति – यत्नपूर्वक दृष्टि से देखकर और पींछी से पोंछकर मल–मूत्र–कफ इत्यादि नवद्वार के मल प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर त्याग करना। जल में, गीली भूमि में, हरी घास में मल त्याग नहीं करना तथा लोगों के आने–जाने के मार्ग से दूर जाकर निर्दोष भूमि में मल क्षेपण करना। इस प्रकार समितियों का वर्णन किया। यह पाँचों समितियाँ गुप्तियों के पालन में सहायक होती हैं। उपरोक्त प्रकार से इनका पालन तो मुनि महाराज ही करते हैं फिर भी जितना बन सके उतना श्रावक को भी इनका पालन करना चाहिए। श्रावक को भी देखभालकर चलना चाहिए, संक्षिप्त और हितकारी वचन बोलना चाहिए, शुद्ध प्रासुक आहार लेना चाहिए, सभी वस्तुएँ देखभालकर उठाना–रखना चाहिए और जीवरहित स्थान में ही मल–मूत्रादि विसर्जन करना चाहिए। इसी प्रकार यथाशक्ति इन सबका श्रावकों को पालन करना चाहिए।।२०३।।

गाथा २०३ पर प्रवचन

पाँच समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः।।२०३।।

टीका : ईर्यासमिति – सूर्योदय के दो घड़ी बाद मार्ग प्रासुक हो जाये, तब यत्नाचारपूर्वक चार हाथ प्रमाण भूमि देखकर संभालकर गमनागमन करें... लो। ईर्यासमिति देखकर। सूर्य उदय के बाद रास्ता प्रासुक हो जाने के बाद–अचेत हो गया हो और लोग चलते हैं न? **यत्नाचारपूर्वक चार हाथ प्रमाण भूमि देखकर...** वह ऐसा देखना, वह बाहर का विकल्प है परन्तु अन्दर में एकाकार ईर्या, अपने स्वरूप में एकाकार, वह वास्तविक ईर्या है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में पाँच समिति को संवर में डाला है न? संवर अर्थात् ऐसे देखकर चलना, वह विकल्प है, वह संवर नहीं। उसके पीछे स्वभाव में स्थिरता की वीतरागता जितने अंश में है, वह संवर है। और यह देखकर ऐसा करना, वह विकल्प है, वह तो पुण्य है। कहो, समझ में आया? इसलिए यह सब इसमें डाला है। देखो! इसमें यह आता है। देखो! इसमें संवर के दो भेद आते हैं। देखो! द्रव्यसंग्रह में व्रत

के भेद आते हैं। आते हैं न ? भावसंवर के भेद। कथा, व्रत, समिति सब आते हैं। है न, यह तो किस दिन का प्रश्न है, संवत् १९९२ के वर्ष का। सोमचन्दभाई ने पहले किया था। सोमचन्द अमथालाल, १९९२ के वर्ष में पहले आये थे न। राजपालजी बीमार थे तब। उस मकान में। कि ये गाथा ? इसमें तो सब संवर के भेद लिये हैं। १९९२ के साल की बात है। ३१ वर्ष हुए।

वास्तव में तो स्वरूप की स्थिरता है, वही सब व्रत है, परन्तु उसके ऐसे विकल्पों का भेद होता है, उसे भेद से वर्णन किया है। क्या हो ? वस्तु ही कोई ऐसी है कि वचन से व्यवहार करके बात करे, वहाँ भेद पड़ जाता है। भेद से बात कर लेना। समझाना अभेद; वचन देना है अभेद चिदानन्दस्वरूप आनन्द (के ऊपर), बाकी भेद से तो बात होती है। समझाने का दूसरा उपाय क्या होगा ?

२- भाषासमिति - हितकारी और थोड़े ऐसे वचन बोलना कि जिससे सुननेवाले कोई भी प्राणी को दुःख न हो। भाषा तो यहाँ क्या करना ? कि बोलना। कहीं आत्मा बोल सकता है ? बोलने में राग की तीव्रता न होने देना, वह मन्द राग की भाषा समिति है और बिल्कुल अन्दर में ज्ञातादृष्टा में रहना, उसका नाम निश्चय भाषासमिति है। अमरचन्दभाई ! सब ऐसा है। यह तो एक-एक बात। जगत के साथ इस बाहर के व्यवहार के कथन तो ऐसे आवें। भाषा क्या है ? देखो, लो ! बोलना **हितकारी और थोड़े ऐसे वचन बोलना...** इसका अर्थ कि हितकारी-वहाँ रागरहित भाव रखना। बोलने का हो, वह तो वाणी की क्रिया है। कहे, नहीं। दूसरा और ऐसा कहे कि वाणी छद्मस्थ की इच्छासहित ही निकलती है। इच्छा न हो तो नहीं निकलती। अरे ! भगवान ! भारी परन्तु भाई ! इच्छासहित निकले, इसका अर्थ कि उसकी इच्छा होती है। वाणी, वाणी के कारण निकलती है। इच्छा हुई, इसलिए वाणी निकलती है ? इच्छा हुई, इसलिए वाणी निकलती है ? बात बहुत कठिन। अकेला भगवान, राग से समेटकर अन्दर में समाये, एक बात है। उसे बाद में यह सब बातें व्यवहार से की जाती है। अनेक प्रकार से व्यवहार का सब वर्णन होता है न ?

३- एषणासमिति - छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर आचारसहित विधिपूर्वक शुद्ध प्रासुक आहार दिन में एक बार लेना। लो, ठीक। मुनि को। मुनि उन्हें कहते हैं कि छियालीस दोषरहित, बत्तीस अन्तरायरहित।

क्रोध, मान, माया, लोभ से आहार नहीं लेना इत्यादि। **उत्तम कुलीन श्रावक के घर...** वह भी **आचारसहित विधिपूर्वक शुद्ध प्रासुक...** कितने शब्द प्रयोग किये हैं। **आहार एक बार लेना।** मुनि को एक बार आहार लेना। श्रावक का कहेंगे, हों! श्रावक को भी थोड़ा सा इसमें सबके लिये करना। कहो, आहार एक बार लेना, ऐसा कहा। आहार ले सकते हैं? यह तो निमित्त के कथन चरणानुयोग के आवें, वे किस प्रकार कथन आवें? उसे एक बार आहार हो, ऐसा बतलाने को यह कथन किया है, परन्तु वह भी निर्दोष आहार। उनके लिये बनाया हुआ न हो। पकाकर, चौका बनाकर, पानी गरम करके दे, वह सब उद्देशिक आहार है। वह मुनि को नहीं चलता। समझ में आया?

४– आदाननिक्षेपणसमिति–यत्नाचारपूर्वक देखकर सँभालकर पुस्तक, पींछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना। लो ठीक। **पुस्तक, पींछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना।** यह आदान समिति। यह समिति संवर। आहा..हा..! यह हमारे मूलचन्दजी कहते थे, देखो भाई! दस बोल आते हैं ठाणांग के। एक शुचि पुस्तक जरा मेल भी यत्न से रखे तो संवर होता है, अयत्न से रखे तो आस्रव होता है परन्तु अब तब फिर उसमें पुण्य कहाँ रहा? इस यत्न का अन्दर भाव होता है, वह तो शुभ विकल्प है, राग है, वह संवर नहीं। आत्मा का जो यत्न राग से भिन्न करके करना, उस आत्मा के शुद्धस्वभाव की राग से रक्षा करना। रागरहित की उसकी रक्षा करना, उसका नाम... समझ में आया? आदाननिक्षेपणसमिति। वास्तव में तो वह समिति है। स्वरूप को ग्रहण करके, राग का अभाव हुआ, उसका नाम वास्तव में समिति है। क्या हो? मूल निश्चय की बात बहुत थोड़ी आवे। बातें व्यवहार की बहुत हों। व्यवहार से भेद करके समझाते हैं। वहाँ धवल में ऐसा आया है कि देखो! गणधरदेव ने भी व्यवहार को इस प्रकार से कहा है। वह कहीं डाला था। पत्र में कहीं था। देखो! उन्होंने ऐसा कहा है कि व्यवहार रखना।

मुमुक्षु : व्यवहार से लाभ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अभी उसका अधिकार डाला था। और किसी ने यह जैन गजट में वह डाला था। धवल का।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह कोटडिया ने डाला। जैन शासन (पत्र) में। जैन शासन में कोटडिया का है, उसने डाला है। व्यवहार से लाभ होता है। अरे! भगवान! व्यवहार तो निश्चय को बतलानेमात्र बात है। व्यवहार को अनुसरण करनेयोग्य नहीं है। वह तो स्वयं बोलता है। समयसार आठवीं गाथा। व्यवहार भेद, अभेद को बतावे परन्तु भेद को अनुसरण करनेयोग्य नहीं। व्यवहार कहनेवाले और सुनानेवाले दोनों को अंगीकार करनेयोग्य नहीं है। अरे! इसके अपने स्वरूप का इसे माहात्म्य नहीं आता कि मेरे स्वरूप-सन्मुख जाना, वही मेरी वस्तु है। समझ में आया? बाहर में विकल्प रहा करे, वह सब पुण्यबन्ध का कारण है। पुण्यबन्ध है। अन्तर भगवान के आश्रय से अन्तर स्वाश्रय में जाना, उतनी शुद्धि और धर्म है। यह सिद्धान्त अन्तर में न बैठे और दूसरी बातें बैठावे, अनादि से करता है। यह अनादि से है। क्या हो? अनादि की है। यहाँ देखो न! **पींछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना** कहा, लो! इसका अर्थ क्या? उस समय यत्न के भाव और विकल्प ऐसे होते हैं तो उसे शुभ कहते हैं और पीछे उस समय स्वभाव की सावधानी की एकाग्रता है, वह निश्चय-संवर कहने में आता है। ऐसा है, भाई!

मुमुक्षु : एक यह निश्चित हो...

पूज्य गुरुदेवश्री : एक निश्चित यह हो (कि) स्वभाव की शरण में जाने से ही लाभ है। स्वभाव की शरण में जाना। भगवान चिदानन्द प्रभु के सन्मुख देखकर, सन्मुख होकर रहना एक ही बात। दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन सबमें एक ही बात। फिर उसकी सब विस्तार से बातें की हैं। जितना स्वभावसन्मुख से (हटकर) पर में लक्ष्य गया, उतना राग और बन्ध का कारण है, कहो, समझ में आया?

५- प्रतिष्ठापनासमिति - देख संभालकर निर्जीव भूमि पर कफ-मल-मूत्र इत्यादि का त्याग करना। लो, ऐसा आया न, ठीक। कफ, मल, मूत्र, यह समिति। लो, ठीक। ऐसा ही बोला जाता है न? उसे यत्न के भाव हैं। **जल में, गीली भूमि में, हरी घास में मल त्याग नहीं करना...** जंगल जाना हो, पेशाब को जाना हो, वहाँ गीली अर्थात् हरी जमीन में पानी के जीव हों, हरितकाय के जीव हों, वहाँ मलत्याग नहीं करना। **इस प्रकार समितियों का वर्णन किया। यह पाँचों समितियाँ गुप्तियों के पालन में सहायक होती हैं। उपरोक्त प्रकार से इनका पालन तो मुनि महाराज ही करते हैं**

फिर भी जितना बन सके उतना श्रावक को भी इनका पालन करना चाहिए। जैसे कि श्रावक को भी देखभालकर चलना चाहिए, संक्षिप्त और हितकारी वचन बोलना चाहिए, शुद्ध प्रासुक आहार लेना चाहिए, सभी वस्तुएँ देखभालकर उठाना–रखना चाहिए.... ऐसा। देखभालकर जीवरहित स्थान में ही मल–मूत्रादि विसर्जन करना चाहिए। इसी प्रकार यथाशक्ति इन सबका श्रावकों को पालन करना चाहिए। लो।

गाथा - २०४

दश धर्म

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
अकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति।।२०४।।

उत्तम क्षमा मृदुता सरलता, शौच सत्य सुसंयम।
तप त्याग आकिंचन्य अरु, ब्रम्हचर्य सेव्य सतत धरम।।२०४।।

अन्वयार्थ : (क्षान्तिः) क्षमा, (मृदुत्वं) मार्दव, (ऋजुता) सरलता अर्थात् आर्जव (शौचम्) शौच (अथ) पश्चात् (सत्यम्) सत्य, (च) तथा (अकिंञ्चन्यं) आकिञ्चन, (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य, (च) और (त्यागः) त्याग, (च) और (तपः) तप (च) और (संयमः) संयम (इति) इस प्रकार (धर्मः) दश प्रकार का धर्म (सेव्यः) सेवन करना योग्य है।

टीका : 'क्षान्तिः मृदुत्वं ऋजुता च शौचम् अथ सत्यम् आकिञ्चन्यं ब्रह्म च त्यागः च तपः च संयमः इति धर्मः सेव्यः।' –

अर्थ : १– क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण करना उत्तमक्षमा नामक पहला धर्म है। २– मान कषाय का त्याग करके कोमलता धारण करना उत्तम मार्दव नाम का दूसरा धर्म है। ३– मायाचार का (कपट का) त्याग करके सरलता धारण करना उत्तम आर्जव नाम का तीसरा धर्म है। ४– लोभ का त्याग करके सन्तोष धारण करना शौच नाम का चौथा धर्म है। शौच का अर्थ शुद्धि है। यह शुद्धि दो प्रकार की है – १. बाह्यशुद्धि, २. अन्तरङ्गशुद्धि। स्नानादि में शरीर को पवित्र रखना बाह्यशुद्धि है और लोभ कषाय का

त्याग करना अन्तरंगशुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धि करना ही शौचधर्म है। यहाँ एक विचार योग्य बात यह है कि यह दोनों प्रकार की शुद्धियाँ गृहस्थ-श्रावक की अपेक्षा से ही हैं, मुनि की अपेक्षा से नहीं हैं; कारण कि मुनिमहाराज के तो अन्तरङ्ग शुद्धि की ही मुख्यता है। ५- दूसरे को दु:ख उत्पन्न करनेवाला, निन्दनीय कपटी वचन नहीं बोलना सत्य कहलाता है और यही पाँचवाँ उत्तम सत्य धर्म है। ६- पंचेन्द्रिय के विषयों को तथा मन के विषय को रोकना और छह काय के जीवों की हिंसा न करना उसी को संयम कहते हैं। व्रतों का ध्यान करने से, समितियों का पालन करने से, कषायों का निग्रह करने से और मन-वचन-काय को वश में रखने से इस संयम का पालन होता है, यह छठवाँ उत्तम संयमधर्म है। ७- जिस तरह सोने का मैल दूर करने के लिये अग्नि का ताव दिया जाता है, उसी तरह आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों को दूर करने के लिए (सर्वज्ञ-वीतराग कथित) तप किया जाता है। यह तप बारह प्रकार का है। 'इच्छा निरोधस्तप:' - इच्छा का निरोध करना ही तप है-यह सातवाँ उत्तम तपधर्म है। (इन बारह तपों में स्वाश्रय के बल द्वारा जितनी परिणामों की शुद्धि है वह तो निर्जरा के कारणरूप निश्चय तप है और उसी समय हेयबुद्धि सहित व्रत तपादि के शुभ विकल्प-राग है, उतना व्यवहार-उपचार तप है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।) ८- लोक में तो आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान देने को त्यागधर्म कहते हैं, परन्तु यह त्याग वास्तविक-सच्चा त्याग नहीं है। (त्रैकालिक अकषाय ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा वीतराग विज्ञानरूप शान्ति की उत्पत्ति होना, उतने अंश में कषाय की उत्पत्ति न होना, वही) क्रोधादि कषायों का त्याग करना है, वही सच्चा त्याग है। इसलिए यद्यपि मुनिराज प्रत्यक्षरूप से कोई दान नहीं करते तो भी वास्तव में कषायों का त्याग करने के कारण वे ही सच्चे दानी हैं और जिस समय जिस जीव के लोभ कषाय का त्याग हो गया, उसके बाह्य पदार्थों का तो त्याग हो ही गया, क्योंकि लोभ कषाय छोड़े बिना बाह्य वस्तुओं का त्याग नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि (तत्त्वज्ञान के बल से) लोभादि कषायों का त्याग करना ही सच्चा उत्तम त्याग है और वही दान है।

९- ममत्वबुद्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है। चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह तथा दश प्रकार के बाह्य परिग्रह - इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। १०- संसार के सर्व पदार्थों से मन की वृत्ति हटाकर केवल एक आत्मा में ही लीन करना अर्थात् ब्रह्म में तल्लीनता होना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

यह दशा तभी हो सकती है, जब आत्मा पञ्चेन्द्रिय के विषयों को रोकने में समर्थ हो, विशेषत: स्पर्शेन्द्रिय के विषय अर्थात् कायवासना को जीतने में समर्थ हो जाये और उस कायवासना का त्याग तभी हो सकता है, जब स्त्री मात्र का त्यागी हो जाये अर्थात् संसार की स्त्री मात्र का मन–वचन–काय से त्याग करे। परन्तु ऐसा त्याग तो केवल एक मुनि महाराज ही कर सकते हैं; श्रावक तो एकदेश त्याग कर सकता है अर्थात् स्व–स्त्री में सन्तोष रखकर अपनी स्त्री के अलावा संसार की शेष समस्त स्त्रियों को माता, भगिनी अथवा पुत्री समान जानता है–यही एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन है।

भावार्थ : इस प्रकार यह दशलक्षणधर्म का वर्णन किया। इन धर्मों का पालन करना प्रत्येक प्राणी का मुख्य कर्त्तव्य है, कारण कि यही दशधर्म मोक्षमार्ग का साधन करने के लिये मुख्य कारण हैं।।२०४।।

गाथा २०४ पर प्रवचन

दश धर्म अब दस प्रकार का धर्म।

धर्म: सेव्य: क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
अकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति।।२०४।।

१– क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण करना उत्तमक्षमा नामक पहला धर्म है। उत्तम क्षमा अर्थात् ज्ञाता सहनशीलतारूप से ध्यान–ज्ञान में रहना, कोई भी प्रतिकूलता के समय क्रोध न करके ज्ञाता–शान्ति में रहना, इसका नाम उत्तम क्षमा नाम का धर्म है। शान्ति अर्थात् आत्मा के लक्ष्य से शान्ति। बाहर का समाधान करके रहे, वह समाधान नहीं। समझ में आया? इसलिए उसे उत्तम क्षमा कही है न? उत्तम क्षमा। सम्यग्दर्शनसहित की क्षमा। वस्तु भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति आनन्दस्वरूप, ऐसा आत्मा दृष्टि में है, उसे ऐसे प्रतिकूल प्रसंग में क्रोध न होने देकर, उसमें शान्ति के समाधान में रहना, इसका नाम उत्तम क्षमा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? इसके बाद दो भाग करेंगे, श्रावक को एकदेश करना। मुनि को सर्वथा और श्रावक को एकदेश करना। यह जितनी व्याख्या आती है उसमें। कहो, समझ में आया?

जहाँ अधिक आमदनी होती हो, वहाँ दूसरा व्यक्ति शामिल होता है कि मेरा भाग रखना। इसमें चार आने रखना क्योंकि ऐसा जाने की ये तो बड़े-बड़े सेठ... होता है और उसमें पाँच-पचास करोड़ पैदा हों, ऐसा लगता है। भाई! थोड़ा सा मेरा भाग रखोगे? मैं भी तुम्हें पचास हजार-लाख दूँगा। पैसे इकट्ठे करते हों न? अच्छे लाभ का देखे, वहाँ सब भाग (हिस्सा) लेने जाते हैं। बड़े-बड़े और बड़ा काम करे और कोई बड़ा लाभ होना लगता है। इसी प्रकार जिसमें लाभ (की) चीज़ हो, उसमें सब भाग लेने जाते हैं। कहो, समझ में आया? यह तो वीतरागभाव का लाभ है। इसमें कौन लाभ लेने न जाये? ऐसा कहते हैं। श्रावक है, गृहस्थाश्रम में है, विकल्प होता है परन्तु उसे उस प्रकार की दृष्टिसहित उसे क्षमादिक का भाव रखना चाहिए। समझ में आया? गृहस्थाश्रम छूट न सके, तब तक मुनिपना न ले परन्तु उसके प्रमाण में उसे करना चाहिए।

२- मान कषाय का त्याग करके कोमलता धारण करना... कोमलता। नरमायी.. नरमायी.. नरमायी। यह सम्यक्भानसहित की कोमलता, हों! अकेली प्रकृति की साधारणा कोमलता हो, वह यहाँ गिनना नहीं। कितनों का स्वभाव ऐसा साधारण, कोमल, शान्त दिखे, मौन जैसा दिखायी दे। अन्तर के ज्ञान के चैतन्य के भानपूर्वक मार्दवता, कोमलता, निर्मानता करना, इसका नाम दूसरा उत्तम मार्दव धर्म कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

३- मायाचार का (कपट का) त्याग करके सरलता धारण करना उत्तम आर्जव नाम का तीसरा धर्म है। कपट, कुटिलता छोड़ना। समझ में आया? 'निःशल्योव्रती' कपट आदि न होने देना, वह आर्जव कहलाता है। **४- लोभ का त्याग करके सन्तोष धारण करना शौच नाम का चौथा धर्म है। शौच का अर्थ शुद्धि है। यह शुद्धि दो प्रकार की है - १. बाह्यशुद्धि, २. अन्तरङ्गशुद्धि। स्नानादि में शरीर को पवित्र रखना बाह्यशुद्धि है...** यह तो ठीक। **और लोभ कषाय का त्याग करना अन्तरंगशुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धि करना ही शौचधर्म है।** वह बाहर का निमित्त लिया न? शरीर में वह तो शरीर का... यह तो स्वाध्याय आदि में उसकी अशुचि न हो, इसके लिये बाहर की-निमित्त की अशुचि का त्याग किया है।

बाकी धर्मी जीव को जहाँ ऐसा जहाँ देह छूटने का काल हो, अनेक प्रकार के,

अनेक प्रकार के व्यक्ति हों, शरीर की कैसी–कैसी क्रिया होती हो, मल–मूत्र शरीर में रह न सकते हों। अन्तड़ियाँ बन्द कोश छूट गये हों, अनेक प्रकार की प्रकृति इस जगत के जीवों की जाति है न? एक प्रकार की है धर्मी की? उसे उस समय समता रखना। शरीर का चाहे जो हो, अपने स्वरूप में शान्ति के सागर में अन्दर जाना। शान्ति लेने अन्तर के सागर में जाना; बाहर की देह की स्थिति हड्डियाँ हैं, वह तो चमड़ा है। कैसे उसकी दशा होना, वह तो उसके परमाणु की पर्याय के काल में वह होती है। उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है और वह कहीं आत्मा को बाधक भी नहीं है। समकिती जीव को भी अनेक प्रकार के प्रकृतिवाले असाता के उदय होते हैं न? समझ में आया? तो उनकी दरकार नहीं करना, आत्मा की दरकार करना। कहो, समझ में आया?

यहाँ एक विचार योग्य बात यह है कि यह दोनों प्रकार की शुद्धियाँ गृहस्थ–श्रावक की अपेक्षा से ही हैं,... लो! वह व्यवहार कही न? **मुनि की अपेक्षा से नहीं हैं; कारण कि मुनिमहाराज के तो अन्तरङ्ग शुद्धि की ही मुख्यता है।** ऐसा कहा।

५– दूसरे को दुःख उत्पन्न करनेवाला, निन्दनीय कपटी वचन नहीं बोलना सत्य कहलाता है... लो, यह पाँचवाँ धर्म है। **दूसरे को दुःख उत्पन्न करनेवाला, निन्दनीय कपटी वचन नहीं बोलना सत्य कहलाता है और यही पाँचवाँ उत्तम सत्य धर्म है।**

६– पंचेन्द्रिय के विषयों को तथा मन के विषय को रोकना और छह काय के जीवों की हिंसा न करना उसी को संयम कहते हैं। बारह प्रकार का कहा न? पाँच इन्द्रिय, मन और छह काय। **व्रतों का ध्यान करने से, समितियों का पालन करने से,...** व्रतों का ध्यान करने से, समिति का पालन करने से, **कषायों का निग्रह करने से और मन–वचन–काय को वश में रखने से इस संयम का पालन होता है। यह छठवाँ उत्तम संयमधर्म है।** लो, बहुत अच्छी बात ली है।

७– जिस तरह सोने का मैल दूर करने के लिये अग्नि का ताव दिया जाता है.. सोने में मैल हो, उसे अग्नि का ताप दिया जाता है। **उसी तरह आत्मा के साथे लगे हुए कर्मों को दूर करने के लिए (सर्वज्ञ–वीतराग कथित) तप किया जाता है।**

वीतराग कथित तप किया जाता है। वीतराग ने कहा, तद्नुसार अन्दर में स्थिरता की जाती है।

मुमुक्षु : बात बराबर समुचित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समुचित है। यहाँ सोने में मैल है, उसे अपवास करके टालना। यह तो निमित्त से बात है। बारह प्रकार के तप की निमित्त से बात है। देखो! तप बारह प्रकार के हैं, यह सातवाँ तप (धर्म) है। यह बाहर के निमित्त का कथन है। अन्तर में उस प्रकार का विकल्प छूटकर स्थिरता हुई थी, इसलिए उसे वीतरागता का... समझ में आया? उस काल में उसे किस प्रकार का विकल्प छूटा था, वह बताने के लिए यह बात है।

मुमुक्षु : धर्म की अशुद्धता नाश करने का है....

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म की अशुद्धता नाश करना है। उसने अशुद्धता भी नाश नहीं की। वह तो कथन है। शुद्धता में एकाग्र होने पर अशुद्धता उत्पन्न न हो, उसे अशुद्धता नाश की, ऐसा कहने में आता है। अशुद्धता के नाश का कर्ता भी परमार्थ से आत्मा नहीं है, परन्तु कथन कैसे आवे? व्यवहार समझाना किस प्रकार? सभी पहलू छुड़ाने को यह सब भेद करके व्यवहार से समझाते हैं। कहो, समझ में आया?

८- लोक में तो आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान देने को त्यागधर्म कहते हैं, परन्तु यह त्याग वास्तविक-सच्चा त्याग नहीं है। क्रोधादि कषायों का त्याग करना है वही सच्चा त्याग है। यह त्याग कहते हैं न? वह त्याग नहीं। वास्तव में तो अकषायभाव में रहना और कषाय का थोड़ा सा अभाव (होना), उसे त्यागधर्म कहते हैं। **इसलिए प्रत्यक्षरूप से...** आया न यह? **मुनिराज कोई दान नहीं करते तो भी वास्तव में कषायों का त्याग करने के कारण वे ही सच्चे दानी हैं...** लो। मुनि अपने आनन्द में रमते हैं - सम्प्रदान। वह अपना आनन्द दान स्वयं करते हैं और लेते हैं। सम्प्रदान, षट्कारक आते हैं न? आहा..हा..! भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव के आनन्द से भरपूर पदार्थ है, उसे अन्तर में एकाग्र होकर, दान-आनन्द का प्रगट करना और उस आनन्द को अपने में रखना, इसका नाम दान है। वह सच्चा दान यह है। वे मुनि स्वयं अपने को दान देते हैं।

जिस समय जिस जीव के लोभ कषाय का त्याग हो गया, उसके बाह्य

पदार्थों का तो त्याग हो ही गया, क्योंकि लोभ कषाय छोड़े बिना बाह्य वस्तुओं का त्याग नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध हुआ... वापस बाह्य त्याग हुआ, उसमें लोभ छूटा ऐसा नहीं। यहाँ तो लोभ कषाय छूटा, इसलिए वह छूटा, ऐसा लेना। **(तत्त्वज्ञान के बल से)** देखा? **(तत्त्वज्ञान के बल से) लोभादि कषायों का त्याग करना...** आत्मा रागरहित, विकल्परहित है, ऐसे निर्विकल्पस्वरूप के ज्ञान के बल द्वारा राग का, क्रोधादि का अभाव करना। **वही सच्चा उत्तम त्याग है और वही दान है।** दान में से निकाला है। समझ में आया?

९– ममत्वबुद्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है। चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह तथा दश प्रकार के बाह्य परिग्रह – इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है।

१०– संसार के सर्व पदार्थों से मन की वृत्ति हटाकर केवल एक आत्मा में ही लीन करना, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा। ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा। ऐसे ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप में चर अर्थात् रमना, उसका नाम ब्रह्मचर्य कहने में आता है। समझ में आया? काया से, मन से पालन करे, वह शुभ विकल्प है, वह पुण्यरूप भाव है। ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा, वह अतीन्द्रिय आनन्द में रमे। ब्रह्मचर्य –चरे, उसका नाम ब्रह्मचर्य कहा जाता है। कहो, समझ में आया? एकदेश श्रावक और सर्वदेश से मुनि।

यह दशा तभी हो सकती है, जब आत्मा पञ्चेन्द्रिय के विषयों को रोकने में समर्थ हो, विशेषतः स्पर्शेन्द्रिय के विषय अर्थात् कायवासना को जीतने में... यह ब्रह्मचर्य है? समर्थ हो जाये। **उस कायवासना का त्याग तभी हो सकता है, जब स्त्री मात्र का त्यागी हो जाय अर्थात् संसार की स्त्री मात्र का मन–वचन–काय से त्याग करे। परन्तु ऐसा त्याग तो केवल एक मुनि महाराज ही कर सकते हैं; श्रावक तो एकदेश त्याग कर सकता है अर्थात् स्व–स्त्री में सन्तोष रखकर, अपनी स्त्री के अलावा संसार की शेष समस्त स्त्रियों को माता, भगिनी अथवा पुत्री समान जानता है–यही एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन है।**

भावार्थ : इस प्रकार यह दशलक्षणधर्म का वर्णन किया। इन धर्मों का पालन करना प्रत्येक प्राणी का मुख्य कर्त्तव्य है,... कहो, समझ में आया? **कारण कि यही दशधर्म मोक्षमार्ग का साधन करने के लिये मुख्य कारण हैं।**

गाथा - २०५

बारह भावनाओं का निरूपण

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्मः।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः।।२०५।।

अध्रुव अशरण भव एकत्व, अन्यताशुचि आस्रव।
संवर निर्जरा लोक बोधि, कठिन वृष अनुप्रेक्ष्य नित।।२०५।।

अन्वयार्थ : (अध्रुवम्) अध्रुव, (अशरणम्) अशरण, (एकत्वम्) एकत्व, (अन्यता) अन्यत्व, (अशौचम्) अशुचि, (आस्रवः) आस्रव, (जन्मः) संसार, (लोक-वृषबोधिसंवरनिर्जराः) लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा (एताद्वादशभावना) इन बारह भावनाओं का (सततम्) निरन्तर (अनुप्रेक्ष्याः) बारम्बार चिन्तवन और मनन करना चाहिए।

टीका : 'अध्रुवं अशरणं जन्म एकत्वं अन्यता अशौचं आस्रवः संवरः निर्जरा लोक बोधि वृषः इति द्वादश अनुप्रेक्षाः सततं भावनीयाः।' - अर्थ :- १- अनित्य भावना - संसार की समस्त वस्तुएँ शरीर, भोगादि सभी अनित्य-नाशवान हैं, आत्मा नित्य है, ध्रुव है; इसलिए अध्रुव वस्तु से प्रीति छोड़कर ध्रुव स्ववस्तु में चित्त लगाना, इसी को अनित्य भावना कहते हैं।

२- अशरण भावना - इस जगत में कोई किसी का शरण नहीं है, सभी प्राणी काल के आधीन हैं, काल से बचानेवाला कोई नहीं है। व्यवहारनय से चार शरण हैं - अरहन्त का शरण, सिद्ध का शरण, साधु का शरण है, और जिनधर्म का शरण, परन्तु वास्तव में निश्चयनय से केवल अपना आत्मा ही शरण है; अन्य कोई नहीं। ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) विचार निरन्तर करना - यह दूसरी अशरण भावना है।

३– संसार भावना – संसार बहुत दुःखरूप है, चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है। नरकगति में तो प्रगटरूप छेदन, भेदन, ताड़न, तापन, शूलारोपण आदि अनेक दुःख हैं। और तिर्यंचगति में भूख, प्यास, अतिभार लादना इत्यादि दुःख हैं, मनुष्यगति में भी अनेक चिन्ताएँ, बहुत खेद इत्यादि अनेक दुःख हैं, देवगति में भी विषयवासना है, बड़े देवों की बड़ी ऋद्धि देखकर छोटे देव व्याकुल होते हैं, देवों की आयु दीर्घ तथा देवांगनाओं की आयु अल्प होने से उनके वियोग में देवों को अवश्य दुःख होता है, मृत्यु के पूर्व छह महीने पहले से गले की माला मुरझाने लगती है, तब से उस देव को महा मोहवश अत्यन्त खेद और दुःख होता है, इत्यादि प्रकार के देवगति में भी बहुत दुःख हैं। सुख तो एकमात्र पंचम गति अर्थात् मोक्ष में है (वहाँ निज आत्मा से ही उत्पन्न और अक्षय ऐसा अनन्तानन्त काल तक पूर्ण आनन्दमय अतीन्द्रिय सुख है) अतः प्राणीमात्र को चतुर्गतिरूप संसार से उदासीन होकर पंचम गति के प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। ऐसा सदैव चिन्तवन करते रहना, वही तीसरी संसार भावना है।

४– एकत्व भावना – यह आत्मा सदा अकेला ही है, जन्म में तथा मरण में सदा अकेला है, इसका कोई संगी–साथी नहीं है। यह सुख भोगने में अकेला, दुःख भोगने में अकेला, संसार–भ्रमण करने में अकेला, मोक्ष प्राप्त करने में अकेला, इस प्रकार यह आत्मा त्रिकाल अकेला ही है, इसका कोई साथी नहीं है – इस प्रकार निरन्तर विचार करना एकत्व भावना है।

५– अन्यत्व भावना – संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब जुदे–जुदे हैं, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में मिला हुआ नहीं है – (मिला हुआ नहीं था और कभी मिलेगा नहीं) मन–वचन–काय, यह सभी आत्मा से भिन्न हैं। जब यह शरीर, मन और वचन भी आत्मा से भिन्न हैं तो यह प्रगटरूप से भिन्न घर, मकान वगैरह एक कैसे हो सकते हैं? (अतः शरीरादि से निर्मोही बनकर, पर–भावों से अपना भिन्नत्व जानकर आपमें ही लीन होना योग्य है।) इस प्रकार वस्तुस्वरूप जानकर बारबार चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

६– अशुचि भावना – यह शरीर सदैव नवद्वार से बहते हुए मल–मूत्र का खजाना महा अशुचिरूप है और आत्मा ज्ञानमय महा पवित्र है, तो आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? इस तरह बारबार चिन्तवन करना अशुचि भावना है।

७– आस्रव भावना – ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय, १५ योग – ये आस्रव के ५७ भेद हैं, उनके द्वारा यह जीव हमेशा कर्मों का आस्रव किया करता है। शुद्ध भावरूप संवर के द्वारा जब तक उन आस्रवों का त्याग न हो, तब तक यह जीव संसार में से छूट सकता नहीं अर्थात् जीव को यह आस्रव ही दु:खदायक है, ऐसा (स्वसन्मुखता –सहित) बारम्बार चिन्तवन करना, उसे आस्रव भावना कहते हैं।

८– संवर भावना – (स्वसन्मुखतारूप शुद्धि के द्वारा ही) कर्मों के आगमन को रोकना ही संवर है। यह संवर ही संसार से छुड़ानेवाला और मोक्ष ले जानेवाला है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह, पाँच प्रकार का चारित्र – यह सभी संवर के कारण हैं। सभी प्राणियों को इन सर्व कारणों को धारण करके संवर की प्राप्ति करना चाहिए। ऐसा बार–बार चिन्तवन करना ही संवर भावना है।

९– निर्जरा भावना – (सर्वज्ञ वीतराग कथित) तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश क्षय करना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो सर्व संसारी जीवों के सदैव हुआ ही करती है, परन्तु अविपाक निर्जरा तो शुद्धभावरूपी तप आदि करने से ही होती है और अविपाक निर्जरा के बिना यह जीव संसार से मुक्त हो सकता नहीं। अत: मोक्षार्थी जीवों को यह अविपाक निर्जरा अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार बार–बार चिन्तवन करना ही निर्जरा भावना कहलाती है।

१०– लोक भावना – (इस लोक में तीन भाग हैं – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। यह तीनों लोक तीन सौ तैतालीस राजू घनाकार, चौदह राजू ऊँचा किसी के द्वारा बनाए नहीं गये हैं और कभी इनका नाश नहीं होगा, अत: अनादि निधन, स्वयंसिद्ध, अविनाशी हैं। अनन्तानन्त लोकाकाश में उसका अनन्तवाँ भाग लोकाकाश है, वह षट् द्रव्यात्मक है। अधोलोक में तो सातवें नरक के नीचे एक राजू पर्यन्त स्थावर ही हैं, वहाँ त्रसराशि नहीं है तथा शेष छह राजू में सात नरक हैं, उनमें रहनेवाले नारकी महादु:खी हैं। इन नरकों के ऊपर भवनवासी तथा व्यन्तर देव हैं, यह अधोलोक की संक्षिप्त रचना बतायी। अधोलोक में सूक्ष्म स्थावर तो सर्वत्र हैं तथा बादरस्थावर किसी के आधार से हैं। त्रस जीवों में निचले स्थान में नारकी और ऊपर के स्थान में भवनवासी तथा व्यन्तर हैं, अन्य किसी जाति के त्रस जीव नहीं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप–समुद्र हैं, उनमें

ढाई द्वीप और दो समुद्र, मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है, उसके आगे मनुष्य का संचार नहीं है। व्यन्तर, भवनवासी, ज्योतिषी – यह तीन प्रकार के देव और तिर्यंच सब मध्यलोक में हैं, उनमें जलचर पंचेन्द्रिय तथा विकलत्रय यह तो ढाई द्वीप, तथा अन्त का स्वयंभूरमण द्वीप आधा पहली तरफ का और अन्त का स्वयंभूरमणसमुद्र सारा इनमें है। शेष के असंख्यात द्वीप समुद्रों में विकलत्रय नहीं है। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभूरमण – इन तीन ही समुद्रों में हैं; अन्य स्थानों में नहीं हैं। इस मध्यलोक में अनेक प्रकार की रचनायें हैं उनका विस्तार कहाँ तक कहा जाय। सुमेरुपर्वत के शिखर पर्यन्त एक लाख योजन मध्यलोक ऊँचा है। ज्योतिषचक्र सात सौ नब्बे योजन से लेकर नौ सौ योजन तक है। मध्यलोक के ऊपर स्वर्गलोक है; वहाँ सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंचानुत्तर हैं; नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंचानुत्तर में अहमिन्द्र हैं, वहाँ देवियाँ नहीं हैं, सभी ब्रह्मचारी हैं। स्वर्गलोक में स्वर्गवासी देव तथा पाँच स्थावर ही हैं, अन्य त्रसजीव नहीं हैं। पंचानुत्तर के मध्य सर्वार्थसिद्धि है, जिसके समान संसार में और कोई दूसरा स्थान नहीं है, इसी सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक है जहाँ अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान हैं, अजर अमर अविनाशी हैं। इस सारे लोक में यह संसारी जीव अनादि काल से इन तीनों लोक में अपनी भूल से भ्रमण कर रहा है, उसे महान अपरिमित दुःख है, अंशमात्र भी सुख नहीं। सुख का धाम तो सिद्धलोक है। सब लोक का आभूषण शुद्ध आत्मा ही सार है, शेष सर्व असार है। इस चार गतिरूप लोक का निवास कब टूटे? ऐसा बारम्बार विचार करना, उसे ही लोक भावना कहते हैं।

११– बोधिदुर्लभ भावना– (संसार में निगोदराशि से व्यवहारराशि में आना दुर्लभ है, फिर एकेन्द्री जीव, पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय से निकलकर त्रसकाय में आना दुर्लभ है, उसमें भी दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय होना दुर्लभ है, तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय होना दुर्लभ है, चार इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है, असैनी से सैनी पंचेन्द्रि होना दुर्लभ है, पंचेन्द्रिय तिर्यंच से मनुष्य होना अति दुर्लभ है। मनुष्य में भी आर्यखण्ड, उत्तम कुल, दीर्घायु, धर्मबुद्धि पाना अत्यन्त दुर्लभ है; पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति और श्रावक के व्रत अति दुर्लभ हैं, श्रावक के व्रत से मुनि के व्रत धारण करना अत्यन्त दुर्लभ है तथा मुनिव्रत में भी शुभोपयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की दशा प्राप्त करना महान महान दुर्लभ है।) संसार

में सभी वस्तुयें सुलभ हैं अर्थात् शीघ्र ही प्राप्त हो सकती हैं परन्तु केवलज्ञान का प्राप्त करना परम दुर्लभ है और केवलज्ञान के बिना इस जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता, इसलिए प्रत्येक प्राणी को उस केवलज्ञान की प्राप्ति करने में तत्पर और प्रयत्नशील होना चाहिए। जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक यह आत्मा संसार में भ्रमण करता ही रहेगा, इसलिए हे आत्मा! यदि तुझे वास्तविक सुख की प्राप्ति करनी हो तो तू शीघ्र ही चार घातियाकर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर। इस प्रकार स्वसन्मुखता-सहित बारम्बार चिन्तवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

१२- धर्म भावना- वास्तव में जीव को सुख देनेवाली वस्तु एक धर्म ही है, क्योंकि धर्म नाम स्वभाव का है। प्रत्येक वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। (जीव वस्तु का स्वभाव चैतन्य है, वही परम धर्म है) जब यह द्रव्य अपने स्वभाव में परिणमन करता है, तभी यह सुखी और शुद्ध कहलाता है। यह आत्मा का जो ज्ञानगुण है, वही उसका धर्म है। जब तक यह आत्मा अपने ज्ञानधर्म अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म का पूर्ण विकास नहीं करता, तब तक इस संसार-बन्धन में से नहीं छूट सकता।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भी आत्मा के दश धर्म हैं तथा जीवदया भी आत्मा का धर्म है। यद्यपि यह धर्म प्रत्येक संसारी आत्मा में विराजमान हैं तो भी जब तब आत्मा में इनका विकास न हो, तब तक यह आत्मा संसाररूपी जेल में से छूट नहीं सकता अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार बारबार चिन्तवन करना धर्मभावना है। इस प्रकार बारह भावनाओं का वर्णन किया। यह बारह भावनाएँ वैराग्य की जननी हैं क्योंकि संसार से वैराग्य उत्पन्न करने में यह प्रधान सहायक हैं। इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करने से वैराग्य की पुष्टि होती है, अतः इनका सदैव चिन्तवन करो।।२०५।।

गाथा २०५ पर प्रवचन

बारह भावनाओं का निरूपण अब बारह भावना। पूरी सब बात एक-एक ली है। फिर बाईस परीषह लेंगे।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्मः।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः।।२०५।।

जन्म अर्थात् संसार। जन्म अर्थात् संसार लिया। संसार भावना देखो न! यहाँ जन्म–संसार।

१– अनित्य भावना – अध्रुव है न? अध्रुव कहो या अनित्य कहो। **संसार की समस्त वस्तुएँ शरीर, भोगादि सभी नाशवान हैं,...** ऐसा आत्मा के लक्ष्य से चिन्तवन करना, वह अनित्य भावना है। नित्यस्वरूप भगवान आत्मा के भानसहित अनित्य की विचारना को अनित्य भावना कहते हैं। नित्य भगवान आत्मा के भान बिना अकेले विकल्प करे, उसे कहीं अनित्य भावना नहीं कहते। समझ में आया? नित्यानन्द प्रभु आत्मा, ध्रुव वस्तु नित्य है, उसकी दृष्टिपूर्वक परवस्तु नाशवान है, शरीर नाशवान है। आदि विचार, विकल्प अथवा स्थिरता। समझ में आया? देखो! यह लिखा है। **आत्मा नित्य है, ध्रुव है...** देखो, इसमें यही आया। **इसलिए अध्रुव वस्तु को छोड़कर ध्रुव वस्तु में चित्त लगाना...** लो। इन नाशवान में से चित्त को हटाकर, ध्रुव भगवान आत्मा में चित्त को जोड़ना, इसका नाम अनित्य और अध्रुवभावना कहने में आता है।

२– अशरण भावना – इस जगत में कोई किसी का शरण नहीं है, सभी प्राणी... लो। अनित्य में। अनित्य में आता है न? तत्त्वार्थसार में आता है। माता ने बालक को जन्म दिया। गोद में लेने से पहले बालक को अनित्य ने गोद में ले लिया है। ख्याल न करे कि यह क्या जन्मा? ऐसा ख्याल करने से पहले जो शरीर जन्मा है, उसे अनित्य ने गोद में ले लिया है। अनित्य की गोद में शरीर है। कहो, समझ में आया? उस समय तुरन्त मर भी जाये। अनित्य... अनित्य... अनित्य। भगवान आत्मा नित्य और ध्रुव है। सत्.. सत्.. शाश्वत प्रभु, आत्मा ध्रुव, उसके लक्ष्य से ऐसे अनित्य की भावना करके नित्य में आना। यह अशरण की बात है।

इस जगत में कोई किसी का शरण नहीं है, सभी प्राणी काल के आधीन हैं,... आहा..हा..! बड़े चक्रवर्ती और वासुदेव, काल आया... हाथ पड़ गया नीचे। कहो, समझ में आया? लक्ष्मण सिंहासन पर बैठे थे। देव ने परीक्षा की, (उसने कहा), रामचन्द्रजी स्वर्ग पधारे हैं। ऐसी परीक्षा की। (ऐसा) नहीं था। राम.. राम.. राम.. बोलने लगे, देह छूट गयी। कहो, योद्धा, तीन खण्ड के धनी। राम और लक्ष्मण, उत्तम पुरुष।

रामचन्द्रजी पुरुषोत्तम पुरुष हैं। ये भी बलदेव-वासुदेव हैं न? मोक्ष जानेवाले हैं। सिंहासन पर बैठे। कोई रोग नहीं था और वासुदेव... केसरिया लड्डू सिंह खाये। सिंह केसरिया लड्डू। क्या हुआ उस लड्डू का? सिंहासन पर बैठे थे। देव ने आकर परीक्षा की। दोनों भाईयों का प्रेम बहुत है। लक्ष्मण को राम के बिना नहीं चलता, क्षण में राम को लक्ष्मण के बिना नहीं चलता। देव कहता है परीक्षा करेंगे। आहा..हा..! बड़े बँगले तो। देव थे न, बड़े राजा थे न। बँगले में कोलाहल कराया। रामचन्द्रजी के बँगले में उसने कोलाहल सुनवाया और आकर कहता है कि रामचन्द्रजी स्वर्ग पधारे हैं। इतना सुनते ही... कोई रोग नहीं, हों! कोई चिह्न नहीं, कुछ नहीं... रा.. रा.. ऐसा नहीं हुआ। राम (शब्द पूरा) नहीं हुआ। देह छूट गयी। सिंहासन में देह छूट गयी। देखो अनित्यता। आहा..हा..! उठे होंगे तब तो कितना होगा? दूसरों को कैसा करेंगे और यह क्या होगा? वासुदेव जैसे पुरुष। मोक्षगामी है। है न? थोड़े काल में मुक्ति। अभी यह तो अनित्यता की विचित्रता कितनी! ऐसा बताते हैं।

मुमुक्षु : अनित्यता बताकर नित्यता पर ले जाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा। यह कितनी स्थिति कि वासुदेव जैसे पुरुष, उनका शरीर कैसा होगा? समझ में आया? वज्रनाराचसंहनन। ऐसे एक सिंह निकला हो और सिंह की पूँछ पकड़े तो वहाँ पेशाब निकल जाये। इतनी तो उनकी ताकत। ऐसे दबावे, वहाँ पेशाब निकल जाये। कान बुट्टी पकड़े, वहाँ ऐसा करे तो वह ऐसे हो जाये। रा.. नाशवान.. ओहो..हो..! ऐसी अनित्य विचारणा करके ध्रुव पर आना। समझ में आया? यह शरण। कोई किसी को शरण नहीं। काल से बचानेवाला कोई नहीं।

व्यवहारनय से चार शरण हैं - अरहन्त का शरण, सिद्ध का शरण, साधु का शरण है, और जैनधर्म का शरण, तथा वास्तव में निश्चयनय से केवल अपना आत्मा ही शरण है। कहो, अरिहन्त भगवान वहाँ कहाँ शरण देने आवें, ऐसा है? आत्मा अन्दर में उसके स्वभाव की शान्ति पर जाये तो उसे शरण मिले, ऐसा है। बाकी बाहर में कहीं मिले ऐसा नहीं। **ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) विचार करना - यह दूसरी अशरण भावना है।** ऐसी भावना मुनि को बहुत करना, श्रावक को भी एकदेश करना। यह सब संवर के प्रकार हैं।

विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय'। मुनि का मुख्यरूप से अधिकार है। गौणरूप से श्रावक का भी इसमें अधिकार है। धर्मात्मा बारह भावना भाता है, ऐसा कहते हैं। पर से वैराग्य के लिये, पर से वैराग्य की पुष्टि के लिये बारह भावना बारम्बार भाता है, जिससे स्वभाव के आश्रय में-अस्ति में आश्रय करने की अनुकूलता पड़े। समझ में आया? यह बारह भावना भाने से संसार आदि से वैराग्य होता है और आत्मा के अन्तर के स्वभाव के आश्रय को अनुकूल पड़े। समझ में आया? उसके लिये धर्मात्मा भावना भाता है। दो भावना आ गयी।

३- संसार भावना - संसार बहुत दु:ख रूप है... जरा भी सुख नहीं। बहुत दु:खरूप है। बहुत दु:ख है।

मुमुक्षु : बहुत अर्थात् थोड़ा सुख है और थोड़ा दु:ख....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ (कहा)? बहुत दु:खरूप है, ऐसा कहा, फिर उसमें और कहाँ आया? कहो, पोपटभाई! बहुत दु:ख है, उसमें थोड़ा सुख आया? बहुत अर्थात् उसका अर्थ अकेला दु:खरूप है। चारों गति। आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप से विपरीत चार गति है। इन चारों गतियों में आकुलता है। उसकी बात करते हैं। ऐसे बारम्बार विचार करे तो पर की ओर से वैराग्य हो, स्वसन्मुख आश्रय में जुड़े। समझ में आया?

चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है। एक मोक्ष में सुख है और उस सुख का उपाय आत्मा के आश्रय से होता है, ऐसा कहना है। **नरकगति में तो प्रगटरूप...** संयोग से बात करते हैं न? **ताड़न, भेदन, छेदन आदि अनेक दु:ख हैं।** नरक में ऐसे दु:ख हैं। संयोग से बात करे न, बात करे तो। है तो वहाँ आकुलता का दु:ख, परन्तु उसे यह ताड़न, छेदन, भेदन आदि होता है, उसमें उसे स्वयं से आकुलता होती है। कहो, ऐसे नरक में

अनन्त बार गया था, ऐसा विचार करे, कहते हैं। अनादि का आत्मा है, ऐसे भव अनन्त किये हैं। अकेला प्रगट दुःख।

तिर्यंचगति में भूख, प्यास, अतिभार लादना इत्यादि दुःख हैं,... ऐसी बारम्बार भावना करे तो गति में से उसे वैराग्य हो। समझ में आया? **मनुष्यगति में भी अनेक चिन्ताएँ,...** अनेक-अनेक चिन्ता। कमाने की, खाने की, पीने की, लड़के सम्भालने की, इज्जत की, पैसे की, मकान की, अपने योगप्रमाण व्यवस्था की। ऐई! चिन्ता.. चिन्ता.. चिन्ता.. चिन्ता.. बराबर होगा? वापस योग्यता प्रमाण कन्या न मिले तो उसकी चिन्ता, योग्यता प्रमाण लड़का वरण नहीं करे तो चिन्ता, योग्यता प्रमाण अपनी कन्या का विवाह न हो तो चिन्ता, साधारण घर मिले तो... ऐई! चिन्ता.. चिन्ता.. चिन्ता। बहुत दुःख है। मनुष्य में भी बहुत दुःख है। सुख किंचित् भी नहीं, हों! मनुष्यगति में मनुष्यगति के कारण जरा भी सुख नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी सुख नहीं। ऐसा होगा? कुछ ठीक हो, लड़का अनुकूल, पैसा अनुकूल।

मुमुक्षु : वह बढ़ता ही रहता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! धर्म, अर्थ और काम चारों मिले कहते हैं फिर? वह मिठास से बोलता है न कितनी बार। कहीं धूल में भी नहीं। मनुष्यगति स्वयं दुःखरूप है ऐसा यहाँ तो सिद्ध करना है। समझ में आया? फिर उसके साधनों में विकल्प और चिन्ता उठे, वह तो अकेली दाह है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....मनुष्यगति की बात जरा लम्बाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी तिर्यंच का आता है न? आ गया? आ गया। तिर्यंच में तो निगोद का अनन्त दुःख। आहा..हा..! एक शरीर में अनन्त जीव और अनन्तवें भाग में ज्ञान का उघाड़ रह गया। अनन्तानुबन्धी आदि कषाय की आकुलता। प्रकाश का पूर प्रभु! उसकी पर्याय में ऐसी आकुलता। निगोद के दुःख, नरक की अपेक्षा अनन्तगुने हैं। नरक के संयोग से लोगों को भासित होते हैं। निगोद में अन्तर की, स्वभाव की हीनता का

परिणमन (हुआ है), वही महा दु:ख और आकुलता है। समझ में आया? एक श्वास में अठारह भव लगातार.. लगातार.. लगातार.. मरे और जन्मे, मरे और जन्मे। अनन्त जीव कहाँ जायें? बाहर निकलने के तो असंख्य स्थान हैं, असंख्य जीव हैं। समझ में आया? उसी–उसी में अनन्त मरें और जीव को उसी–उसी में स्थल है। उसमें से निकलनेवाले तो असंख्यात जीव हैं। अनादि काल से नित्य निगोद में ऐसे अनन्त भव किये। उस भव में कहीं सुख है नहीं – ऐसी बारम्बार उसकी भावना (भाना)।

हरितकाय निगोद देखो न यह! अभी वनस्पति चारों ओर बिछ गयी है। एक निगोद के अनन्तवें भाग का एक अंश थोड़ा भाग आवे तो पूरे ढाई द्वीप में पसर जाये। प्रत्येक वनस्पति से ढाई द्वीप व्याप्त हो जाये। कितने जीव! समझ में आया? उसमें दु:ख ही है। निगोद में आलू, शकरकन्द, यह ऐसा दिखता है कि ताजा पड़े हैं परन्तु अन्दर में, पर्याय में हीन दशा का महादु:ख है। अवस्था का हीनपना हुआ है, वहाँ मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के कषाय का रस बहुत है। स्थिति भले थोड़ी है। समझ में आया? निगोद में कर्म की स्थिति थोड़ी। मिथ्यात्व की एक सागर की स्थिति। स्थिति पर बात नहीं, उसका रस बहुत कठोर है। समझ में आया?

निगोद के जीव को अधिक स्थिति पड़े तो एक सागरोपम। एक ही सागर, मिथ्यात्व की। स्थिति पर बात नहीं, उस रस पर है। यहाँ अनन्त कोड़ाकोड़ी की स्थिति पड़े या सत्तर कोड़ाकोड़ी की, परन्तु फिर भी स्थिति लम्बी। परन्तु यहाँ रस थोड़ा है, वहाँ रस / अनुभाग तीव्र। उतनी आकुलता है। एक शरीर में अनन्त। वह सकड़ाई का दु:ख नहीं है, हों! उसकी हीन परिणमनदशा अनन्त गुण की, वह ज्ञान के अक्षर में अनन्तवाँ भाग उघाड़ रह गया। आनन्द का तो बिल्कुल अभाव। श्रद्धा अत्यन्त विपरीत। एक ही शरीर का संयोग, शरीर का फेरफार.. फेरफार करना। समझ में आया? जैसे राजा हो तो उसे कितने दो सौ–तीन सौ तो जूतों की जोड़ियाँ होती हैं। जूतों की।

मुमुक्षु : इतने किसलिए रखता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसलिए यह? उसे एकदम ममता है कि यह बाहर घूमने जायें तो अमुक पहनें, अमुक घूमने जाये तो अमुक पहने। वह सपाट कहलाता है। ऐसी सब भाषा है न। वह सब अलग–अलग प्रकार की। यह भावसिंहजी गुजर गये। तीन सौ जोड़े

निकले थे। तीन सौ जूतों की जोड़ियाँ। क्या करे? ममता है तो बदला-बदल, बदला-बदल। महिलाओं को देखा है? महिलाओं के पास दस-पन्द्रह प्रकार की साड़ियाँ होती हैं। घर में पहनने की दूसरी, बाहर बैठने की दूसरी, पूरे दिन बैठने की दूसरी, जंगल जाने की दूसरी, मिलने जाने की दूसरी, यह सब बक्सों में अलग-अलग साड़ियाँ होती हैं। साड़ला समझ में आता है? साड़ी। इतनी ममता है कि उन्हें बदला-बदल, बदला-बदल (करती हैं)। तो उसको तो इतनी ममता है कि शरीर अन्दर में बदला करता है। उसे दूसरा तो कुछ है नहीं। कहो, समझ में आया?

ऐसे निगोद के, तिर्यंच के दुःख। यह पंचेन्द्रिय (तिर्यंच को) काटे, छेदे, कैद करे, इस पिंजरे में चूहे को पकड़कर गरम-गरम पानी ऊपर डाले, लो! उबलता हुआ गर्म पानी। हमारे वहाँ पालेज में नजर से देखा हुआ है। दुकान के साथ में नरोत्तम की दुकान। बड़ोदरावाला। लोटियावाला। उसका व्यक्ति था, वह चूहों को पकड़कर ऊपर गरम पानी डाले। अरे! परन्तु यह क्या करता है तू? यह तो बहुत समय (पहले) की बात चलती है। (संवत्) १९६२-६३ की। उबलता हुआ पानी डाले। वे जरा मुर्दे जैसे हों, वहाँ अन्दर से खींच ले। आहा..हा..! कितनी आकुलता! लोग ऐसा मानते हैं कि उसे (होता है)। ऐसा नहीं, इस जीव को ऐसा अनन्त बार हो गया है। इसने आँख बन्द करके कभी खोली ही नहीं। समझ में आया? राग की एकताबुद्धि में आँख बन्द कर दी है। कहो, सेठी। आहा..हा..!

ऐसा वैराग्य भावे तो वह बाहर से हटे और अन्तरस्वरूप सन्मुख की लीनता हो। ऐसी बात है। तीर्थंकर भी जब गृहस्थाश्रम में यह भावना भाते हैं। छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं, तथापि भावना। अरे! यह नहीं, यह नहीं। सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, तीन ज्ञान लेकर आये हैं। बारम्बार भावना भाते हैं कि अरे! यह क्या? हम इस भव में मोक्ष जानेवाले। इस स्थिति में क्या है? अरे! यह राग की स्थिति, यह आकुलता कब तक? ऐसे वैराग्य भावना भाते हैं। समझ में आया? मनुष्यपने में तो अनेक आकुलता है। पुत्र न हो तो चिन्ता, पुत्र हो तो पालन करने की चिन्ता, समानता की चिन्ता, लड़की न हो तो चिन्ता, हो तो चिन्ता, ठीक से विवाह में चिन्ता, ठीक न चला हो तो चिन्ता।

मुमुक्षु : चिन्ता का विषय नहीं परन्तु मजे का विषय.....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मजा कहाँ था? मजा कहाँ था? धूल में? जिसमें यह कहता है कि यह ठीक है, वह स्वयं चिन्ता है।

मुमुक्षु : पुण्यशाली हो, उसे तो विकल्प प्रमाण हुआ करे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी विकल्प प्रमाण नहीं होता। होवे तो बाहर का होवे न, आकुलता में कहाँ विकल्प का अभाव है? चिन्ता तो लगी पड़ी है। चिन्ता अग्नि। 'चिन्ता से चतुराई घटे, घटे रूप, गुण, ज्ञान। चिन्ता बड़ी अभागिनी, चिन्ता चिता समान।' आता है न कुछ? चिता समान। अग्नि समान है। सेठी! वह तो दुकान पर बैठे थे, तब बहुत सब पढ़ा था न? समझ में आया?

देवों की आयु दीर्घ... देखो! अब देव की वार्ता करते हैं। समझ में आया? **देवगति में भी विषयवासना है,...** विषय-वासना है, विषय की गन्ध है, वही दुःख है - ऐसा कहते हैं। विषय-वासना, वह स्वयं दुःख है, आकुलता है, प्रहार है। आत्मा की शान्ति पर प्रहार पड़ता है। समझ में आया? **बड़े देवों की बड़ी ऋद्धि देखकर छोटे देव व्याकुल होते हैं,...** बड़े वैभवशाली देव देखकर छोटे साधारण देव... अरे रे! हमें यह नहीं! ऐसे चिन्ता में सुलगते जाते हैं। समझ में आया? विषय की अग्नि के अंगारों में वे सिंकते हैं। लोगों को खबर नहीं। जैसे चना भाड़ में सिंकता है, भाड़ में चना सिंकता है, वैसे आकुलता में देव भी सिंकते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा ही कहा है, अरे! समकिती को भी जितना राग रह गया, उसका पुण्य-बन्ध हुआ और स्वर्ग में गया, वह विषय-वासना के अंगार से वहाँ भी दुःखी है, सिंकता है। आहा..हा..! जिसे अनुकूलता कहे, उस ओर का विकल्प अग्नि समान आकुलता है। आहा..हा..! भगवान आनन्दस्वरूप में से हटना, वह सब दुःखरूप विकल्प है। चाहे तो शुभ हो या चाहे तो अशुभ। समझ में आया? इस प्रकार धर्मात्मा को बारम्बार स्वभाव-सन्मुख होने के लिये, पर से वैराग्य की पुष्टि के लिये भावना करना चाहिए।

देवों की आयु दीर्घ तथा देवांगनाओं की आयु अल्प होने से उनके वियोग में देवों को अवश्य दुःख होता है,... लो! देवांगना छोटी उम्र की होती है। देव बड़ी उम्र के और उनकी उम्र की स्थिति में तो बहुत देवांगनायें मर जाती हैं, और नयी आती हैं, मर जाती हैं। उनके वियोग, प्रेम बँधा हो। वे चली जाये। इनका आयुष्य सागरोपम का हो,

उनका आयुष्य थोड़ा है। बहुत अधिक में अधिक हो तो पचपन पल्योपम। अधिक है नहीं। देव का सागरोपम। एक सागरोपम में, ऐसे पचपन पल्योपम, ऐसे तो दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाते हैं। समझ में आया? जिस देवांगना के साथ में असंख्य वर्ष प्रेम रहा हो, (उसकी) आयुष्य स्थिति पूर्ण हो। बैठा हो और स्थिति चली जाये और समाप्त। हाय.. हाय..! पचपन पल्य। परन्तु वह तो कितना? बहुत थोड़ा। दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम। यह तो बड़े में बड़ी बात की है, हों! बाकी देवांगनाओं की छोटी स्थिति होती है। अपनी उपस्थिति में ऐसी कितनी ही देवांगनायें अनेक मरती हैं और जाती हैं, मरती है और जाती है। ऐसा दुःख देव को है, भाई! संयोग-वियोग का दुःख। संयोग होवे तो भी आकुलता और वियोग होवे तो भी आकुलता।

मृत्यु के पूर्व छह महीने पहले से गले की माला मुरझाने लगती है... माला पहनी हो वह मुरझाये। ऐसे देखे कि ओहो..! आयुष्य पूर्ण होने को आया है। अब छह महीने में यहाँ से चले जाना है और कितने ही ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव तो गधे में अवतार धारण करते हैं। समझ में आया? और कितने ही तो ऐसे जीव होते हैं कि वनस्पति में उत्पन्न होते हैं, कोई पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, कोई पानी में उत्पन्न होते हैं। बस तीन में। अग्नि और वायु में नहीं। समझ में आया? बड़ा देव मरकर पृथ्वी में उत्पन्न हो। ममता की हो न वहाँ, पृथ्वी के साधन सब अच्छे-अच्छे देखकर। नहाने का पानी बढ़िया हो। ऐसी गृद्धि सेवन करे तो मरकर पानी में जाता है। देव मरकर पानी में। एकेन्द्रिय। देव मरकर वनस्पति। यह कोई लड़के अभी पूछते थे कि इस नीम में? कि नीम में नहीं आता। नीम बड़ा हुआ है न? देव मरे तो इसमें नहीं आता। वह तो ऊँचे सुगन्धित फूल गुलाब के, ऐसे में आता है। हल्की वनस्पति, हल्की पृथ्वी आदि में (नहीं आते)। देव मरकर आवे तो कोई हीरा हो, माणिक हो, ऐसे में आवे। साधारण में नहीं आवे। पोपटभाई! पानी में अपने ऐसा सुगन्धित पानी आदि हो, वहाँ आवे। हल्के साधारण पानी में नहीं आवे। वनस्पति में भी साधारण वनस्पति जो है, उसमें देव नहीं आवे। कोई सुगन्धी गुलाब के फूल हों तो, ऐसे आते हैं न? छोटे-छोटे फूल बहुत ऊँचे सुगन्धित (होते हैं)। उसमें देव आकर अवतरित होता है। कहाँ उसकी दो सागर की स्थिति और कहाँ वनस्पति की (स्थिति)? ऐसे अनन्त भव किये। एक आत्मा के स्व-आश्रय दृष्टि बिना पराश्रय में ऐसे-ऐसे अनन्त बार दुःख सहन किये। उसमें कहीं सुख है नहीं। कहो, समझ में आया?

खेद और दु:ख होता है, इत्यादि प्रकार के देवगति में भी बहुत दु:ख हैं। सुख तो एकमात्र पंचम गति अर्थात् मोक्ष में है। अत: प्राणीमात्र को चतुर्गतिरूप संसार से उदासीन होकर पंचम गति के प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। ऐसा सदैव चिन्तवन करते रहना, वही तीसरी संसार भावना है।

४– एकत्व भावना – यह आत्मा सदा अकेला ही है,... सदा अकेला है। कहीं दोकला है ? यह हीरालाल है या नहीं ? अरे ! भाई भाई करे तो वहाँ तो ऐसे–ऐसे हो जाये। भाई ! तुम अब रुको। तुम्हें अब मेरी कोई चिन्ता नहीं करना। जाओ, जाओ। ऐई ! पोपटभाई ! अरे ! गजब भाई ! कहते हैं कि अकेला ही है। उसमें जो भाई ! भाई ! करे, उसमें जो आकुलता आवे, वह दु:ख ही है। ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. ! यह तो तुम्हारा दृष्टान्त देते हैं, हों ! दूसरे सबको। तुम्हें सब अनुकूल है न ? आत्मा अकेला ही है। जन्म और मरण में अकेला ही है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : जन्म और मरण के बीच में ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बीच में अकेला। यह तो फिर देव तो साधारण बात कर दी। सदा पहली कर दी। 'जन्मते किसी ने न जाना, मरते कोई न रोनेवाला रे...' तीन खण्ड के धनी श्री कृष्ण जन्मते किसी ने नहीं जाना। गोकुल में जन्में। मरते समय कोई रोनेवाला नहीं। जंगल में अकेले। 'तरसे (प्यासे) तड़फड़े रे त्रिक में, नहीं कोई पानी का पिलावनहार रे। कोई गर्व न करना रे गात्र का।' ऐसी सज्झाय आती है। सज्झाय दुकान पर बहुत बोलते थे तब। चार सज्झायमाला रखी थी। न्यालचन्दभाई ! पहले से संस्कार थे न, इसलिए दुकान पर पूरे दिन और रात में सोने तक किया है। व्यापार तो अमुक काल। 'जन्मते किसी ने न जाना, मरते कोई न रोनेवाला रे। तरसे (प्यासे) तड़फड़े रे त्रिक में, नहीं कोई पानी का पिलावनहार रे। कोई गर्व न करना रे गात्र का। सहजानन्दी रे आत्मा।' ऐसा है। सज्झाय यह है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसी सज्झाय आती है। एक सज्झाय है। 'सहजानन्दी रे आत्मा, क्या सोता निश्चिन्त रे, मोहतणा रे रणिया भ्रमे।' यह सब सज्झाय है। तब बहुत की थी। कण्ठस्थ पढ़कर और कण्ठस्थ हो गयी थी। अब सब भूल गये। समझ में आया ? है यहाँ, सब तैयार है। सज्झाय चार है, यहाँ सब पड़ी है। 'सहजानन्दी रे आत्मा क्या सोता

निश्चिन्त रे, मोहतणा रे रणिया भ्रमे। जाग जाग मतिवन्त रे, ऐ लूटे जगत न जन्त रे। नाखी बांक अनन्त रे।' किसलिए विवाह किया था? (यह) करना पड़ेगा। किसलिए लड़का किया? करना पड़ेगा। (ऐसे) बांक डाले। यह तो सब पहले से (देखा है)। सेठी! 'नाखी बांक अनन्त रे। कोई विरला उगरन्त रे।' यह सब सज्झाय में आता है, सज्झायमाला में है, हों! 'सहजानन्दी रे आत्मा।' ए... न्यालचन्दभाई! सज्झायमाला में यह आता है। यहाँ सज्झायमाला है। निकालो न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, किसी को लगे कि यह तो सहजानन्दी का महाराज ने रचा लगता है। यह पहले से आता है। यह तो सब बहुत सज्झायों में। कितनी ही वैराग्य की तो मुखाग्र हो गयी है। जहाँ तक सोवे, वहाँ तक गाया ही करें, हम पढ़ा ही करते थे, उस समय, हों! छोटी उम्र में। वहाँ एक लिखा है, देखो। सामने अंक लिखा है। समझ में आया? वहाँ फिर दुकान पर भी हमारे साधु ऐसे हों कि या ऐसा हो तो हम दुकान छोड़कर चले जाते थे। हम तो इस प्रकार करते थे, यह सब करो तो करो। फिर कहे, भगत यह काम नहीं करे। भाई! नहीं काम करें हम, जाओ। सबेरे से शाम हमारी दुकान बन्द। उसमें कहीं है। उसमें लिखा हुआ था। सामने है न? सहजानन्दी सज्झाय लो, तुरन्त आया। १३० पृष्ठ पर। लो। पृष्ठ १२९ आया, देखो दूसरी अशरणभावना भायी। अशरणभावना की यह सज्झाय है।

'सहजानन्दी रे आत्मा सूतो कांईं निश्चिन्त रे। मोह तणा रे रणिया भमे, जाग जाग मतिवन्त रे, ए लूटे जगत ना जन्त रे।' यह दुनिया तुझे लूटती है, अच्छा कहकर, ऐसा करके, मर जायेगा। 'लूटे जगत ना जन्त रे। नाखि बाँक अत्यन्त रे।' बाँक डालकर। यह तुमने ऐसा नहीं किया, किसलिए वहाँ विवाह करने आये थे? अब छोड़ दिया। एक व्यक्ति ने लिखा, तो वृद्धा को विवाहना था। जवान से क्यों विवाह किया? ऐसे पत्र (आते थे)। हमारे सब होता है न? क्यों? शामजीभाई! ऐसे पत्र आवें। उसे खबर भी नहीं हो। कहो, समझ में आया?

'नरकावास ठरवन्त रे। कोई विरला उगरन्त रे।' देखो आया। 'राग द्वेष परिणति भजि, माया कपट कराये रे, काश कुसुम परे जीव।' काश अर्थात् आकाश। आकाश के

फूल। 'काश कुसुम परे जीवडो फोगट जन्म गुमाये रे। माथे भय जमराय रे। स्वमन गर्व कधाय रे। सौ एक मार्ग जाये रे, कोण जग अमर कहाय रे। सहजानन्दी रे आत्मा।' पहले वैराग्य की सज्झाय तो थी न लोगों को? किसकी की हुई? अन्दर होगा। 'शुभविजय।'

'रावण सरीखा रे राजवी, नागा चाल्या विण घाग रे। रावण सरीखा रे राजवी, नागा चाल्या विण घाग रे। दस माथारण रडवडया, चांच दिये सीर कागरे।' कौवा चोंच दे। 'देव गया सवि भाग रे।' देव बहुत थे। 'न रह्या माननो छाग रे, हरि हाथे हरिनाग रे।' लक्ष्मण से मारे गये। 'जो जो भायूं ना राग रे।' देखो! वह विभीषण चला गया था। उसे विभीषण की खबर पड़ी, भाई! यह राम और लक्ष्मण वासुदेव–बलदेव हैं। बन्धु! नहीं पहुँच सकोगे, भाई! आगम में कथन है कि वासुदेव प्रतिवासुदेव को मारता है। भाई! तुम प्रतिवासुदेव हो। बहुत प्रेम था। बहुत कहा। भाई! ये राम और लक्ष्मण वासुदेव पके हैं, बलदेव पके हैं। तुम्हारी मृत्यु आ गयी है। सीता को भेज दो। चल। विभीषण छोड़कर चला गया। ऐसा सब बहुत लम्बा है। समझ में आया?

नारायणपुरी द्वारिका। देखो! 'नारायणपुरी द्वारिका बलती मैली निराश रे, रोता रण मां एकला।' कृष्ण और वासुदेव बाहर रोते। अरे! भाई! यह पुण्य कहाँ गया? ये देवता ने बनायी हुई नगरी, सोने के गढ़ सुलगते हैं। यह पानी डालें, उसका तेल होता है, भाई! यह क्या हुआ? समुद्र का पानी डालें। महायोद्धा... महायोद्धा पानी डाले तो तेल हो। यह क्या हुआ? प्रभु! यह क्या हुआ? आहा..हा..! ऐसा सब नाशवान है और अविनाशी आत्मा है, उसकी शरण में जा, ऐसा कहते हैं। देखा!

'नारायणपुरी रे द्वारिका बलती मैली निराश रे... रोता रण मां ते एकला। नाथादेव आकाशे....' देव चले गये। 'क्यां तरु छाया वास रे।' कहाँ वृक्ष के नीचे कृष्ण जाकर सोये। 'क्यां तरु छाया जल जली करी गयो श्वास रे।' जल जली करी गयो श्वास रे। पानी... पानी... तृषा। बलभद्र लेने गये। 'बलभद्र सरोवर पास रे, सुणी पांडव शिववास रे। सहजानन्दी रे आत्मा।' ऐसा है। समझे न? 'राजी गाजी रे बोलता करता हुकम हैरान रे, पोढया अग्नि मां एकला, काया राख समान रे। ब्रह्मदत्त नरक प्रयाण रे।' ब्रह्मदत्त जैसे नरक में प्रयाण–रास्ता लिया उसने। यह तो मार्ग चला ही आता है। 'के मारग वहेतो रे नित्य प्रत्ये जोता रे लगन हजार रे।' लगन किया तो मार्ग तो चला जाता है मरकर।

'जेवुं पीपल पान रे ऐम अधर झूठ गुमान रे। वालेश्वर बिना एक घड़ी नहीं सुहातू लगार रे। ते जीणा जन्मारो ए गयो....' कहो, मोहनभाई! स्त्री बिना एक क्षण नहीं चले। तेरे बिना क्या करूँगा? वह गयी और यह ऐसा का ऐसा रहा। व्यर्थ में ऐसा कहे, स्त्री! तेरे बिना मुझे नहीं चले। वह मरते-मरते कहे, अब तुम किस प्रकार करोगे? तुम्हारी छोटी उम्र तुम्हारी है। विवाह करना, ऐसा कहती है। परन्तु यह ४५-५० वर्ष हुए। कौन देगा? यह होली। यह सब हुआ है। नाम-ठाम की सब हमें खबर है। सब देखा है। 'नहीं कागल समाचार रे।' कागज समाचार भी नहीं मिलता। 'नहीं कोई कोई नो संसार।' ये स्वार्थी। 'ऐ माता मरुदेवी पहुँच्या मोक्ष मोजार।' मरुदेवी एक बार गये थे न, श्वेताम्बर में आता है। यह 'ऋषभदेव भगवान' तो लहर करते हैं। मैं मानो कि दुःखी होंगे। कहो, समझ में आया?

जन्म में तथा मरण में सदा अकेला है, इसका कोई संगी नहीं... कोई साथ में नहीं। **यह सुख भोगने में अकेला,...** यह लौकिक, हों! **संसार-भ्रमण करने में अकेला, मोक्ष प्राप्त करने में अकेला, इस प्रकार यह आत्मा त्रिकाल अकेला ही है, इसका कोई साथी नहीं है - इस प्रकार निरन्तर विचार करना एकत्व भावना है।** लो, बारह भावना में से इसमें सज्झाय में बहुत है। पहले के वैरागी होवे न, उन लोगों की दृष्टि ऐसी होती है।

मुमुक्षु : आप समझाते हो और पढ़ने में बहुत अन्तर पड़ जाता है। हम पढ़ते हैं तो सब अद्धर का अद्धर चला जाता है और आप समझाते हो तो बराबर समझ में आता है।

५- अन्यत्व भावना-संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब जुदे-जुदे हैं,.. लो, अन्यत्व। आत्मा भिन्न, मन भिन्न, वाणी भिन्न, काया भिन्न, कर्म भिन्न, शरीर भिन्न, सब भिन्न है। आहा..हा..! **कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में मिला हुआ नहीं है - मन-वचन-काय यह सभी आत्मा से भिन्न हैं।** यह मन, वचन और काया भिन्न तो फिर दूसरी चीज़ को कहाँ लेना? कहते हैं। तेरी स्त्री, पुत्र तो कहीं बाहर में रह गये। कहो, समझ में आया? **जब यह शरीर, मन और वचन भी आत्मा से भिन्न हैं तो यह प्रगटरूप से भिन्न घर, मकान वगैरह एक कैसे हो सकते हैं?** ऐसा परपदार्थ और मुझे भिन्नपना है, ऐसी अन्यत्व की भावना भाने से पर से वैराग्य हो और स्वभाव-सन्मुखता हो, उसके लिये यह भावना की व्याख्या है। कहो, समझ में आया? **इस प्रकार वस्तुस्वरूप जानकर**

बारबार चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

६– अशुचि भावना–यह शरीर सदैव नवद्वार से बहते हुए मल–मूत्र का खजाना महा अशुचिरूप है... यह शरीर मल–मूत्र का खजाना है। इसमें से मल–मूत्र झरते हैं। इसमें से कहीं कस्तूरी नहीं झरती। कस्तूरी झरे तो भी जड़ है। हिरण को कस्तूर झरती है। लो न कस्तूरी आवे। तो वह जड़ है। पूरा मल–मूत्र का खजाना है। आहा..हा..! भगवान अमृत का पिण्ड है। आत्मा अमृत आनन्द का पिण्ड है। यह वेदना की मूर्ति, मल–मूत्र का खजाना। मल–मूत्र, हड्डियाँ, चर्बी, **महा अशुचिरूप है और आत्मा ज्ञानमय महा पवित्र है,...** देखो! इसके सामने लिया। भगवान आत्मा अमृतमय चिदानन्द प्रभु! कहाँ पवित्र यह और कहाँ अपवित्र यह (शरीर)! द्वेष नहीं कराते, हों! अशुचि भावना, यह तो वैराग्य की भावना है। **तो आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? इस तरह बारबार चिन्तवन करना...** वह छठवीं **अशुचि भावना है।** वैराग्य.. वैराग्य.. वैराग्य। आहा..हा...!

वह शून्य वन, उसे कौशम्बी वन में कृष्ण अकेले जल–वल करते–करते मरण को प्राप्त हुए। देखो तो सही! यह अशरण। जहाँ हुकम करे वहाँ हजार देव तैयार। अन्नदाता! क्या हुकम है? उन्हें पानी देनेवाला नहीं मिला, भाई! संसार तो ऐसा है। समझ में आया? पक्का मकान बनाया होगा, पानी की टंकियाँ भरी होंगी, दवाओं की अलमारियाँ भरी होंगी, वे कोई शरण नहीं। कहीं नहीं आवे। ए... ए... हो जायेगा। भगवान आत्मा अमृत का पिण्ड प्रभु है। अरे! वहाँ जा न, कहते हैं। यहाँ कहाँ रुका हुआ है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि दोनों चीज़ें ही जहाँ भिन्न है। यह (शरीर) विष्टा मल–मूत्र का खजाना; भगवान अमृत का खजाना। दो चीज़ें एक जगह रही होने पर भी दोनों निराली एक कैसे हो सकेगी? **इस तरह बारबार चिन्तवन करना...** वह छठवीं **अशुचि भावना है।**

७– आस्रव भावना – ५ मिथ्यात्व,... एकान्त मिथ्यात्व (आदि) प्रकार आते हैं न? **१२ अविरति,...** आस्रव। **२५ कषाय, १५ योग– ये आस्रव के ५७ भेद हैं, उनके द्वारा यह जीव हमेशा कर्मों का आस्रव किया करता है।** कहो, ये सब भेद आस्रव–दु:खरूप हैं। ५७ भेद सभी। शुभ–अशुभ योग आस्रव, वह दु:खरूप है, ऐसा

साथ में आ गया इसमें। पन्द्रह योग आ गये या नहीं ? पच्चीस कषाय, पन्द्रह योग। समझ में आया ? **उनके द्वारा यह जीव हमेशा कर्मों का आस्रव किया करता है।** शुभ-अशुभ योग द्वारा आस्रव करता है, उससे दुःख है, उससे कर्म आते हैं। कहो, ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि बारम्बार करता है।

शुद्ध भावरूप संवर के द्वारा जब तक उन आस्रवों का त्याग न हो... लो, जब तक शुद्ध भगवान आत्मा का आश्रय लेकर संवर और निर्जरा प्रगट न करे, **तब तक यह जीव संसार में से छूट सकता नहीं...** इन पन्द्रह योग में। समझे न ? यह... न हो भले अमुक योग होता है न... समझ में आया ? **अर्थात् जीव को यह आस्रव ही दुःखदायक है...** देखो ! संयोग पदार्थ दुःखदायक नहीं, कहते हैं। यह आस्रव जो मलिन परिणाम शुभाशुभभाव है, वह दुःखदायक है। समझ में आया ? **ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना...** यह वैराग्य का कारण होने से **आस्रव भावना कहते हैं।**

८- संवर भावना - कर्मों के आगमन को रोकना ही संवर है। यह संवर ही संसार से छुड़ानेवाला... लो, इस दुःख से छुड़ानेवाला। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का आस्रव होने पर जो संवर-निर्जरा हो, वह संसार से छुड़ानेवाला है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। **मोक्ष ले जानेवाला है।** यह संवर की पूर्ण दशा, वह मोक्ष का कारण होती है। **पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह,...** यह सब आ गया न ? बारह भावना चलती है। और बाईस परीषह अब आयेंगे तथा **पाँच प्रकार का चारित्र - यह सभी संवर के कारण हैं।** स्थिरतारूप वे कारण यथार्थ हैं और विकल्परूप (वे भाव) निमित्तकारण हैं। **सभी प्राणियों को इन सर्व कारणों को धारण करके संवर की प्राप्ति करना चाहिए। ऐसा बार-बार चिन्तवन करना...** बारम्बार उसकी भावना करनी चाहिए। पाँच-पचास लाख की आमदनी हुई हो तो उसे कहने का कितना उत्साह होता है ? दूसरे को जहाँ-तहाँ फूँके। ऐसा किया उसमें से दो लाख का बँगला खड़ा किया। इन लड़कियों के पचास-पचास डाले थे। सगे में ऐसा किया, अमुक ऐसा किया, लड़की का विवाह किया उसमें दो लाख दहेज में दिये। जहाँ हो वहाँ सबके पास फूँका ही करता है। इस प्रकार की दुःख की भावना है। यह भावना... यह भावना कर, कहते हैं देखो ! संवर भावना। समझ में आया ? बारम्बार। स्वभाव स्वरूप

का आश्रय, चैतन्य भगवान पूर्ण शुद्ध, उसका अवलम्बन, उसका आधार, उसका शरण वह संवर है। दूसरा कोई संवर नहीं है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : पुराने चोपड़ा के साथ मेल खाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ पुराने के साथ मेल खाया। कहीं खाया नहीं। कहा न, निमित्त दो बात ली। स्थिरतारूप, वह निश्चय संवर और विकल्परूप व्यवहार निमित्त, दोनों बातें कही। यह सब में ली है। दशधर्म, तीन गुप्ति, बारह भावना में विकल्प है, बाईस परीषह में विकल्प है, वह अलग बात है। उसमें कुछ चले ऐसा नहीं है। यह तो जैसा मार्ग है, वैसा चलता मार्ग राजमार्ग चलता ही आता है। जैसे मरणमार्ग कहा न अभी? कि मरण का मार्ग चलता है। उसी प्रकार यह मोक्ष का मार्ग चलता ही है। इस मार्ग में चले ही जाते हैं। अनन्त-अनन्त मोक्ष गये। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

९- निर्जरा भावना - कर्मों का एकदेश क्षय करना निर्जरा है। एकदेश नाश। सर्वदेश नाश, वह मोक्ष। **यह निर्जरा दो प्रकार की है। सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो सर्व संसारी जीवों के सदैव हुआ ही करती है,...** पूर्व के कर्म का उदय आकर खिर जाना, वह सविपाक। जैसे यह मनुष्यपना है और पूर्व की बाँधी हुई नरकगति के रजकण हों, गति के, हों! आयुष्य के नहीं। गति के, वे खिर जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा है। **अविपाक निर्जरा तो तप आदि करने से ही होती है...** अविपाक निर्जरा स्वभाव की शरण से होती है। **अविपाक निर्जरा के बिना यह जीव संसार से मुक्त हो सकता नहीं।** अपने शुद्ध स्वभाव का शरण लेकर अशुद्धता और कर्म टाले, उसे अविपाक निर्जरा कहने में आता है। **अतः मोक्षार्थी जीवों को यह अविपाक निर्जरा अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार चिन्तवन...** बारम्बार भावना, बारम्बार उसकी विचारणा (करना चाहिए)।

१०- लोक भावना - यह अनादिनिधन लोक... निधन अर्थात् अनादि-अनन्त। **किसी ने बनाया नहीं है, कोई इसका रक्षक नहीं है...** छह द्रव्य से पूरा लोक अनादि-अनन्त है। **किसी ने बनाया नहीं है, कोई इसका रक्षक नहीं है तथा कोई इसका नाश करनेवाला नहीं है।** लो। ....**यह स्वयंसिद्ध अविनाशी-कभी भी नाश न पानेवाला है।** छह द्रव्य से लोक ऐसा का ऐसा भरा है। **इस लोक में तीन भाग हैं**

– ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। यह जीव अनादिकाल से इन तीनों लोकों में भ्रमण कर रहा है। तीन लोक में मिथ्यादृष्टिरूप से स्वरूप की दृष्टि बिना, रागादि मेरे, पर आदि मेरे—ऐसी दृष्टि करके तीन लोक में भटक रहा है। कहो, समझ में आया? देखो! अधोलोक में नरक में भटका, ऊपर ऊर्ध्व में भटका, मध्य में मनुष्य और तिर्यंच आदि में भटका।

यह जीव अनादिकाल से इन तीनों लोकों में भ्रमण कर रहा है। इन तीनों लोक में सुख का अंश भी नहीं है। तीन लोक की गति में सुख का अंश नहीं है। **यह महान दुःख की खान है। इस लोक का निवास कब टूटे?** इस लोक का रहना, चार गति में भटकना कब टूटे? **ऐसा बारम्बार विचार करना, उसे ही लोक भावना कहते हैं।** लो! चार गति में भटकना कब टूटे? और आत्मा में स्थिर होकर मोक्ष कब पाना, यह बारम्बार भावना करे। कहो, लक्ष्मी कब बढ़े, यह थोड़े की बहुत, (कब हो), कब लड़के बढ़ें, ऐसा इसमें नहीं है। दुःख... दुःख... यह तो बड़ा दुःख का ढेर है।

११– बोधिदुर्लभ भावना– अर्थकार ने केवलज्ञान लिया है। **संसार में सभी वस्तुयें सुलभ हैं...** अनन्त बार मिली हैं। शरीर, कर्म, यह स्त्री, कुटुम्ब परिवार, गति, वैभव इज्जत, सुन्दरता, बाहर की सभ्यता, बाहर के वैभव के ठाठ सब अनन्त बार मिले हैं। **शीघ्र ही प्राप्त हो सकती हैं...** लो तुरन्त ही ये मिलते हैं। एकदम एकदम बड़ा चक्रवर्ती हो जाये अथवा यह बड़ा करोड़पति-अरबोंपति अभी दिखते हैं या नहीं? क्षण में कोई साधारण हो और पन्द्रह रुपये का वेतन और एकदम उद्योगपति। ऐसा अनन्त बार होता है। कोई पुण्य का योग हो तो होता है। उसमें आत्मा को क्या? नुकसान.. नुकसान.. नुकसान..। नुकसान का धन्धा है। यह मुनाफे का धन्धा नहीं है, ऐसा कहते हैं। यह कहे, मुनाफा मिला, यहाँ कहते हैं। नुकसान हुआ। कहो समझ में आया?

जो कुछ दुर्लभ और कठिन हो तो वह एक केवलज्ञान है। यहाँ ऐसा लिया। बोधिकेवलज्ञान। समझ में आया? वह केवलज्ञान अनन्त काल में कभी प्राप्त नहीं हुआ और उसका उपाय भी प्राप्त नहीं किया। यहाँ तो उत्कृष्ट बात लेनी है न? **केवलज्ञान के बिना इस जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता, इसलिए प्रत्येक प्राणी को उस केवलज्ञान की प्राप्ति करने में तत्पर और प्रयत्नशील होना चाहिए। जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं**

होगी, तब तक यह आत्मा संसार में भ्रमण करता ही रहेगा,... क्षायिकभाव प्रगट कर, क्षायिकभाव प्रगट (कर), ऐसा कहते हैं। क्षयोपशमभाव का भी भरोसा न कर। आहा..हा..!

इसलिए हे आत्मा! यदि तुझे वास्तविक सुख की प्राप्ति करनी हो तो तू शीघ्र ही चार घातियाकर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर। और वह केवलज्ञान प्राप्त करने का उपाय द्रव्य का आश्रय लेना है। भगवान आनन्द का खजाना है, उसका आश्रय लेना, वह (केवलज्ञान की) प्राप्ति का कारण है; दूसरा कोई कारण नहीं। **इस प्रकार का बारम्बार चिन्तवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।**

१२– धर्म भावना– वास्तव में जीव को सुख देनेवाली वस्तु एक धर्म ही है,... वास्तव में जीव को आनन्द देनेवाला पदार्थ वह धर्म है। **क्योंकि धर्म नाम स्वभाव का है। प्रत्येक वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। जब यह द्रव्य अपने स्वभाव में परिणमन करता है, तभी यह सुखी (और शुद्ध कहलाता है।)** आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द, वह वस्तु का स्वभाव, वह वस्तु का धर्म। उसका परिणमन करे, तब उसे धर्म होता है। **तभी यह सुखी और शुद्ध कहलाता है। यह आत्मा का जो ज्ञानगुण है, वही उसका धर्म है।** लो, ज्ञान धर्म है न? ज्ञान–जानना। वह जानना जाननेरूप परिणमे, श्रद्धारूप परिणमे, स्थिरतारूप परिणमे, ज्ञानरूप परिणमना कहलाता है।

जब तक यह आत्मा अपने ज्ञानधर्म अथवा सम्यग्दर्शन–सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म का पूर्ण विकास नहीं करता, तब तक इस संसार–बन्धन में से नहीं छूट सकता। कहो, सब समेटते हैं। दस धर्म आ गये थे न? दस धर्म हैं, ऐसे तीन प्रकार आते हैं न? दस प्रकार का धर्म वह धर्म है; दया करना, वह भी आत्मा का धर्म है। आत्मा की अविकारी दया, हों! पर की दया में शुभभाव है। **यद्यपि यह धर्म प्रत्येक संसारी आत्मा में विराजमान हैं...** वस्तुस्वभाव अन्तर में विराजमान है। अकषाय करुणा भी आत्मा का स्वभाव, विराजमान है। वीतरागस्वभाव प्रगट होगा, वह भी आत्मा में विराजमान है। कहो, समझ में आया? अरिहन्त पद जो प्रगट होगा, वह अरिहन्त पद अन्तर में विराजमान है।

तत्त्वानुशासन में आ गया है। महाराज! तुम अरिहन्त का ध्यान करते हो तो अरिहन्त तो नहीं। तुम अरिहन्त का ध्यान करते हो न? परन्तु अरिहन्त नहीं। कौन कहता है कि

नहीं? अरिहन्त की पर्याय प्रगट करनी है, वह द्रव्य में पड़ी है। उस अरिहन्त का ध्यान करनेवाला सच्चा अरिहन्त का ध्यान करता है। समझ में आया? निष्फल होवे तो कहे अरिहन्त का ध्यान करने से शान्ति आयी कहाँ से? खोटे अरिहन्त हों तो। यह भगवान सच्चा अरिहन्त है। अमरचन्दभाई! आत्मा अरिहन्त है, ऐसा कहते हैं। शिष्य का प्रश्न हुआ कि तुम अरिहन्त का ध्यान करते हो, परन्तु अरिहन्त तो खोटा है। अभी अरिहन्त कहाँ है? मिथ्याध्यान है तो मिथ्या फल आयेगा। सुन न!

अरिहन्त की जो पर्याय केवलज्ञान, केवलदर्शन है, वीतरागी पर्याय सब आत्मा में विराजमान है। आत्मा अरिहन्त होनेवाला है, वह पर्याय कहाँ से आयेगी? यहाँ वर्तमान में अन्दर है। उस अरिहन्त का ध्यान करता है, उसे वास्तविक शान्ति मिलती है, ऐसा कहते हैं। भाषा है न ऐसी। झूठ-मूठ का करे तो कुछ नहीं मिलता। ऐसा कुछ हिन्दी है। झूठ-मूठ। झूठ-मूठ शब्द है। झूठ-मूठ का ध्यान करे तो शान्ति मिले? आत्मा सच्चा अरिहन्त है। अभी, हों! आत्मा में अरिहन्त पद शक्तिरूप से, सत्त्वरूप से, गुणरूप से, भावरूप से पड़ा है। भावमयी शक्ति पड़ी है न? उसका ध्यान करने से, अरिहन्त का ध्यान करने से वह आत्मा का और अरिहन्त का ध्यान है। उससे उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति की प्राप्ति होती है। उसका फल कहीं झूठ-मूठ नहीं है। उसका फल सच्चा है, तो सच्चे अरिहन्त हों तो सच्चा फल आवे। समझ में आया?

यद्यपि यह धर्म प्रत्येक संसारी आत्मा में विराजमान हैं... कहो, पाँच पद की पर्याय आत्मा में विराजमान है। वीतरागधर्म, समाधि धर्म, शान्ति आदि धर्म, अविकारी दया आदि धर्म, अविकारी दया, वह सब भगवान आत्मा में विराजमान है। आहा..हा..! समझ में आया? **तो भी जब तब आत्मा में इनका विकास न हो, तब तक यह आत्मा संसाररूपी जेल में से छूट नहीं सकता...** संसाररूपी जेल। 'यह दिव्यशक्तिमान जेथी जंजीरेथि नीकले' श्रीमद् ने सोलह वर्ष में कहा। यह दिव्यशक्तिमान भगवान इस संसार से जेल में से निकले, वह उपाय कर, भाई! जेल है। अन्दर राग का ताला लगाया है। समझ में आया?

पिंजरे में डाला हो, छोटा इतना पिंजरा हो, पैर ऊँचा करने की शक्ति न हो, उसमें पैर के साथ दो मण बाँधा हो। यह 'महुवा' के पास खसिया कोली थी न, दो गाँव। उसकी

बहू को कुछ बोलने में अन्तर पड़ा होगा। दो गाँव का राजा। कोली। वह स्त्रियों के साथ अन्तर पड़ा होगा। वह बड़े... की पुत्री थी, उसे भँवरे में उतारा, वहाँ सुनार के पास इतना पिंजरा बनाया, उसमें बैठाया और पैर में बारह मणिका बाँधे। इसलिए पैर ऊँचा नहीं हो। ऐसा का ऐसा। बस। इतनी रोटियाँ प्रतिदिन दे और पानी दे। रोटियाँ दे और पानी दे। साढ़े तीन वर्ष हुए। स्त्री कहे – परन्तु तू मुझे मार डाल। मुझे मार डाल। मारना नहीं, ऐसे का ऐसे तड़प-तड़पकर मर जा। ऐई! साढ़े तीन वर्ष। परन्तु मरी नहीं। फिर उसके पिता को खबर पड़ी कि यह लड़की गयी कहाँ? क्या हुआ? हुआ क्या? किसी ने मार डाला? खून किया? चाहे जैसे छुपा रखी लगती है। पुलिस.. भावनगर में पोपटलाल बड़े थे। उन्हें कहा कि मेरी पुत्री है, इस गाँव में ही लगती है। कहीं गयी नहीं। मरी नहीं, लाश दिखायी दी नहीं। बहुत खोज की। पुलिस लेकर आये, उनका घर कब्जे में किया। भँवरे में देखा तो वह पिंजरा, और पिंजरे में बैठी थी। अठारह रतल तोल में रही। साढ़े तीन वर्ष से। अठारह रतल। समाचार पत्र में आया था। हमने पाटी में फोटो भी देखा था। तब पाटी में आते थे। अठारह रतल। पुलिस ने बाहर निकाला। घेरा डाला था। पुलिस बाहर लेकर आयी। ऐसा करके फिर हॉस्पीटल में ले गये। जीवित थी। फिर क्या हुआ कुछ खबर नहीं। कहो, राजा की, दो गाँव का राजा था, उसकी स्त्री। उसे साढ़े तीन वर्ष तक (जकड़ कर रखा), इतने पिंजरे में। ऐसे का ऐसा, हों! वहाँ गद्दी नहीं, तकिया नहीं, कुछ नहीं। पीछे सरिया में ऐसे। पैर ऊँचा न करे; इसलिए पैर में बारह लटकते मणिका बाँधे हुए।

मुमुक्षु : पानी पेशाब...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब उसी का उसी में गन्ध मारे। इतनी रोटी, पौन रोटी दे बस। रोटी का भाग पौन दे, पूरा नहीं, कम नहीं, इतना दे और थोड़ा पानी दे। कहो, पोपटभाई! ऐसा अनन्त बार हुआ है, हों! उसमें कहीं ऐसा नहीं समझना कि यह इसे ही हुआ है। आहा..हा..! अनादि.. अनादि.. अवतार में.. समझ में आया! तेरा स्वभाव भगवान! जैसे अनादि वह है, वैसे अनादि का तुझमें शुद्धस्वभाव पड़ा ही है। कहो, समझ में आया?

भगवान चिदानन्दमूर्ति, प्रभु! अमृत का खजाना खोल, कहते हैं। समझ में आया? यह राग की एकता तोड़, भगवान को खोल। इसके अतिरिक्त तुझे कुछ शरण नहीं है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया इसमें? लाख-लाख, पचास हजार रुपये दिन की

आमदनी हो वहाँ... ओहो..हो..! अपने मानो क्या हो गया! हैरान है, दु:खी है, अब क्या हुआ? तुझे क्या हुआ? सूजन चढ़ी है। है? जेल में... देखा?

इस प्रकार बारबार चिन्तवन करना धर्मभावना है। इस प्रकार बारह भावनाओं का वर्णन किया। क्योंकि संसार से वैराग्य उत्पन्न करने में यह प्रधान सहायक हैं... समझ में आया? यह अनुकूलता के ढेर में भी प्रतिकूलता का विचार करना। अनुकूलता के संयोग में उसके वियोग का विचार करना। संयोग साथ में ही वियोग लेकर आया है, वह कहीं तेरी चीज़ नहीं है। जीते-जी जिसने संयोग में वियोगपने की भावना की है, उसे मरने पर वियोग के काल में खेद नहीं होगा। समझ में आया? जीवन के पल में संयोग और - वियोग दोनों साथ भाये हैं, उसे वियोग के काल में कुछ नया है नहीं। ऐसी इसे बारम्बार भावना करना। ऐसा कहते हैं, हों! सब यह तो। संक्षिप्त-संक्षिप्त थोड़ा... बहुत वर्णन किया है। बारह भावना। यह तो... क्षयोपशम... द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव...

इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करने से वैराग्य की पुष्टि होती है। देखो, वैराग्य... वैराग्य.. आहा..हा..! आहा...हा..! उस वन में कृष्ण का मृतक शरीर पड़ा होगा, उसे यदि नजर तल से विचार करे, तब बलभद्र पानी लेकर आये होंगे। भाई! उठो न भाई! मैं पानी लाया हूँ। आहा..हा..! जिसे पानी लाने का हो, चेष्टा जाने, तृषा लगी है, उसे ऐसे भी न करना पड़े, वहाँ तो वे मौसम्बी लेकर आवें। आहा...! यह जंगल, बाघ, भालू, पक्षी सिर पर बैठे हों। बल जोद्धा दो। एक योद्धा गया और एक योद्धा पानी लेकर खड़ा। आहा..हा..! संसार की तो ऐसी स्थिति है, यह कहीं नयी नहीं है। यह बारह भावना बारम्बार भाने से सदैव वैराग्य की पुष्टि होती है। इसलिए बारह भावना भाना।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २०६-२०८

बाईस परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम्।।२०६।।

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री।।२०७।।

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीष सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन।।२०८।।

क्षुत् तृषा शीतोष्ण, दंशमशक नगनता याचना।
अरति अलाभ आक्रोश स्त्री, रोग चर्या निषद्या।।
शैया अदर्शन देह-मल, वध तृणस्पर्श अज्ञानता।
प्रज्ञा तथा सत्कार पुरष्कार बाइस जानना।।
संक्लेश विरहित चित्त से, संक्लेश साधनभीति से।
हैं सतत सहने योग्य परिषह, आतमा के लक्ष्य से।।२०६-२०८।।

अन्वयार्थ : (संक्लेशमुक्तमनसा) संक्लेशरहित चित्तवाला और (संक्लेशनिमित्त-भीतेन) संक्लेश के निमित्त से अर्थात् संसार से भयभीत साधु को (सततम्) निरन्तर (क्षुत्) क्षुधा, (तृष्णा) तृषा, (हिमम्) शीत, (उष्णम्) उष्ण, (नग्नत्वं) नग्नपना, (याचना) प्रार्थना, (अरतिः) अरति, (अलाभः) अलाभ, (मशकादीनांदंशः) मच्छरादि का काटना, (आक्रोशः) कुवचन, (व्याधिदुःखम्) रोग का दुःख (अङ्गमलम्) शरीर का मल, (तृणादीनां स्पर्शः) तृणादिक का स्पर्श, (अज्ञानम्) अज्ञान, (अदर्शनम्) अदर्शन, (तथा) इसी प्रकार (प्रज्ञा) प्रज्ञा (सत्कारपुरस्कारः) सत्कार-पुरस्कार (शय्या) शयन, (चर्या)

गमन, (वधः) वध, (निषद्या) आसन, (च) और (स्त्री) स्त्री–(एते) यह (द्वाविंशतिः) बाईस (परिषहाः) परीषह (अपि) भी (परिषोढव्याः) सहन करने योग्य हैं।

टीका : 'क्षुत् तृष्णां हिमं उष्णं नग्नत्वं याचना अरतिः अलाभः मशकादीनांदंशः अक्रोशः व्याधिदुःखं अङ्गमलम् तृणादीनां स्पर्शः अज्ञानं अदर्शनं तथा प्रज्ञा सत्कार–पुरस्कारः शय्या चर्या वधः निषद्या स्त्री एते द्वाविंशतिः अपि परीषहाः संक्लेशमुक्त–मनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन सततं परिषोढव्याः।' –अर्थः– भूख, प्यास, सरदी, गरमी, नग्नपना, याचना, अरति, अलाभ, मच्छरादि का काटना, निन्दा, रोग का दुःख, शरीर का मल, कंटक–कांटा आदि लगना, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार–पुरस्कार, शयन, चलना, वध, निषधा (निवास–आसन) और स्त्री – इन बाईस परीषहों को मुनिराज संक्लेश दूर करके और संक्लेशभाव से भयभीत होकर सदा सहन करते हैं। अब बाईस परीषह का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

१– क्षुधा परीषह – भूख के वशीभूत होकर सब जीव बहुत दुःख पाते हैं परन्तु मुनिराज को जब क्षुधा वेदना होती है, तब ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तूने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक प्रकार की अनन्त पुद्गलराशि का भक्षण किया है, तब भी तेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई तथा नरकगति में भी अत्यन्त क्षुधा सहन की; अभी तू इस समय मोक्ष की प्राप्ति के लिये तैयार हो गया है, तेरा यह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायेगा, अतः शान्त ज्ञानानन्दस्वरूप में लीनता करके भूख का नाश कर, जिससे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार के भावों द्वारा साधुगण क्षुधा परीषह को सहन करते हैं।

२– तृषा परीषह – सभी जीव प्यास से बहुत दुःखी होते हैं। मुनिराज ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर रहते हैं, वहाँ अनेक उपवास धारण करने के कारण उन्हें तृषा की बाधा उत्पन्न होती है, फिर भी धीर–वीर साधु इस प्रकार की भावना करके मन में समाधान लाते हैं कि हे जीव! तूने इस संसार में भटकते हुए सारे जगत का जल पी लिया तो भी तेरी प्यास आज तक शान्त नहीं हुई। नरकगति में ऐसी तृषा उत्पन्न हुई जो समुद्रों का जल पीने पर भी न मिटे परन्तु वहाँ एक बूँद मात्र भी जल प्राप्त नहीं हुआ तथा तिर्यञ्चगति में अति तृषा सहन की और मनुष्यगति में भी तृषा–वेदना सहन करनी पड़ी। हे जीव! तूने जगतवन्द्य मुनिपद धारण किया है, इसलिए इस तृषा परीषह को सहन करते हुए आत्मध्यान में चित्त लगा, जिससे यह तृषा सदा के लिये मिट जाये। इस प्रकार

तृषा परीषह मुनिराज सहन करते हैं और संयम से विचलित नहीं होते। यही तृषा परीषह है।

३– शीत परीषह – शीत के कारण संसार के प्राणी अति दु:खी होते हैं, हरे भरे वृक्ष भी हिमपात के कारण दग्ध होते हैं, ऐसे पौष–माघ की भयंकर शीत में महाधीर नग्नशरीर मुनिराज नदी अथवा सरोवर के किनारे कायोत्सर्ग या पद्मासन धारण करके ध्यान करते हैं, उस समय शीत की बाधा होने पर भी वे खेद नहीं करते, अपितु ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तूने अनादिकाल से अनन्त बार पशुगति और मनुष्यगति में भी अत्याधिक महान शीत–(ठण्ड) सहन की है। यद्यपि तूने उसे दूर करने के लिये अनेकानेक उपाय किये हैं तो भी आजतक तेरी ठण्ड मिटी नहीं है। अब तूने मुनिव्रत धारण किया है, इसी पद से मोक्ष की प्राप्ति होगी, अत: हे जीव! तू इस शीत की परीषह को सम्यक् प्रकार से सहन कर। ऐसा चिन्तवन–विचार करके आत्मध्यान में लीन होना–यही शीत परीषह कही जाती है।

४– उष्ण परीषह – ग्रीष्म ऋतु में सूर्य बहुत तप्तायमान होता है, सारे जगत के प्राणी गरमी की पीड़ा से महा व्याकुल हो जाते हैं, नदी–सरोवरों का जल सूख जाता है, उस समय मुनिराज पर्वत के शिखर पर पत्थर की शिला पर बैठकर (सूर्य–सन्मुख मुख करके आतापन योग धारण करते हैं तथा) ऐसा विचार करते हैं कि हे आत्मन्! तूने अग्निपर्याय धारण करके प्रचण्ड गरमी सहन की है, नरकगति में बहुत गरमी सहन की है, तो अब यहाँ गरमी है ही कितनी? इस समय तूने मुनिव्रत धारण किया है, अत: आत्मानन्दरूपी अमृत से तृप्त होकर इतनी तुच्छ धूप की बाधा आनन्द से सहन कर। इस तरह चिन्तवन करके उष्ण परीषह सुखपूर्वक जीतते हैं। इसे ही उष्ण परीषह कहते हैं।

५– नग्न परीषह – नग्न मुद्राधारी महा अविकारी मुनि भयंकर वन में एकाकी रहते हैं। सूत के वस्त्र, रेशमी वस्त्र, टाट के वस्त्र, सण के वस्त्र तथा घास आदि के सकल प्रकार के वस्त्रों का त्याग करते हैं, चर्म, रोम तथा वृक्षों के वल्कलादि कुछ भी नहीं रखते, जिनके दशों दिशायें ही वस्त्र हैं, उन्हें और क्या चाहिए? ऐसे दिगम्बर मुनिराज अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने आत्मध्यान में लीन रहते हैं। नग्न रहने से रंचमात्र भी दु:ख नहीं मानते, हमेशा अपने आत्मा में लीन रहते हैं–इसी को नग्न परीषह कहते हैं।

६– याचना परीषह – (याचना से सभी संसारी जीव दु:खी हो रहे हैं, दूसरों की क्या कहें, इन्द्र, चक्रवर्ती सरीखे भी अभिलाषा से रंक हो रहे हैं, परन्तु अयाचक व्रतधारी मुनिराज किसी से भी कुछ माँगते नहीं। अरे! जिन्हें तीर्थंकर जिनराज से भी

मोक्षरूपी लक्ष्मी नहीं माँगनी, वह भला अन्य किसी के और कोई वस्तु क्या माँगेगे? याचना समान जगत में अन्य न्यूनता नहीं, और अयाचक व्रत समान त्रैलोक्य में अन्य उत्कृष्टता नहीं। मुनिव्रत का मूल अयाचीवृत्ति है, स्नान, भोजन, धर्मोपकरणादि कुछ भी किसी से नहीं माँगते-महा निरभिलाषी रहते हैं)।

मुनिराज को भले ही उन्हें महीनों, वर्षों तक आहार न मिले तो भी मुनिराज कभी किसी श्रावक से आहार की याचना नहीं करते-इसीलिए मुनि की वृत्ति को सिंहवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार याचना परीषह को जीतते हैं।

७- अरति परीषह - जगत के जीव इष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर रति मानते हैं और अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर अरति-खेद मानते हैं किन्तु मुनिराज चाहे जंगल में रहें, कोई उनको भला-बुरा कहे, तो भी कदापि रति-अरति नहीं मानते। जिनके महल और भयंकर वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, स्तुति और निन्दा, सुख और दु:ख, जीवन और मरण सर्व समान हैं अर्थात् अपने चित्त में सदैव समता धारण करनेवाले साधु अरति परीषह जीतते हैं।

८- अलाभ परीषह - साधु ने अनेक उपवास किये हों और यदि पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न हो तो चित्त में रंचमात्र खेद नहीं मानते। इस प्रकार जो यतीश्वर लाभ-अलाभ दोनों को समान मानते हैं, वही अलाभ परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

९- दंशमशक परीषह - डांस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा आदि जीवों के डंक की पीड़ा जगत के प्राणी सहन नहीं कर पाते परन्तु योगीश्वर उन सबकी बाधा-पीड़ा सहन करते हैं, उन काटनेवाले सभी प्राणियों द्वारा अपने नग्न शरीर में बहुत बाधा-पीड़ा उत्पन्न किये जाने पर भी मुनि महाराज कभी भी मन में खेद करते नहीं। इस तरह दंशमशक परीषह जीतते हैं।

१०- आक्रोश परीषह - जो कोई दिगम्बर मुनि को देखकर निन्दा करते हैं, दुर्वचन कहते हैं, गाली देते हैं, परन्तु ऐसे निष्ठुर वचन सुनकर किंचित्मात्र खेद नहीं करते, परन्तु उत्तम क्षमा ही धारण करते हैं। इस प्रकार मुनिराज आक्रोश परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

११- रोग परीषह - पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में पीड़ा हो जाय तो मुनि महाराज उस रोग से दु:खी होते नहीं। (रोग हो जाने पर लौकिकजन

अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं परन्तु मुनिराज अपने शरीर में इन रोगों के उपस्थित होने पर किसी प्रकार का खेद चित्त में नहीं आने देते और न उन रोगों के प्रतिकार का कोई उपाय करते हैं) वह तो पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर अत्यन्त निश्चलतापूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हैं। इसे रोग परीषह कहते हैं।

१२– मल परीषह – (अपने त्रैकालिक निर्मल ज्ञानानन्दमय स्वरूप के अवलम्बन में ही सावधान होने से) मुनिराज के तो जीवनपर्यन्त स्नान और विलेपन का त्याग होता है। ग्रीष्मऋतु में धूप में रहने के कारण पसीना के योग से शरीर में धूल आकर जम जाती है, नग्न शरीर मलिन दिखायी पड़ता है तो भी संयमी साधु का इस शरीर के प्रति ध्यान नहीं जाता क्योंकि वे अपने आत्मगुणों में ही लीन रहा करते हैं, उसे ही मल परीषह कहते हैं। और वे ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव! यह शरीर तो स्वभाव से ही महा मलिन है, इसे तो समुद्र के जल से धोया जाय तो भी पवित्र नहीं हो सकता और तू तो परम पवित्र आत्मा है; अतः इस शरीर की मलिनता से तू कैसे मलिन हो सकता है? नहीं हो सकता। कारण कि अमूर्तिक पदार्थ को मल का संसर्ग–स्पर्श ही नहीं हो सकता। इसलिए हे आत्मन्! तू इस देह का स्नेह त्यागकर अपने शुद्धभावों में लीन–स्थिर हो जा। यह विचार करके मुनि मल परीषह सहते हैं।

१३– तृण स्पर्श – जगवासी जीवों के शरीर में यदि एक फाँस भी लग जाय तो बेचैन हो जाते हैं परन्तु जीवों की रक्षा करने में तत्पर संयम–धन के धनी योगीन्द्र के शरीर में चलते अथवा बैठते समय तृण, कंकड़, कण्टक, फाँस इत्यादि चुभ जाय तो उसको निकाल कर फेंकने का कुछ भी उपाय करते नहीं, अपितु निर्व्याकुल होकर निज स्वरूप में ही लीन रहते हैं। यह तृणस्पर्श परीषह है।

१४– अज्ञान परीषह – संसारी समस्त प्राणी अज्ञानवश दुःखी हो रहे हैं, निज स्वरूप का ज्ञान नहीं है। यदि कदाचित् पढ़ने का अभ्यास करें और शब्दार्थ का लाभ न हो तो मन में खेद करते हैं और पठन से अरुचि करने लगते हैं परन्तु महामुनिराज को पूर्वोपार्जित ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से पठन–पाठन का उद्यम करने पर तथा अनेक वर्षों तक महान तप करने पर भी यदि श्रुत का पूर्ण ज्ञान नहीं होता अथवा अवधि, मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो भी वह खेद नहीं करते, अपने नित्यानन्दस्वरूप में ही सन्तोष धारण करते हैं, उसे अज्ञान परीषह कहते हैं। (ऐसा विकल्प नहीं करते कि देखो, मुझे तप करते हुए इतना दीर्घ काल व्यतीत हो गया फिर भी मुझे ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई।

यदि कोई मूढ़ पुरुष उन्हें देखकर कहे कि यह साधु कितना अज्ञानी है तो भी वह उसके वचनों से खेदखिन्न नहीं होते अथवा यदि ज्ञान की वृद्धि हो जाये तो उस ज्ञान का कभी गर्व नहीं करते। ऐसे यतीश्वर अज्ञान परीषह के जीतनेवाले कहे जाते हैं।)

१५- अदर्शन परीषह - जगत के जीव समस्त कार्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये करते हैं और यदि पुरुषार्थ के करने पर भी प्रयोजन की सिद्धि न हो अथवा उसमें कुछ न्यूनता रह जाये तो क्लेश मानते हैं (परन्तु वह मुनिराज ऐसा विचार नहीं करते कि मैं बाल-अवस्था में ही महाव्रतादि धारण कर रहा हूँ और चिरकाल तक उग्रोग्र तप करने के बाद भी यदि किसी ऋद्धि आदि अतिशय की प्राप्ति नहीं होती) ऐसा विचार भी कदापि नहीं करते कि मुझे स्वाध्याय और तप करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, कषायों पर भी मैंने विजय प्राप्त कर ली है, संयम का भी निरतिचार पालन कर रहा हूँ फिर भी मुझे अब तक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई और न कोई ज्ञानातिशय ही प्राप्त हुआ। न मालूम इस तप-संयम का कोई फल दिखायी देगा भी या नहीं? इस प्रकार का कोई संशय या विकल्प करके मुनिराज सम्यग्दर्शन में दोष नहीं लगाते और तप-संयम अचल रहते हैं। इसे अदर्शन परीषह कहते हैं।

१६- प्रज्ञा परीषह - लौकिक जन थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर उसका अति गर्व करने लग जाते हैं और मन में ऐसा विचारने लगते हैं कि मेरे समान कोई बुद्धिमान नहीं है किन्तु महामुनिराज को शब्द, अर्थ, छन्द, न्याय, अलंकारादि द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान है अथवा अवधिज्ञान या मन:पर्ययज्ञान है तो भी रंचमात्र गर्व नहीं करते और बुद्धि की मन्दता होने पर खेद नहीं करते, यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुद्धिहीन बताये तो उससे द्वेषभाव नहीं रखते। ऐसे योगी ही प्रज्ञा परीषह सहनशील होते हैं।

१७- सत्कार-पुरस्कार परीषह - देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, संसार के सभी जीव आदर-सत्कार से हर्षित होते हैं और सत्कार करनेवाले के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं तथा अनादर करनेवाले के प्रति शत्रुता रखते हैं; इस प्रकार निरन्तर राग-द्वेषरूप परिणमन करते हैं किन्तु वीतरागता के धारक यतीश्वर, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूजा-स्तुति किये जाने पर अथवा किसी अविवेकीजन के द्वारा निन्दा किये जाने पर किसी से राग-द्वेष नहीं करते, अपितु समताभाव धारण करते हुए मन में ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तू तो दृष्टि-अगोचर वचन-अगोचर अमूर्तिक पदार्थ है, उसका कोई सत्कार अथवा स्तुति भला कैसे कर सकता है? और यह शरीर पदार्थ तो मैथुन से उत्पन्न

मल–मूत्र का भाजन है, यह भला स्तुति योग्य कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। इसलिए स्तुति और निन्दा से हर्ष–विषाद मानना व्यर्थ है। इस प्रकार जो मुनिराज किसी के पास से आदर–सन्मान की इच्छा नहीं करते और अनादर से खेद–खिन्न नहीं होते, वह सत्कार–पुरसकार परीषह विजयी होते हैं।

१८. शय्या परीषह : जगत के जीव विषयाभिलाषी होकर कोमल शय्या पर सोने का अनुराग रखते हैं परन्तु योगीश्वर मुनिराज (स्वर्ण–रत्नादिक के महल तथा सुन्दर शय्यादिक त्याग कर) वनवासी होकर कँकरीली विषम भूमि में रात्रि के पिछले प्रहर में एकासन से थोड़ी सी निद्रा लेते हैं और वहाँ अपने क्षीण शरीर में कंकड़ आदि चुभते हैं, उनसे दुःखी नहीं होते, परन्तु ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव! तूने नरक की तीव्र वेदना अनन्त बार सहन की है, उसके समान अन्य कोई विषम भूमि नहीं है, यह भूमि तो कुछ भी विषम नहीं है कि जिसका तू व्यर्थ में खेद करता है। अब तो तूने त्रैलोक्य–पूज्य जिनमुद्रा धारण की है, तू मोक्षार्थी ही है और इस भवसमुद्र से पार होकर निर्वाण द्वीप को जाना चाहता है, अत: मोहरूपी निद्रा को जीतकर योग में आरूढ़ हो, सदा जागृत रहकर अपने स्वरूप में मग्न हो, शय्या परीषह की बाधा से चित्त में अस्थिरता मत आने दे। इस तरह विचारते हुए मुनिराज शय्या परीषह सहन करते हैं। यह शय्या परीषह का जीतना है।

१९. चर्य्या परीषह : संसारी जीव हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि सवारी पर सुहावने समय में भी चढ़कर गमन करने में खेद कानते हैं तथा तिर्यञ्च भी गमन करने में दुःखी होते हैं परन्तु मुनिमहाराज चलते समय ईर्यापथ शोधते हुए चलते हैं। ग्रीष्मऋतु में दशों दिशाएँ तप्तायमान हो जाती हैं और मार्ग में कंकड़, पत्थर, कण्टकादि चुभते हैं तो भी किंचित् खेद नहीं मानते। इस प्रकार महामुनिराज चर्य्या परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

२०. वध परीषह : भववासी जीव मारने–पीटने से सदैव भयभीत होते हैं, यदि कोई उनके ऊपर उपद्रव करे तो उससे द्वेष करके अति तीव्र कषाय धारण करते हैं परन्तु मुनिराज कोई पापी जीव बाँधे अथवा दण्ड, पाषाणादि से मारे और नाना प्रकार का उपसर्ग करके महान कष्ट पहुँचावे तो भी वे उससे रञ्चमात्र भी दोष नहीं करते, समताभाव ही रखते हैं और ऐसा विचार करते हैं कि मेरा आत्मा तो अमूर्तिक है, अविनाशी चिदानन्दमय है, उसे दुःख कौन दे सकता है? कौन मार सकता है? कौन पीट सकता है? मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूँ। इस प्रकार मुनिराज वध परीषह जीतते हैं।

२१. निषद्या परीषह : संसार के समस्त जीव उत्तम मनोज्ञ स्थान में बैठकर सुख मानते हैं परन्तु (मुनिराज पहले राज्यादिक पदवी में, कंचन रत्नादिक के महलों में, विलास करते थे। उन्होंने अब स्वरूप को पहचान कर निश्चय से अपना स्थान अपने में ही जान लिया है।) मुनिराज सकल परिग्रह का त्याग करके महा निर्जन वन में जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं, वहाँ पर्वत की गुफाओं में, शिखरों पर अथवा श्मशान भूमि में निवास करते हैं, उन विषम स्थानों में भी अनेक व्यन्तरादिक विविध प्रकार के उपसर्ग करते हैं तो भी वे महाधीर रंचमात्र भी दु:ख नहीं मानते और उस स्थान को नहीं छोड़ते। इस प्रकार निषद्या परीषह को जीतते हैं।

२२. स्त्री परीषह : देव, मनुष्य, तिर्यञ्चादि संसारी जीव, स्त्री के राग से सुख मानते हैं और उनके साथ हास्य, रति, केलि, कौतूहलादि करके आनन्द मानते हैं किन्तु मुनिराज ने तो कामिनी का संग ऐसे त्याग दिया है जैसे सज्जन पुरुष दुर्जन का साथ छोड़ देते हैं। स्त्री के शरीर को महामलिन दुर्गति का कारण जानकर उससे कभी अनुराग नहीं करते, सुन्दर रमणियों के मिष्ट वचन सुनकर भी, हावभाव-विलास-विभ्रम कौतुक की क्रियाओं को देखने पर भी किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होते और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वात्मध्यान में लीन रहते हैं अर्थात् सकल विभाव-परिणति को छोड़कर अपनी ज्ञानानन्दरूप स्वभाव परिणति में ही रमण करते हैं। इस प्रकार स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

इस तरह इन बाईस परीषहों को मुनिराज निरन्तर संक्लेश और विषाद मन से रहित होकर सहन करते हैं। उनका मन चतुर्गति के दुख देने में कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मों से भयभीत है। भावार्थ - जो मुनि संसार परिभ्रमण के क्लेश से कंपायमान हो गए हैं, वे ही दृढ़चित्त होकर बाईस परीषह सहन करते हैं और रंचमात्र भी कायरता नहीं आने देते। जो मुनिराज परीषह सहन नहीं कर सकते, उनके चित्त की निश्चिलता नहीं हो सकती और चित्त की निश्चलता के बिना ध्यान में आरूढ़ता नहीं हो सकती तथा ध्यानारूढ़ता बिना कर्म-काष्ठ भस्म नहीं हो सकते और कर्मों का नाश हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनि को परीषह अवश्य सहन करना चाहिए। इस तरह यह बाईस परीषह का वर्णन पूर्ण हुआ।।२०८।।*

* प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल अंश हिन्दी प्रति के अनुसार है, किन्तु पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में समागत मूल अंश गुजराती प्रति के अनुसार है, इसे लक्ष्य में रखकर यह प्रवचन पढ़ें। -अनुवादक

प्रवचन नं. ८० गाथा–२०६–२०८ शुक्रवार, आषाढ़ कृष्ण १४, दिनांक ०४.०८.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय २०६, २०७, २०८ गाथा। मुनिधर्म की व्याख्या चलती है। गर्भित में श्रावक को भी उसका एकदेश भाग सब लागू पड़ता है। मुनि को सर्वथा लागू पड़ता है। गृहस्थाश्रम में श्रावक को एकदेश भाग सब जितने प्रकार कहे, दस प्रकार का धर्म, बारह प्रकार की भावना, बाईस प्रकार के परीषह, सब सहन करना एकदेश श्रावक को भी होता है।

मुमुक्षु : सहन करना....

पूज्य गुरुदेवश्री : सहन करना अर्थात् ज्ञातादृष्टारूप से शान्ति रखना। प्रतिकूलता आवे। आवे, संसार में अनन्त बार आयी है, भाई! समझ में आया? समता रखना। असाता का उदय या बाहर प्रतिकूल संयोग अनन्त बार रहे हैं, इतने (रहे हैं कि) बात नहीं की जा सकती। इतना इसने बाहर से परवश सहन किया है। परवश सहन किया है। जिसकी बात सुनते हुए रोम खड़े हो जायें, इतनी वेदना पूर्व में (भोगी है)। भगवान जाने और इसने उस समय भोगी है। कहते हैं, भाई! अब तुझे मनुष्यपना मिला और सम्यग्दर्शन के भानसहित आत्मा शुद्ध आनन्द है, उसके भानसहित ऐसी प्रतिकूलता में शान्ति रखना, समाधान करना, यह आत्मा के हित का कर्तव्य है। समझ में आया?

बाईस परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम्।।२०६।।
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री।।२०७।।
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीष सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन।।२०८।।

ये दो शब्द अन्तिम। मन का संक्लेश छोड़कर, संसार के संक्लेश से डरकर,

चौरासी लाख में भटकने से डरकर धर्मात्मा को इन आये हुए बाईस प्रकार के परीषह सहन करना। समझ में आया?

टीका : इनके नाम आ गये। नाम आ गये। देखो! **भूख, प्यास, सरदी, गरमी, नग्नपना, याचना, अरति, अलाभ, मच्छरादि का काटना, निन्दा, रोग का दु:ख, शरीर का मल, कंटक-कांटा आदि लगना, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार-पुरस्कार, शयन, चलना, वध, निषधा (निवास-आसन) और स्त्री - इन बाईस परीषहों को मुनिराज संक्लेश दूर करके...** मुनि और गृहस्थ, ऐसे प्रसंग में संक्लेश, मलिनता के भाव को दूर करके। **संक्लेशभाव से भयभीत होकर...** संक्लेश अर्थात् संसार से डरते हुए। चार गति के भय से डरते हुए जीव **सदा सहन करते हैं।** समझ में आया? **अब बाईस परीषह का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।**

१- क्षुधा परीषह - भूख के वशीभूत होकर सब जीव बहुत दु:ख पाते हैं... क्षुधा। देखो न! तिर्यंचों का, मनुष्यों का यह दुष्काल पड़े, वहाँ कितने लोग अनाज के बिना मर जाते हैं। मर गये न? लाखों मर गये हैं। बेचारे तिर्यंच देखो न! ये गायें आदि ऐसे पेट पिचक जाये। आहार मिले नहीं, घास मिले नहीं। समझ में आया? उस छप्पनिया के (छप्पनिया के अकाल के समय) बैल देखे थे। छप्पनिया की गायें। छप्पन... छप्पन... दुष्काल। उस समय दस वर्ष की उम्र थी परन्तु ऐसे देखा था। गायों का त्रास। पचास-पचास, सौ-सौ गायों के झुण्ड। पेट पिचक गये। खड़े-खड़े बोंकारे। घास मिले नहीं। उस ग्वाले के सिर देखा है, हों! उस समय। सिर पर कपड़ा गायों पर डालकर रोवे, रोवे। उसे तो गायें पुत्र जैसी हैं न? अरे! हम रोटियाँ खाते हैं, इन्हें घास नहीं... घास नहीं। ऐसी छप्पनिया की चिल्लाहट देखी हो। समझ में आया? उन गायों की आँख में से आँसू बहते जायें। कितने दिन तक घास नहीं मिला हो। पेट में क्षुधा। चलना किस प्रकार? पानी पीना हो, वहाँ जाना किस प्रकार? ऐसी शरीर की कमजोरी। इस प्रकार गाय की आँख में से आँसू बहते जाते हैं और ग्वाला सिर पर कपड़ा डालकर बेचारा खड़ा-खड़ा रोता हमने देखा है। लो, छप्पनिया में। ऐसा तो अनन्त बार हुआ है। समझ में आया?

सब जीव बहुत दु:ख पाते हैं परन्तु मुनिराज को जब क्षुधा वेदना होती है तब ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तूने अनादि काल से संसार में परिभ्रमण

करते हुए... यहाँ गृहस्थाश्रम में भी देखो न! क्या कहलाता है वह? कैंसर। यहाँ कैंसर हो। पेट में भूख का पार न हो और सबकी सब चीजें हो। क्या करे? पानी डाले वहाँ चिल्लाहट मचावे। पालीताणा (में) साकरचन्दभाई थे। देखे थे न। वहाँ गये थे। ऐसा शरीर ऐसे सोने का कंडा था। सड़ गया। मर गया। साकरचन्दभाई वे दिगम्बर के मुनीम थे। कैंसर हुआ, सब सड़ गया। अन्त में दर्शन करने गये थे, तब बोल नहीं सकते थे। पेट में भूख हो, परन्तु पानी छुये वहाँ चिल्लाहट मचावे। पानी छुये वहाँ चिल्लाहट मचावे। इतना कोमल अन्दर सड़ा हुआ। यह सब सफेद हो गया था। कहते हैं, भाई! ऐसी क्षुधा की वेदना अनन्त बार सहन की है। अवसर आवे, तब शान्ति से सहन करना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहार भी पेट में न जा सके। मुँह खुला हो। गला ऐसा सड़ गया हो, यह पानी छुये वहाँ.... यह... आहा..हा..! यह करते ऐसा का ऐसा रहूँ तो अच्छा।

मुनि महाराज ने और गृहस्थ ने ऐसी पीड़ा सहन की है। ऐसा विचारना कि संसार में भटकते समय अनेक वस्तुओं का भक्षण किया। अनादि से अनेक वस्तुयें लीं। **तब भी तेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई तथा नरकगति में भी अत्यन्त क्षुधा सहन की...** कहो, नरकगति में इतनी भूख सहन की। पूरी दुनिया का अनाज दे तो भी कहीं तृप्ति न हो। पूरी दुनिया का पानी दे तो तृषा न मिटे। इतनी तृषा... इतनी तृषा... आहा..हा..! **अभी तू इस समय मोक्ष की प्राप्ति के लिये तैयार हो गया है, तेरा यह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायेगा...** शरीर तो यहीं रह जायेगा **(शान्त ज्ञानानन्दस्वरूप में लीनता करके)...** देखा! अरे! मैं तो आत्मा हूँ। मेरा स्वभाव अविकारी है। रागरहित आत्मा का स्वरूप तो शान्त अविकारी वीतरागीस्वभाव है। उसमें शान्त में रहकर सहन करना। समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उस आनन्द की शरण में जाकर सहन करना ऐसा कहते हैं। हट से सहन किया, वह सहन करना नहीं कहलाता। आहा..हा..!

जिससे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार के विचार करते हुए साधुगण क्षुधा परीषह को सहन करते हैं। भूख को जीतते हैं। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में भी बहुत-बहुत ऐसे प्रसंग बनते हैं, तथापि निरोग शरीर में एक क्षुधा हो, यह हो। प्यास लगे। प्यास का अब आता है। ऐनीमीया होता है न? क्या कहलाता है। शरीर पीला पड़ जाता है। आहा..हा..! ऐसा फीका-पीला हो जाता है। (संवत्) १९७६ के साल में धांग्रधा

में एक को देखा था। गोपाणी का युवक दामाद चापसीभाई था। वह पानी... पानी... करे। डॉक्टर ने कहा, पानी देना नहीं, हों! पानी देना नहीं। पानी पियेगा तो देह छूट जायेगी। ऐसा जवान व्यक्ति। धांग्रधा में। दरवाजा (के) उस ओर है, उसके बाहर मकान था। दिशाश्रीमाली था। १९७६ के साल की बात है। बहुत वर्ष हो गये। २४ + २३=४७ वर्ष हुए। अन्त में दिशा (मल विसर्जन) का नाम लेकर, मल विसर्जन के लिये पानी माँगा। वह तो पानी देना पड़े। वह पानी पिया इतनी प्यास! ऐसा अनन्त बार सहन किया है, भाई! यह कहीं नया नहीं है।

लोगों को प्राप्त हुई सामग्री में कुछ निरोगता और कुछ देखकर ऐसा ही मानो कि यह सब ऐसा का ऐसा रहेगा। भाई! यह तो शरीर है, परवस्तु है, भाई! समझ में आया? उसमें अनेक अवस्थायें होंगी। शान्ति से सहन करना, भाई! समझ में आया? शान्ति अर्थात्? भगवान आत्मा अन्तर शान्त सरोवर भरा हुआ है न, प्रभु! आहा..हा..! अकषायस्वभाव से भरचक लबालब भरा हुआ आत्मा है। अरे! इसमें खजाने में कहाँ कमी है? उसकी शरण में जा, भाई! तुझे शान्ति मिलेगी - ऐसा कहते हैं। ऐसा परीषह सहन किया, ऐसे शान्ति (रखकर)। ऐसे हठ से सहन करे, वह परीषह नहीं कहलाता। समझ में आया?

२- तृषा परीषह - सभी जीव प्यास से बहुत दुःखी होते हैं। मुनिराज ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर बैठे होते हैं,... आहा..हा..! ११८ डिग्री ताप, पर्वत के शिखर पर ऐसे खुले सिर। ऐसे सिर में किरणें आती हों, नीचे पत्थर तमतमाता तप्तायमान हो, ऊपर वह (सूर्य) तपता हो। शान्त... शान्त... शान्त... समझ में आया? **उन्हें तृषा की बाधा उत्पन्न होती है, उस समय उन्हें ऐसा विचार करना चाहिए कि हे जीव! तूने इस संसार में भटकते हुए सारे जगत का जल पी लिया...** समस्त समुद्रों का पानी तूने अनन्त बार पिया है, भाई! तेरी प्यास मिटी नहीं। **तो भी तेरी प्यास आज तक शान्त नहीं हुई। नरकगति तथा तिर्यञ्चगति में अति तृषा सहन की...** कहो, नरक की क्या बात? सुनते हुए इसे त्रास हो ऐसी। पानी की बूँद न मिले, वह ३३-३३ सागर निकालना। वह पीड़ा कठोर आवे और रात्रि में नींद न आवे। शूल... शूल... वह भी मनुष्यभव का साधारण शूल (पीड़ा)। रात्रि में नींद न आवे। उसकी तृषा तैंतीस सागर की। अग्नि की कढाही हो और उसमें एक पानी की बूँद डाले और चूस जाये, वैसे असंख्य समुद्रों का

पानी दो तो एक क्षण में समाप्त हो जाये, ऐसी तृषा। पोपटभाई ! ऐसा नहीं कि यह शरीर निरोगी मिला, यह सब लड्डू खायेगा और... यह ऐसा का ऐसा नहीं रहेगा। आहा..हा.. !

कहते हैं, **भटकते हुए सारे जगत का जल पी लिया तो भी तेरी प्यास शान्त नहीं हुई। थोड़ा सा भी पानी पीने के लिये नहीं मिला, इसलिए अब तू प्यास सहन कर और आत्मध्यान में मन लगा...** आहा..हा.. ! समझ में आया ? भगवान आत्मा शान्तस्वरूप है न, प्रभु ! उसका विश्वास जमा है, उसकी यहाँ बात ली है। आहा..हा.. ! भगवान आत्मा वस्तु अकषायस्वभाव शान्तस्वरूप है, उसमें लीन हो, उसमें मन को लगा। भाई ! तुझे शान्ति होगी। परीषह का दु:ख नहीं होगा। **यह प्यास हमेशा के लिये मिट जायेगी।** समझ में आया ? **इस प्रकार चिन्तवन करके प्यास की पीड़ा सहन करना – उसे ही तृषा परीषह कहते हैं।**

३– शीत परीषह–शीत के कारण संसार के प्राणी अति दु:खी होते हैं, हरे–भरे वृक्ष भी हिमपात के कारण दग्ध होते हैं... हिम पड़ती हैं न हिम। हरा–भरा वृक्ष जल जाता है, सूख जाता है। समझ में आता है ? **ऐसे पौष–माध की भयंकर शीत में भी मुनि महाराज...** आहा..हा.. ! **नदी अथवा सरोवर के किनारे बैठकर ध्यान करते हैं...** आहा...हा... ! राजकुमार होते हैं। चार गति से भयभीत हैं। चार गति से डर लगा है। चार गति से भागे हैं। आहा..हा.. ! आत्मा के आनन्द में लीन होने के लिये चार गति से डरकर राजकुमार जंगल में चले गये हैं। वे सरोवर के किनारे पानी भरा हो, उसमें से शीतल हवा ऐसी चली आ रही हो, खुले बदन, कहते हैं कि सर्दी सहन करते हैं। इस आत्मा की शान्ति के आश्रय से (सहन करते हैं)। समझ में आया ?

सर्दी में भी मुनि महाराज नदी या सरोवर के किनारे बैठकर ध्यान करते हैं। उस समय जब सर्दी की पीड़ा होती है तो वे मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तूने अनादि काल से बहुत शीत सहन की है...अनन्त बार भाई ! तूने नरक में, पशु में। समझ में आया ? इसी प्रकार गर्मी में नजर से देखा था। एक धूप जरा आयी। यह दीमक होती है न दीमक ? दीमक नहीं होती दीमक ? कीड़ा, दीमक होती है। ऐसे हमारे तो दोपहर को मल विसर्जन के लिये जाना हो न बारह बजे। उपवास के पारणे। बाहर जोरदार धूप होती है। पालियाद की बात है (संवत्) १९७५ की। ऐसे जहाँ बाहर निकले,

वहाँ धूप लगे। जैसे धाणी फूले वैसे भुन जायें। ऐसा नजर से देखा है। धाणी समझते हो? धाणी नहीं होती? ज्वार। दलिया करते हैं। इसी प्रकार वह दीमक थी। बाहर निकली और ऐसे ऊपर धूप आयी जोरदार धूप थी। उस समय तो आठम, पाखी के उपवास करते न। दोपहर एक बजे आहार करके भरी दोपहरी में जाना पड़े। हमारे तो फिर अन्दर सहनशक्ति हो गयी थी। उसे देखकर ऐसे झुलस गयी। फिर शरीर भी ऐसे एकदम झुलस गया। ऐसी अग्नि, धूप की अग्नि। दीमक नहीं आती? क्या कहा था? दीमक.. दीमक। ऐसी दीमकरूप से होकर ऐसे अनन्त दुःख तूने सहन किये हैं, भाई! अभी अब अवसर आया, मनुष्य का अवतार है, जैनधर्म की प्राप्ति है, तो कहते हैं कि ऐसे प्रतिकूल समय में शान्ति रखकर सहन करना। समझ में आया?

अनादि काल से बहुत सर्दी सहन की है और यह सर्दी दूर करने के बहुत उपाय भी किये हैं परन्तु आज तक सर्दी मिटी नहीं है। अब तूने मुनिव्रत धारण किया है... भाई! तू साधु हुआ है। यहाँ मुख्य तो साधु को लक्ष्य करके बात है न? गर्भित में गृहस्थ है। भाई! तू मोक्षमार्गी हुआ है। आहा..हा..! तो संसारमार्गी से मोक्षमार्गी के लक्षण कोई बदलना चाहिए या नहीं? - ऐसा कहते हैं। तू संसारमार्ग में भटकता है न, भाई! अब, मोक्षमार्गी हुआ है। तुझे यह सब शान्ति से सहन करना चाहिए - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **इसी पद से मोक्ष की प्राप्ति होगी...** आत्मा के ध्यान में मुनिव्रत धारण किया है, भाई! इस पद से तुझे शान्ति-मुक्ति होगी। **इसलिए हे जीव! तू इस सर्दी की बाधा, पीड़ा भली प्रकार से सहन कर। ऐसा चिन्तवन विचार करके आत्मध्यान में लीन होना, उसे शीत परीषह कहते हैं।**

४- उष्ण परीषह-ग्रीष्म ऋतु में सूर्य बहुत तप्तायमान होता है, सारे जगत के प्राणी गरमी की पीड़ा से महा व्याकुल हो जाते हैं,... घर में जाकर और फब्बारे में से जहाँ पानी निकले, वहाँ जाकर बैठे होते हैं। **नदी-सरोवरों का जल सूख जाता है,..** गर्मी में। **उस समय मुनिराज पत्थर की शिला पर बैठकर...** 'दाझे नग्न शरीर' आता है न? 'तप तपे शैल शिखर पर।' भाई! यह तो वस्तु का स्वभाव जिसने जाना है, वह उग्ररूप से पुरुषार्थ करता है, उसे ऐसे बाह्य प्रतिकूल परीषह आवे तो सहन करना। समझ में आया? छोटे-बड़े प्रसंग तो अनेक जीवों को आते हैं। उनमें उसे आत्मा की दृष्टि

रखकर सहन करना चाहिए। किसी की–दुनिया की उसमें परवाह नहीं करना।

हे आत्मन्! यह एक बात नयी है। **तूने अग्निपर्याय धारण करके प्रचण्ड गरमी सहन की है,...** ऐसा लिया है। यह तो उसका शरीर ही गर्म है। उसमें एक ऐसा लिया है। अग्निपर्याय। अग्नि है, उसका शरीर ही गर्म होता है। ऐसे इतना लेना है। शरीर गर्म होता है। **ऐसा विचार करते हैं कि हे आत्मन्! तूने अग्निपर्याय धारण करके प्रचण्ड गरमी सहन की है, नरकगति में बहुत गरमी सहन की है,...** पहले, दूसरे, तीसरे नरक में अग्नि। लाख मण लोहे का गोला एक क्षण में पानी हो जाये, ऐसी वहाँ गर्मी है। पहले नरक में लाख मण का लोहे का गोला छोड़ो तो एक क्षण में पानी। इतनी गर्मी है। गर्मी से पानी हो जाता है। जिसमें सर्दी में हिम पड़कर वन जल जाता है। उसमें भाई! तूने बहुत वर्ष, तैंतीस सागरोपम, सागरोपम में वहाँ पहले नरक से रहा है। ऐसे अनन्त भव वहाँ किये हैं। भूल गया, भूल गया।

मुमुक्षु : ऐसा विचार करना पड़े इतनी देर तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। नहीं। विचारना अर्थात् सहन नहीं किया, ऐसा नहीं है। विचारे, वह ज्ञान की धारा बहती है, ऐसा कहते हैं। विकल्प है, वह तो विकल्प है परन्तु अन्दर इतनी स्थिरता है, ऐसा कहते हैं। उसे सहन करने की भावना तो होवे न? जब तक असहन नहीं हुआ, ऐसा नहीं। परीषह का अर्थ प्रतिकूलता आयी, वहाँ आत्मा में शान्ति से सहन करना, ऐसी विचार की धारा ऐसी करना, ऐसा उसका अर्थ है। बात तो ऐसी है न? थोड़ी असहनशीलता हो गयी है और फिर यह, ऐसा नहीं है यह। असहनशीलता हुई, तब तो परीषह से जीता गया, यह नहीं जीता। समझ में आया? यह व्याख्या एक बार हुई थी। खबर है। फूलचन्दजी थे न! ऐसी खबर है न! (संवत) २००३ के साल। परीषह अर्थात् जरा सी प्रतिकूलता आवे... दूसरा कोई कहता था। प्रतिकूलता आवे, वहाँ दुःख हो, उसे सहन करना, यह परीषह की व्याख्या ही नहीं है। दुःख हो, उसे सहन करना... यह भाई ने प्रश्न किया था कि थोड़ी असहनशीलता आवे, फिर सहन करना। ऐसा नहीं है। पहले से ही – शुरुआत से ही सहनशीलता है, इसका नाम परीषह। परीषह सहन करना अर्थात् दुःख हुआ, उसे सहन करना, ऐसी व्याख्या नहीं है। परीषह अर्थात् प्रतिकूलता आयी है, उसी क्षण यहाँ शान्ति रखता है। अमरचन्दभाई!

तब यह जरा प्रश्न उठा था। किसी ने कहा नहीं था? कि ऐसा हो। किसने कहा था? प्रश्न खबर है? २००३ के साल में हुआ था। परीषह का कोई कहता था कि थोड़ा सा दुःख हो, उसे परीषह कहा जाता है, उसे जीतना। यह परीषह की व्याख्या ही नहीं है। समझ में आया? २००३ वर्ष में। बीस वर्ष हुए। यहाँ तो बहुत-बहुत प्रश्न आये हुए हैं न? अरे भाई! ऐसा नहीं होता। पहले तो ऐसा कहे, अन्दर में दुःख आवे। ऐसी बात ही नहीं। दुःख की व्याख्या तो प्रतिकूलता, बस इतनी। निमित्त में।

मुमुक्षु : तकलीफ भोगना....

पूज्य गुरुदेवश्री : तकलीफ नहीं। तकलीफ-फकलीफ नहीं। तकलीफ का अर्थ क्या? संयोग।

मुमुक्षु : समाधान के लिये विचार करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समाधान के लिये तो प्रश्न चलता है। हमारे पण्डितजी ने इसके लिये प्रश्न किया है। अन्दर में तकलीफ हुई है, तो समाधान (करता है), ऐसा नहीं है। बाहर प्रतिकूलता का निमित्त आया है, उसमें ऐसी विचारधारा से सहज स्वरूप में लीनता में वह विचारधारा चलती है, ऐसी बात है। अन्दर में दुःख हो तो समाप्त हो गया। परीषह द्वारा जीता गया। जीता गया, फिर जीतना यह प्रश्न ही कहाँ है? समझ में आया?

उसे ऐसा है न, भाई! पहले राग आवे, उस राग का ख्याल आया, तो दूसरे समय उसे जीतना। ऐसा होता ही नहीं। वह वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। समझ में आया? पहले राग आया। पहले राग आया... पहले राग आया, वहाँ हो गया, फिर दुःखी-दुःखी हो गया। फिर दूसरे समय में राग को टालना, ऐसा नहीं होता। दूसरे समय उसे क्या टाले? बात सूक्ष्म है। समझ में आया? जिस समय प्रतिकूलता का निमित्त है, उसी समय शान्ति का प्रगटपना करे, इसका नाम परीषहजय कहने में आता है। परीषह... नहीं आता? निर्जरा हेतु, मार्ग ऊच्चयन, यह हेतु है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जो नहीं हटता, उस निर्जरा के हेतु से परीषह... इसका नाम है। समझ में आया?

यह तो विचार में उस प्रकार का ज्ञान में विचार करे। अन्दर में असहनशीलता हो गयी और अब सहन करता है, ऐसा नहीं है। निमित्त प्रतिकूल है। भाई! बड़ी बात है, हों! तत्त्व का बड़ा विवाद है। नहीं तो परीषह में पहले दुःख हो, फिर जीते, यह परीषह का

स्वरूप ही नहीं है। समझ में आया ? ऐ सेठी ! निमित्त प्रतिकूल है या अनुकूल ? यह स्त्री आदि के सब परीषह हैं या नहीं ? उसी क्षण अन्तर में स्वभावसन्मुख में शान्ति रखता है, उसका नाम परीषहजय कहने में आता है। पहले परीषह में जीता जाये, और फिर जीते, यह वस्तुस्थिति कहाँ है ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं नहीं, यह परीषहजय नहीं है। पहले दु:खी हो, फिर उसे विचारधारा से मिटाऊँ, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : वह तो दु:खी हो ही गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया। बात यह है। समझ में आया ? तो फिर इसका अर्थ कि जब–जब परीषह सहन करनेवाले को पहले दु:ख हो, फिर परीषह सहन करे, यह वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। समझ में आया ? यह तो एक अपने आत्मा के शरण में जाने के लिये एक यह विचार हो, विकल्प हो परन्तु अन्दर... कहो, पोपटभाई ! बात–बात में बहुत अन्तर है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। न्याय से इसे देखना चाहिए। पहले यह प्रश्न था न ? कि पहले तो राग का उदय आवे अर्थात् राग हो, वह ज्ञात हो, तब राग को जीता जाये न ? ऐसी बात ही नहीं होती। ऐसा स्वरूप ही नहीं है। समझ तो सही ! ऐसा कि ख्याल आया कि राग हुआ। अरे... मुझे राग। अब मुझे जीतना। परन्तु किसे जीतेगा ? राग तो आ गया और जीता गया। अब किसे जीतना ? वह राग तो दूसरे समय नाश ही हो जायेगा। तू न जीते तो भी नाश हो जायेगा। उसे कहाँ जीतना था। समझ में आया ? सेठी ! सूक्ष्मता है, भगवान ! आहा..हा.. !

भगवान आत्मा... कहते हैं कि तैयार ही है। ऐसा कहते हैं। जब–जब प्रतिकूलता का निमित्त है, उस क्षण तैयार है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. ! ऐसा ही उसका स्वरूप है। दृष्टि में लिया है, और जब–जब ऐसा होता है, तब उस स्वभावसन्मुख की शान्ति में तैयार ही है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? श्रीमद् में एक वेदना का पत्र है। वनमालीदासभाई कोई है। वेदना के समय धर्मी को बहुत शान्ति होती है, उस समय निर्जरा का बहुत हेतु होता है। उस समय। समझ में आया ? उनके पत्रों में कितनी बात बहुत सूक्ष्मता है, हों ! ऐसी की ऐसी (बात) नहीं है।

मुमुक्षु : उसके लिये जानकारी होनी चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जानकारी क्या? वह तो है। उसमें लक्ष्य ही कहाँ है। जाने कि यहाँ कुछ है, परन्तु सहन तो स्वभावसन्मुख करता है। उसकी ओर राग करता है और फिर जीतता है, ऐसा नहीं है। ऐसी प्रतिकूलता आयी और द्वेष हुआ, फिर जीते, तो वह वस्तु बदल जाती है। समझ में आया? ऐसा विचार आया अवश्य, इसलिए प्रश्न उठे कि पहले तो दु:ख होता होगा न? परन्तु वह तो बाहर का प्रतिकूल आया है, इस अपेक्षा से।

मुमुक्षु : दु:ख होवे तो ही परीषह सहन किया कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:ख कहाँ था? दु:ख था वह हो गया तो हो गया, परन्तु जब-जब परीषह सहन करे तब पहले दु:ख आवे, ऐसा सिद्धान्त हो गया। समझ में आया...? ...भाई! आहा..हा..! राजकुमारों के ऐसे मक्खन जैसे कोमल शरीर हों, वे आत्मा के (आनन्द में) पत्थर पर बैठे हों। ऊपर से अग्नि तेज धूप ११८ डिग्री का ताप बरसाता हो, नीचे शिला गर्म हो गयी हो। आनन्द... आनन्द... आनन्द। अरे! भगवान के पुत्र हुए उन्हें, भगवान का साक्षात्कार हुआ अब उसे कमी क्या? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ढीला-ढाला न हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता उसे। शान्त.. शान्त.. शान्त..। समझ में आया?

अभी यहाँ अधिक गरमी है? अभी तो थोड़ी है। ऐसी गर्मी तो शरीर में अनन्त बार हो गयी है। शरीर में गर्मी, ऐसी धाणी फूटे ऐसी गर्मी शरीर में हो। धाणी समझते हो? धाणी नहीं समझते? ज्वार आदि फूलाते हैं न? फूलाते हैं। अग्नि में सेंकते हैं। पोची-पोची हो जाती है। उसे हमारे यहाँ धाणी कहते हैं। सिंक जाती है। आहा..हा..! है? उस समय भी शान्त.. शान्त.. शान्त..

हमारे बोटाद में एक बनिया था। प्रौषध करे न प्रौषध? वह तो दृष्टि मिथ्या। वह तो एक बाहर की (बात है)। प्रौषध करे तो प्यास लगे तो धूप में बैठे। ए न्यालभाई! हमारे तो सब नमूने हो गये न! दीक्षा के पहले ये बात सुनी थी। बहुत प्यास लगे। पोहा समझते हो न? प्रौषध किया हो? उपवास, प्रौषध। प्यास बहुत लगे, गर्मी के दिन हों, पानी पिया जाये नहीं। जहाँ प्यास लगे, कड़कती धूप हो, वहाँ जाकर बैठे। करते हो भाई? इस प्रौषध को पानी पिलाता हूँ। हठ, हठ। हठ से (करे)। सेठी! एक था वहाँ। अन्त में उसने संथारा

कर दिया। युवा लड़का था परन्तु वह तो वेगी (धुन में चढ़ जानेवाला) व्यक्ति था। सगाई की थी, वहाँ जाकर कपड़े दे आया। बहिन करके गहने वापस दिये। तू बहिन है, ऐसा कि अब मुझे तो संथारा करना है। युवक बाईस वर्ष का। और ज्येष्ठ महीने की धूप, रोटी और रस खाया। रस और रोटी। खाया और पानी पिया। पानी पीकर आजीवन का चौविहार। चौविहार समझते हो? आहार–पानी का त्याग। चारों आहार का आजीवन त्याग। ऐई! न्यालभाई! फिर पीड़ा... पीड़ा.. बारह दिन रहे। बारह दिन निकाले। गर्मी के दिन। पीड़ा वह पीड़ा। ऐसे तपे, गर्मी निकले हाथ में। गर्मी.. गर्मी.. परन्तु हठ से पूरा किया परन्तु वह कोई परीषह नहीं कहलाता।

परीषह तो सम्यग्दर्शन होने के बाद, प्रतिकूलता के निमित्त के काल में सहन करने का स्वभाव का आश्रय और सहन करे, उसे परीषह कहने में, जीतने में आया, ऐसा कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि को परीषह नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान, छठे गुणस्थानवाले को परीषह लागू पड़ता है। क्योंकि जहाँ शान्ति का भान हुआ है, उसे शान्तिरूप से सहनशीलता आवे, उसे परीषह सहन किया कहने में आता है। मिथ्यादृष्टि को परीषह आया और उसने जीता, ऐसा होता ही नहीं उसे। समझ में आया? भाई! यह बातें तो वीतरागमार्ग की ऐसी हैं।

'मूली' में एक व्यक्ति ने संथारा किया था। बड़ी उम्र में संथारा किया था। बहुत गर्मी लगी, बहुत गर्मी लगी। वह जाकर रेत में धूप में पड़ा। नदी का... मूली में भोगवो (नदी है वहाँ) जाकर पड़ा। उस समय क्रियाकाण्डी हठवाले बहुत थे। क्रियाकाण्ड की हठ हो। मूली में गृहस्थ था। वह पड़ा और फिर भाई! त्रसा.. वहाँ से गाँव में नहीं आऊँ कहे। वहाँ सिर पर ढँककर थोड़ी झोपड़ी बनायी। फिर हम सब गये... अन्त में बोल गया कि मैंने तो पूरा किया है परन्तु दूसरे ऐसी हठ नहीं करें। हठ से पूरा किया, फिर क्या हो? वेदना का पार नहीं रहे।

यहाँ तो शान्ति के सरोवर में प्रवेश करके सहन करना है, ऐसा कहते हैं। समकिती को परीषह जो आवे, उसमें श्रावक हो, उसे परीषह लागू पड़ते हैं, भाई! चौथे (गुणस्थान) से परीषह लागू नहीं पड़ते, ऐसी बात है। चारित्र का अंश प्रगट हुआ है, तब उसे वास्तव में तो परीषह लागू पड़ते हैं। समझ में आया? प्रभु का मार्ग ऐसा है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। यह कहीं कल्पित से खड़ा किया हुआ नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है।

भगवान आत्मा, राग से भिन्न जहाँ चैतन्यस्वरूप का भान है, कहते हैं कि उसमें जब विशेष स्थिरता का अंश आया है और पूर्ण स्थिरता का अंश मुनि को आया है, ऐसे प्रसंग में ऐसे प्रसंग आने पर शान्ति... शान्ति... शान्ति... (रहे), उसे निर्जरा होती है, उसे परीषहजय कहने में आता है। स्वरूप तो ऐसा है, भाई! आहा..हा..! हठ से मान ले या कल्पना से मान ले, वह कहीं वस्तुस्थिति है? समझ में आया?

मुनिव्रत धारण किया है, इतनी गर्मी की बाधा आनन्द से सहन कर। आनन्द से सहन कर। आहा..हा..! वह धूप में जाकर हठ करता था। यह आनन्द में जा, ऐसा कहते हैं। भगवान तुझे शान्ति का साक्षात्कार होगा। बापू! शान्त हो। स्वभाव का उग्र आश्रय ले। शान्ति होगी, वहाँ तुझे हठ से सहन करना नहीं पड़ेगा। शान्ति से, उसे ज्ञेयरूप से जान, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **इस तरह चिन्तवन करके उष्ण परीषह सुखपूर्वक जीतते हैं। इसे ही उष्ण परीषह कहते हैं।** लो।

५- नग्न परीषह- मुनिराज समस्त प्रकार के वस्त्रों का त्याग करके... मुनि को तो वस्त्र का धागा भी नहीं होता। नग्न मुनि... नग्न मुनि। अन्तर में आनन्द का भान है, बाह्य में मुनि का शरीर नग्न होता है। मुनि को वस्त्र-पात्र नहीं होते। वस्त्र-पात्र रखे, वह मुनि नहीं है। अमरचन्दभाई! यह सब वस्त्र-पात्र (रखते) हैं, वे मुनि मनाते हैं, वे गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया? कठिन बात है, भाई! मार्ग की विधि तो जैसी हो वैसा आवे या नहीं?

समस्त प्रकार के वस्त्रों का त्याग करके, नग्न दिगम्बररूप से रहते हुए अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करके... आहा..हा..! शरीर के सब अवयव खुले। आत्मा को भी अन्दर खुला रख दिया है। जिन्हें ऐसा नग्न शरीर है तो कुछ नहीं लगता। बालक की तरह होते हैं। आहा..हा..! ऐसी उन्हें आत्मा की लगन लगी है। अन्तर की ऐसी लगन लगी है कि जिन्हें शरीर नग्नपना बाल जैसा दिखता है। कोई उसका विकल्प है नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? यह राजकुमार हो ऐसे। २५-२५ वर्ष के मणिरत्न की पुतली जैसे चल निकले हैं। एक मोरपिच्छी, कमण्डल, अपवादिक उपकरण, अपवादिक उपकरण। आहा..हा..!

कहते हैं, सर्व वस्त्रों का त्याग करके, यह अनादि का मार्ग यह है, हों! पक्ष की बात नहीं है कि दिगम्बर के साधु ऐसे होते हों और श्वेताम्बर के साधु ऐसे होते हों। यह वस्तु

का स्वरूप ही ऐसा है कि मुनिपना अन्तर में, आनन्द में जहाँ प्रगटे... ओहो..हो..! तीन कषाय का अभाव होकर स्वरूप में जहाँ वीतरागता प्रगट हुई है, प्रचुर संवेदन–स्वसंवेदन जहाँ अन्दर जागृत हुआ है, उन्हें वस्त्र और पात्र ग्रहण करने की वृत्ति कहाँ है ? उन्हें तो अन्दर में स्थिर.. स्थिर.. स्थिर होकर केवलज्ञान लूँ; केवलज्ञान लूँ अर्थात् पूर्ण होऊँ, ऐसी, ऐसी जहाँ जमावट लगी है, उन्हें यह कहाँ होता है ? अन्त में यह एक बार करना पड़ेगा। हों! इसके बिना किसी को मुक्ति हो (–ऐसा होनेवाला नहीं है)। आहा..हा..!

मुमुक्षु : सच्चे मुनि ऐसे होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे होते हैं। आहा..हा..!

देखो! **अखण्ड ब्रह्मचर्य...** अन्दर। आनन्द। ब्रह्म अर्थात् आनन्द में चरनेवाले। अपना आनन्द भगवान आत्मा, उसमें चरकर ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले आहा..हा..! **अपने आत्मध्यान में लीन होकर रहे हैं।** नग्नपना है, वह शरीर का है। स्वयं पर से भिन्न है। मैं शरीररूप हूँ कहाँ ? शरीर मैं हूँ कहाँ ? मैं तो मुझमें हूँ। समझ में आया ? मुनियों का वास आत्मा में है। शरीर में और बाहर के क्षेत्र में नहीं। आहा..हा..! ऐसा **नग्न रहने से रंचमात्र दुःख नहीं मानते...** दुनिया को तो ऐसे लज्जा आवे, यह हो। बालक की भाँति सरल भद्रिक। सरल हों, भद्र ऐसे हों। हों महा विचक्षण परन्तु भद्र होते हैं। कोमल, सरल... आहा..हा..!

अरे वीतराग के मार्गी, मोक्षमार्गी जीव कैसे होते हैं ? आहा..हा..! जिन्होंने केवलज्ञान का मण्डप रोपा है। केवलज्ञान को लेने या लेता हूँ, ऐसी दशा मुनि की होती है अर्थात् पूर्ण होना है, ऐसा। जम जाना, इसमें जम जाना। बाहर निकलना उन्हें रुचता नहीं। आता है न ? सदाय आवली... नहीं आता ? आवली सदाय रही जाऊँ। पीछे प्रतिक्रमण में (आता है)। अभी के काल की श्रेणी सब स्वरूप की स्थिरता में जाओ। ऐसी मुनि की भावना में यह परीषह सहन हो सकता है। सहन हो जाता है। ऐसा कहते हैं।

हमेशा अपने आत्मा में लीन रहते हैं, उसे नग्न परीषह कहते हैं। देखो! यह मुनि की दशा का वस्तु का स्वरूप। ऐसा इसे बराबर नवतत्त्व में ऐसा संवर–निर्जरा का स्वरूप है, यह मानना चाहिए। मुनिपना अर्थात् संवर–निर्जरा की उत्कृष्टता। देव अर्थात् केवल (ज्ञान) अर्थात् मोक्ष। समझ में आया ?

६- याचना परीषह - मुनिराज को भले महीनों तक आहार न मिले, वर्षों तक भी न मिले तो भी मुनिराज कभी किसी श्रावक से आहार की याचना नहीं करते... प्यास बहुत लगी है, क्षुधा बहुत लगी है। विकल्प नहीं। आहा..हा..! याचना नहीं... याचना नहीं... मुझे आहार दो - ऐसा मुनि को नहीं होता। सब कहे न, याचना परीषह है न? याचना नहीं करना, वह परीषह है। याचना करना और मान भंग होना, वह परीषह नहीं है। आहा..हा..! बड़ी व्याख्या की है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म.. इसका अर्थ इसका यह हुआ, भाई! माँगा कि मुझे दो। मुनिराज तो ऐसे चलते.. चलते.. आनन्दकन्द में विकल्प उठा है। कोई कहे कि महाराज! पधारो न महाराज! आहा..हा..! वहाँ आहार लेते हैं, देखो! मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा नहीं आया? ऐसा कहे, वे आहार लेते हैं न? वे कहाँ परन्तु व्यापारी दुकान पर बैठा, उसे कोई आवे तो माल ले जाओ। वह कहीं उसके घर नहीं जाता कि आओ... आओ। इसी प्रकार अपने को इस प्रकार की आहार की क्षुधा है तो किसी को उस प्रकार की योग्यता से दो तो ले। नहीं तो लेते नहीं। मोक्षमार्गी जीवन का जीवन कैसा, बापू! आहा..हा..! समझ में आया? देखो।

महीनों तक... याचना नहीं, हों! याचना परीषह, ऐसे लोग ऐसा कहते हैं। भाई! माँगना वह परीषह! माँगना तो भिखारी माँगता है, वह परीषह होगा? वहाँ जाकर आहार दो, पानी दो, अमुक दो।

मुमुक्षु : माँगने के बाद न दे तो दुःख न होना, ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह नहीं। माँगना यही परीषह है, कहते हैं क्योंकि मान छोड़कर माँगना है न, इसलिए यह याचना परीषह है, वे ऐसा कहते हैं। यह बात मिथ्या है। ऐसा अर्थ करते हैं। वह नहीं - याचना में लज्जा छोड़कर माँगते हैं, वह परीषह कहते हैं। नहीं, नहीं, यह तो भिखारी है। याचना करना नहीं, इसका नाम परीषह है। समझ में आया? अरे! भगवान के पास मोक्ष की याचना करता है, वहाँ फिर यह याचना कैसी इसे? आहा..हा..! आत्मा के पास केवलज्ञान के लिये झूर रहा है न! साधु अर्थात् परमात्मा होने के लिये झूर रहा है। बहुत विकल्प उठे, और अन्दर स्थिर हो। फिर विकल्प उठे और स्थिर

हो। वह आनन्ददशा... आहा..हा.. ! उसे ऐसी दशा होती है, वह याचना नहीं करता। समझ में आया ? दोनों के बीच बड़ी चर्चा है।

अरे भाई ! वीतरागमार्ग है, वह ऐसा रहेगा। किसी के बदलने से बदलेगा नहीं। बापू ! यह तो अनादि का मार्ग है। इस मार्ग में अनादि–अनन्त सन्त गये हैं। अनन्त गये हैं, भाई ! यह मार्ग तो अनादि का है। इसे कहीं काल से बदल डाले तो कहीं मार्ग बदले, ऐसा नहीं है। आहा..हा.. ! अरे ! तू इसकी श्रद्धा और भावना तो कर। सेठी ! बाह्यान्तर। देखो श्रीमद् को।

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

यह धर्मी की भावना होती है, भाई ! मैं बहुत लक्ष्मीवाला होऊँ, राजा होऊँ, मान मिले। अरे ! इसमें तो मैं मर गया, अब सुन न ! समझ में आया ? अहो ! मुझे कब ऐसी भावना से ऐसा भाव आवे। समझ में आया ? पुरुषार्थ से आवे, हों ! कहीं अपने आप आ जाये, ऐसा नहीं है वापस। ऐसी भावना करे। समझ में आया ? उसके भी हमारे (संवत्) १९७७ के वर्ष में बड़ा विवाद उठा था। ऐसी भावना बोलते हैं तो कहाँ उन्हें मुनिपना लेना था तो कौन उन्हें रोकता था ? यह बच्छराजभाई तब थे। तुम्हारे दूसरा वह कौन ध्रौलवाला ? ठाकरसी, वह अभी वहाँ अफ्रीका में है। नैरोबी है। दोनों व्यक्ति थे। संवत् १९७७, ७७ का वर्ष आसोज शुक्ल १५ प्रौषध था। भाद्र शुक्ल १५, इतना महीने का अन्तर। वहाँ था और वे दोनों व्यक्ति आये थे। वहाँ उनमें मूलचन्दजी ऐसा बोले, ऐसा बोले। उन्हें मुनिपना लेना था तो कौन रोकता था ? ढोंग करते हैं। अरे भाई ! मुनिपना ऐसा कि लो यह वस्त्र बदलकर बैठ गये, वह मुनिपना। ऐसा मुनिपना तो द्रव्यलिंग भी नहीं है तेरा। अब सुन न !

द्रव्यलिंग तो जिसे अट्ठाईस मूलगुण नग्नदशा हो, सम्यग्दर्शन का भले भान न हो, उसे द्रव्यलिंग कहते हैं। वस्त्र–पात्रसहित को द्रव्यलिंग भी नहीं कहा जाता। उसे कहे देखो ! ऐसा लेना नहीं आया था ? ऐई न्यालभाई ! श्रीमद् को ऐसा कहा, १९७७ के वर्ष में। कितने वर्ष हुए ? ४६ वर्ष हुए। पूर्णिमा का दिन था, प्रौषध किया था। उसमें मूलचन्दजी

बहुत भड़क गये। मैं ऊपर था... उन्हें मुनिपना, बापू! नीचे उतरकर कहा। उन्हें नहीं। उन्हें तो कहा नहीं जाता। वे तो भड़के। एक उजमसीभाई वहाँ हैं। उनसे कहा, भाई! ठाणांग में तीन बोल चले हैं न, भाई! भाई! तीन बोल चले हैं। श्रावक को, कब मैं अल्प और बहुत परिग्रह छोडूँगा? कब मैं मुनिपना लूँगा? और कब मैं संथारा करूँगा? बापू! कहा, ठाणांग के तीसरे ठाणे में ये तीन मनोरथ चले हैं न? यह १९७७ की बात है। ४६ वर्ष पहले की बात है। भाई! कहा, यह करता है ऐसा, भगवान! ऐसा कहते हैं न? और वे मनोरथ चिन्तवन करे, वह ढोंगी होगा? मुनिपना ले तो ही ऐसा हो? तो मनोरथ का प्रश्न कहाँ है? भाई! यह उजमसी को कहा था। वह (मूलचन्दजी) तो भड़क जाये। कषाय (इतनी कि) शान्ति से सुने भी नहीं। यह तो कहा, भाई! कहा, श्रावक के तीन मनोरथ हैं न? श्रावक समकिती है, गृहस्थाश्रम में है। शान्तिभाई! है न? तीन मनोरथ आते हैं। मुनिपना ले लेवे तो ही वह मनोरथ सच्चा कहलाये? मनोरथ... अरे...! कब आयेगा? कब आयेगा?

मुमुक्षु : फिर ऐसा बोला जाये...

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले क्या? बोले तो मौन हो गये थे। कहते हैं तो सच्चा परन्तु स्वयं का हठ। बापू! गृहस्थाश्रम में थोड़ा बहुत परिग्रह कब छोडूँ? मैं कब मुनि होऊँ और कब मुझे संथारा होवे? शान्तिमरण से। ऐसी भावना श्रावक को गृहस्थाश्रम में होती है। पोपटभाई! आहा..हा..! अरे! मोक्ष का भनकार जिसे आया है, उसे इस प्रकार की भावना कैसी होती है? निश्चित हो गया होता है कि अब अल्प काल में मेरी मुक्ति है। अब हम संसार से छूट गये। उसे ऐसी मनोरथ की भावना होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनिपना किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। वस्त्र छोड़कर बैठे, उसमें मुनिपना कहाँ था? ऐसे को मुनिपना मानना, गृहीत मिथ्यात्व का पोषण है। गृहीत मिथ्यात्व का पोषण है। अनन्त संसार प्रतिक्षण बढ़ाता है। कठिन बात, बापू! यह तो मार्ग ऐसा है, हों! किसी व्यक्ति के लिये यह बात नहीं। समझ में आया?

वर्षों तक भी न मिले तो भी मुनिराज कभी किसी श्रावक से आहार की याचना नहीं करते – इसीलिए मुनि की वृत्ति को सिंहवृत्ति कहते हैं। देखो! सिंह, वह वहाँ जाकर माँगता होगा? ऐ हिरण! आना मेरे पास। मुझे खाना है। सिंहवृत्ति है। सहज

मिल जाये तो लेते हैं। याचना कैसी ? माँगना कैसा ? चेष्टा नहीं बताते। क्षुधा लगी है तो कुछ दो, ऐसा नहीं। आहा..हा.. ! यहाँ तो साधु नाम धराकर उनके लिये करे, करावे, करते हों तो ठीक माने। बराबर है। मौके से आये और महाराज को आहार देने से बड़ा लाभ होता है। रास्ते में और आहार देने से बहुत लाभ होता है। अरे भगवान ! इस मार्ग में तेरा किनारा (छूटने का मार्ग) नहीं आयेगा, बापू ! समझ में आया ? याचना नहीं करते। **इस प्रकार याचना परीषह को जीतते हैं।**

७– अरति परीषह–जगत के जीव इष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर रति मानते हैं और अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर अरति–खेद मानते हैं किन्तु वे परमयोगी (मुनिराज) चाहे जंगल में रहें,... सन्त जंगल में रहते हैं। आहा..हा.. ! **कोई उनको भला (अच्छा) कहे,...** तो भी शान्ति है। **कोई उनको बुरा (खराब) कहे,...** नंगे चल निकले हैं। जगत में भूखे–प्यासे भिखारी लगते हैं (ऐसा कहे) **तथापि कभी अपने चित्त में खेद नहीं करते...** गोंडल में एक कोठारी था। मस्तिष्क घूम गया। अमृतलाल। रास्ते में डेला (था), उस डेला में साधु आहार लेने आवे तो कहे ऐई ! इन्हें आहार देना.. आहार... बेचारे भूखे आये हैं। मस्तिष्क अस्थिर था। उपाश्रय के उस ओर। स्वामी नारायण का मन्दिर था, उसके उस ओर। वह बोला था, यह हमें खबर है, हों ! उसकी बहू बेचारी बहुत खानदानी। महिलायें बहुत खानदानी। महाराज ! इन्हें बोलने की इन्हें... मस्तिष्क अस्थिर है, हों ! आप ध्यान मत देना। मस्तिष्क अस्थिर है, ऐसा बोले। गोंडल में। यह तो सब हमारे बहुत अनुभव किया हुआ है न ? महिलायें बेचारी खानदानी महिलायें। महाराज ! यह बोले उसमें ध्यान मत देना। इनका मस्तिष्क अस्थिर है। पधारो.. पधारो.. पधारो। वह ऐसा कहे, ऐई ! इन्हें देना.. देना.. बेचारे भूखे होंगे। मस्तिष्क अस्थिर, क्या करे ? ऐसे ये पागल हैं। सत्य बात नहीं समझे, उसका मस्तिष्क अस्थिर है, ऐसा मानकर लेते हैं। वस्त्र–पात्रसहित और मुनि को याचना... आहा..हा.. ! पागल है, पागल कहते हैं। भाई ! उस पागल के सामने देखना नहीं, भाई ! कहो, समझ में आया ?

जंगल में रहें, कोई उनको भला (अच्छा) कहे, कोई उनको बुरा (खराब) कहे, तथापि कभी अपने चित्त में खेद नहीं करते... शान्ति झरती है। आहा..हा.. ! अकारण चले जा रहे हों और पत्थर मारता जाये। कहो, समझ में आया ? स्वतन्त्र है, वह परमाणु की पर्याय होनेवाली है। अरे ! ऐसा साधारण मनुष्य मुझे ऐसा करे ? ऐसा नहीं

विचारते। ऐसा विकल्प नहीं करते। संसार ऐसा ही चलता है। स्वयं आत्मा की शान्ति से अरति नहीं होने देते।

८- अलाभ परीषह - जैसे आहार इत्यादि नहीं मिलने से उसकी याचना नहीं करते, वैसे महीनों तक आहार की प्राप्ति न होने पर भी अपने मन में रंचमात्र भी खेद नहीं लाते। समझ में आया? आहा..हा..! इस प्रकार **अलाभ परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।** देखो! न मिले तो खेद नहीं करते कि अरे रे! यह मजदूर लोग ये रोटी पेट भरकर खायें, हमको जरा भी आहार नहीं!

मुमुक्षु : आज के श्रावकों को, साधु को कैसे आहार देना, यह भी नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसे आहार देना और क्या वस्तु देना, इसकी भी खबर नहीं है। अब तुझे क्या काम है? अलाभ से शान्ति रखते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? वे वापस इस गृहस्थाश्रम में भी यह सब समझने जैसी बात है, हों! यह अकेले मुनि की बात नहीं चलती। सबको ऐसा करना पड़ेगा। यह किये बिना उसे धर्म-शान्ति नहीं होगी।

एकदेश से गृहस्थाश्रम में भी भानसहित सहन करना। सरल मुनि तो महा 'अणगारे जाया' - नया जन्म हो गया वह तो। वीतरागदशा प्रगटी, वह जन्म नया हो गया। ऐसा पाठ आता है 'अणगारे जाया'। अणगाररूप से जन्मे - वीतरागभाव से अन्दर में जन्मे। पूरा भव बदल गया, अवतार बदल गया। हम बनिये थे और यह अमुक राजा थे, सब मिट गया। हम पुरुष हैं और यह स्त्री, सब मिट गया। 'अणगारे जाया।' वीतरागदशा के पुत्र हो गये। उसका जन्म हो गया। आहा..हा..! श्वेताम्बर में ऐसा शब्द आता है। उस समय बात करते, हों! थोड़ा-थोड़ा करते।

यह कहते हैं। महीने-महीने का आहार न मिले तो भी शान्ति रखे। समझ में आया? संसार में भी अनेक प्रकार से बनता है न? ऐसे चूरमा के लड्डू बनाये हों और १०६ डिग्री का बुखार। खाने के लिये बनाया हो। आठ बजे कहा कि यह बनाना। घर में पच्चीस लोग। ऐसे चूरमा, अरवी के भुजिया तलकर रखे हों। आठ बजे वहाँ एकदम १०६ डिग्री बुखार। कुछ खाया नहीं जाता। मुनि का तो शान्ति से दुनिया के ढेर देखे, वे मुझे नहीं? आहार नहीं मिले, तथापि ऐसी शान्ति रखे, उसे अलाभ परीषह जीतना कहने में आता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८१ गाथा-२०६ से २०९ शनिवार, आषाढ़ कृष्ण १४, दिनांक ०५.०८.१९६७

२०६, २०७, २०८ गाथा चलती है। मुनियों को बाईस परीषह सहन करना। श्रावक को भी उसमें से तीन रत्न देश से (एकदेश से) प्रगट करके सहन करना। जितनी यह मुनि की बात चलती है, वह सब एकदेश से श्रावक को भी लागू पड़ती है। यह बाद की गाथा में आयेगा। अब के बाद की गाथा में यह आयेगा। समझ में आया? जिसे आत्मा को स्वतन्त्र करके मुक्ति साधना है अथवा जिसे आत्मा में सुखरूप होना है, उस सुखरूप होनेवाले के दो प्रकार – एक श्रावक और एक मुनि। समझ में आया? दुःख को मिटाना है और सुखरूप होना है। सुखरूप होनेवाले मुनि तीन रत्नत्रय को विशेष सुखरूप से साधन करके साधते हैं। श्रावक देशरत्नत्रय को प्रगट करके, देश (एकदेश से) से सुख के साधन को साधता है। उसमें ऐसे प्रकार की प्रतिकूलता आवे, उसमें सुखरूप रहना, शान्ति रखना। चारित्र की अपेक्षा से बात है न? समझ में आया? उसे परीषहजय कहने में आता है। आठ परीषह हो गये हैं।

९– दंशमशक परीषह –... मुनिराज जंगल में वनवास में होते हैं, वहाँ **डांस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा आदि...** बिच्छु, सर्प इत्यादि **डंक की पीड़ा जगत के प्राणी सहन नहीं कर पाते...** चिल्लाने लगते हैं। जरा चींटी ऐसे चटका भरे चींटी, डांस भरे जहाँ, वहाँ नींद नहीं आती। **योगीश्वर उन सबकी बाधा–पीड़ा सहन करते हैं,...** योगी अर्थात् आत्मा के स्वरूप में जुड़ान करनेवाले। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप शुद्ध है, उसमें अन्दर जोड़ना, योग जोड़ना, स्वरूप की एकाग्रता करना, उसे यहाँ योगी कहने में आता है। एकदेश से योगी श्रावक भी है, सर्वथा योगी मुनि हैं। श्रावक भी एकदेश योगी है। जैन में योगी कहाँ से आये? दूसरों में होते ही नहीं। अनादि का राग और द्वेष में जो जुड़ान किया है, उसे आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप में अन्तर जुड़ान.. अन्तर जुड़ान..

अन्तर जुड़ान करना, उसका नाम योगी। समझ में आया? मुनि योगी हैं। श्रावक भी देशयोगी हैं।

योगी पुरुष उन सबकी बाधा-पीड़ा सहन करते हैं,... आहा..हा..! जंगल में बिच्छु काटे और लाखों-करोड़ों डांस (एक प्रकार का मच्छर) (हों)। यहाँ मकान में पड़े हों और ओढ़ा हो, उसमें डांस यदि अन्दर से मारे तो इसे ऐसा हो जाये। यह तो ऊपर से डांस मारे। पतला कपड़ा मलमल का ओढ़कर सो रहा हो तो ऊपर से डांस मारे। अन्दर घुस गया हो तो वहाँ अन्दर काटा करे। वस्त्र ओढ़ा हो तो। मुनि को वस्त्र (नहीं होता)। ध्यान में, आनन्द में है। नित्यानन्द भोजी। आत्मा अमृतस्वरूप, सुख का सागर, उसका (अवलम्बन) मुनि को उग्ररूप से होता है। ऐसे ऐसे प्रसंग में बिच्छु काटे तो (लोग) चिल्लाने लगे। बुलाओ डॉक्टर को, बुलाओ, वह इंजेक्शन दे। वहाँ कहाँ डॉक्टर और इंजेक्शन था? शान्त है। आहा..हा..! इस धीरज की कितनी उत्कृष्टता! बिच्छु के डंक। कहो, उसमें किसी समय ध्यान में बैठे हों और बिच्छु की अनेक प्रकार से कतार निकली हो। बिच्छु की कतार। वह सब काटे। मुनि अपने स्वरूप में सावधान हैं। उस सावधानी में क्षमारूप से ज्ञातादृष्टा रहकर सहन करे, ऐसा है। मार्ग तो ऐसा है, वह दु:खरूप नहीं, हों! सुखरूप है। वह प्रतिकूल निमित्त लगा है, वह इसे दु:खरूप नहीं दिखता। अन्तर में शान्ति में, आनन्द में उस ओर विशेष झुकते हैं। इसलिए आनन्द में रहते हैं, उसे परीषहजय कहने में आता है। दु:ख में रहे, वह परीषहजय करे तो (दु:ख से) जीता गया है। समझ में आया?

उस दिन यह प्रश्न हुआ था। फूलचन्दजी के साथ। अर्थात् पहले दु:ख हो, ऐसा नहीं? मैंने कहा, नहीं; ऐसा नहीं होता। (संवत्) २००३ के वर्ष की बात है। परीषह तो उसे कहते हैं कि उस समय दु:ख जरा भी नहीं। तब तो व्याख्या ऐसी हो जाये कि कुछ प्रतिकूलता आवे, इसलिए थोड़ा दु:ख तो हो। समझ में आया? निर्जरा अधिकार में आया है, वह अलग बात है। आया है न? कि सुख-दु:ख वैदे, उसे थोड़ा तो जरा होता है। दूसरी गाथा में आता है न? द्रव्यकर्म की निर्जरा वह है, फिर भाव की निर्जरा में दूसरी गाथा में आया न? साता-असाता का... जरा सी अशुद्धता थोड़ी होती है। परन्तु खिर जाती है, ऐसा फिर कहना है। भाई! निर्जरा में आता है न? थोड़ा वहाँ होता है। ऐसा नहीं। वापिस दोनों में अन्तर है। समझ में आया? यहाँ तो ऐसे शान्त.. शान्त.. जिस समय प्रतिकूलता के निमित्त

हैं, उसी समय स्वभावसन्मुख की सावधानी और उग्रता है। आहा..हा..! समझ में आया?

कहते हैं कि उसमें बाधा–पीड़ा उत्पन्न करे ऐसे... क्योंकि **कीड़े इत्यादि जन्तु नग्न शरीर को बहुत बाधा-पीड़ा उत्पन्न करते हैं...** कपड़े–बपड़े हों, तब तो अभी कुछ थोड़ा... यह तो खुला शरीर है, चारों ओर काट खाते हैं। **मुनि महाराज कभी भी मन में खेद करते नहीं। इस तरह दंशमशक परीषह जीतते हैं।** खेद नहीं करते, इसका नाम परीषहजय है। समझ में आया? आहा..हा..! भगवान चैतन्यमूर्ति की रमत में–रमणता में चढ़ गये हैं न? आत्मा उसकी रमणता में चढ़ गया है। ऐसे समता.. समता.. समता.. होती है। जिसने राग की क्रीड़ा छोड़ दी है। समझ में आया?

१०– आक्रोश परीषह – जो कोई मुनिराज को देखकर निन्दा करते हैं, दुर्वचन कहते हैं, गाली इत्यादि देते हैं, परन्तु ऐसे निष्ठुर वचन सुनकर किंचित्मात्र खेद नहीं करते,... है न? खेद नहीं करते... खेद नहीं करते। देखो! सर्वत्र चला आता है, हों! समझ में आया? **उत्तम क्षमा ही धारण करते हैं।** आक्रोश वचन के समय जानते अवश्य हैं कि यह क्या है? क्रोध हो तो शान्ति से सहन करे। ऐसा व्यक्ति कैसे? हम एकान्त में बैठे हैं, निरपराधी हैं। समझ में आया? ऐसा कैसे? भाई! निरपराधी उस समय जो है, उसे स्वभाव की शान्ति से वेद। शान्ति प्रगट कर। भगवान में शान्ति पूरी पड़ी है। समझ में आया?

श्रीकृष्ण में आता है न? वन में श्रीकृष्ण को जब पैर में बाण लगा न? कौशाम्बी वन में अकेले। उत्तम पुरुष हैं। पैर पर पैर चढ़ाकर (सो रहे हैं)। पैर में मानो मणि है (ऐसा समझकर) उसने मारा। मारा साथ में आवाज करता है। कौन है वन में निरपराधी को मारनेवाला? ऐसी आवाज की। हमने किसी का अपराध नहीं किया। कौन है? प्रसिद्ध होओ। वन में यह पशु कौन है? हमें – निरपराधी को इस प्रकार से (मारता है)? ऐसा मुनि को नहीं होता। समझ में आया? हमन निरपराधी हैं और यह कौन है? यह तो ऐसा ही चलता है। सेठी! आहा..हा..! **उत्तम क्षमा ही धारण करते हैं। इस प्रकार मुनिराज आक्रोश परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।**

११– रोग परीषह – पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में पीड़ा हो... सात सौ वर्ष का गलित कोढ़। सनतकुमार चक्रवर्ती मुनि। जिन्हें छियानवें

हजार स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम में थीं और सोलह हजार देव सेवा (करे)। मुनि हुए। सात सौ वर्ष का, सात सौ वर्ष का गलित कोढ़, हों! ये अंगुलियाँ गलने लगीं। मुनि, नग्न मुनि ध्यानी। शान्ति है। देव आये (कहा दवा) कर दूँ, यह मिटा दूँ। सुन भाई! उनके पास लब्धि थी। (अपना) थूक लगावे तो मिट जावे ऐसी (लब्धि थी)। वह पूर्व के कर्म पड़े हैं, वे खिरे बिना, इस ओर शान्ति का साधन किये बिना वे कैसे मिटेंगे? रोग टालना नहीं, रोग मिटाना नहीं। होवे अपने आप खिर जाये। कहो, छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती। जिसकी पलंग में यह गाँठ लगा हुआ डोरा होता है न डोरा? ऐसा उसे सोने में नहीं होता। गाँठ लगा हुआ डोरा होवे तो चुभे। यह गद्दा सिला हुआ होता है न? गद्दे में एक और डोरा डालते हैं न? रुई इकट्ठी न हो जाये इसलिए। बीच में डालते हैं, इसलिए बालिस्त-बालिस्त नीचे सिलते हैं। वहाँ ऐसी गाँठ नहीं होती। उस पर चद्दर बिछाते हैं, वह भी चुभती है। ऐसे कोमल शरीर। सेठी! आहा..हा..! जिसने गिना नहीं। कंकरवाली जमीन, अन्दर पड़े हों (स्थित हों), आनन्द में मस्त हैं। समझ में आया? यह कहेंगे।

पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में पीड़ा हो जाय तो मुनि महाराज उस रोग से दुःखी होते नहीं। वे दुःखी नहीं होते। पहले दुःखी हों और फिर दुःखी नहीं होते **परन्तु वह तो पूर्वकृत कर्मों का फल है ऐसा जानकर...** जानते हैं कि यह तो कर्म का उदय है तो शरीर में रोग है। कहो, मुनिदशा हुई छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, उसे इतनी असाता रही। चक्रवर्ती।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जब जिस काल में आना हो, तब आता है न? कहो समझ में आया? **पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं। इसे रोग परीषह कहते हैं।**

१२- मल परीषह - मुनिराज महाराज को स्नान इत्यादि न करने से धूल, पसीना आदि आने के कारण मैल जैसा जम जाता है परन्तु उस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। क्योंकि अपने आत्मगुणों में लीन रहते हैं...जिन्हें बारम्बार शुद्धोपयोग ही जम गया है। शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध। शुभ-अशुभ भी नहीं। शुभ भी नहीं। किसी समय

शुभ आता है। शुद्ध में... शुद्ध में। ऐसी जिनकी दशा, उसे यह रोगादि हो, मल आदि को वे गिनते नहीं।

१३– तृण स्पर्श परीषह – चलते समय अथवा बैठते समय जीवों की रक्षा करने में तत्पर... अर्थात् दूसरों को नहीं मारना। मुनि महाराज को यदि काँटे, कंकड़ इत्यादि लग जाये तो वह पीड़ा दूर करने के लिये कुछ भी उपाय नहीं करते... कहो, कंकड़ ऐसे अणीदार हों, वे पैर में घुस जायें। बड़ा काँटा हो, गोखरू। आहा..हा..! समझ में आया? **अपने आत्मध्यान में ही लीन रहते हैं...** आनन्द का अनुभव, आनन्द का भोजन लेते हुए, उस आनन्द का भोजन करके शान्ति रखते हैं। ऐसा कहते हैं। पैर में कंकड़ घुस जाये। कोमल... शियालनी ऐसे खाती है, टुकड़े करती है। शान्त... तीन दिन तक। इस ओर नहीं, इस ओर। कहाँ देखते हो तुम? कहो, समझ में आया? शान्त... तीन दिन तक। टुकड़े... टुकड़े... टुकड़े... (करके खाती है)। यह वध परीषह में आयेगा। कहो, समझ में आया?

१४– अज्ञान परीषह – संसारी समस्त प्राणी अज्ञानवश दुःखी हो रहे हैं, उसी प्रकार यदि किसी योगी को पूर्व ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने से तथा बहुत तप करने पर भी तथा पठन–पाठन का उद्यम करने पर भी यदि ज्ञान की वृद्धि न हुई... कदाचित् उघाड़ विशेष न हो। ऐसा कुछ नहीं कि मुनि हुए, इसलिए ज्ञान का उघाड़ अधिक ही हो। अन्तर की दृष्टि और स्वरूप की स्थिरता की उग्रता हो। समझ में आया? ज्ञानावरणीय के कारण से... समझ में आया? कर्म का उदय होने से... और बहुत इतनी अपनी कमजोरी उस प्रकार की है। यहाँ निमित्त से कथन है।

मुनिपना पालते हुए, पठन–पाठन का उद्यम करने पर भी ज्ञान की वृद्धि न हो, वह क्षयोपशम उस प्रकार का न हो तो निरुत्साहित नहीं होते। समझ में आया? कहे, अरे! यह मुनि हुए, चारित्रवन्त हुए, इतना–इतना ध्यान, आनन्द करते हैं, यह साधारण मनुष्य तो बहुत उघाड़ और विकास है, मुझे क्यों नहीं? ऐसा नहीं होता। समझ में आया? देखो, यह अज्ञान परीषह। ज्ञान का विशेष विकास न हो, उसमें समता रखना। कहो, चौथे गुणस्थान में किसी को तीन ज्ञान हों, छठे गुणस्थान में मति और श्रुत दो ही हों। कहो, समझ में आया? छठवें गुणस्थान में किसी को बारह अंग का उघाड़ हो। देव को लो–सर्वार्थसिद्धि के देव को। इस छठे गुणस्थान में (मुनि को) थोड़ा उघाड़ हो। दृष्टि और स्थिरता पर वजन

है। समझ में आया? आत्मा निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप की दृष्टि हुई है और स्वरूप में स्थिरता / वीतरागता जमी है। बस, यही मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान का उघाड़ हीनाधिक हो, उसका खेद नहीं करते। किसी को हो, उससे क्या? छठवें गुणस्थान में विशेष बोलना भी न आवे। शिवभूति मुनि। मातुष-मारुष इतने शब्द भी याद नहीं रहे।

मुमुक्षु : चार शब्द हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं रहे। मातुष-मारुष। छह अक्षर हैं। मारुष, मातुष। क्षयोपशम न हो, वे उकताते नहीं हैं। कहो, समझ में आया? मेरी दृष्टि चैतन्य पर है और स्थिरता शान्ति है, बस! यही मेरा मार्ग है। अधिक उघाड़ हो, न हो। उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। देखो! यह अज्ञान परीषह। समझ में आया? अरे! तीन-तीन कषाय का नाश किया, स्वरूप में भिन्नता जमी, छठवें-सातवें गुणस्थान में हजारों बार दिन में आते हैं, तथापि उघाड़ नहीं होता, ऐसा खेद नहीं होता। समझ में आया? प्रयोजन तो आत्मा को पकड़ना, आत्मा की दृष्टि और आत्मा को ज्ञान से पकड़ा है, बस! और स्थिरता की है, यही प्रयोजन तीन रत्न का साधन है। समझ में आया?

ज्ञानी में वृद्धि न हो सके तो भी वे मुनिराज अपने मन में खेद नहीं करे कि मुझे अभी तक ज्ञान नहीं हुआ। परन्तु क्या है? अभी केवलज्ञान होगा। स्वरूप में दृष्टि है और स्वरूप में स्थिरता है। अभी केवलज्ञान होगा। छोड़ न, क्या काम है तुझे? आहा..हा..! समझ में आया? कहो, हजारों लोग ऐसे बोलते हों, ऐसे जानपने की कितनी-कितनी बातें करते हों और इसे इतना याद रहता न हो। खेद नहीं करना, ऐसा कहते हैं। मूल प्रयोजन की बात पकड़ी है। स्वरूप शुद्ध निर्विकल्प की दृष्टि है और वस्तु में स्थिरता है। बस, हो गया तुझे सब काम हो गया, जाओ। अमरचन्दभाई! आहा..हा..! दुःखी नहीं होते। समझ में आया?

१५- अदर्शन परीषह - जगत के जीव समस्त कार्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये करते हैं और यदि पुरुषार्थ के करने पर भी प्रयोजन की सिद्धि न हो तो क्लेश मानते हैं... दुनिया दुःखी होती है। अरे! इतना किया परन्तु कुछ आया नहीं। **परन्तु वह मुनिराज ऐसा विचार नहीं करते कि मैं बहुत तप करता हूँ...** इतना ध्यान करता हूँ, जंगल में रहता हूँ, ऐसे तप करते हुए लाखों वर्ष हो गये हैं। **स्वाध्याय करता हूँ, समस्त कषायों पर विजय प्राप्त कर चुका हूँ...** देखा! **संयम पालन करता**

हूँ... स्वरूप में स्थिर हूँ। **परन्तु आज तक मुझे कोई ऋद्धि पैदा नहीं हुई...** ऐसा नहीं होता। अदर्शन परीषह। अरे! कुछ अवधिज्ञान नहीं हुआ, मन:पर्ययज्ञान नहीं हुआ, कोई लब्धि प्रगट नहीं हुई। ऐसा भाव मुनि को नहीं आता। आहा..हा..! समझ में आया?

श्रावक को भी ऐसा लेना, हों! गृहस्थाश्रम में आत्मा का ध्यान – श्रद्धा प्रगट हुई है, स्थिरता प्रगट हुई है, ज्ञान का उघाड़ विशेष न हो। उससे क्या? साधन तेरा चलता है। समझ में आया? मोक्ष के सन्मुख है। अब तुझे बीच में दूसरा क्या काम है? खेद न करे। कम जानपने के लिये, दूसरे का विशेष जानपना देखकर खेद न करे। आहा..हा..! समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति अन्तर में निर्विकल्प दृष्टि से ध्यान में लिया है, वही सब केवलज्ञान पाने का बीज तो वह है। समझ में आया? अब उसे पकड़कर बैठा, अब उसे ज्ञान उघाड़ कम–ज्यादा हो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है न। यह तो साधारण बात है। यह अन्दर है। वह तो गृहस्थ जरा उलझता है, इसलिए इसकी बात करते हैं। यहाँ तो अभी यहीं की बात है। मुनि और श्रावक, सच्चे श्रावक हैं। उसमें एक समाधान किया था। एक भाई उलझते थे न। हमें सब खबर है। दर्शन परीषह... सब खबर है। सब व्याख्या की खबर है। कहो, समझ में आया?

यह तो मुनि महाराज और श्रावक पाँचवें गुणस्थान में वर्तते हैं, मुनि छठवें–सातवें में विराजमान हैं। उन्हें इतनी–इतनी तपस्यायें, ध्यान करते हैं, शास्त्र–स्वाध्याय करते हैं, पठन–पाठन करते हैं, दिन में कुछ चूकते नहीं हैं और यह ज्ञान चढ़ता क्यों नहीं? समझ में आया? बढ़ता क्यों नहीं? चढ़ता नहीं, वह अज्ञान में जाता है। बढ़ता क्यों नहीं? ज्ञान अतिशय क्यों नहीं होता? यह अतिशय ही है। सुन न! समझ में आया? भगवान आत्मा उसके स्वरूप के आरूढ़ में चढ़ा है, उसे सब बढ़ा है। समझ में आया? खेद को प्राप्त नहीं होता। **ज्ञानातिशय हुआ नहीं, तो क्या तप इत्यादि का कुछ फल होगा या नहीं?– इस प्रकार उनके मन में कभी संशय नहीं होता...** समझ में आया?

१६– प्रज्ञा परीषह – संसार के जीवों को थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर

उसका अति गर्व करने लग जाते हैं... थोड़ा जानपना हो, थोड़ी बातें करना आवे तो बस, अपने को ओहो..हो..! बहुत आया। मूल वस्तु की तो खबर नहीं होती। ऐई! न्यालभाई! समझ में आया? इसमें कितने ही होते हैं न? थोकड़ा-बोकड़ा बोले वहाँ ओहो..हो..! मानों बहुत हो गया। क्या है अब थोकड़ा। प्रश्न-उत्तर आवे तो। आहा..हा..! क्या बढ़ गया? अभिमान हो जाये, अभिमान।

(संवत्) १९७५ के वर्ष में एक शब्द कहा था। प्रेमचन्दभाई को याद है न? कम ज्ञान, वह अवगुण नहीं; उल्टा ज्ञान, वह अवगुण है, ऐसा कहा था। बीछिया में १९७५ के वर्ष में। समझ में आया? कम ज्ञान, वह अवगुण नहीं, परन्तु विपरीत बुद्धि है, वह महा अवगुण है। वह खोटी दृष्टि, विपरीत दृष्टि है। अमरचन्दभाई! सुलटा ज्ञान, परन्तु भले थोड़ा हो और विशेष न हो तो वह कहीं अवगुण नहीं है। समझ में आया? ज्ञान विपरीत है। अपने स्वरूप की ओर का साधन नहीं करता और वाद-विवाद, झगड़ा यह मैं बड़ा हुआ, तुझे आता नहीं, मुझे आता है। यह ज्ञान तो अवगुण में गया। समझ में आया? हमारे तो यह अन्दर बहुत चलता था न। २५+२३=४८ वर्ष हुए। यह सूत्र रखा हुआ है। कम ज्ञान, वह अवगुण नहीं; विपरीत ज्ञान, वह मिथ्यादृष्टि का अवगुण है।

संसार के जीवों को थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर उसका अति गर्व करने लग जाते हैं... हमें आता है, हम जानते हैं, हम पारंगत हो गये हैं, हम तो सबमें उतर गये हैं। भाई! ऐ बापू! इसका अभिमान नहीं होता। भगवान आत्मा जो केवलज्ञान की खान है, उसे पकड़े, उसे फिर ऐसे उघाड़ के अभिमान नहीं होते। समझ में आया? लो! **महामुनिराज को अवधिज्ञान या मन:पर्ययज्ञान हो जाये तो भी उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान-घमण्ड नहीं होता...** अरे! अवधि और मन:पर्यय हुआ तो खबर न पड़ती हो। उपयोग लगावे, तब खबर पड़े। वह नहीं आता? विष्णु (कुमार) मुनि। एक मुनि थे, उन्हें खबर नहीं थी। परन्तु तुम्हें विक्रियालब्धि प्रगट हुई है और अभी मुनियों को भयंकर परीषह (उपसर्ग) है। हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के आस-पास की जमीन तपाते हैं।....मुनि उनके ध्यान में हैं। (बाहर में) उपसर्ग में हैं। आपको लब्धि प्रगट हुई है, इसलिए कुछ करो। उन्हें तो खबर भी नहीं। विक्रियालब्धि प्रगट हुई है, यह खबर नहीं। ऐसे हाथ लम्बा किया तो हाथ बड़ा हो गया। तब जाना कि ठीक है। अब वहाँ चलो। कहो, समझ में

आया? यह तो पूँजी हो तो बाहर फूँके, ढ़िंढ़ोरा पीटे। दस लाख आवे, पाँच लाख आवे।

मुमुक्षु : पहले के लोग गम्भीर थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! खबर क्या कहा न, जगडुशा था, जगडुशा। पैसा कितना इसकी खबर नहीं पड़ती। खबर नहीं पड़े कि कितने पैसे थे। अभी तो मकान बनावे और सब करे। बाहर प्रदर्शन अधिक करे, अपने पास पैसा पच्चीस लाख, पचास लाख, परन्तु मकान दो–पाँच–दस के... बाहर प्रदर्शन बिना क्या? और लड़की का विवाह आया तो ठीक से एक बार बाहर प्रदर्शन करे तो कुछ काम आवे। वह का वह करे। पूर्व में पैसे बिना लकड़ी का विवाह किया था, पैसे के समय लड़की का विवाह हो और पूँजी का प्रदर्शन न करे तो पूँजी को देखे कौन? कहो, समझ में आया? सब संसार ऐसा है। मुनि को शान्त... शान्त... आहा...हा...!

अवधिज्ञान प्रगट हुआ, मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ, विक्रियालब्धि प्रगट हुई हो, वचनसिद्धि प्रगट हुई हो, उन्हें अभिमान नहीं होता। यह क्या? केवलज्ञान की वृद्धि प्रगटे, वहाँ तक तो मैं पामर हूँ। केवलज्ञान न प्रगटे, तब तक पामर हूँ। यह किसका अभिमान? अवधि और मनःपर्यय भी केवलज्ञान के अनन्तवें भाग है। आहा..हा..! और ऐसे केवलज्ञान के अनन्त केवलज्ञान का पिण्ड ध्रुव आत्मा है। उसका जिसने आदर किया, उसे केवलज्ञान का भी अधिकपना नहीं और केवलज्ञान, वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। अमरचन्दभाई! आहा..हा..! क्योंकि प्रगट होता है, इसलिए व्यवहारनय का विषय है। भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप रहता है। शुद्धचिदानन्दपरमात्मा का जहाँ आश्रय और दृष्टि हुई है, उसे ऐसे विशेष उघाड़ हो, उसका अभिमान नहीं होता। कहो, समझ में आया? आहा..हा..! बात–बात में शास्त्रकार तो कितना डालते हैं, देखो! **ज्ञान का अभिमान–घमण्ड नहीं होता, उसे ही प्रज्ञा परीषह कहते हैं।**

१७– सत्कार–पुरस्कार परीषह–देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, संसार के सभी जीव आदर–सत्कार से हर्षित होते हैं... नारकी तो बेचारे दुःखी हैं। उनका तो यहाँ लेना नहीं। कुत्ते को भी आओ... आओ... आओ... करे तो टुं.. टुं.. करते हुए प्रसन्न होता है या नहीं? दौड़ करे दौड़ । टुं.. टुं.. करे। टुं.. टुं.. करे न? क्या करे? कुत्ते को बुलावे। प्रसन्न हो, पूंछ लटकावे। ऐसे–ऐसे करे। सत्कार करे तो सब प्रसन्न होते हैं। देव प्रसन्न, मनुष्य

प्रसन्न, पशु प्रसन्न। **सत्कार करनेवाले के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं...** अनुकूल के प्रति प्रेम रखते हैं। मुझे पहचान सका। **अनादर करनेवाले के प्रति शत्रुता रखते हैं...** कहो, समझ में आया? **अज्ञानी जीव अनेक कुगुरुओं और कुदेवों को पूजा करता है,...** देखो? **परन्तु मुनि महाराज के मन में ऐसी भावना उत्पन्न नहीं होती...** क्या कहते हैं? यह कुदेव, कुगुरु को माने और मुझे मानते नहीं? मुझे ये सत्कार करते नहीं। मैं तो मोक्षमार्गी हूँ। मेरा आत्मा मोक्ष के लिये तैयार है। इस कुगुरु को ये राजा मानते हैं। इस प्रकार सत्कार-पुरस्कार का उन्हें खेद नहीं होता। समझ में आया? देखो!

अज्ञानी जीव अनेक कुगुरुओं और कुदेवों को पूजा करता है,... लो। कुदेव, कुगुरु एक नग्न होकर बैठा हो, साधारण हो। अन्यमती का बाबा सिर पर जटा-बटा लेकर बैठा हो। उसे कहे जय महाराज! ये लोग उसे पूजते हैं और मुझे आदर नहीं करते, ऐसा खेद नहीं होता। समझ में आया? **ऐसी भावना उत्पन्न नहीं होती कि कोई पूजा नहीं करता, अर्थात् वे किसी से आदर-सम्मान नहीं चाहते। इस प्रकार सत्कार पुरस्कार...** सम्मान और मुख के सामने करना। समझे न? मुख के सामने करना। समझे न? यह मैं इतना पढ़ा हूँ तो मुझे सामने तो करते नहीं और वह साधारण पढ़ा, उसे सामने आगे करके बैठाते हैं। समझ में आया? पुरस्कार है न? मुख के सामने करके बैठाना, प्रमुख करके बैठावे। ठोठ निसालिया (बुद्धिविहीन) जैसा साधारण हो। हमें तो कोई पूछते नहीं। सेठिया को बैठाते हैं। ऐसा साधारण पढ़ा हुआ हो। अंग्रेजी-बंग्रेजी पढ़ा हो, दूसरा तत्त्व का भान कुछ न हो। प्रमुख, सभा के सभापति। सेठी! वहाँ वे मुनि हों, उसे कहे भाई! मुझे...

मुमुक्षु : ....पेट भर जाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट भर जाये।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : न्यालभाई तो इनकार करते थे कि यह सब उपाधि सिर पर कहाँ ली? उसे लड़के को, भतीजे को। उसने रुपये दिये, वहाँ तुम अब उसमें बँधे। सब करना पड़ेगा। डाला गले में। व्यर्थ की उपाधि है। वहाँ कहाँ मान और सम्मान को। वह कहीं गिरवी रखा जाये ऐसा है। मान-सम्मान बहुत मिले। घरेणे... घरेणे समझे। गिरवी रखे ऐसा है कि भाई! हमें मर जाना है, लो! गिरवी रखो तो दुर्गति में जाने से अटक जायें। यह

आबरू–फाबरू कहीं गिरवी नहीं रखी जाती। यह तो यहीं की यही पड़ी रहेगी। **कोई पूजा नहीं करता, अर्थात् वे किसी से आदर–सम्मान नहीं चाहते।**

१८. शय्या परीषह–जगत के जीव विषयाभिलाषी होकर कोमल शय्या पर शयन करते हैं... मक्खन जैसे ऐसे रेशमी गद्दे पर सोते हों। रेशमी गद्दे, एक नहीं दो–तीन डालते हैं। **मुनिराज वनवासी होकर कँकरीली विषम भूमि में रात्रि के पिछले प्रहर में...** आहा..हा..! **मुनिराज वनवासी...** वह महल में। समझ में आया? **कोमल शय्या पर...** तब वे (मुनिराज) **कँकरीली भूमि में...** वनवासी जंगल। मुनि तो वन में बसते हैं। आहा..हा..! जिन्हें तीन कषाय का अभाव (हुआ है), वीतरागभाव (प्रगट हुआ है)।

प्रात:काल रास्ते में कुछ चर्चा नहीं हुई थी? रास्ते में कुछ बात हुई थी। शान्तिभाई! गोचरी की। वह तो गोचरी की हुई थी। गो–चर अर्थात् गाय की तरह। अधिक घर में जाये, ऐसा नहीं। गो–गाय जैसे चरती है न? गाय ऊपर–ऊपर से खाती है। गाय का रिवाज ऐसा, वह घास–खास तो ऊपर से खाती है। मूल नहीं खिंचती और गधा खाता है, वह मूल खिंचता है अर्थात् गाय ऊपर से खाती है और वापस उतना–उतना रहता है। वह वापस बढ़ता है। इसलिए यह लाईन। गाय देखो! यहाँ देखा। मैंने तो वापस सब खड़े रहकर देखा है। वे गायें ऊपर–ऊपर से खाती हैं; इसलिए मूल ऐसा का ऐसा रहता है और इतना–इतना भाग रहता है, वह वापस बढ़ता है और गधा पूरा खींचकर खाता है; इसलिए हो गया, समाप्त हो गया। वापस बढ़ने का नहीं रहता। इसी प्रकार मुनि गोचरी गाय। बहुत घर नहीं, हों! उसका ऐसा अर्थ नहीं। किसी समय ऐसा होता है कि एक ओसारी में दो–चार घर हों। एक ओसारी में, हों! ऐसे सीधी। और स्वयं भिक्षा के लिये बाहर खड़े हैं और कोई दूसरा एक ओसारी में हो और दिखायी दे, वहाँ से लेकर आते हैं परन्तु उल्टे–सीधे कोई दूसरे घर में (जायें), ऐसा नहीं है। अपना मुहल्ला छोड़कर दूसरे मुहल्ला से कोई लेकर आवे तो (वहाँ जाये) ऐसा नहीं है। देखो तो सही, वीतराग का मार्ग। ओहो...हो..! समझ में आया? आनन्द के अंकुर चरने निकले हैं न वे! समझ में आया? उन्हें ऐसे एक घर में जाकर... ....बहुत मान दे। मान अर्थात् कहीं भिखारी की तरह हमें नहीं लेना। ऐसा। महाराज! पधारो। तब खड़े रहते हैं, थोड़ा लेते हैं। चल निकलते हैं। आहा..हा..! यह मोक्षमार्गी की दशा, चारित्रवन्त की ऐसी दशा। वीतरागमार्ग में ऐसा आता है। वनवासी चले जाते हैं। समझ में आया?

कँकरीली विषम भूमि में रात्रि के पिछले प्रहर में... वह भी मुनि तो पिछली रात में। शाम पड़े नौ बजे सोवे, ऐसा मुनि को नहीं होता। **रात्रि के पिछले प्रहर में एकासन से...** ऐसे सोते हों तो ऐसे और ऐसे सोते हों तो ऐसे। करवट नहीं बदलते। आहा..हा..! वह भी **थोड़ी निद्रा...** एक थोड़ी निद्रा लेते हैं। एक पौन सेकेण्ड के अन्दर थोड़ी निद्रा आवे और जग जाते हैं। रामचन्द्रजी! ऐसी बात है भगवान! मुनि किसे कहें? आहा..हा..! एक छठवाँ गुणस्थान जरा प्रमत्त आता है, इतने में थोड़ी पौन सेकेण्ड के अन्दर निद्रा ले। तुरन्त सातवाँ आ जाता है। जंगल में कंकरी में पड़े हों, वहाँ आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अरे! वीतराग कथित चारित्र सुखदाता है। मोक्ष के मार्ग में चलते हैं न... अल्पकाल में मुक्ति। ऐसे श्रावक को भी यह करना पड़ेगा, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? यह गाथा तुरन्त आती है। ...२०९, इसके बाद उसमें ही आता है।

क्षीण शरीर में कंकड़ आदि चुभते हैं, उनसे दु:खी नहीं होते, परन्तु ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव! तूने नरक की तीव्र वेदना (अनन्त बार) सहन की है, उसके समान अन्य कोई विष* भूमि नहीं है,... जहर भूमि नरक में, भाई! तूने तैंतीस-तैंतीस सागर निकाले हैं, बापू! यह तो थोड़ा समय है। थोड़े समय में केवलज्ञान लेना है। साधक को केवलज्ञान लेने के लिये असंख्य समय होते हैं। समझ में आया? **तू व्यर्थ में खेद करता है। अब तो तूने त्रैलोक्य-पूज्य जिनमुद्रा धारण की है...** आहा...हा...! वीतराग मुद्रा। अन्दर वीतराग है, बाह्य नग्नमुद्रा है। अन्दर वीतराग मुद्रा है। ऐसी धारण की है। अब तुझे यह क्या? **तू मोक्षार्थी ही है; अत: मोहरूपी निद्रा को जीत, सदा जागृत रहकर अपने स्वरूप में मग्न हो, इस प्रकार शय्या परीषह को जीतते हैं।** ऐसे दो घड़ी-चार घड़ी सोता रहे, ऐसा नहीं होता - ऐसा कहते हैं। मुनि किसे कहें? आहा..हा..! मोक्षमार्ग की दशा पूरी संसार से बदल गयी है न। समझ में आया?

१९. चर्य्या परीषह - संसारी जीव हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि सवारी पर सुहावने समय में भी चढ़कर गमन करते हैं... तब मोटर नहीं थी। यह रथ आ गया। **तिर्यञ्च भी गमन करने में दु:खी होते हैं...** इस बैल को बहुत हाँके तो दु:ख होवे न? बहुत चलना पड़े तो दु:ख होता है। **मुनिमहाराज चलते समय शोधते हुए**

* हिन्दी प्रति में विषम भूमि शब्द है।

चलते हैं। कंकड़, पत्थर, कण्टकादि चुभते हैं तो भी किंचित् खेद नहीं मानते। पैर में कंकड़ चुभे, कोमल शरीर हो। देखो न... निकले थे। खून... खून... सुकुमाल मुनि। नंगे पैर चले नहीं। बाहर जहाँ काँटा लगे तो खून निकले। काँटा क्या, ऐसा पत्थर छुये, ऐसा शरीर, तो खून निकले। शान्त हैं, जंगल में ध्यान में बैठ गये। यह शरीर लम्बा चले नहीं। चल सकूँगा नहीं मैं। वहाँ देखकर शियालनी। ले जाओ। आनन्द में मस्त हैं, हों! दुःखी नहीं। किसी को ऐसा लगे कि अर..र..! दुःखी हैं। तो उसे मुनि की दशा की भी खबर नहीं है। समझ में आया? वे आनन्द में हैं, आनन्द में हैं।

मुमुक्षु : जानते तो हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह अलग बात है। जाने तो ख्याल आता है कि यह कुछ होता है, करता है – ऐसा ख्याल है। न जाने, ऐसा कुछ नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक में यह आता है। मुनि को परीषह पड़े, वे न जानें, ऐसा नहीं है। वह तो ख्याल होता है। मोक्षमार्ग–प्रकाशक में आता है। उसमें परीषह की व्याख्या है। उन्होंने तो बहुत लिया है। एक–एक बोल लिया है। एक बोल है उसका। उन्हें परीषह आवे और वे न जानें, ऐसा नहीं है। जाने तो सही विकल्प आया और बाहर जाये। जाने, परन्तु उसका खेद नहीं करे। आहा..हा..! यह चर्या परीषह।

२०. वध परीषह – भववासी जीव मारने–पीटने से सदैव भयभीत होते हैं, परन्तु मुनि महाराज को यदि कोई मारे, पीटे, बाँधे, कोई कुछ भी करे, तथापि रंचमात्र भी खेद को प्राप्त नहीं होते। नीम के साथ बाँधे। पैर से सिर तक डोर खींचकर बाँधे। यह यह नग्न चला जाता है। कौन है यह? कहाँ जाता है? गाँव में कहीं जाना नहीं। इसे पैर से सिर तक बाँधे। चला जाये नहीं। वहीं के वहीं शान्ति में देह छूट जाये। आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. बापू! मोक्ष का मार्ग, वीतरागता का रास्ता है। दुःख नहीं, हों! वे एकदम अन्दर में आनन्द में जोर करते हैं। समझ में आया?

इसलिए ऐसी भावना रखते हैं कि हे आत्मा तू तो अविनाशी चिदानन्दरूप है... नाशरहित आनन्द ज्ञानमय है। तुझे कहाँ स्पर्श करता है? वध कहाँ स्पर्श करता है? तुझे स्पर्श भी नहीं करता। कोई मारे उसका स्पर्श मुझे नहीं। मैं कहाँ वह हूँ? वह तो रूपी, मैं अरूपी। **तुझे दुःख देनेवाला कौन है? तुझे कौन मार सकता है? कौन पीट**

सकता है? इस प्रकार वध परीषह को जीतते हैं।

२१. निषद्या परीषह – संसार के समस्त जीव उत्तम मनोज्ञ स्थान में बैठकर सुख मानते हैं... बैठने का स्थान अच्छा, ऐसे कोमल गद्दे में बैठे। **मुनिराज सकल परिग्रह का त्याग करके महा निर्जन वन में...** निर्जन। जहाँ जन नहीं, ऐसे वन में, जंगल में बैठे हैं। **जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं...** चारों ओर दिखायी दे कि यहाँ सिंह है, यह बाघ है। भय नहीं, त्रास नहीं। समझ में आया? **क्रूर वनचर जीव रहते हैं। वहाँ पर्वत की गुफाओं में, शिखरों पर अथवा श्मशान भूमि में निवास करते हैं,..** मुर्दे जलते हों, मुर्दे पड़े हों, वहाँ ध्यान करते हैं। परन्तु **रंचमात्र भी दु:ख नहीं मानते।**

२२. स्त्री परीषह – जगत के जीव प्राय: सभी स्त्रियों द्वारा अपने को सुखी मानते हैं और उनके साथ हास्य, कौतुहल की बातें करके आनन्द मानते हैं... अर्थात् क्या कहते हैं? स्त्री का संग होने पर उसके साथ प्रेम से बात करने के रसिया जगत के जीव होते हैं। समझ में आया? **परन्तु मुनिराज अच्छी-अच्छी सुन्दर स्त्रियों के सुन्दर वचन सुनने पर भी हावभाव-विलास-विभ्रम-कौतुक की क्रियायें देखने पर भी किंचित् विचलित नहीं होते...** उनके साथ बात करने की मिठास ज्ञानी को नहीं होती। समझ में आया? हावभाव-विलास-विभ्रम-कौतुक क्रिया।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए... आनन्द ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा, नव कोटि से नौ बाड़ से अन्तर ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। समझे न? **स्वात्मध्यान में लीन रहते हैं। इस प्रकार स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।–इस प्रकार बाईस परीषह निरन्तर सहन करना चाहिए। जो मुनि संसार परिभ्रमण के दु:ख से कम्पायमान हैं...** यह आया। इन चारों गति के दु:ख से डरे हैं। चार गति के अवतार / जन्म वह कलंक है, जन्म लेना, वह कलंक है। भगवान आत्मा को जन्म-शरीर का योग – कलंक है। आहा..हा..! समझ में आया? उस दु:ख से कम्पायमान हैं।

वे ही दृढ़चित्त होकर बाईस परीषह सहन करते हैं और रंचमात्र भी कायरता नहीं आने देते। जो मुनिराज परीषह सहन नहीं कर सकते उनके चित्त की निश्चिलता नहीं हो सकती और चित्त की निश्चलता के बिना ध्यान में आरूढ़ता

नहीं हो सकती... मुझे ऐसा होगा... वह ऐसा करेगा... वह ऐसा करेगा... ! **ध्यानारूढ़ता बिना कर्म–काष्ठ भस्म नहीं हो सकते और कर्मों का नाश हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनि को परीषह अवश्य सहन करना चाहिए। इस तरह यह बाईस परीषह का वर्णन पूर्ण हुआ।**

गाथा - २०९

मोक्षाभिलाषी को निरन्तर रत्नत्रय का सेवन करना चाहिए:–

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता।।२०९।।

स्थाई शिव वांछक गृही को, भी सतत सेवनीय ही।
सम्यक् रत्नत्रय प्रतिसमय, चाहे पले वह विकल ही।।२०९।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार (एतत्) पूर्वोक्त (रत्नत्रयम्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय (विकलम्) एकदेश (अपि) भी (निरत्ययां) अविनाशी (मुक्तिम्) मुक्ति के (अभिलषिता) चाहनेवाले (गृहस्थेन) गृहस्थ को (अनिशं) निरन्तर (प्रतिसमयं) हर समय (परिपालनीयम्) सेवन करना चाहिए।

टीका : 'इति एतत् रत्नत्रयं प्रतिसमयं विकलं अपि निरत्ययां मुक्तिं अभिलषिता गृहस्थेन अनिशं परिपालनीयम्।' –

अर्थ : इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय प्रति समय गृहस्थ श्रावक को भी यदि सर्व देश पालन न हो सके तो एकदेश ही निरन्तर अविनाशी मोक्ष का इच्छुक होते हुए पालन करना चाहिए।

भावार्थ : मुनि के तो रत्नत्रय पूर्णरूप से है किन्तु गृहस्थ श्रावक सम्पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकता; इसलिए उसे एकदेश पालन करना चाहिए। किसी भी दशा में उसे रत्नत्रय से विमुख नहीं होना चाहिए क्योंकि वह रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है। मुनि का रत्नत्रय, महाव्रत के योग से साक्षात् मोक्ष का कारण है और श्रावक का रत्नत्रय, अणुव्रत के योग से परम्परा मोक्ष का कारण है, अर्थात् जिस श्रावक को सम्यग्दर्शन हो

जाता है, उसका अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत भी सम्यक्चारित्र कहा जाता है, इसलिए रत्नत्रय का धारण करना आवश्यक है।

सात तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है और निजस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। जिनागम में आगमपूर्वक सात तत्त्वों का जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। और निजस्वरूप का भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान है। अशुभकार्यों की निवृत्तिपूर्वक शुभकार्यों में प्रवृत्ति करना व्यवहारसम्यक्चारित्र है और शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त होकर शुद्धोपयोगरूप निजस्वरूप में स्थिर होना निश्चयसम्यक्चारित्र है। -इस तरह रत्नत्रय का संक्षेप में व्याख्यान किया। श्रावक को इसका एकदेश पालन अवश्य ही करना चाहिए। बिना रत्नत्रय के किसी जीव का कल्याण कदापि हो नहीं सकता।।२०९।।

गाथा २०९ पर प्रवचन

२०९ गाथा।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता।।२०९।।

देखो, सब बात करके कैसा लिया।

टीका : 'इति एतत् रत्नत्रयं प्रतिसमयं विकलं अपि निरत्ययां मुक्तिं अभिलषिता गृहस्थेन अनिशं परिपालनीयम्।' देखा! **इस प्रकार रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप...** श्रावक को भी तीनों आये। कोई कहे कि मुनि को तीन रत्न होते हैं और श्रावक को नहीं, ऐसा नहीं है। देखो! यहाँ तीनों आये। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आंशिक परन्तु उन्हें तीन रत्न कहा है। नियमसार में पाँचवें गुणस्थान में तीन रत्न कहे हैं। समझ में आया? पात्र के अधिकार में आया, जघन्यपात्र, मध्यमपात्र... ऐसा आया था। वे सब रत्नत्रय के आराधक हैं। चौथे गुणस्थान में इस अपेक्षा से रत्नत्रय गिनने में आया है। समझ में आया?

गृहस्थ श्रावक को भी एकदेशपने... एकदेशपने, एक अंशरूप, एक भागरूप,

थोड़े रूप भी। **निरन्तर अविनाशी मोक्ष का इच्छुक होते हुए पालन करना चाहिए।** लो! इस पंचम गुणस्थान में रहा हुआ श्रावक आत्मदृष्टि सम्पन्न, उसे स्वभावसन्मुख की सावधानी से इस प्रकार के एकदेश से स्थिरता करनी चाहिए। समझ में आया? विकलत्रय शब्द पड़ा है न? विकल अर्थात् थोड़ा, एकदेश। विकलेन्द्रिय कहते हैं न? विकलेन्द्रिय – कम इन्द्रियाँ। ऐसे यह थोड़ा रत्न। **मुनि के तो रत्नत्रय पूर्णरूप से है...** साधु को सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो पूर्णरूप से है। वीतरागदशा बहुत प्रगट हुई है। बहुत प्र–विशेष, स्वसंवेदन की उग्रता में वे रमते हैं। **गृहस्थ श्रावक सम्पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकता, इसलिए उसे एकदेश पालन करना चाहिए।** कहो, समझ में आया? सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानसहित एक अंश उसे स्थिरता प्रगट करके पालन करना चाहिए। **परन्तु रत्नत्रय से विमुख नहीं होना चाहिए...** सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र से भी उसे विमुख नहीं होना चाहिए। समझ में आया? आत्मा में स्वभाव की श्रद्धा, स्वभाव का ज्ञान और स्वभावसन्मुखता की सावधानी रखना चाहिए। विमुखता नहीं करना चाहिए। समझ में आया? चाहे जैसे वर्तना, चाहे जैसे होना – ऐसा नहीं होता। स्वभावसन्मुख उसकी दृष्टि से उसके स्वभाव की समीप में सावधानीरूप से रहना, एकदेशरूप से रहना। **क्योंकि वह रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है।** परम आनन्द का कारण है। मोक्ष अर्थात् परम आनन्द, परम सुखदशा का नाम मोक्ष है। परमसुखदशा, आनन्ददशा अर्थात् मोक्ष; उसका कारण, रत्नत्रय वास्तव में कारण है। यह आत्मा आनन्दस्वरूप की प्रतीति, ज्ञान और रमणता, यही पूर्ण आनन्द और प्राप्ति का उपाय है। समझ में आया?

मुनि को रत्नत्रय महाव्रत के योग से साक्षात् मोक्ष का कारण है... कहो, मुनि को अन्दर निश्चयव्रत है और महाव्रत के विकल्प भी होते हैं। **श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के योग से परम्परा मोक्ष का कारण है,...** अणुव्रत है न थोड़ा? बारह व्रतादि विकल्प है। स्थिरता देश से (एकदेश से) है। उसे परम्परा से छूटकर आगे बढ़कर होगा। **अर्थात् जिस श्रावक को सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसका अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान...** देखो! जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्य की निर्विकल्प अनुभव प्रतीति हुई है; आत्मा, राग से भिन्न; जितना अल्पज्ञान और पूर्ण वस्तु है, ऐसा निर्विकल्प स्वसंवेदन हुआ है, श्रद्धा हुई है, उसका अल्पज्ञान हो वह सम्यग्ज्ञान है। थोड़ा ज्ञान हो, अधिक न हो तो भी वह सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। समझ में आया? राजा पकड़ा, राजा। भगवान आत्मा की जहाँ अन्तर

अनुभव प्रतीति हुई, उसका भले थोड़ा ज्ञान हो तो भी लाभदायी है, सम्यग्ज्ञान है, ऐसा।

अणुव्रत भी सम्यक्चारित्र कहा जाता है,... उसके-सम्यग्दृष्टि जीव के थोड़े अणुव्रत भी उसे सम्यक्चारित्र कहने में आयेंगे। **इसलिए रत्नत्रय का धारण करना बहुत आवश्यक है।** लो, समझ में आया? **सात तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहार वह सम्यग्दर्शन है...** भेद से बात करते हैं। **निजस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।** आत्मा की अन्तर्मुख होकर अनुभव में प्रतीति करना, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। साथ में सात तत्त्वों की विकल्परूप श्रद्धा, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। वह साथ में ही होती है। समझ में आया? रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिया न, व्यवहारसम्यग्दर्शन में निश्चयसम्यग्दर्शन गर्भित गमनरूप होता है। जिसे सात तत्त्वों की श्रद्धा का विकल्प है, उसे अन्तर में निर्विकल्प श्रद्धा यदि गमनरूप हो तो पहले को व्यवहारश्रद्धा कहने में आता है। समझ में आया? ११ वें पृष्ठ पर आ गया है। इसमें लिखा है। पृष्ठ ११ है न? जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और आचरणरूप मोक्ष का मार्ग पहचानता नहीं, वह जीव व्यवहारदर्शन, ज्ञान-चारित्र साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी माने, वह नहीं। ऐसा कहते हैं। ११ पृष्ठ पर है।

भावार्थ है न? (गाथा ७ का भावार्थ) **जैसे बालक सिंह को न पहचानता हुआ बिलाव को ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप को न पहचानता हुआ व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। उसका स्पष्टीकरण करते हैं। जो जीव अपने शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्ग को नहीं पहचानता, वह जीव व्यवहारदर्शन, ज्ञान, चारित्र का साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है। अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दयाधर्म का श्रद्धान करके अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानता है और किंचित् जिनवाणी को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रिया का साधन करके अपने को चारित्रवान मानता है। इस प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर,...** देखो! वह तो सब शुभोपयोग है। व्यवहारदर्शन, ज्ञान वह तो शुभराग है। **सन्तुष्ट होकर, शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी है, इसलिए केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है। अतः उसे उपदेश देना निष्फल है।** मात्र व्यवहार के पक्ष में पड़े हैं, उन्हें तो क्या करना? उसे निश्चय तो समझ में आता नहीं। नहीं.. नहीं। हम यह करें... हम यह करें। क्या करते हैं?

पृष्ठ में है, देखो! **यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है।** कहो, समझ में आया इसमें? अकेला व्यवहार ही माने, उसमें समझे कि हम करते हैं और निश्चय की बात आवे तो कहे, नहीं, नहीं, यह हमारे कुछ नहीं। सुनने के योग्य नहीं है। जो कहना है, उस बात को नहीं पकड़ता, नहीं समझता। विचार आवे, उसे पकड़कर बैठा है। ऐई! कहो समझ में आया? सेठी! व्यवहार का पकड़कर बैठा है। अकेला दया, दान, व्रत... उसमें निश्चय का भान नहीं। उसे पकड़कर बैठा, कहता है नहीं.. नहीं, हम मार्ग में हैं। धूल भी नहीं। सुन न! निश्चय के भान बिना व्यवहार नहीं कहा जाता, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

सात तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है और निजस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। जिनागम में आगमपूर्वक सात तत्त्वों का जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। उस जिनागम से आगमपूर्वक जो सात तत्त्वों को जानता है, वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। वह निश्चयसम्यग्ज्ञान नहीं। **निजस्वरूप का भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान है।** समझ में आया? शास्त्रों से ज्ञान किया, वह ज्ञान नहीं। वह तो व्यवहार है, वह भी कब? कि निश्चय से करे तो। तब उसे व्यवहार कहने में आता है।

जिनागम में आगमपूर्वक सात तत्त्वों का जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। और निजस्वरूप का भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान है। अशुभकार्यों की निवृत्तिपूर्वक शुभकार्यों में प्रवृत्ति करना व्यवहारसम्यक्चारित्र है... पाप के परिणाम छोड़कर दया, दान, व्रत आदि के शुभ परिणाम, वे व्यवहारचारित्र। **शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त होकर शुद्धोपयोगरूप निजस्वरूप में स्थिर होना निश्चयसम्यक्चारित्र है।** शुद्धोपयोगरूप निजस्वरूप में स्थिर होना, वह निश्चयचारित्र है। **–इस तरह रत्नत्रय का श्रावक को एकदेश पालन अवश्य ही करना चाहिए...** समझ में आया? **बिना रत्नत्रय के किसी जीव का कल्याण कदापि हो नहीं सकता।** क्योंकि मार्ग यही है। फिर कल्याण अन्यत्र कहाँ से ले? इसलिए श्रावक को भी एकदेश से रत्नत्रय का दर्शन–ज्ञानसहित पालन करना। स्वरूप का दर्शन, स्वरूप का ज्ञान, स्वरूप की स्थिरता के अंशसहित बारह व्रतादि का पालन करना और गृहस्थों को मुनिपना लेना – ऐसी भावना....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २१०

गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिए, ऐसा बताते हैं:-

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्।।२१०।।

यह विकल भी सत् यत्न से नित बोधि पाने के समय।
पा मुनि पद अवलम्ब कर, परिपूर्ण शीघ्र करो स्वयं।।२१०।।

अन्वयार्थ : (च) और यह विकलरत्नत्रय (नित्यं) निरन्तर (बद्धोद्यमेन) उद्यम करने में तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थों को (बोधिलाभस्य) रत्नत्रय के लाभ का (समयं) समय (लब्ध्या) प्राप्त करके तथा (मुनीनां) मुनियों के (पदम्) पद का-(चरण का) (अवलम्ब्य) अवलम्बन करके (सपदि) शीघ्र ही (परिपूर्णम्) परिपूर्ण (कर्त्तव्यम्) करना योग्य है।

टीका : 'नित्यं बद्धोद्यमेन बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा च मुनीनां पदम् अवलम्ब्य सपदि परिपूर्णं कर्त्तव्यम्।' - अर्थ :- गृहस्थ को सदा उद्यमशील होकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का समय प्राप्त करके मुनिपद धारण करके शीघ्र ही रत्नत्रय की पूर्णता कर लेना चाहिए।

भावार्थ : विवेकी पुरुष गृहस्थ दशा में ही संसार और शरीर भोगों से विरक्त होकर सदैव मोक्षमार्ग में उद्यमी रहते हैं। वे अवसर पाकर शीघ्र मुनिपद धारण करके, सकल परिग्रह का त्याग करके, निर्विकल्प ध्यान में आरूढ़ होकर, पूर्ण रत्नत्रय को प्राप्त करके, संसारभ्रमण का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र कर लेते हैं। अथवा एकदेश रत्नत्रय को धारण करके इन्द्रादिक उच्चपद और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।।२१०।।

प्रवचन नं. ८२ गाथा-२१० से २११ रविवार, आषाढ़ कृष्ण १५, दिनांक ०६.०८.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय २१० गाथा।

गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिए, 'मुनीनां पदम' अर्थ में यह शब्द बराबर है? इनने अर्थ किया है कि मुनिपद धारण करना। ऐसा लिया। टोडरमलजी ने यह अर्थ किया है। मुनिपद का अवलम्बन करके अर्थात् चरण का अवलम्बन करके या मुनिपद धारण करके? समझ में आया? मुनिपद धारण करके – ऐसा चाहिए। मुनि के चरण का यहाँ कोई काम नहीं। अपने पहले अन्वयार्थ से अर्थ करो।

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्।।२१०।।

कहो, क्या कहते हैं? कि गृहस्थाश्रम में रहे हुए श्रावक को विकलत्रय रत्नत्रय निरन्तर (आराधना)। उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र विकल अर्थात् एकदेश है। मुनि को सम्पूर्ण रीति से होता है, श्रावक को एकदेश-एक भाग होता है। सम्यग्दर्शन का एक भाग नहीं, हों! सम्यग्दर्शन तो जो है, वह है, परन्तु उसमें जरा चारित्र की अपेक्षा से (मुनि) पूर्ण है न? इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान में गृहस्थ को अपूर्णता का रत्नत्रय है, पूर्ण है नहीं। वह विकलरत्नत्रय निरन्तर **'बद्धोद्यमेन'** प्रयत्नशीलवान मोक्षमार्गी जीव को... उद्यम करने में तत्पर, ऐसा। अपना आत्मा शुद्ध आनन्द है, उसके प्रयत्न में तत्पर है। कहो, समझ में आया?

देखो! धर्मी इस प्रयत्न में तत्पर है, ऐसा यहाँ कहते हैं। कमाने में और उसमें नहीं, देखो! प्रयत्न-पुरुषार्थ डाला है। तब वे कहे कि क्रमबद्ध में और पुरुषार्थ कौन सा? यह तो पुरुषार्थ आया। परन्तु क्रमबद्ध में ही पुरुषार्थ आया। क्रमबद्ध होता है, ऐसा निर्णय स्वभाव के आश्रय से होता है। उस स्वभाव का अवलम्बन लेते ही होता है। समझ में आया? उद्यम शब्द आया न? इसमें वे विवाद करते हैं। इसमें पुरुषार्थ कहाँ आया?

यहाँ क्रमबद्ध का अर्थ कि जब जो पर्याय जिसकी यथार्थरूप से होनेवाली है, वह तो पर्याय में होनेवाली है। अब उसका निर्णय कब होता है? कि पर्याय के अंश के ऊपर

से लक्ष्य छोड़कर द्रव्यस्वभाव सर्वज्ञस्वभाव है। आत्मा परिपूर्ण स्वभाव है। वस्तु स्वयं है न ? आत्मा वस्तु है न ? वस्तु एक है न ? अखण्ड है न ? तो उसका ज्ञानादि स्वभाव भी एक अखण्ड परिपूर्ण है। ऐसे स्वभाव पर दृष्टि किये बिना क्रमबद्ध का निर्णय यथार्थ नहीं हो सकता। जहाँ करना.. करना.. ऐसा है, वहाँ क्रमबद्ध का निर्णय कहाँ आया ? करना, वह नहीं परन्तु ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसा निर्णय हुआ, तब ज्ञातादृष्टा रहा, तब उसमें करना रहता नहीं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा या प्रत्येक पदार्थ, ऐसा निर्णय करे कि अपनी नियत पर्याय जिस समय है, वह होनी है। वह पर्याय होनी है परन्तु किसमें से ? द्रव्य में से। वह द्रव्य क्या है तब ? समझ में आया ? इस क्रमबद्ध के निर्णय में द्रव्य का निर्णय आता है। वस्तु स्वयं है, एक है, अखण्ड है, अभेद है। एक, तो फिर उसका एक-एक गुण अखण्ड एक अभेद है और परिपूर्ण है। समझ में आया ? भगवान आत्मा, यह अन्दर लक्ष्य में रखकर समझो तो हो। यह वस्तु है वह एक है और एक है, वह परिपूर्ण है, तो उसका जो ज्ञानस्वभाव, दर्शनस्वभाव, आनन्दस्वभाव, शान्तस्वभाव, चारित्रस्वभाव, वे सब भी एकरूप परिपूर्ण हैं। वह परिपूर्ण हैं, ऐसा जो वस्तु का स्वरूप, उसकी दृष्टि देने से उसे पुरुषार्थ के अन्तर के सावधानी में से प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। समझ में आया ?

इसलिए यहाँ पहला शब्द लिया है। **'बद्धोद्यमेन'** प्रयत्नशील बननेवाला अथवा प्रयत्न में तत्पर रहे हुए मोक्ष-अभिलाषी गृहस्थ को। समझ में आया ? जब जिस समय जो होना हो, वह होता है और फिर प्रयत्न करना, वह कहाँ आया ? वह इसमें ही आया ? क्या समझते हो ? समझ में आया ?

हमारे बहुत वर्ष पहले, चालीस वर्ष पहले चर्चा चलती थी। सर्वज्ञ ने तो सब देखा है। यह पुरुषार्थ करने का कहे कैसे ? ऐसा हमारे यहाँ चलता था। यह दूसरे रूप में आया। यह सब वह का वह रूप है। चालीस वर्ष पहले चर्चा हुई थी। वे तो सर्वज्ञ थे, तीन काल का ज्ञान है। वे दूसरे को ऐसा कैसे कहे कि पुरुषार्थ कर। कारण कि वह तो पुरुषार्थ उस समय होगा, ऐसा जानते हैं, उसे कर ऐसा कहे ? तब क्या कहे ? कि प्रमाद नहीं कर, ऐसा कहे परन्तु इसका अर्थ क्या हुआ ? कहा। समझ में आया ? ऐ... वकील ! वे तुम्हारे परिवार के थे। समझ में आया ? दामनगर (के थे) वे कहे कि ऐसा कैसे ? ऐसा नहीं ?

स्वभावसन्मुख की सावधानी के पुरुषार्थ का ही भगवान कहते हैं। समझ में आया? भगवान ने मोक्षमार्ग कहा, उस मोक्षमार्ग में छूटने का मार्ग है, तो छूटने के मार्ग में स्वभाव छूटा हुआ मुक्तस्वरूप है, उसकी सावधानी की बात करते हैं। कहो, अमरचन्दभाई! आहा..हा..! वस्तु ऐसी है, उसमें तू उल्टा-सीधा करेगा तो कैसे चलेगा? भगवान आत्मा वस्तु एक तो उसका ज्ञान, एक अर्थात् परिपूर्ण, अर्थात् सर्वज्ञ। आनन्द एक अर्थात् परिपूर्ण अर्थात् पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द। ऐसे एक-एक गुण की परिपूर्णता, ऐसा परिपूर्ण द्रव्य है। उस परिपूर्ण द्रव्य की (में)अन्तर्दृष्टि जाने से, जो सावधानी हुई, उसे प्रयत्न कहते हैं। उसके फल में यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र प्रगट होते हैं। समझ में आया?

इसलिए यह शब्द पहले आया। अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है न! **निरन्तर उद्यम करने में तत्पर...** धर्मी जीव स्वभावसन्मुख का निरन्तर प्रयत्नशीलवाला। समझ में आया? राग करने का, निमित्त जोड़ने का प्रयत्नशील-ऐसा यहाँ नहीं कहा, भाई! कहाँ से कहे? होवे ऐसा कहे न! यहाँ तो शब्द है, यह भगवान आत्मा वस्तुरूप से जो शुद्ध एकरूप परिपूर्ण वस्तु, वस्तु, उसका स्वभाव परिपूर्ण, उसके प्रति प्रयत्नशीलपना गृहस्थ को एकदेश विकल्प देशविकलत्रय में होता है। समझ में आया? स्वभावसन्मुख में प्रयत्नशीलपना।

उद्यम करने में तत्पर... कहो या **'बद्धोद्यमेन'** कहो। अर्थात् उद्यम बराबर बाँधा हुआ है – ऐसा कहते हैं। प्रयत्नशील तत्पर है, ऐसा। उसमें बाँधा हुआ है, ऐसा नहीं। आहा..हा..! भगवान आत्मा का परिपूर्ण शुद्धस्वरूप। वस्तु शुद्ध होवे न! वस्तु किसे कहे। समझ में आया? एक हूँ **'अहमेक्को खलु सुद्धो'** यह आया है न? उसमें भी आया है। एक शुद्ध सदा अरूपी। एक वस्तुस्वरूप स्वयं परिपूर्ण, उसकी ओर का जो प्रयत्न से बँधा हुआ प्रयत्नशील है। वह क्रमबद्ध में भी स्वभावसन्मुख में प्रयत्नशील है। शशीभाई! आहा..! ऐसा नहीं (कि) उसे बननेवाला हो वह बनेगा, होनेवाला हो, वह होगा। इतना बोल, ऐसा नहीं। बननेवाला हो, वह बनेगा, इसमें कर्तापना उड़ जाता है और ज्ञातापना रहता है। वह ज्ञातापना कब रहता है और कर्तापना कब उड़ता है? कि ज्ञायकस्वभाव परिपूर्ण स्वभाव पर दृष्टि जाये, कर्तापने का प्रयत्न न रहे, अकर्तापने का ही स्वभावसन्मुख का प्रयत्न रहे, ऐसा यहाँ कहते हैं। कहो, सेठी! आहा..हा..!

मुमुक्षु : पुरुषार्थ तो स्वभावसन्मुख का चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसका नाम ही प्रयत्न है। रागादि पुरुषार्थ का क्या? उसे करने का हो वह आ जाये और जाननेवाला रहता है यहाँ तो। सिद्ध जाना है न यहाँ तो?

गृहस्थाश्रम में श्रावक को विकलत्रय अर्थात् रत्नत्रय एकदेश होता है। वह एकदेश होता है, उसकी यहाँ बात करते हैं कि उसे यह विकलरत्नत्रय निरन्तर। देखो! निरन्तर है न? किसी समय का अन्तर पड़े बिना, उद्यम करने में तत्पर, प्रयत्नशील। उसका अर्थ कि कोई समय अन्तर पड़े बिना उसके स्वभावसन्मुख का प्रयत्न निरन्तर बहता है। आहा..हा..! देखो! ये सब गाथायें अब बहुत अच्छी आयेंगी। पहला वाँचन था न थोड़ा। परीषह का, अमुक का, भाई! शास्त्र में सब आता है। बारह भावना, दशलक्षण धर्म, बाईस परीषह आये न? कथन तो सब आता है।

यहाँ तो कहते हैं, यह मुद्दे की रकम आयी, यहाँ से शुरु हुई है। समझ में आया? गृहस्थ, गृहस्थ में रहा है। अर्थात् विकलत्रय में रहा है, परिपूर्ण रत्नत्रय नहीं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि नहीं। भाई! ध्यान रखो। समझ में आया? पूरा रत्नत्रय नहीं, दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्ण नहीं, तथा बिल्कुल नहीं, ऐसा नहीं। इसलिए इसे कहा कि जो एकदेश विकलत्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधता है, वह निरन्तर स्वभावसन्मुख का प्रयत्नशीलवान ही है। आहा..हा..! इसका अर्थ हुआ कि निश्चय पर मुख्यता की दृष्टि में प्रयत्न सदा चालू है। आहा..हा..! क्या कहते हैं, देखो न? शशीभाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर तत्त्व है। कहते हैं, कि जिसे उसकी रुचि हो, वह उसकी ओर के प्रयत्नशीलवान ही होता है। समझ में आया? भले बीच में रागादि आवें, उनमें उसका प्रयत्न नहीं है। समझ में आया? उसका प्रयत्न तो ऐसा है। निश्चय की मुख्यता में है, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा..! दर्शन के लिये, ज्ञान के लिये और चारित्र के लिये इन तीनों के लिये अन्तर्मुख में प्रयत्नशीलवान होता है। अमरचन्दभाई! आहा..हा..! अरे भगवान! मार्ग तो देख तू! समझ में आया?

मोक्षाभिलाषी गृहस्थों को रत्नत्रय के लाभ का समय प्राप्त करके... देखा! अर्थात् कि दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र का तीन का पूर्ण काल शीघ्र कैसे आवे, ऐसा प्राप्त करके। **मुनियों के चरण का...** अर्थात् मुनिपद का अवलम्बन करके। अधिक यह

ठीक है। मुनिपद को अंगीकार करके। समझ में आया ? मुनि का चरण फिर परद्रव्य का ?

मुमुक्षु : सुधारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु इन ने ऐसा अर्थ किया है। परन्तु अर्थ में बराबर लिखा है। टीका है इसमें, टीका में बराबर है। समझ में आया ? क्योंकि वापस यहाँ चलता है स्वभावसन्मुख का (प्रयत्नशीलपना), उसे फिर मुनि हैं, उन्हें ढूँढ़ने जाना और उनके पास रहना, यह बात अभी यहाँ नहीं है। आहा..हा..! इसे तो कहते हैं, मुनियों के पद का अवलम्बन करके अर्थात् पूर्ण रत्नत्रय को प्रगट करने के लिये, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। जो अपूर्ण रत्नत्रय है, उसे चारित्र की पूर्णता करने के लिये प्रयत्नशील होना। **शीघ्र ही परिपूर्ण करना योग्य है।** देखा! यह स्वभावसन्मुख की चारित्र की परिपूर्णता करने के लिये शीघ्र प्रयत्नपूर्वक होना चाहिए। समझ में आया इसमें ? यह तो इसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान स्वसन्मुख का हुआ, उसमें स्वरूप में स्थिरता करना, वह लाभदायक है। यह बात तो इसमें आ गयी है। स्थिरता कम कर सकता है, ऐसी स्थिति में खड़ा हुआ। विशेष स्थिरता के परिपूर्ण प्रयत्न को कैसे पाऊँ ? ऐसी उसकी भावना होती है और वह मुनिपद अंगीकार भी करे। ऐसी बात लेनी है न यहाँ तो ? समझ में आया ?

शीघ्र ही परिपूर्ण करना योग्य है। 'सपदि' यह तो भावना तो यह होवे न! कब परिपूर्ण होऊँ ? कब स्थिर होऊँ ? कब स्थिर होऊँ ? भगवान आत्मा में एकाकार होकर, स्थिर कब हो जाऊँ ? ऐसी ही सम्यग्दृष्टि जीव को गृहस्थाश्रम में रहने पर भी, विकलत्रय में रहने पर भी परिपूर्ण करने के प्रयत्न की भावना होती है। कहो, समझ में आया इसमें ? ए... पोपटभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थ में क्या है ? तीन - रत्नत्रय की बात है। तीन रत्नत्रय।

मुमुक्षु : रत्नत्रय कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तीन रत्नत्रय। समय तो उसी समय में, उस काल में ऐसा। वह तो काल बताते हैं। ऐसा लाभ का काल पाकर स्वभावसन्मुख में परिपूर्णता का शीघ्र प्रयत्न करना। यह तो समय की बात है। यहाँ तो काल (लेना है)। समझ में आया ? देखो!

यहाँ है। देखो है न। इस टीका में अर्थ बहुत अच्छा है। **गृहस्थ को सदा उद्यमशील होकर...** भगवान आत्मा की ओर जिसे (उद्यम वर्तता है)।

कितने ही ऐसा कहते हैं न कि केवलज्ञानी ने देखा होगा, वैसा होगा—ऐसा निर्णय करके फिर पदभ्रष्ट होंगे। समझे न? नियतवाद में ऐसा होगा, अमुक यह होगा... परन्तु जिसे यह निर्णय हो, वह पदभ्रष्ट होता ही नहीं। समझ तो सही! जिसने केवलज्ञान की पर्याय का निर्णय किया और उन्होंने देखा वैसा होगा, ऐसा जो निर्णय वह स्वभावसन्मुख के प्रयत्न में है, वह पदभ्रष्ट हो, इसका अर्थ कि उसने केवलज्ञानी को माना ही नहीं। यहाँ तो मानने की बात चलती है और तू उसमें से न मानने की बात ले लेवे? समझ में आया?

जिसने एक समय में केवलज्ञान है और ऐसा देखा वैसा होगा, ऐसा जिसकी मान्यता में है, वह मान्यता से भ्रष्ट हो तो भ्रष्ट होगा, परन्तु मान्यता रखकर भ्रष्ट हो, यह तीन काल में नहीं होता। आहा..हा..! समझ में आया इसमें? शशीभाई! न्याय समझ में आता है न्याय? आहा..हा..! जिसे ऐसा निर्णय हुआ कि... आहा...! भगवान का केवलज्ञान एक समय में जैसा देखा, वैसा होता है, ऐसा जिसे निर्णय है, उसे तो स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ है। उस निर्णयवाले को स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ हट जाता है, ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया? इसलिए होनेवाला हो, वह होता है, ऐसा मानकर फिर भ्रष्ट हो जायेगा, फिर ऐसा होगा, इसकी अपेक्षा तो हम पुरुषार्थ करनेवाले मोक्षमार्ग में शीघ्र जायेंगे। अब सुन न तू! समझ में आया या नहीं इसमें?

इसका अर्थ कि मैं भी एक ज्ञानस्वरूप हूँ और मैं भी एक जानने-देखनेवाला हूँ—ऐसा जानने-देखनेवाले का जिसने निर्णय किया कहो या केवलज्ञान का जिसने निर्णय किया कहो। वह जानने-देखने के प्रयत्न में है, वह प्रयत्न से भ्रष्ट हो, इस बात को यहाँ कहाँ मेल है? भाई! समझ में आया इसमें? अत्यन्त विरुद्ध बात है। अत्यन्त न्याय से, वस्तु से विरुद्ध है। समझ में आया? शशीभाई! यह लिखा है, बहुत लिखा है, बहुत लिखा है। अब यह बात तो हमारे ठेठ से आती है। सुन न!

जिसने भगवान परमात्मा... आहा..हा..! उसे पुरुषार्थ की जागृति हट जाये और भ्रष्ट हो... होनेवाला होगा, ऐसा होकर फिर स्वच्छन्दी हो जाये? परन्तु स्वच्छन्दी हुआ, उसने भगवान को माना ही नहीं। समझ में आया? यहाँ चले भगवान को मान लिये की

बात और फिर स्वच्छन्दी हो, इन दो बातों को मेल कहाँ है ? आहा..हा.. ! पोपटभाई ! बापू ! ऐसा है। वस्तु तो वस्तु ऐसी है। समझ में आया ? भगवान परमेश्वर केवलज्ञानी... आहा..हा.. ! वह जिसके ज्ञान में बैठा, उसे तो स्वरूप तरफ की सन्मुखता ही चलती है। उसे भ्रष्ट होना, यह प्रश्न ही कहाँ ? वह तो केवलज्ञानी को माना नहीं, उसकी बात वह तो चलती है भाई ! समझ में आया ? क्या हो ? वस्तु का स्वरूप जिस प्रकार है, उस प्रकार से न समझे और ऐसा का ऐसा विपरीत–उल्टा सीधा तर्क करे, उससे कहीं वस्तु प्राप्त होती है ? बापू ! यह उद्यम करे, क्या विपरीत उद्यम करता है ?

मुमुक्षु : उद्यम करना किसका ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका उद्यम ? उस पर तो यहाँ बात चलती है। स्वभावसन्मुख का प्रयत्न चलता है, क्योंकि केवलज्ञानी ने देखा, ऐसा निर्णय हुआ है अर्थात् कि ज्ञान में जो मुझे दिखायी दे, उसका मैं जाननेवाला हूँ, दूसरा करने–फरनेवाला नहीं हूँ—ऐसा निर्णय हुआ, वहाँ स्वभावसन्मुख का प्रयत्नशील व्यापार है। वह भ्रष्ट हो, स्वच्छन्दी हो, यह तीन काल में नहीं होता। समझ में आया ? यह श्रद्धा और ज्ञान अनुसार उसका कर्तव्य होता ही है। श्रद्धा–ज्ञान अनुसार उसका कर्तव्य प्रयत्न में ही होता है। आहा... ! इस वस्तु को किस प्रकार रखते हैं ! समझ में आया ? कहीं मस्तिष्क में बैठना चाहिए या नहीं ? ऐसे का ऐसा डण्डा मारने से (कहीं) चलता है ? सेठी ! आहा..हा.. ! देखो न ! आचार्य ने कितना काम किया है ?

कहते हैं **गृहस्थ को सदा उद्यमशील होकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का समय प्राप्त करके..** देखो ! ऐसा लिया है। अर्थात् ज्ञान बढ़ाकर। पश्चात् **मुनिपद धारण करके..** ऐसा। **मुनिपद धारण करके...** यह अधिक ठीक है। इसके साथ मेल खाता है। **शीघ्र सर्वदेशव्रत पालन करना चाहिए।** देखा ! सर्वदेशव्रत अर्थात् ? पूर्ण व्रत, ऐसा। सर्वदेशव्रत अर्थात् सर्व पूर्ण व्रत, महाव्रत पालना चाहिए। ऐसा। पहले एकदेशव्रत थे न, इसलिए यहाँ सर्वदेशव्रत शब्द लागू किया है। नहीं तो है तो पूर्ण। समझ में आया ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ऐसे गया। परन्तु चलो ठीक अब जो लिखा उसमें कुछ... कम–देशव्रत है, वह पूर्ण देश कर डालना। कहो, समझ में आया ? इसमें शब्द में उसका

भाव क्या है, उसे समझना चाहिए। यह वस्तु भगवान देख न बापू! और जहाँ जिसे केवलज्ञानी बैठे, जिसे आत्मा बैठा, जिसे अकर्तृत्वबुद्धि हुई, समझ में आया? वह अकर्तृत्वबुद्धि हुई वहाँ ज्ञाता-दृष्टि / बुद्धि हुई। वहाँ ज्ञातादृष्टा बुद्धि हुई, उसमें नियत माना, इसलिए भ्रष्ट होगा, यह बात ही कोई पूरब-पश्चिम के अन्तर की पूरी बात है। समझ में आया?

यह कहते हैं, गृहस्थाश्रम में भी जिसने आत्मा ज्ञायकभाव है, ऐसा जिसे अन्तर से निर्णय का प्रयत्न चालू है, ऐसे प्रयत्नवान को काल प्राप्त कर मुनिपद धारण करना चाहिए। अर्थात् पुरुषार्थ बढ़कर आगे बढ़ेगा, भाई! ऐसा कहना है। वह पुरुषार्थ घटकर भ्रष्ट होगा, यह तीन काल में नहीं होता। आहा..हा..! समझ में आया? जिसने केवली का निर्णय किया, प्रतीति में आया, वह केवली हुए बिना रहेगा ही नहीं।

मुमुक्षु : वह केवली न हो तो होवे क्या दूसरा?

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे क्या? अब क्या उसे संसार है? संसार को तो हेय किया है। उदयभाव को तो हेय किया है। एक परमपारिणामिकभाव ही उपादेय किया है। आहा..हा..! उसमें से ही प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगटे। उसमें से क्या राग प्रगटा और रहेगा? कहो, समझ में आया?

भावार्थ : विवेकी पुरुष गृहस्थ दशा में ही.. विवेकी अर्थात् भेदज्ञानी पुरुष गृहस्थाश्रम में भी, भेदज्ञानी पुरुष गृहस्थाश्रम में भी **संसार और शरीर से विरक्त होकर..** शरीर और उदयभाव से भिन्न पड़कर। देखा! शरीर और संसार उदयभाव से भिन्न पड़कर। **सदैव मोक्षमार्ग में उद्यमी रहते हैं।** देखा! शरीर और उदय से भिन्न पड़कर पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख में उद्यमी रहता है। आहा..हा..! दिगम्बर सन्तों की कथनी भी कैसी! ऐसी कि कहीं पूर्वापर विरोध न आवे। पूरा सत्य खड़ा हो, ऐसी बात है। तुलना करने पर... तुलना करने पर अकेला सुमेल ही खड़ा हो, ऐसी बात है, ऐसी बात है। समझ में आया?

देखो! भेदज्ञानी गृहस्थ ने शरीर और राग से भिन्न पड़कर, **सदैव मोक्षमार्ग में उद्यमी रहते हैं।** अपने शुद्धस्वभाव के सन्मुख में प्रयत्नशील रहकर। तब वापस कहे, हमें व्यापार-धन्धा कब करना? परन्तु वह कब कर सकता है? यह रागादि आवे, उनकी भी उसे हेयबुद्धि है। वह तो उसके प्रयत्न की बात नहीं की, वे तो हेय हैं। इस प्रकार स्वभाव

के ओर की सन्मुखता की उपादेयता है। भले गृहस्थाश्रम हो। समझ में आया ? भले अपूर्ण रत्नत्रय हो। होवे तो क्या है ? समझ में आया ?

वे अवसर पाकर शीघ्र मुनिपद धारण करके,... पुरुषार्थ करके अल्पकाल में साधुपद धारण करता है। भावार्थ में है न ? **सकल परिग्रह का त्याग करके,...** मुनि सकल परिग्रह का त्याग करके, गृहस्थाश्रम में पहले सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र आंशिक आराधन किये हैं। वह आगे बढ़कर... उसे आगे बढ़ने का भाव होता है या नहीं ? परन्तु हठ से बढ़े, ऐसा नहीं है यहाँ। वह कहे ले लो तब मुनिपना। परन्तु किस प्रकार ? जिसके पास से लेना है, वह तो द्रव्य है। अब द्रव्य में उग्र प्रयत्न जमे, तब चारित्र होता है और प्रयत्न उग्र न हो और हठ से लेने जाये, इससे कहीं चारित्र आवे ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : आकुलता आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकुलता हो। हठ करके लो... लो... अपने शीघ्र मुनिपना ले लो। परन्तु मुनिपना लेना कहाँ से ? कहाँ से लेना ? कहाँ से आवे ? कहाँ से प्रगटे, यह इसे खबर है ? मुनिपना, वह तो वस्तु में से आता है। मुनिपने की दशा सत्‌रूप से तो अन्दर में पड़ी है। चारित्र का जो सत्‌पना प्रगट होता है, वह कहीं अद्धर से असत् प्रगट नहीं होता। समझ में आया ? आत्मा में वह दशा पड़ी है, सत्‌रूप से पड़ी है, सत् में से प्रगट होती है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! कहते हैं, कि जहाँ इसे ऐसे सत् में जो दर्शन–ज्ञान का जोर है, उसमें स्थिरता का अधिक जोर करे तो उसमें से चारित्र प्रगट होता है। प्राप्त करना है उसमें से। कहीं बाहर से प्राप्त करना है ? विकल्प करे कि यह किया, वहाँ से आवे ऐसा है। आहा..हा.. ! क्या हो ? ऐसा सीधा–सरल मार्ग निर्मलानन्द, पूर्वापर अविरोधी, एक ही प्रकार, नीचे से वह ठेठ तक। हेठ से अर्थात् जघन्य से उत्कृष्ट तक। ऐसी मार्ग की विधि। न भूतो भविष्य। वीतरागमार्ग के अतिरिक्त... उसमें भी यह दिगम्बर मार्ग, वह वीतरागमार्ग है, हों ! उसमें यह सब होता है, बाकी अन्यत्र ऐसा होता नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? सन्तों ने काम किया है, गजब काम किया है ! दिगम्बर मुनि वे आकाश के स्तम्भ, धर्म के स्तम्भ, केवलज्ञान और केवलज्ञान का उपाय किस प्रकार (प्रगट हो, वह बताकर मार्ग को) स्थिर कर दिया है। अन्यत्र से जाते हुए रोक दिया है। समझ में आया ?

सकल परिग्रह का त्याग करके, निर्विकल्प ध्यान में आरूढ़ होकर,.. देखो !

यहाँ चारित्र लेना है न? यहाँ से विकल्प छोड़कर, इस ओर छोड़कर यह कथन है, परन्तु इस ओर उग्ररूप से जाता है तो विकल्प छूट जाता है। स्वभावसन्मुख के उग्र प्रयत्न में विकल्प छूट जाते हैं। वह निर्विकल्प अन्दर में ध्यान में चारित्र की प्राप्ति होती है। **होकर, पूर्ण रत्नत्रय को प्राप्त करके,..** देखो! आगे बढ़ा। **संसारभ्रमण का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र कर लेते हैं।** कहो, **एकदेश रत्नत्रय को धारण करके इन्द्रादिक (उच्चपद) प्राप्त करते हैं...** वर्तमान में कदाचित् वह मुनिपना, चारित्र अर्थात् स्वरूप की पूर्ण सावधानी। अन्तर में चारित्रगुण की शक्ति पड़ी है, सत् पड़ा है। वह जो प्रगटे, वह सत् तो अन्दर पड़ा है। उसकी पूर्णता की प्राप्ति न हो तो एकदेश से पालन करके इन्द्रादिक में जाये। समझ में आया? उसका पद तो इन्द्रादिक में आराधक होकर जाये। वह कहीं नरकादिक में नहीं जाये। कहो।

अभी वह कोई कहता था। एक ध्यानचन्दजी नाम से है। है न? कोई वहाँ दक्षिण में। भद्र। तीन दिन तो ध्यान किया। ध्यान में क्या? कि श्रीमद् राजचन्द्र केवलज्ञानरूप से महाविदेह में विचरते हैं, ऐसा ध्यान में आया? ठीक। मार गप्पें। वह भी वहाँ कहाँ से आया? ध्यान इस ओर हो और वह कहाँ से आया? वह वापस गप्प मारा। महाविदेह में केवलज्ञानी (रूप से) विचारे। अभी की बात है, अभी थोड़े दिन पहले की बात है। दक्षिण में है न।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे। यह कोई कहता था। महानन्दी। कोई कहता हो, वह सुना हो। हम कहाँ देखने गये थे। वहाँ उसने कहा, ध्यान हो गया। श्रीमद् राजचन्द्र केवलज्ञानी। अरे! परन्तु तू क्या सिद्ध करता है यह? वे मिथ्यादृष्टि हों तो महाविदेह में जाये। मिथ्यादृष्टि सिद्ध करना है तुझे? क्या करना है तुझे। यहाँ तो रत्नत्रय का आराधन होकर, आगे बढ़कर यदि पूर्ण न करे तो स्वर्ग में जाये। फिर पूर्ण करे। ऐसी वस्तुस्थिति है। उसे यहाँ कि मरकर महाविदेह में गये। वह तो महाविदेह में मिथ्यादृष्टि जाता है। ए.. अमरचन्दभाई! मनुष्य मरकर मनुष्य मिथ्यादृष्टि होता है। वह मानो कि मैं महिमा करता हूँ। वस्तु की खबर नहीं। ऐसे के ऐसे खबर बिना के लोग। कहाँ का कहाँ लगा डालते हैं। समझे न? हम मानो कितनी महिमा करते हैं! अरे! तूने गाली दी है। मिथ्यादृष्टि हो गये। मरते समय मिथ्यादृष्टि हो गये, ऐसा तूने कहा। यहाँ तो कहते हैं कि उस समय शान्ति से देह छोड़ा, ऐसा कहते

हैं। मैं मेरे स्वरूप में लीन होता हूँ। मनसुख! माँ को शौक मत होने देना। बस, इतना विकल्प आया। मनसुख! अन्तर का था, हों! माँ को शौक मत होने देना। मैं स्वरूप में लीन होता हूँ। समझ में आया?

उस समय मिथ्यादृष्टि हुए, तब मनुष्य में गये? मनुष्य मरकर मनुष्य होवे तो मिथ्यादृष्टि हो, भगवान ऐसा कहते हैं। महिमा करना भी नहीं आता। महिमा में गाली दे। आहा..हा..! ऐसा हो? बापू! यह तो विवेक का मार्ग है, बापू! परमात्मा तीन काल का ज्ञान, जिन्हें तीन लोक के लोचन उघड़े (ज्ञान खिला) अरे! क्या उन्हें... अनन्त लोचन कहा है न? सर्व लोचन कहा। सर्व चक्षु। प्रवचनसार (में कहा है)। असंख्य प्रदेश में अनन्त चक्षु खिले हैं भगवान को। अकेला ज्ञान का दीपक पूर्ण सूर्य प्रगट हो गया। पर्याय में पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. उसकी क्या बात करना! समझ में आया? ऐसे केवलज्ञान के मार्ग में, जिसने मार्ग का विचार किया, वह तो ऐसी की ऐसी दशा लेकर अधूरी हो तो स्वर्ग में जाये। वहाँ से (निकलकर) फिर मुक्ति को प्राप्त करे। देखो, समझ में आया?

एकदेश रत्नत्रय को धारण करके इन्द्रादिक उच्चपद प्राप्त करते हैं... सामनिक देव हो। आदि शब्द है न? सामनिक देव हो। इन्द्र के साथ हजारों देव होते हैं न। सामनिक अर्थात् समान देव हों। ऐसा हो। और अच्छे काल में लोकान्तिक में भी जाते थे। कुन्दकुन्दाचार्य। **परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।** लो! वहाँ से निकलकर अपूर्ण रहा, वह दूसरे भव में पूर्णता करता है। कहो, समझ में आया?

गाथा - २११

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः।।२११।।

अपूर्ण रत्नत्रय सहित के, कर्म बन्ध विपक्ष से।
रागादि ही बंधन करें, यह तो सतत शिवहेतु है।।२११।।

अन्वयार्थ : (असमग्रं) अपूर्ण (रत्नत्रयम्) रत्नत्रय की (भावयतः) भावना करनेवाले पुरुष के (यः) जो (कर्मबन्धः) शुभकर्म का बन्ध (अस्ति) होता है (सः) वह

बन्ध (विपक्षकृत:) विपक्षकृत अर्थात् राग कृत है, (और) निश्चय रत्नत्रय तो (अवश्यं) अवश्य ही (मोक्षोपाय:) मोक्ष का उपाय है, (न बन्धनोपाय:) बन्ध का उपाय नहीं है।

टीका : 'असमग्रं रत्नत्रयं भावयत: य: कर्मबन्ध: अस्ति स: विपक्षकृत: रत्नत्रयं तु अवश्यं मोक्षोपाय: अस्ति न बन्धनोपाय:।' -अर्थ:- एकदेशरूप रत्नत्रय के पालन करनेवाले पुरुष को जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रय से नहीं होता, किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी रागद्वेष हैं उनसे होता है। वह रत्नत्रय तो अवश्य वास्तव में मोक्ष का ही उपाय है, बन्ध का उपया नहीं।

भावार्थ : एकदेश रत्नत्रय धारण करनेवाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध उस रत्नत्रय से नहीं होता बल्कि उसके उस समय विद्यमान जो शुभकषाय है उसी से होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली तो शुभकषाय है-रत्नत्रय कदापि नहीं।।२११।।

गाथा २११ पर प्रवचन

अब यह विवादी गाथा आयी। २११ (गाथा) अमरचन्दभाई! यह २११ की विवादी। बहुत विपरीत अर्थ किये हैं। इसमें मक्खनलालजी ने विपरीत अर्थ किया है। उन्होंने भी विपरीत अर्थ किया है।

मुमुक्षु : दोनों का.... नहीं इसमें।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। मोक्ष-उपाय, वह बन्धन... (ऐसा विपरीत अर्थ किया है)। परन्तु मोक्ष-उपाय वह बन्ध का कारण नहीं, ऐसा है। मोक्ष का उपाय, वह बन्ध का कारण नहीं। परन्तु यह बन्ध है, वह मोक्ष का उपाय है और बन्ध का कारण नहीं, ऐसा कहाँ लगा दिया? २११

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य:।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपाय:।।२११।।

देखो, इनने '**असमग्रं**' शब्द प्रयोग किया। उसमें विकलत्रय प्रयोग किया था।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो अपेक्षा से जहाँ मिलान खाता हो वह।

'असमग्रं' अर्थात् **अपूर्ण रत्नत्रय की भावना करनेवाले पुरुष के... 'भावयत:'** अर्थात् भावना अर्थात् विकल्प (नहीं)। देखो! यहाँ भावना का अर्थ आया, भाई! वे भावना–भावना करे न। भावना अर्थात् विकल्प... भावना अर्थात् विकल्प.. ऐसा नहीं। रत्नत्रय की भावना करनेवाला अर्थात् अन्तर एकाग्रता करनेवाला। समझ में आया? अभी कौन जाने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये बहुत ऐसे अर्थ (करते हैं)। बापू! ऐसा रहने दे, भाई! सम्यक् ऐसे आत्मा की पर्याय, जो स्वभाव के अवलम्बन से प्रगटी, उसकी भावना अर्थात् एकाग्रता। स्वरूप में एकाग्रता को यहाँ भावना करते हैं। यह विकल्प करना, वह भावना नहीं, वह तो राग है। भाव की भावना। भाव में एकाग्रता, वह भाव की भावना। आहा..हा..! समझ में आया? भगवान चैतन्यस्वभावरूप भाव, स्वभाव ज्ञायकभाव की भावना अर्थात् एकाग्रता। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी दशा को यहाँ भावना कहते हैं।

ऐसे **पुरुष के जो शुभकर्म का बन्ध होता है...** क्योंकि ज्ञानी को भी अभी चौथे, पाँचवें गुणस्थान में, छठवें गुणस्थान में **बन्ध होता है, वह बन्ध विपक्षकृत...** अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से विपक्ष। उसके पक्ष से विरुद्ध जो राग। उसका अर्थ यहाँ हुआ, भाई! कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह अराग परिणामरूप है। देखो! इसमें व्यवहार–फयवहार आया नहीं। राग, वह सम्यग्दर्शन (आया नहीं)। विपक्षकृत। आत्मा, उसकी दृष्टि, ज्ञान और एकाग्रता, वह अराग परिणाम है। उससे विपक्षकृत अर्थात् राग है।

मुमुक्षु : यह राग और वह अराग।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अराग है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... यह त्रिकाली चारित्र है, वह भी समरस है। वह परिपूर्ण आत्मा है, क्योंकि एक वस्तु आत्मा है तो चारित्र भी एकरूप है। वह परिपूर्ण है तो वह चारित्र परिपूर्ण है। कायम की बात है, हों! वह चारित्र परिपूर्ण है अर्थात् कि वीतरागरूप है। इसीलिए समरस की पूर्ण अपार शक्तिवाला इतना ही है। त्रिकाल चारित्र, हों! ऐसे जैसे असाधारण कारणज्ञान को पकड़ कर केवलज्ञान लेता है, ऐसे यह असाधारण गुण जो समरस, उसे पकड़कर, उसका अर्थ कि द्रव्य को पकड़कर... समझ में आया? वीतरागता प्रगट होती है। समझ में आया? यह सब लॉजिक तुम्हारे एल.एल.बी. से सूक्ष्म हैं। आहा..हा..!

भगवान आत्मा वस्तु और उसका चारित्रगुण। गुण, हों! त्रिकाली। जैसे दर्शनगुण,

चारित्रगुण, ज्ञानगुण, आनन्दगुण। चारित्रगुण चरना, रमना, ऐसा समरस। समरस अर्थात् वीतराग। वह भी एक गुण। वस्तु एक तो वह गुण एक। वस्तु अखण्ड तो गुण अखण्ड। वस्तु स्वयं परिपूर्ण गुण है। वह गुण परिपूर्ण है, उसका अवलम्बन लेकर चारित्रदशा प्रगट होती है। उसके गुण में से आती है। कहो, समझ में आया? असाधारण ज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके... यह क्या कहते हैं? ज्ञान में केवलज्ञान की पर्याय जो सब शक्ति पड़ी है। फिर दृष्टि से असाधारण ज्ञान को पकड़ा, वहाँ एक द्रव्य पर दृष्टि गयी परन्तु पकड़ा, वह असाधारण ज्ञान। केवलज्ञान प्रगट करना है न? ऐसा।

असाधारण केवलज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके, (ऐसा) प्रवचनसार में पाठ है। अन्तर में एकाग्र होने पर केवलज्ञान होता है। वह कारण में से होता है। उसमें से वे कहते होंगे। ज्ञानगुण, कारणगुण। परन्तु वह तो अपेक्षा से। ज्ञानगुण कारणपरमात्मा और वह पर्याय (कार्यपरमात्मा)। असाधारण कारण आया न? वह तो गुण को कारण गिनकर पूरे द्रव्य को कारण गिनना है। एक गुण लक्ष्य में ले तो गुण अलग रहता है? द्रव्य पर लक्ष्य जाये, तब ही सभी गुणों का एकरूप लक्ष्य होता है। एक गुण का लक्ष्य करने जाये तो भेद पड़ जाता है। वह तो राग उत्पन्न होता है। समझ में आया? आहा..हा..!

कहते हैं, भगवान आत्मा... श्रावक को भी असमग्ररूप से जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वे भी अराग परिणामवाले हैं। सम्यग्दर्शन भी अरागी पर्याय है, सम्यग्ज्ञान भी अरागी पर्याय है और सम्यक्चारित्र अंश, वह भी अरागी है; इसलिए उसके विपक्षकृत को राग कहने में आता है क्योंकि उसके श्लोक ही अब लेंगे। भाई! इसके बाद तीन श्लोक आते हैं न, वे लेने के लिये ही श्लोक आते हैं। उनकी सन्धि का न्याय है। समझ में आया? भगवान आत्मा स्वयं आत्मा और आत्मा के सभी गुण वीतरागीस्वरूप हैं। समझ में आया? उसके गुण वे... सम्यक्श्रद्धा, वह शाश्वत् का वह वीतरागी स्वभाव है, ज्ञान वीतरागी स्वभाव है। कायम, हों! चारित्र वीतरागी स्वभाव है। उसके अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई, वह भी वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। भले अपूर्ण हो तो भी उतनी पर्याय वीतरागी है। अमरचन्दभाई! आहा..हा..!

स्व-आश्रय, स्व-आश्रय निश्चय; पराश्रय व्यवहार। देखो! समयसार शास्त्र में वाक्य है न? ऐसा यह कहते हैं कि जितना पराश्रयभाव रह जाता है, वह सब राग है। समझ

में आया ? वह **राग कृत होने से अवश्य ही बन्ध का उपाय है,..** जो रागभाग रह गया, वह बन्ध का कारण है। उपाय कहो या कारण कहो। बन्ध का उपाय है अर्थात् बन्ध का कारण है। यह मोक्ष का उपाय है, वह बन्ध का उपाय है। समझ में आया ? भगवान आत्मा अपने शुद्ध परिपूर्ण स्वभाव का आश्रय लेकर जो दशा प्रगट हुई है, उतना अरागी परिणामरूप मोक्ष का उपाय है। अर्थात् मोक्ष का कारण है। उससे विपक्षकृत। यह (अरागी परिणाम) अमृत है तो इससे विपक्ष राग है। वह राग बन्ध का उपाय है। सीधी बात है। समझ में आया ?

श्रद्धा में तो पहले निर्णय करे, इसकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं। फिर राग से यह होगा, अमुक से यह होगा। समझ में आया ? राग के भाव में चारित्र पड़ा है ? रागभाव में सम्यग्दर्शन पड़ा है ? रागभाव में सम्यग्ज्ञान पड़ा है ? सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो आत्मा की पर्याय में पड़ा है, अन्तर में पड़ा है। समझ में आया ? वास्तविक यह है कि वह आत्मा और आत्मा के गुणों का जिसे माहात्म्य नहीं, उसकी शक्ति का सत्व क्या है, उसे ऐसे इधर–उधर नजर करता है। शास्त्र में से अर्थ खोजकर राग से होगा, पुण्य से होगा, इससे होगा। समझ में आया ? उसे आत्मा और आत्मा के गुणों की श्रद्धा की, विश्वास की खबर नहीं। उसे विश्वास नहीं। भगवान आत्मा पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... प्रभु ! वह तो पूर्ण और अपूर्ण सभी दशा का कारण तो वह है। समझ में आया ? उससे विपरीत भाव, जितना दया, दान, व्रत, व्यवहाररत्नत्रय का राग रहे, वह बन्ध का उपाय है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? **अवश्य बन्ध का उपाय है, मोक्ष का उपाय नहीं।** लो। इसमें अब विपरीत अर्थ किया। वह राग है, वह मोक्ष का उपाय है, वह बन्ध का उपाय नहीं। लो, ऐसे अर्थ किये हैं। ये दोनों में अर्थ किये हैं। मक्खनलालजी में किये हैं और उसने ऐसा किया है। पुरुषार्थसिद्धि–उपाय। समझ में आया ?

टीका : 'असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्षकृतः रत्नत्रयं तु अवश्यं मोक्षोपायः अस्ति न बन्धनोपायः।' रत्नत्रय तो **'मोक्षोपायः अस्ति न बन्धनोपायः।' एकदेशरूप रत्नत्रय के पालन करनेवाले पुरुष को जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय से नहीं होता,...** कहो, बराबर है ? **एकदेशरूप रत्नत्रय के...** भगवान आत्मा में आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र। यह स्व–आश्रय से प्रगट हुआ, वह अरागी है। उसे जो कुछ बन्ध का भाव होता है, कर्मबन्ध होता है, **वह**

रत्नत्रय से नहीं होता, किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी राग-द्वेष हैं, उनसे होता है। लो, रत्नत्रय का विपक्ष राग-द्वेष और राग-द्वेष का विपक्ष रत्नत्रय। विपक्ष है। निश्चय और व्यवहार विपक्ष है - ऐसा यहाँ तो कहा है। समझ में आया?

किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी राग-द्वेष हैं, उनसे होता है। वह रत्नत्रय तो अवश्य वास्तव में मोक्ष का ही उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं। अब, ऐसे शास्त्र के अर्थ कल्पना से करना और अपने को ठीक पड़े, ऐसा लागू करे। बन्धभाव है, वह मोक्ष का कारण है, इसलिए मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं - ऐसा अर्थ किया है। ऐसा है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु करना पड़े। क्या करे?

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रय धारण करता है... चाहे तो तिर्यंच हो, मनुष्य हो। दोनों श्रावक हो सकते हैं। तिर्यंच भी श्रावक होता है। पाँचवें गुणस्थानवाले पशु भी असंख्य हैं। पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक असंख्यात हैं। मनुष्य तो बहुत थोड़े हैं। ढाई द्वीप से बाहर असंख्यात पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक हैं। पशु, तिर्यंच। वहाँ तो नहीं मन्दिर, नहीं उपाश्रय, वहाँ नहीं कुछ... असंख्यात पड़े हैं। स्वयंभूरमण समुद्र। पाँचवें गुणस्थान में आराधक। स्वर्ग में जायेंगे। ये सब प्रश्न तब हुए थे। काल कर गये न, मगनलालजी काल कर गये (स्वर्गस्थ हो गये)। (संवत्) १९७९ के वर्ष। वह मारवाड़ी आया था न... वहाँ तब थे।

एक समय में असंख्यात समकिती आराधक हैं। एक समय में पाँचवें गुणस्थानवाले समान स्थिति में उपजे तो कहाँ जायें? समान स्थिति में उपजे तो कहाँ जायें? ऐसा प्रश्न था। तब १९७९ के साल में। एक सरीखी स्थिति में जाये नहीं। क्योंकि वहाँ से वापस मनुष्य में आना है न? असंख्यात आराधक जीव हैं, परन्तु असंख्यात मरकर समान स्थिति से स्वर्ग में उपजते, ऐसा नहीं होता। एक समय में समान स्थिति से मरकर उपजे, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? भाई! क्योंकि समान स्थिति से उपजे तो वहाँ से सबको असंख्यात एक समय में वापस मनुष्य में आना चाहिए। यह प्रश्न १९७९ के वर्ष में है न अपने? यहाँ पत्र लिखा हुआ है। ८५ प्रश्न लिखे थे। तब १९७९ के वर्ष में। कोई कुछ जवाब दे नहीं।

पाँचवें गुणस्थान में असंख्यात श्रावक पड़े हैं। क्रम से जाते हैं। कम–अधिक स्थिति से एक समय में असंख्यात उपजते हैं। उपजे ऐसा पाठ है। आठवें देवलोक में एक साथ उपजें। देवरूप से। परन्तु कम–ज्यादा स्थिति से, समान स्थिति से नहीं। समझ में आया? असंख्यात एक समय में मरे और आठवें देवलोक में जाये।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर मनुष्य होना चाहिए। ऐसे जरा कम–ज्यादा आयुष्यवाले हों और एक समय में असंख्यात उपजे। ऐई... पोपटभाई!

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ एक साथ मरे परन्तु यहाँ एक सरीखी स्थितिवाले नहीं उपजे। आगे–पीछे की स्थितिवाले फिर आगे–पीछे मरें। नहीं तो यहाँ कहाँ से आवे? ये सब प्रश्न तब होते थे। १९७९ में। लिखा हुआ पन्ना पड़ा है। कौन सामने जवाब दे।

मुमुक्षु : थोड़ा हिन्दी में कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक हैं, वे स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य पड़े हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में पंचम गुणस्थानवाले श्रावक हैं। मगरमच्छ, मछलियाँ, सिंह असंख्य पड़े हैं। शास्त्र में यह लेख है। असंख्य, हों! लाख–करोड़, दो करोड़, ऐसा नहीं। असंख्यात। और ऐसा प्रश्न हुआ कि यदि असंख्य श्रावक हैं, वे आराधक होकर... आराधक हैं न, पंचम गुणस्थान? तो एक समय में वे असंख्यात स्वर्ग में उपजे, ऐसा पाठ है। स्वर्ग में आठवें देवलोक में एक समय में असंख्यात उपजें, ऐसा पाठ है। तब मनुष्य मरकर एक समय में असंख्य उपजें, ऐसा कहीं है नहीं, तो एक समय में अठारह सागर की स्थिति से असंख्य उपजते हैं – ऐसा शास्त्र में पाठ है। किसी समय। अठारह सागर की स्थिति समझते हो? आठवें देवलोक की स्थिति नहीं समझते? आठवें देवलोक की स्थिति है न? तो ऐसी स्थिति से एक समय में असंख्य उपजें, ऐसा शास्त्र में पाठ है, तो असंख्य उपजते हैं परन्तु समकिती, आराधक समान स्थिति से नहीं उपजते। समकिती तो कदाचित एक समय में उपज सकता है, परन्तु वहाँ कम–ज्यादा स्थिति से उपजता है, समान स्थिति से नहीं उपजता।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : समान स्थिति होवे तो (वे देव) मरकर मनुष्य में आनेवाले हैं तो असंख्यात कहाँ से आ सकेंगे? समझ में आया? यह तो बहुत प्रकार के प्रश्न मस्तिष्क में से उठते हों न! घोलन बहुत चलता था। बहुत हों। क्या कहते हैं यह? मन्थन में आवे। बहुत विचार आते थे। १९७९ की बात है। कितने वर्ष हुए? ४४ हुए। तब तुम्हारा जन्म भी नहीं होगा। समझ में आया? एक पन्ना लिखा हुआ पड़ा है। नया अभी सुधारा है न? पुराना हो गया था। १९७९ के जेठ कृष्ण में लिखे हुए प्रश्न हैं। १९७९ के ज्येष्ठ कृष्ण। बहुत वर्ष हो गये। ४४ के ऊपर यह ४५ वर्ष चलता है।

यहाँ क्या कहते हैं? कि रत्नत्रय का आराधक श्रावक समकिती, असंख्यात... विकलत्रय का आ गया है न? वे पंचम गुणस्थानवाले वहाँ भी असंख्य हैं। वे भी स्वर्ग में जाते हैं। यहाँ आया न? इन्द्रपद में जाते थे। समझ में आया? स्वर्ग में जायें, परन्तु समान स्थिति से नहीं जाते। आराधक होकर जाते हैं। किसी की समान आयु न हो। थोड़ा बहुत फेरफार पाँच-पचास, सौ-दो सौ-पाँच सौ-हजार वर्ष का अन्तर हो, फिर मनुष्य में कालक्रम से उपजते हैं। इतने थोक पड़े हैं, असंख्यात समकिती। कभी एक समय में असंख्यात आराधक होकर स्वर्ग में जाते हैं। ओहो..हो..! समझ में आया? वहाँ से फिर मनुष्य होकर, मोक्ष जानेवाले हैं। कहो, ...वापस देवलोक में जाये, कहा न? देवलोक में से फिर मनुष्य होकर मोक्ष में जायेंगे। ऐसे असंख्य तिर्यंच पड़े हैं। आराधनावाले भी कितने पड़े हैं। विराधक अनन्त होते हैं। आराधक असंख्य होते हैं। आत्मा के आराधक असंख्य होते हैं, विरोधक अनन्त होते हैं। सदाकाल।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रय धारण करता है, उसे जो कर्मबन्ध होता है... क्योंकि धर्म हो और स्वर्ग का पुण्य बँधे वहाँ। **वह रत्नत्रय से नहीं होता परन्तु उसका जो शुभकषाय है...** देखो! ऐई! शुभकषाय है अर्थात् क्या? यह दया, दान, व्रत के परिणाम रह गये न? जरा शुभभाव। वह शुभकषाय है। **उससे होता है...** स्वर्ग का बन्ध लेना है न यहाँ तो? साधारण बन्ध की बात यहाँ नहीं लेना है। समझ में आया?

मुमुक्षु : तब शुभकषाय होती ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे, होती ही है। शुभकषाय होती ही है वह। पाँचवें में शुभकषाय न हो, ऐसा नहीं होता।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : .....शुभकषाय होवे न! न हो तब तो वीतराग हो जाये। समझ में आया? यह समझो, पहिचानो वहाँ। सब समझने जैसा अब। प्रश्न करते हुए... उसे शुभकषाय होती है। शुभकषाय पड़ा हुआ। अरे! परन्तु यह शुभकषाय वह शुभ प्रशस्तराग है। भक्ति का राग का, पूजा का, प्रवचन करने का, सुनने का सब भाव, वह शुभराग है, शुभकषाय है। उसके फल में स्वर्ग मिले। उसके फल में कहीं मुक्ति, संवर–निर्जरा नहीं है। समझ में आया?

उससे ही होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाला शुभकषाय है परन्तु रत्नत्रय नहीं। लो, समझ में आया? इससे निश्चित हुआ कि जो आत्मा में मोक्ष का मार्ग है, वह बन्ध का मार्ग नहीं है और जो बन्धन जो समकिती को पड़ता है, वह अन्दर में शुभराग रहता है, उसके कारण बन्धन पड़ता है। वह बन्धन है, बन्धन का उपाय है; वह कहीं मोक्ष का उपाय नहीं है। दोनों भिन्न हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

साधकदशा ही परमार्थ स्तवन

हे भाई! तू सर्वज्ञस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसकी उपासना कर! तेरे १४८ कर्मबन्धन की बेड़ी क्षणमात्र में टूट जाएगी। अरे, वीतरागभावरूप जिनभक्ति तो अन्दर के मोह और भव के बन्धन को क्षण में छिन्न–भिन्न कर देती है, तब बाहर के ताले टूट जाएँ — इसमें क्या आश्चर्य है? लोग तो बाहर के आश्चर्य में अटक जाते हैं और बाहर की आशा से भक्तामर आदि पढ़ते हैं परन्तु भाई! स्तुति का वास्तविक प्रयोजन तो अन्तर में अपने वीतरागभाव की वृद्धि हो — यह है। तू जिनकी स्तुति करता है, उन्होंने तो सम्पूर्ण राग को छोड़ दिया है; अतः उनकी स्तुति भी रागरहित भाव से ही सुशोभित होती है। भगवान और भक्त, दोनों के भावों में जितना सुमेल हो, उतनी साधकदशा है और वही परमार्थस्तवन है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ३६–३७*

गाथा - २१२-२१४

अब रत्नत्रय और राग का फल बताते हैं:-

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१२।।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१३।।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१४।।

जिस अंश से सुदृष्टि, बन्धन नहीं है उस अंश से।
जिस अंश से है राग, बन्धन है सदा उस अंश से।।२१२।।

जिस अंश से सद्ज्ञान, बन्धन नहीं है उस अंश से।
जिस अंश से है राग, बन्धन है सदा उस अंश से।।२१३।।

जिस अंश से सच्चरित्र, बन्धन नहीं है उस अंश से।
जिस अंश से है राग, बन्धन है सदा उस अंश से।।२१४।।

अन्वयार्थ : (अस्य) इस आत्मा के (येनांशेन) जितने अंश में (सुदृष्टि:) सम्यग्दर्शन है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (राग:) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है। (येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (ज्ञानं) ज्ञान है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (राग:) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है। (येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (चरित्रं) चारित्र है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध

(नास्ति) नहीं है, (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (रागः) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है।

टीका : 'येन अंशेन सुदृष्टिः तेन अंशेन बन्धनं नास्ति किन्तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन बन्धनं भवति।' –अर्थः–जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ : जीव के तीन भेद हैं – १. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३. परमात्मा। इन तीन में से बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, केवल रागभाव ही है, अतः सर्वथा बन्ध ही है। और परमात्मा भगवान जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है, उनके रागभाव का अत्यन्त अभाव होने के कारण सर्वथा बन्ध नहीं है, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक है, इसलिए इस अन्तरात्मा के जितने अंश में *सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश में कर्म का बन्धन नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है। चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्याना–वरणादि तीन का बन्ध है। पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानरूप रागभाव का अभाव हुआ, अतः उसका भी बन्ध रुक गया, परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो का बन्ध अभी शेष है। (छठे–सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणी सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ, तब उतना बन्ध भी मिट गया।) जितने अंश में जो जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बन्ध है।।२१२।।

भावार्थ : (मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के सम्यग्ज्ञान का अभाव है और मिथ्याज्ञान का सद्भाव है, इसलिए उसको पूर्ण राग–द्वेष होने से अवश्य ही कर्म का बन्ध होता है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा हैं, उन्हें पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जाने के कारण राग–द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है। अतः उनके कर्म का बन्ध बिलकुल नहीं है। और अन्तरात्मा जो अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक है, उसके जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रगट होकर राग–द्वेष मिटता जाता है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में राग–द्वेष मौजूद है, उतने ही अंश में कर्मबन्ध भी होता रहता है।।२१३।।

---

* चतुर्थ गुणस्थान में सभी जीवों को सम्यग्दर्शन तो पूर्ण शुद्ध है, अतः उस अपेक्षा से राग नहीं–बन्ध नहीं, किन्तु जितना चारित्र का दोष है, उतना बन्ध है।

जितने अंश में सम्यक्चारित्र हो गया है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागद्वेषभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है। ऊपर की तरह यहाँ भी समझ लेना। बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है, अत: उसके राग-द्वेष की पूर्णता होने से पूर्ण कर्म का बन्ध है, और परमात्मा के पूर्ण सम्यक्चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है। अन्तरात्मा के जितने अंश में रागद्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेष है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ : मोहनीय कर्म के दो भेद हैं : १. दर्शनमोह, २. चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है। (चारित्र के दो भेद हैं। एक स्वरूपाचरण, दूसरा संयमाचरण। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरण तो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता ही है तथा संयमाचरण के दो भेद हैं, एकदेश और सर्वदेश। पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक के तो एकदेश चारित्र है और छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सकलदेश चारित्र है तथा तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर वही मुनिराज जिनराज बन गये और परमात्मा कहलाये, वहाँ उनके सम्यक्चारित्र की पूर्णता होकर बन्ध का अभाव हो गया।) जितना-जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है, उतना ही उसके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है। जैसे कि दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है, प्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से सकलचारित्र प्रगट होता है। संज्वलन चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है-इस तरह इस मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्तकारण हैं।

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान, प्रत्याख्याना-वरणीय क्रोध-मान, संज्वलन क्रोध-मान - ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा - सब मिलकर बारह प्रकृति तो द्वेषरूप परिणमन में निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमन में निमित्त हैं। इस प्रकार अनादि काल से यह जीव इन्हीं २५ कषायों के वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसारसागर में भ्रमण कर रहा है; अत: आठों कर्मों में इस मोहनीयकर्म को सर्व प्रथम जीतना चाहिए। जब तक मोहनीयकर्म का पराजय न हो, तब तक शेष कर्मों का पराजय हो ही नहीं सकता।

इसलिए सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोह का, सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का और सम्यक्चारित्र से चारित्रमोहनीय का नाश करके सम्यक्रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिए। जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा, तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।।२१४।।

प्रवचन नं. ८३ गाथा–२१२–२१४ मंगलवार, श्रावण शुक्ल ३, दिनांक ०८.०८.१९६७

दो भाग। सम्यग्दर्शन का भाग जितने अंश में... आगे कहेंगे। भगवान को पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है। इस पूर्ण का अर्थ (यह) कि वहाँ तो सम्यग्दर्शन है ही। परन्तु दो का अंश, उसका अर्थ ऐसा नहीं कि सम्यग्दर्शन का एक अंश प्रगट हुआ है और दूसरा नहीं। ऐसा नहीं है। राग–अंश की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का अंश–भाग दूसरा अलग है, ऐसा। समझ में आया? जिस अंश में, जितने अंश में सम्यग्दर्शन। आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु के आश्रय से जो अन्तर–प्रतीति सम्यग्दर्शन हुआ है, उस भाग से तो बिलकुल बन्धन नहीं है। कहो, समझ में आया? सम्यग्दर्शन बन्धन का कारण नहीं। सेठी!

जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है। जितने भाग अन्दर राग रहता है, पराश्रय विकार भाव रहता है, वह बन्ध का कारण है। – ये दो नियम अनादि–अनन्त सिद्धान्त हैं। समझ में आया? उसमें कोई घालमेल करे कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, मोक्ष का भी कारण है और बन्ध का भी कारण (है) – ऐसा है नहीं। अन्दर शुभादि राग होता है, वह कुछ बन्ध का भी कारण है और वह कुछ संवर–निर्जरा का भी कारण है, ऐसा है नहीं। अमरचन्दभाई! अभी तो बाहर में बहुत चलता है। देवीलालजी!

मुमुक्षु : अनेकान्त का....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनेकान्त का अर्थ ही यह है कि जो सम्यग्दर्शन है, वह बन्ध का कारण नहीं, बन्ध का कारण नहीं; अबन्ध का कारण है – मोक्ष का कारण है। अस्ति–नास्ति में लें तो सम्यग्दर्शन है, वह मोक्ष का कारण अर्थात् स्वयं अबन्ध परिणाम है, अर्थात् अबन्ध का कारण है, बन्ध का कारण नहीं। यह अनेकान्त (है)।

मुमुक्षु : एक की एक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक की बात में अनेकान्त हो नहीं। यह की यह बात में दो बातें लागू पड़े, उसे अनेकान्त कहा जाता है न! कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य अनाकुल आनन्द और ज्ञान की मूर्ति (है) – ऐसा जिसने स्वद्रव्य का आश्रय करके जो सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, वह सम्यग्दर्शन बिलकुल बन्ध का कारण नहीं और मोक्ष का कारण है। कहो,

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिलकुल नहीं बाँधते। यह अभी आगे आयेगा। यह राग-शुभोपयोग का अपराध है – ऐसा कहेंगे। तीर्थंकर प्रकृति और आहारक शरीर शुभोपयोग का अपराध है। अपराध है – यह कहेंगे, अभी आयेगा। कहो, समझ में आया? कितने में आया यह? २२०, २२० (गाथा) में देखो! **शुभोपयोगोऽयमपराधः।**

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।।२२०।।

जो पुण्य आता है, वह शुभोपयोग का अपराध है।

मुमुक्षु : यह तीर्थंकर प्रकृति में आया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तीर्थंकर आता है। सब पहले आ गया है। तीर्थंकर प्रकृति क्या फिर? यह पहले आता है। २१८ गाथा में। २१८ वीं गाथा में आयेगा **तीर्थंकराहार बन्धकौ भवतः** योग-कषाय के कारण से बन्ध होता है। बाद की सभी गाथायें बहुत सरस हैं।

जिस अंश में अन्दर में रागभाव हों, भले शुभ हो, परन्तु उस अंश में उस भाग से तो बन्धन ही है। शुभोपयोग बन्ध का ही कारण है; शुभोपयोग, संवर-निर्जरा का किंचित् भी कारण नहीं है और सम्यग्दर्शन मुक्ति का ही उपाय है, अबन्ध ही परिणाम है; वह बन्ध का कारण बिलकुल नहीं। कहो, समझ में आया? आहा..हा..! ऐसी कितने की व्याख्या करते हैं, भाई!

जीव के तीन भेद हैं – बहिर्-आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इन तीन में बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है। बहिर अर्थात् जो आत्मस्वभाव में नहीं – ऐसे पुण्य-पाप को और शरीर, कर्म को अपना मानता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हैं। कहो, समझ में आया?

जो ज्ञायकतत्त्व है, शुद्धतत्त्व है, परमस्वरूप तत्त्व आत्मा है, उसमें पुण्य–पाप के भाव नहीं है, कर्म, शरीर नहीं, परवस्तु नहीं। पर नहीं, उसे पर मुझमें हैं, पुण्य–पापादि परिणाम मुझमें है – ऐसी मान्यता, वह बहिर्–आत्मा है, क्योंकि आत्मा में जो नहीं, उस बाह्यवस्तु को आत्मा में मानने का नाम बहिरात्मा है। कहो, बराबर है ?

बहिरात्मा अर्थात् क्या ? आत्मा जो वस्तु है, उसमें जो नहीं, ऐसा जो बहिरपना। पुण्य और पाप, दया, दान, राग–द्वेष, शरीर, वाणी, कर्म। यह चौदहवीं गाथा में आ गया है। सब चीज़ें। एक आत्मा ज्ञायकमूर्ति शुद्ध चैतनय के अतिरिक्त जितना पुण्य–पाप का विकल्प, तीर्थंकरगोत्र का भाव, परन्तु वह तो सम्यक्त्वी को होता है, तथापि वह स्वयं माने नहीं, परन्तु इससे पहले कोई भी शुभ–अशुभभाव, कर्म, शरीरादि, वे आत्मा में नहीं। आत्मा में तो ज्ञान–दर्शन–आनन्द है। (जो) नहीं, उसमें मानना, इसका नाम बहिरात्मा है। बराबर है ?

मुमुक्षु : अभी तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ है ? अभी भी नहीं। तत्त्व किसे कहना ? शरीर–वाणी–कर्म, वह अजीवतत्त्व है; पुण्य–पाप, वह आस्रवतत्त्व है; आत्मा, वह ज्ञायकतत्त्व है। – अभी ऐसा है। कहो, समझ में आया ? यह १४ वीं गाथा में अपने पहले आ गया है। सब पण्डितों के बीच में कहा था। देखो, १४ वीं गाथा देखो। 'जयपुर' में कहा था। 'आँकड़िया' में कहा था। तुम्हारा कौन–सा गाँव है ? भाई ! हिम्मतनगर में कहा था। यह गाथा सब पण्डितों के बीच कही थी। १४ वीं गाथा

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

है ? अन्दर टीका–**इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत नाना प्रकार के भावों से संयुक्त नहीं है...** पुण्य–पाप, विकल्प, शरीर, वाणी से सहित नहीं। सहित नहीं। परन्तु दो तत्त्व भिन्न, वे सहित कहाँ से होंगे ? आस्रवतत्त्व, आस्रव है; जड़तत्त्व, जड़ है; आत्मा, वह आत्मा है। वह आत्मतत्त्व, आस्रवतत्त्वसहित है – ऐसा कहाँ से आया ? आस्रव, आस्रवसहित है, परन्तु आत्मा, आस्रवसहित है (–ऐसा नहीं)। अजीव, अजीवसहित है, परन्तु अजीवसहित आत्मा है – यह मिथ्यादृष्टि भव का बीज है। कहो, समझ में आया ?

भावों से संयुक्त नहीं है तो भी अज्ञानी जीवों को अपने अज्ञान से..

'बालिशानां' अज्ञानी को अपने अज्ञान से, वापस ऐसा है। किसी ने कराया नहीं। दर्शनमोहकर्म ने अज्ञान कराया नहीं, ऐसा कहते हैं। पाठ है न? **'प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः'** अज्ञानियों को अज्ञान में प्रतिभास है। क्या? कि **आत्मा, कर्मजनित भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है...** अमरचन्दभाई! आहा..हा..! भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति और आनन्द की मूर्ति आत्मा है। वह अपने पवित्र शुद्धस्वभावसहित है, परन्तु यह कर्म के निमित्त से हुआ पुण्य-पाप का विकार और कर्म के निमित्त से हुई बाह्य सामग्री इस ओर (बाहर में)। इस ओर सामग्री अघाति से मिली हुई, इस ओर घाति के निमित्त से हुए पुण्य-पाप के विकार। उनसे रहित तत्त्व है, तथापि सहित मानना, वह भव का बीज है। बराबर है? मनसुखभाई! कहो, समझ में आया इसमें? इसमें तो सादी बात है। इसमें कहीं बड़ी पोथियाँ पढ़ना है, ऐसा नहीं है।

प्रतिभास देखो! क्या कहा? अज्ञानी जीवों को, वह संयुक्त न होने पर भी **'प्रतिभाति'** प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार के बीजरूप है। वही मिथ्यात्वभाव परिभ्रमण का कारण है। देवीलालजी! न्याय से भी आया है या नहीं? देखो! भगवान आत्मा, वस्तु आत्मा जिसे कहें, वह तो ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि स्वभावस्वरूप है और पुण्य-पाप के भाव कहें, वे तो आस्रवतत्त्व हैं। शुभ और अशुभभाव, वह आस्रवतत्त्व है तथा कर्म, शरीर, वह अजीवतत्त्व है। अब वह अजीव, अजीव में है; आस्रव, आस्रव में है; आत्मा, आत्मा में है, तथापि उस आत्मा को उनसे रहित होने पर भी सहित मानना, वही मिथ्यात्व बहिरात्मबुद्धि संसार का बीज है। जेठालालभाई! बात तो बराबर है या नहीं? अरे, भगवान! अरे! इसे विचार करना नहीं; इसे मन्थन करके तत्त्व क्या है, यह निकालना नहीं। सेठी! ऐसा का ऐसा काल अनादि से व्यतीत किया है।

कहते हैं कि, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। (उनमें) बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन नहीं। वह केवल रागभाव है, अर्थात् वह तो अकेला विकारीभाव है, (वह) मैं, ऐसा मानता है तो वह तो उसे अकेला विकार ही है। बात समझ में आती है? बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि क्यों है? कि जो आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप विकार नहीं, तो अजीवकर्म आदि आत्मा में नहीं। उसे अपने में मानता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि को तो अकेला विकार ही है। आत्मा तो है ही नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पूरा बहिरात्मा। यह स्पष्टीकरण कराते हैं, हों! पूरा बहिरात्मा। बहिरात्मा का अर्थ क्या? अपने अभी इतना सिद्धान्त लेना है। इससे यह चौदहवीं गाथा ली है। आत्मा में क्या है? आत्मा में क्या है? कि आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण शुद्धस्वरूप का पिण्ड आत्मा है। वह आत्मा में है। आत्मा में पुण्य और पाप हों तो पुण्य – पाप भिन्न पड़े नहीं। भिन्न न पड़े तो, पृथक् न पड़े तो आत्मा रहे नहीं। तो आत्मा में पुण्य–पाप नहीं। स्वभाव में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आत्मा में नहीं। वे परिणाम, परिणाम में हैं। आत्मा, आत्मा में है। कर्म–शरीर, कर्म–शरीर, अजीव में है। आत्मा, आत्मा में है। ऐसा न मानकर आत्मा पुण्य–पाप के भाववाला और कर्म–शरीरवाला, यह परतत्त्ववाला, स्वतत्त्व, (वह) परतत्त्ववाला (है) – ऐसी मान्यता, वह मिथ्यादृष्टि संसार का बीज है। कहो, सादी बात है।

मुमुक्षु : न्याय से सिद्ध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : न्याय से सिद्ध होता है। कहो, देवीलालजी!

मुमुक्षु : गृहीत मिथ्यात्व तो गया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : गृहीत मिथ्यात्व जरा भी नहीं गया। गृहीत मिथ्यात्व अर्थात् क्या?

यह रस तीव्र–मन्द वह कोई चीज़ नहीं। समझ में आया? वह तो अभव्य को भी अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का रस मन्द पड़ता है। इससे क्या? मन्द पड़ा, वह अभाव नहीं है। अभाव के बिना मिथ्यात्व का नाश नहीं होता।

मुमुक्षु : अभाव का कारण तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभाव का कारण अर्थात् क्या? अभाव का कारण अपना आत्मा है। जिसमें साधन पड़ा है, राग के अभावरूप स्वभाव साधन है, वह स्वयं साधन होता है। समझ में आया? वह आत्मा ही ऐसा है कि पर के अभावस्वरूप है। अब अभावस्वरूप है तो उसके परिणमन में अभाव अपने ही कारण से अभावरूप से परिणमता है। राग की मन्दता के कारण यहाँ सम्यग्दर्शनरूप परिणमता है, ऐसा कुछ है नहीं। कहो, समझ में आया?

केवल रागभाव ही है। अर्थात् क्या कहा? बहिरात्मा को अपना आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, वह तो दृष्टि में है नहीं। मैं शुद्ध चैतन्य आनन्दज्ञायक हूँ। भगवान ने देखा हुआ, लो,

अपने लो। केवली परमेश्वर ने तत्त्व देखे; तो शरीर / अजीव को भगवान ने अजीवतत्त्व देखा; पुण्य-पाप के भाव को भगवान ने आस्रवतत्त्व देखा और उससे रहित आत्मा वह ज्ञान और आनन्द तत्त्व देखा। भगवान ने ऐसा देखा है। बराबर है ? भगवान ने ऐसा देखा है कि तत्त्व ऐसा है। अजीव, अजीवरूप से तत्त्व है; आस्रव, आस्रवरूप से तत्त्व है; आत्मा, आत्मारूप से है। अब इस प्रकार से यह न मानकर उन आस्रवसहित आत्मा मानता है अर्थात् मैं आत्मा ज्ञायक हूँ, मेरे शुद्ध आनन्दसहित हूँ, ऐसा मानकर रागसहित हूँ—ऐसे बहिरात्मा को, उसमें नहीं उन्हें अपना मानता है, तो ऐसा मिथ्यात्व का अकेला रागभाव ही उसके पास पड़ा है। कहो, बराबर है ? लॉजिक से बराबर है ? भाई ! हमारे वकील हैं न यह तो। अभी होंगे वकील परन्तु उसका क्या करेंगे ? कहो, समझ में आया ? यह लॉजिक से तो भाई ! न्याय से बैठता है या नहीं ? इसमें कहीं बहुत पढ़ना पड़े, ऐसा कुछ नहीं है।

देखो ! **बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है...** असत्‌दृष्टि है। मिथ्या अर्थात् असत्‌दृष्टि है। असत्‌दृष्टि क्यों ? कि जो इसमें नहीं, उसे मानता है, इसलिए असत्‌दृष्टि है। उसकी सत्‌दृष्टि नहीं। सम्यग्दृष्टि, वह सत्‌दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि कहो या सम्यक् दृष्टि कहो, या सत्‌दृष्टि कहो तो ज्ञायकस्वरूप शुद्ध है, यह उसकी दृष्टि वह सम्यग्दृष्टि है। मुझमें राग नहीं। यह नहीं, उसका नाम सत्‌दृष्टि है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। वह राग / पुण्य-पापवाला नहीं है क्योंकि एक तत्त्व दूसरे तत्त्ववाला कैसे होगा ? तब तो दो तत्त्व भिन्न नहीं रहते। समझ में आया ? आहा..हा.. ! सम्यग्दर्शन नहीं अर्थात् सच्ची दृष्टि नहीं। सच्ची दृष्टि नहीं अर्थात् शुद्धज्ञायक चैतन्यमूर्ति मैं हूँ, मैं पुण्य-पाप नहीं, कर्म नहीं, मुझमें उनकी नास्ति है और पूर्ण आनन्दस्वभाव की अस्ति है—ऐसी जिसे अन्तर सत्यदृष्टि नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं। कहो, समझ में आया इसमें ?

केवल रागभाव है... अर्थात् अकेला कषायभाव है। इस कषाय शब्द में मिथ्यात्व और राग सब इसमें आ गया। मिथ्यात्व और राग, यह सब अकेला कषायभाव है। मिथ्यात्व, भी वह राग है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! भगवान आत्मा... सात तत्त्वों को सिद्ध करोगे या नहीं ? सात को। किस प्रकार से सिद्ध होंगे ? सात की श्रद्धा। सात की श्रद्धा अर्थात् क्या ? कि आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसे उस प्रकार से; राग, रागरूप है, उसे उस

प्रकार से; अजीव, अजीवरूप है, उसे उस प्रकार से। अजीव से राग नहीं; राग से आत्मा नहीं; आत्मा से राग नहीं और आत्मा से अजीव नहीं। समझ में आया? कर्म आदि अजीव है। उनसे राग नहीं। राग आस्रवतत्त्व है। अजीव से आस्रव नहीं तथा आत्मा से आस्रव नहीं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव है। अद्धरपर्याय में से अन्दर मिथ्याबुद्धि से उत्पन्न करता विकार, वह आस्रवतत्त्व है, वह स्वभाव में नहीं है, त्रिकाली गुण में नहीं है। उसे अपना माना, इसका नाम बहिरात्मा–मिथ्यादृष्टि कहने में आता है। कहो, दीपचन्दजी! समझ में आया या नहीं? इसलिए केवल कषाय ही है।

इसलिए सर्वथा बन्ध ही है... अकषाय भाव आत्मा, वह तो कहीं दृष्टि में आया नहीं। उसे भिन्न किया नहीं और मिथ्यात्व तथा रागसहित संयुक्त रखा। अकेला मिथ्यात्व और राग–द्वेष ही बहिरात्मा को है। कहो, समझ में आया? **सर्वथा बन्ध ही है...** सर्वथा। और कोई कहे, भाई! कथंचित् बन्ध को रखो न! अनेकान्त कहो न! सर्वथा बन्ध है और अबन्ध जरा भी नहीं, यह अनेकान्त है। समझ में आया? **परमात्मा भगवान जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है...** अर्थात् की उन्हें अब किंचित् थोड़ा राग बाकी रहा है और सम्यग्दर्शन है, ऐसा कुछ नहीं है। सम्यग्दर्शन रागरहित पूर्ण हो गया है। जिन्हें राग का साथ नहीं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन पूर्ण हो गया है। समझ में आया?

उनके रागभाव का अत्यन्त अभाव होने के कारण... समझ में आया? जिन्हें सम्यग्दर्शन में राग के साथ में था, था भिन्न; ऐसा भाग परमात्मा को रहा नहीं। परमात्मा को तो रागभागरहित अकेला समकित है। **उनके रागभाव का अत्यन्त अभाव होने के कारण सर्वथा बन्ध नहीं है,...** उसे (मिथ्यादृष्टि को) सर्वथा बन्ध है, इन्हें सर्वथा बन्ध नहीं है। दो बातें ली हैं। अब तीसरी, अन्तरात्मा की लेंगे। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : .... बात तो बहुत संक्षिप्त कर डाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें संक्षिप्त है, इसलिए संक्षिप्त। इस बहिरात्मा का विस्तार तो किया नहीं?

वस्तु स्वभाव से जो वस्तु बाह्य है, उसे अपने में मानना, ऐसा जो मिथ्यात्व और राग, कषायभाव, वह सर्वथा अकेला विकार ही उसके पास है। इसलिए उस बहिरात्मा को मात्र बन्धन है, जरा भी अबन्ध परिणाम नहीं। परमात्मा को राग के साथ समकित नहीं

रहा है। अकेला समकित स्पष्ट हो गया है। समकित तो स्पष्ट नीचे भी है परन्तु राग का साथ है, ऐसा भी रहा नहीं। अकेला समकित रहा है और राग बिल्कुल नहीं है; इसलिए उन्हें बिल्कुल बन्धन नहीं है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न? वह राग नहीं इसलिए। यह वापस कोई कहे कि सर्वथा पुण्य सम्यग्दर्शन अर्थात्? यह। राग का साथ जोड़ता है, वह नहीं। सराग समकित और ऐसा कहलाता है न जरा? सराग है नहीं, हों! समकित तो समकित ही है परन्तु वह साथ था वह नहीं। अकेला ज्ञान, अकेला समकित रहा; इसलिए उसे बन्धन नहीं है, कहो, समझ में आया?

अन्तरात्मा... अब रहा तीसरा। ये समझ में आये ऐसा है। **अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि...** अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि अर्थात्? अन्तरात्मा जो कि ज्ञान-आनन्द शुद्धस्वरूप है, वह आत्मा। अन्तर ऐसे आत्मा को माननेवाला, वह अन्तरात्मा है। समझ में आया? जिसमें जो है, भगवान आत्मा में अन्तर में क्या है? शुद्ध ज्ञान-दर्शन-आनन्द। ऐसे आत्मा को माननेवाला, उसे अन्तरात्मा कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया? उस बहिरात्मा से विरुद्ध मैं तो आनन्द और ज्ञायकभावसहित हूँ। रागरहित हूँ, ज्ञायकभावसहित हूँ। समझ में आया?

मुमुक्षु : राग होने पर भी रागरहित?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, राग, राग में है। राग, वह रागसहित, वह राग राग में है। आत्मा में कहाँ है? कहो, भीखाभाई! तो अब इसमें राग से लाभ होगा या नहीं? आहा..हा..!

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक है,.. समझ में आया? अन्तरात्मा, वह बहिरात्मा नहीं; अन्तरात्मा, वह परमात्मा नहीं। बराबर है? बहिरात्मा, वह अन्तरात्मा नहीं; बहिरात्मा, वह परमात्मा नहीं। परमात्मा, वह बहिरात्मा नहीं; परमात्मा, वह अन्तरात्मा नहीं। अन्तरात्मा, वह परमात्मा नहीं और अन्तरात्मा, वह बहिरात्मा नहीं। समझ में आया? अब यह तीसरे नम्बर की अन्तरात्मा की यहाँ व्याख्या चलती है। पहली दो बातें तो बीच में समझायीं। चलती है यह अन्तरात्मा की बात।

इसलिए इस अन्तरात्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन हो गया है... जितने अंश में अर्थात् जिस भाग से सम्यग्दर्शन निर्मल हुआ है, उतने भाग को तो कर्म का बन्धन

है नहीं। समझ में आया? अपना शुद्ध ध्रुव चैतन्यमूर्ति की अन्तर्दृष्टि हुई है। सत्य जैसा है, वैसी दृष्टि हुई है। राग और अजीवरहित पूर्ण शुद्धस्वभावसहित तत्त्व की अन्तर्मुख दृष्टि हुई है, उसे जो सम्यग्दर्शन है, जिस अंश में अर्थात् सम्यग्दर्शन एक भाग में है, उसे उस सम्यग्दर्शन में जरा भी बन्ध का कारण नहीं है। चौथे से बारहवें तक सम्यग्दर्शन, वह बन्ध का कारण नहीं है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : द्रव्य, गुण और पर्याय तीन है, उसमें किस भाग में सम्यग्दर्शन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय। सम्यग्दर्शन निर्मल पर्याय है। सम्यग्दर्शन–आत्मा और आत्मा के पूर्ण गुणसहित है, ऐसी जो अनुभव में प्रतीति, वह पर्याय है। क्या कहा? आत्मा और त्रिकाली ज्ञान–आनन्दादि गुण, उन गुणसहित आत्मा है, ऐसी जो प्रतीति, ऐसी जो प्रतीति, वह पर्याय है, वह सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन बिल्कुल बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया?

कर्म का बन्धन नहीं है और जितने अंश में रागभाव है... कहो, यद्यपि बारहवें गुणस्थान में राग नहीं है, परन्तु यहाँ तो समुच्चय बात करनी है न? जब तक राग हो, तब तक। अन्तरात्मा चौथे से बारहवें तक लिये। परन्तु कहीं बारहवें में राग है या ग्यारहवें में राग है, वह यहाँ सिद्ध नहीं करना है। यहाँ तो अन्तरात्मा सिद्ध किया कि अन्तरात्मा किसे कहना? बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि; परमात्मा तेरहवेंवाले; अन्तरात्मा चौथे से बारह (गुणस्थानवाले)। अब जहाँ जिसे राग है, वैसा आत्मा यहाँ लेना। ग्यारह–बारहवें में कहीं राग नहीं है।

जितने अंश में रागभाव है.. यह चौथे गुणस्थान से बारहवें (गुणस्थान तक।) समझ में आया? कितने गुणस्थान निकल गये? छह निकल गये, आठ रहे। चौथे से बारहवें गुणस्थान में आठ गुणस्थान रहे। नौ। चौथे से बारह। नौ और तीन बारह। एक, दो, तीन। तेरह और चौदह गुणस्थान हैं न? पीछे के दो और पहले के तीन। नौ रहे, तो नौ में अन्तरात्मा कहलाता है। अब नौ को राग है, वह यहाँ प्रश्न नहीं। उसमें से वापिस दो रागवालों को निकाल डालना। ग्यारह और बारहवें में दो में राग नहीं है। वे दो (तेरहवाँ–चौदहवाँ गुणस्थान) परमात्मा में गया; पहले तीन (एक से तीन गुणस्थान) बहिरात्मा में गये। उसमें रागरहित के वापिस, रागरहित के दो निकाल डालना। समझ में आया? इसलिए सात रहे। चौथे से दस गुणस्थान। समझ में आया?

जितने अंश में रागभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है। चौथे से दसवें (गुणस्थान) तक जितने अंश में राग पड़ा है शुभ, उतने अंश में बन्धन है। राग से बिल्कुल संवर-निर्जरा नहीं है। होवे तो अभी शुभभाव में संवर-निर्जरा और शुद्धता, ऐसा सब कहते हैं अभी।

मुमुक्षु : उसके कारणसहित आवे न इसलिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारणसहित धूल में भी नहीं कहते।

मुमुक्षु : उनके माने हुए कारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : माने हुए कारण। बस! कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : राग का भाग भी पर्याय में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में है। राग, पर्याय में है। वह चरित्र में फिर लेंगे। यहाँ अपने अभी काम नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन की पर्याय है, वह बन्ध का कारण नहीं है। राग है, वह बन्ध का कारण है। इसलिए सम्यग्दर्शन की पर्याय का भाग राग है, ऐसा कहीं नहीं। वह तो चारित्र में आयेगा। समझ में आया?

जैसे कि चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है... देखो! चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का राग नहीं है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ। उसमें माया और लोभ, वह राग; क्रोध और मान, वह द्वेष। उसमें चौथे गुणस्थान में-सम्यग्दर्शनसहित में राग-द्वेष—अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी राग नहीं है। राग नहीं है, उतना अरागी परिणमन है। यह नीचे स्पष्टीकरण करेंगे। यह नीचे स्पष्टीकरण करेंगे। स्वरूपाचरण। जितना राग नहीं, उतना यहाँ आचरण चौथे गुणस्थान में भी है। राग का और द्वेष का जो अनन्तानुबन्धी है... क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध-मान द्वेष हैं तथा माया और लोभ राग हैं। तो चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष नहीं हैं तो उतने अंश में स्वरूप स्थिरता है, उसे स्वरूपाचरण नीचे कहा जायेगा। वह बन्ध का कारण नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरण (आदि तीन) का बन्ध है। दूसरी कषाय का राग है न? चौथे गुणस्थान में दूसरी कषाय का कर्म के कारण है, ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं है, परन्तु कर्म के निमित्त के जुड़ान से स्वयं को

पाँचवें गुणस्थान में दूसरा प्रत्याख्यान राग है, उतना द्वेष भी है। यहाँ राग पर अधिक लेना है न? प्रत्याख्यानावरणी का बन्ध है तो उसे दूसरी कषाय का भी बन्ध पड़ता है। उतना राग-द्वेष है, उसका कषाय बन्ध पड़ता है। **पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानरूप रागभाव का अभाव हुआ...** लो। श्रावक को, सच्चे श्रावक को आत्मा के सम्यग्दर्शनसहित के दो कषाय के अभावरूप चारित्र की परिणति होने से, पाँचवें गुणस्थान में वह दूसरी कषाय का बन्ध नहीं है। चौथे में दूसरी कषाय का बन्ध था। पाँचवें (गुणस्थान में) नहीं है। समझ में आया?

परन्तु प्रत्याख्यान का बन्ध है। पाँचवें गुणस्थान में अभी चारित्र के परिणाम नहीं हैं; इसलिए उसे उस प्रकार के राग का बन्धन पाँचवें गुणस्थान में है। बराबर है? **जितने अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है...** लो। **जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बन्ध है।** बराबर है? चौथे गुणस्थान में आत्मा का दर्शन / प्रतीति और स्वरूपाचरण है, उतना उसे बन्ध का कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त तीन कषाय का राग है, वह उसे बन्ध का कारण है। पाँचवें गुणस्थान में स्वरूपाचरण उपरान्त अप्रत्याख्यान की दूसरी चौकड़ी गयी है। स्थिरता का अंश विशेष बढ़ा है, वह बन्ध का कारण नहीं है। दो कषाय का राग रहा, वह बन्ध का कारण है। छठवें गुणस्थान में मुनि को, सच्चे सन्त को तीन कषाय के अभावरूप स्वरूप-स्थिरता है, वह बन्ध का कारण नहीं है। जितना संज्वलन का राग रहा, वह उसे बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया इसमें? अब दूसरा बोल।

जितने अंश में जिस जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है,... सम्यग्ज्ञान पर वजन है, हों! वह क्षयोपशमज्ञान जो अनादि का है, वह नहीं। स्वरूप के अवलम्बन से जितना सम्यग्ज्ञान हुआ है, स्व-संवेदनरूप सम्यग्ज्ञान है, उतने अंश में रागभाव नहीं है। **उतने अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है...** भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप को, ज्ञान से जो स्वसंवेदन प्रगट किया है, वह ज्ञान भाव, बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव है, कहो, समझ में आया? **जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।** सम्यग्ज्ञानी को भी जितना राग चौथे गुणस्थान में स्व-संवेदनज्ञान का अंश प्रगट हुआ है, उतना बन्ध नहीं है। जो रागभाव बाकी रहा है, उसे बन्धन है। ऐसे पाँचवें-छठे में क्रम से ले लेना। इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन का कथन किया है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान का भी समझना जैसे कि बहिरात्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं है... पहले बहिरात्मा को सम्यग्दर्शन नहीं है, ऐसा कहा था। **बहिरात्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं है, मिथ्याज्ञान ही है...** क्योंकि जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान का वेदन नहीं है। शास्त्रज्ञान आदि हो, वह सब मिथ्याज्ञान है। आहा..हा..! **बहिरात्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं है...** क्योंकि सम्यग्ज्ञान जो है, वह तो स्व के आश्रय से वेदन होनेवाला ज्ञान, वह ज्ञान कहने में आता है। वह बहिरात्मा को नहीं है। अन्तर का सम्यग्ज्ञान-ज्ञान, ज्ञान का वेदन, वह नहीं है। अन्तरस्वरूप का ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका ज्ञान बहिरात्मा को नहीं है। उसे बहिर का ज्ञान है, अन्तर का नहीं। कहो, समझ में आया?

जैसे कि बहिरात्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं है, मिथ्याज्ञान ही है, इसलिए उसे पूर्ण राग-द्वेष होने से अवश्य कर्म का बन्ध होता है। भगवान आत्मा का शुद्धस्वरूप, पवित्र के आश्रय से जैसे प्रतीति प्रगट की, वह बन्ध का कारण नहीं। वैसे जितना आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति के स्व-संवेदन से अपने ज्ञान के वेदन से ज्ञान को प्रगट किया, वह अंश बहिरात्मा को नहीं है। समझ में आया? इसलिए उसे मिथ्याज्ञान है। आहा..हा..! वाह...! ....स्वरूप का ज्ञान नहीं है। बहिरात्मा को स्वरूप का ज्ञान नहीं है। स्वरूप की प्रतीति नहीं है, इसलिए स्वरूप का ज्ञान हुआ नहीं; इसलिए मिथ्याज्ञान है। आहा..हा..! ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़े हुए भी बहिरात्मा को मिथ्याज्ञान है। क्योंकि उसमें स्वाश्रय का स्वसंवेदन प्रगटा नहीं है; इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। आहा...हा..!

इसलिए उसे पूर्ण राग-द्वेष होने से... देखो! वह ग्यारह अंग पढ़ा हुआ हो, नौ पूर्व पढ़ा हुआ हो तो उसके पास राग-द्वेष पूर्ण ही है। आहा..हा..! स्व के आश्रय से स्व-संवेदनज्ञान नहीं है, इसलिए पूर्ण राग-द्वेष है। अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेषसहित उसे सब राग है। आहा..हा..! समझ में आया? देखो न! एक मार्ग तो देखो, मार्ग! कितनी स्पष्ट बात है। आहा..हा..!

भगवान आत्मा परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ ने देखा, ऐसा शुद्ध प्रभु, उसके ज्ञान का ज्ञान जिसे नहीं, वह बहिरात्मा है। समझ में आया? इसलिए उसे मिथ्याज्ञान है। इसलिए उसे सब राग-द्वेष पूरे हैं। आहा..! इसलिए उसे अकेला बन्धनभाव है, इसलिए उसे जरा भी अबन्धभाव नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? अरे! देखो तो सही! परन्तु

स्व क्या, पर क्या, इसकी कुछ खबर नहीं होती। अकेले पर से शुरु करके बैठ गये। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... वह तो पराश्रित व्यवहार है। वह तो राग–द्वेष है। समझ में आया?

पूर्ण राग–द्वेष होने से अवश्य कर्म का बन्ध होता है। भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति प्रभु चैतन्य सूर्य का ज्ञान नहीं होने से जो सब ज्ञान है, वह मिथ्याज्ञान होने से उसे पूरे राग–द्वेष हैं, इसलिए उसे पूरा / अकेला / सर्वथा बन्ध ही है। **अवश्य कर्म का बन्ध होता है।** एक बात ली। **परमात्मा जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती हैं, उन्हें पूर्ण सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है...** लो, पूर्ण। यहाँ थोड़ा, परन्तु उन्हें पूर्ण। **पूर्ण सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है, रागभाव का बिल्कुल अभाव है...** राग के साथ का जो ज्ञान है, वह पूर्ण नहीं है, ऐसा कहना है और यहाँ तो (परमात्मा को तो) पूर्ण हो गया है। **रागभाव का बिल्कुल अभाव है, इसलिए उन्हें कर्म का बन्ध बिल्कुल नहीं है।** दो बातें रहीं। अब यहाँ कहना है तीसरे की बात इसमें। अन्तरात्मा।

अन्तरात्मा जो चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक हैं, उन्हें जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है... चौथे से बारहवें (गुणस्थान तक) जितने अंश में स्वसंवेदन, स्व आत्मा के आश्रय से, आत्मा के आश्रय से ज्ञान हुआ है, उतना उन्हें बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? **उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं होता तथा जितने अंश में रागभाव है...** वापस चौथे से उस सम्यग्ज्ञान के अंश के साथ जितना राग है, वह दसवें गुणस्थान तक है। फिर ग्यारहवें–बारहवें गुणस्थान में राग नहीं है। परन्तु ये तो अन्तरात्मा को गिने हैं। समझ में आया? यह तो स्वाश्रय की महिमा और पराश्रय का बन्धन, यह बताते हैं। समझ में आया? आहा..हा..! जितने अंश में रागभाव, उतने अंश में कर्मबन्ध। दसवें गुणस्थान तक।

जितने अंश में सम्यक्चारित्र... अब सम्यक्चारित्र आया। तीसरा। अब **जितने अंश में सम्यक्चारित्र हो गया है...** चौथे से, हों!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उतने ही अंश में... देखो न, इसमें आता है या नहीं? **उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है... जितने अंश में सम्यक्चारित्र हो गया है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागद्वेषभाव है, उतने ही अंश में**

कर्म का बन्ध है। यह एक महासिद्धान्त। **ऊपर की तरह यहाँ भी समझ लेना। जैसे कि बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है,...** जो कुछ पुण्य और पाप मेरे, शरीर मेरा- ऐसा माननेवाले बहिरात्मा, (उन्हें) तो अकेला मिथ्याचारित्र है। राग-द्वेष का अकेला चारित्र मिथ्यात्व है। स्वरूप का आंशिक भी वहाँ चारित्र नहीं है।

सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है... देखो! बहिरात्मा को, पुण्य और पाप से लाभ माननेवाला... वह लाभ माननेवाले का अर्थ ही कि पुण्य-पाप मेरे हैं। जिससे लाभ मानता है, उसे अपने से भिन्न नहीं मानता। अरे! जैन सम्प्रदाय में आकर जैन की सत्य बात क्या है, वह सुनने को नहीं मिलती। वह समझे कब ? बेचारे को कहाँ भटकने का अन्त आयेगा ? यह तो जैन है। जैन अर्थात् वीतरागभाव।

मुमुक्षु : स्वाश्रित है, वह (राग) पराश्रित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो! जैन अर्थात् वीतरागभाव और वीतरागभाव, वह स्वाश्रय से होता है। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्यमूर्ति पवित्र है, उसके आश्रय से वीतरागभाव होता है। जितना स्वाश्रय से वीतरागभाव, वह सम्यक्चारित्र है, वह मुक्ति का कारण है। समझ में आया ? आहा..हा..! यह तो सीधी बात है। इसमें कहीं बड़ा अंक (पहाड़े) और बड़ा पढ़े, प्रमेयकमलमार्तण्ड और अष्टसहस्री पढ़े तो ही समझ में आये, ऐसा इसमें कुछ नहीं है। आहा...हा...! प्रमेय स्वयं आत्मा है, उसके कमल का खिलना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से स्वयं अपना खिलना, उसका नाम प्रमेयकमलमार्तण्ड सूर्य।

मुमुक्षु : प्रमेयकमलमार्तण्ड।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी इस पुस्तक में बहुत आधार दिया है, हों! बहुत से हिम्मतभाई को कहते हैं कि भाई यह प्रमेयकमलमार्तण्ड और अष्टसहस्री पढ़ो, भिन्न पड़कर, परन्तु अब उसे... परन्तु उसमें भी सब आ गया। उस पुस्तक का बहुत आधार, बहुत आधार। प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक बहुत आधार (दिये हैं)। फूलचन्दजी ने बहुत काम किया है। फूलचन्दजी ने मेहनत की है। अभी वह भले पढ़े परन्तु उन्होंने सार्थक किया है। उन्हें पढ़ना है। बराबर सच्ची श्रद्धा को टिकाकर रखा है। शास्त्र से, ऐसा वापस आधार देकर। बहुत मेहनत की है। उन्हें इतना काल... ऐसा वह एक निकला। उन्हें सामने कहा था। तुमने हिम्मत बहुत की। यह अभी चलता पन्थ-विपन्थ, उसमें यह बात बाहर हिम्मत करके रखना। दुनिया क्या कहेगी ? बोलेगी ? छोड़ न

(दरकार)। हजारों बोल परन्तु... ओहो...हो...! अभी तो पहले भाग में कितना आया! दूसरे भाग के पौने पाँच सौ पृष्ठ हैं। यहाँ तो सब पढ़ा हुआ है परन्तु यह तो अब सब तुलना करके पढ़ा जाता है न! जरा उन्हें चिह्न करके। आहा..हा..! बहुत ज्ञान है। शास्त्र में पण्डितरूप से पढ़कर उन्होंने स्वाश्रय और पराश्रय इस बोल को जो टिकाये रखा। बहुत जोरदार बात है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है, हों! यहाँ तो बिना (पढ़े) पहले से कहते थे। यहाँ बाहर का पढ़ा कौन था? कहो, समझ में आया? क्या आया?

पूर्ण सम्यक्चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है। अन्तरात्मा के जितने अंश में रागद्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है...

भावार्थ : मोहनीय कर्म के दो भेद हैं :.. देखो! अब आया इसमें। **१. दर्शनमोह, २. चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र होता है।** देखो! दो बोल। दर्शनमोह का निमित्त है, वहाँ मिथ्यादर्शन होता है। चारित्रमोह का निमित्त है, वहाँ मिथ्याचारित्र होता है। देखो, इसमें से स्वरूपाचरणचारित्र निकालेंगे। बड़ा विवाद है न? स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता... नहीं होता। अरे भगवान! क्या करता है तू यह? अरे! मूल में नहीं। मूल में जिसे अन्दर आचरण नहीं आया, उसे चौथा गुणस्थान कहाँ से लाया? समझ में आया? क्योंकि अनन्तानुबन्धी प्रकृति चारित्रमोह की प्रकृति है। अब उसके जाने के बाद कुछ यहाँ स्थिर हुआ या क्या हुआ यहाँ? वह तो उस संयम का नाम नहीं दिया जाता, इस अपेक्षा से दूसरी बात है। वह तो पाँचवें छठवें में। उस संयम का जहाँ–तहाँ लेख तो बहुत वे आते हैं। चौथे में संयम नहीं, चौथे में असंयम है। वह दूसरी बात है। परन्तु यह चारित्र जो अनन्तानुबन्धी की प्रकृति का अभाव (हुआ), उतनी स्वरूप स्थिरता न हो तो अनन्तानुबन्धी के अभाव ने क्या किया? आहा...! जेठालालभाई! तुम्हारे में तो इस स्वरूपाचरण की बात है ही नहीं। यह तो जिसमें है, उसके विवाद में।

मुमुक्षु : है उसमें से इनकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है तो इनकार करते हैं। यह तो दृष्टान्त, हों! जिसमें है। पाठ में है, वे इनकार करते हैं कि नहीं... नहीं... नहीं... उसे स्वयं को नहीं (इसलिए) नहीं... नहीं (कहता है)। बापू! सुन तो सही, भाई! समझ में आया?

जितना–जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है, उतना ही उसके

सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है। दोनों साथ में लिये। दर्शनमोह का अभाव होकर सम्यग्दर्शन हुआ। वह यहाँ नास्ति से लिया। ऐसे स्वरूप की प्रतीति होकर सम्यग्दर्शन हुआ, वह अस्ति से है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी गयी, चारित्रमोह गया और यहाँ हुआ, वह नास्ति है। स्वरूप का आश्रय करके स्थिरता हुई, वह अस्ति से है। यह तो कथन की पद्धति है इसमें। कहो, वह तो निमित्त का कथन है न शास्त्र में! कहो, यहाँ क्या कहना है अभी?

जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है... ऐसा शब्द है। उतना **उतना ही उसके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है।** अर्थात् कषाय अर्थात् मिथ्यात्व गया, उसे सम्यग्दर्शन हुआ और अनन्तानुबन्धी गयी और स्वरूपस्थिरता हुई। **जैसे कि दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है...** है पर्याय, उसे गुण कहने में आता है। समझ में आया? वह गुण / पर्याय प्रगट। गुण तो कहाँ प्रगट हो? गुण तो गुण है। पर्याय प्रगट होती है। समझ में आया? सम्यक्श्रद्धा नामक गुण की पर्याय प्रगट होती है।

और... अब देखो! वजन यहाँ है। **अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।**

मुमुक्षु : उस ओर से अभाव होता है, तब यहाँ प्रगट होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अभाव हो, तब नास्ति से कथन और स्थिरता हो, तब अस्ति से कथन। दोनों एक ही बात है। आठ कर्म के क्षय से मुक्ति होती है, यह निमित्त से कथन, व्यवहार से कथन। अपने पूर्ण शुद्ध की प्राप्ति करे तो मुक्ति होती है, यह अस्ति का कथन। यह कथन समझाने की शैली है। समझ में आया?

मुमुक्षु : यह कथन पद्धति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कथन, परन्तु दो वस्तु है सही न? वस्तु तो जो है, वह है। आहा..हा..! 'मोहक्षयात्' - ऐसा कहते हैं। मोह से क्षय हुआ। यहाँ तो स्वरूप की स्थिरता की, इसलिए यथाख्यात प्रगट हुआ। आहा..हा..! ऐसी चीज़ है। अरे! ऐसे काल में कठिनता से मनुष्य देह मिली, बापू! चला जायेगा, हों! यह तो एक स्वप्न है। स्वप्न भी कोई बड़ा है। यह तो सब अनन्त काल के हिसाब से मनुष्य का ५०-६०-७०-७५ (वर्ष

का आयुष्य रहा), वह गिनती क्या ? थोड़ा काल है, भाई ! उसमें कर ले, बापू ! आग्रह छोड़ दे और सत्य हो, उसकी शरण ले। आहा..हा.. ! वापस ऐसा समय नहीं मिलेगा। जगत के झगड़े के कारण व्यर्थ में अटकना नहीं वहाँ। आहा..हा.. !

देखो न ! कहते हैं, भगवान ! दर्शनमोह का अभाव और स्वरूप की प्रतीति, इससे सम्यक्त्व हुआ। अनन्तानुबन्धी का अभाव और स्वरूप में स्थिरता हुई, इसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र। समझ में आया ? और अब इसमें लम्बे शास्त्र के आधार देकर काम भी क्या था परन्तु ? आत्मा जो राग-द्वेष में अटककर प्रतीति विरुद्ध में थी, वह प्रतीति सम्यक् की ओर होकर कुछ स्थिर हुआ, तब दर्शन (मोह) और अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, तब यहाँ सम्यग्दर्शनसहित स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ, संयमरूप चारित्र नहीं। स्वरूप का आचरण, ऐसा। स्वरूप का आचरण। स्वरूप है, उसका आचरण प्रगट हुआ। स्वरूप से विरुद्ध जो राग-द्वेष का अकेला अनन्तानुबन्धी का आचरण था, वह गया। कहो, ऐसा स्वरूपाचरणचारित्र था तुम्हारे कहीं, इतना पढ़े थे उसमें ? उसमें ये बहुत पढ़े थे।

मुमुक्षु : शुद्धभाव की बात ही नहीं थी। शुभ और अशुभ ...शुभ और अशुभ तथा शुभ करते-करते कल्याण।

पूज्य गुरुदेवश्री : कल्याण हो गया, जाओ। आहा...हा... ! अपने पहले आ गया था, ९८ वें पृष्ठ पर। पहले इसमें आ गया है। पृष्ठ ९८वें में यह आ गया है। सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र का घात करता है। देखो ! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के चार कषाय है। वे सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र का घात करते हैं। देखो ! ९८ वें पृष्ठ पर बीच में है। भावार्थ की पाँचवीं लाईन। है ? उसमें से चौथी लाईन का अन्तिम भाग। उसमें से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चार कषायें वे सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण का घात करते हैं। ९८ पृष्ठ पर भावार्थ में तीसरी लाईन के बाद। पढ़ने में देर लगे न, भाई ! कहो, समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन में आत्मा की जहाँ सम्यक्-सत्य प्रतीति स्वरूप की हुई, उस स्वरूप की प्रतीति के साथ वह कषाय गयी, उतनी प्रतीति के साथ स्वरूप की प्रतीति, स्वरूप का आचरण (हुआ), लो ! समझ में आया ? आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक, वह पुण्य-पाप के राग-शुभाशुभराग से रहित है। ऐसे आत्मा की अनन्त ज्ञान आदि सहित ऐसे ज्ञायकभाववाला, ऐसा कहा शास्त्र में। वहाँ एक भाव कहा। मूल तो भाववान वस्तु और ज्ञायकभाव, अकेला भाव। वह भाव, वह आत्मा। ऐसी अन्तर में प्रतीति होने पर सम्यग्दर्शन

हुआ, वह स्वरूप प्रतीति हुई। स्वरूप प्रतीति। उसके साथ जरा स्थिरता का अंश हुआ, वह स्वरूपाचरण हुआ। पहली स्वरूप प्रतीति, यह स्वरूपाचरण। समझ में आया? आहा..हा..! तीना इकट्ठे आ गये।

शुद्ध स्वरूप पुण्य-पाप के विकल्परहित, निर्विकल्प भगवान का भान करके प्रतीति (हुई), वह स्वरूप प्रतीति। उसका ज्ञान, वह स्वरूप ज्ञान। उसमें आंशिक स्थिरता, वह स्वरूपाचरण। तीनों अंश चौथे गुणस्थान में होते हैं। कहो, बराबर है? आहा...हा...!

मुमुक्षु : पहले अनन्तानुबन्धी कषाय जाये और स्वरूपाचरण हो, ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और पहले... था। व्यय और उत्पाद का समय एक ही है। कहो, समझ में आया? उत्पाद और व्यय के दो समय होंगे। पहले समय व्यय और दूसरे समय में उत्पाद? उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। अचारित्र का व्यय, चारित्र का उत्पाद, ध्रुवरूप से कायम—तीनों का एक ही समय है। आहा..हा..! अरे रे! कहो, समझ में आया? इसे स्वरूपाचरणचारित्र अस्ति से यहाँ लिया। है न? वहाँ नास्ति से लिया। वह जाये तो ऐसे हो।

अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है,.. श्रावक को। स्वरूपाचरण उपरान्त शान्ति स्थिरता विशेष है। जो चौथे गुणस्थान में सर्वार्थसिद्धि को (सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को) नहीं है, उससे इस पंचम गुणस्थान में इसे अन्दर शान्ति विशेष है। **अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है, प्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से सकलचारित्र प्रगट होता है। संज्वलन चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है-इस तरह इस मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ ही...** देखा! राग-द्वेष होने में निमित्त कारण हैं। ये २५ प्रकृतियाँ राग-द्वेष होने में निमित्तकारण हैं। प्रकृति का अभाव, वह अराग परिणाम होने में अभाव निमित्त है। समझ में आया? २५ प्रकृति राग-द्वेष होने में निमित्त और उन प्रकृति का अभाव यहाँ अराग परिणाम होने में निमित्त। अभाव निमित्त। उसमें से चौथे में अनन्तानुबन्धी नहीं होती, उतना उसे सिद्ध करके उतना उसे बन्ध है नहीं। जितना राग है, उतना बन्ध है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८४ गाथा-२१२-२१५ बुधवार, श्रावण कृष्ण ४, दिनांक ०९.०८.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय २१२, २१३, २१४ गाथा। इसका भावार्थ चलता है। थोड़ा बाकी है। उसमें क्या आया? तीन गाथाओं में। उसका यह तो थोड़ा भावार्थ वर्णन करते हैं। आत्मा जो है आत्मा, उसमें जो सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात्? आत्मा सच्चिदानन्द शुद्ध आनन्दस्वरूप के सन्मुख दृष्टि होकर अन्तर में प्रतीति होना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन बन्ध का कारण नहीं है; वह मोक्ष का कारण है, इसलिए बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? तीन गाथाओं में (कहते हैं)। जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश में बन्ध नहीं है अर्थात् जितने अंश में अन्दर राग है, राग-द्वेष के परिणाम जितने वर्तते हैं, वह बन्ध का कारण है अर्थात् मोक्ष का कारण नहीं, इसलिए बन्ध का कारण है। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा में ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप है। उसका स्वसंवेदन-आत्मा का ज्ञान। आत्मा का आत्मा को ज्ञान। अन्तरज्ञानस्वरूप में सन्मुख होकर, अन्तर के ज्ञान का भान (होना), उसे यहाँ सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वह सम्यग्ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है; वह सम्यग्ज्ञान अबन्ध परिणाम होने से मोक्ष का कारण है, बन्ध का कारण नहीं। कहो, समझ में आया?

तीसरा बोल, आत्मा में शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जितनी स्थिरता, स्थिरता, रमणता। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में जितनी एकाग्रता और स्थिरता (हो), उसका नाम चारित्र है। वह चारित्र है, वह बन्ध का कारण नहीं है; वह मोक्ष के मार्गरूप अबन्धपरिणाम है परन्तु उसमें जितना राग बाकी रहता है, वह बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया? अब यहाँ अन्तिम यह आया, देखो!

यह **मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्तकारण**

हैं। १७२ पृष्ठ पर, पहली लाईन। यह सब आ गया है। यहाँ तक आ गया है। आगे का बाकी है। कहते हैं कि, आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञानमूर्ति होने पर भी, उसके परिणमन में जो अस्थिरता होती है, वह अस्थिरता राग-द्वेष के भावरूप है और उस राग-द्वेष के भाव को कर्म की २५ प्रकृतियाँ निमित्तरूप है। कहो, समझ में आया? क्योंकि दर्शनमोहनीय, वह आत्मा के स्वरूप की सन्मुख दृष्टि नहीं करता, उसे परसन्मुख दृष्टि होने में दर्शनमोहनीय की प्रकृति निमित्त है। समझ में आया? भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु की अन्तर्मुखदृष्टि न करके राग, पुण्यादि मेरे हैं, ऐसी दृष्टि करनेवाले को इस मिथ्यात्वपरिणाम में दर्शनमोहनीय की प्रकृति निमित्तरूप से कही जाती है और स्वरूप में स्थिरता नहीं करता, स्वयं अपने स्वरूप में स्वरूपाचरण की स्थिरता नहीं करता और अस्थिरता करता है, उसमें २५ प्रकृति निमित्तकारण है।

मुमुक्षु : अस्थिरता में दर्शनमोहनीय और कर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। वह श्रद्धा में।

मुमुक्षु : तो चौबीस रही।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौबीस कहाँ रही? तीन होकर। दर्शनमोहनीय तीन है। उसमें एक ही निमित्त है। अन्य दो निमित्त नहीं है। एक ही है। समझ में आया? यहाँ तो अपने राग-द्वेष की व्याख्या आयी है अन्त में, इस पर लेना है।

मोहनीयकर्म की २५ प्रकृति... है। अनन्तानुबन्धी आदि के १६ और नौ नोकषाय। ये २५ प्रकृतियाँ जीव को राग-द्वेष होने में निमित्तकारण है। जीव स्वयं राग-द्वेष करे और स्वरूप में स्थिर न हो, तब उस राग-द्वेष में ये २५ प्रकृतियाँ निमित्तरूप हैं और वह राग-द्वेष जितना न करे और स्वरूप में स्थिर हो, तब उस प्रकृति के निमित्त का अभाव होता है, तो उसका अर्थ यह हुआ कि जब आत्मा अपने शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान में आता है और अपने स्वरूप में आंशिक स्थिर होता है, उस स्वरूपाचरण में और सम्यग्दर्शन में दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी का निमित्त अब नहीं रहा। समझ में आया?

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान,... अब यहाँ तो राग-द्वेष में २५ प्रकृति को समाहित करते हैं। २५ प्रकृति राग-द्वेष में समाहित हो जाती है। बारह प्रकृति है, वे द्वेष

में समाहित होती है और तेरह प्रकृति है, वे राग में समाहित होती है। २५ प्रकृति में सब राग –द्वेष में ही सब समाहित हो जाता है। **अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान, संज्वलन क्रोध–मान–ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा–सब मिलकर बारह प्रकृति तो द्वेषरूप परिणमन में निमित्त हैं**... अर्थात् क्या कहते हैं? आत्मा अपने स्वरूप में ज्ञातादृष्टा न रहकर द्वेषरूप परिणमता है, तब ये बारह प्रकृति उस द्वेष में निमित्तरूप होती है। कहो, समझ में आया? **तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमन में निमित्त हैं।** आत्मा अपने स्वरूप की स्थिरता न करके, अस्थिरता के राग के परिणाम करता है, तब ये तेरह प्रकृति उसे राग में निमित्त है। कहो, समझ में आया? **इस प्रकार यह जीव**... देखो, उसमें यह आ गया कि अनन्तानुबन्धी, ये चार प्रकृति राग–द्वेष में समाहित होती है। अनन्तानुबन्धी के क्रोध, मान, द्वेष में तथा माया तथा लोभ राग में। अतः जितनी वह गयी, उतना यहाँ राग–द्वेष गया। भाई! समझ में आया? और जितना राग–द्वेष गया, उतनी स्वरूप की स्थिरता हुई। इसका नाम स्वरूपाचरण नाम का चारित्र चौथे गुणस्थान में होता है। कहो, जेठालालभाई! सब विवाद करते हैं।

मुमुक्षु : पच्चीस में से चार गयी, इसलिए इक्कीस।

पूज्य गुरुदेवश्री : चार गयी। इक्कीस का कुछ नहीं। अपने चार गयी, उसका यहाँ क्या हुआ? उन चार में राग–द्वेष है, राग–द्वेष है। अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान द्वेष है और माया–लोभ राग है। अतः राग–द्वेष दो गये, तब यहाँ हुआ क्या? आत्मा में शुद्ध श्रद्धा और उसके साथ वीतरागता का स्वरूपाचरणरूप चारित्र हुआ.... *(किसी व्यक्ति के देरी से आने पर गुरुदेव ने कहा)* क्यों देरी लगी? देरी क्यों हो? यहाँ फिर दस मिनिट हो गये। साता शिलिया (आरामी जीव)... लो, ठीक बचाव करते हैं। ये तुम्हारे भाई आकर आगे कौने में बैठ गये। क्या करे परन्तु सब देरी से आवे तो कहाँ बैठे? कहो, समझ में आया? डाँवाडोल / अस्थिर अन्दर। वह दो मिनिट व्यर्थ में जाये। यहाँ तो पाँच मिनिट पहले आना चाहिए। जिससे काम ठीक से चले। कल तो फिर वहाँ व्याख्यान में जाना है। वहाँ सब सकड़ाई नहीं होगी और वहाँ छूट से बैठे। कहो, समझ में आया?

यह आत्मा, आत्मा है, वह सत्, शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द उसका स्वरूप है

अर्थात् वीतरागस्वरूप है। आनन्दस्वरूप है अर्थात् उसमें राग-द्वेष कहाँ आया? भगवान आत्मा का मूल स्वरूप तो वीतराग निर्दोष आनन्दस्वरूप है। यह वीतराग आनन्दस्वरूप है, ऐसा कहा। चारित्रस्वरूप और वीतराग अर्थात् वीतराग के बाद अन्दर दर्शन-सम्यक् स्वरूप अन्दर आ गया। ऐसा आत्मा का स्वभाव जिसने दृष्टि में नहीं लिया और राग-द्वेष के परिणाम करके यह 'मेरे' मानता है, उसे मिथ्यात्व भी है और उसे स्वरूप का अन-आचरण भी है अर्थात् आचरण है नहीं। कहो, समझ में आया?

और जिसे आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्द वीतरागस्वरूप है, ऐसी स्वसन्मुख की दृष्टि करके और स्वरूप में स्थिरतारूप अंश प्रगट किया, उसे सम्यग्दर्शन है और स्वरूपाचरण चारित्र है, जो कि मोक्ष का कारण है। कहो, समझ में आया? और बाकी रहे हुए राग-द्वेष के भाव, चौथे गुणस्थान में भी बन्ध का कारण है। पाँचवें में जाते हुए आगे स्वरूप की शान्ति की... शान्ति की स्थिरता आंशिक बढ़ने पर उसे दूसरे कषाय के अभाव, जो निमित्त था, उसका अभाव हुआ। यहाँ स्वरूप में इतनी स्थिरता हुई, इतनी शान्ति हुई, वह मोक्ष का कारण है और अन्दर जितना रागभाव बाकी रहा, वह बन्ध का कारण है।

मुनि को स्वरूप की अन्तर्दृष्टि हुई, तदुपरान्त स्वरूप में स्थिरता, अकषायभाव की वीतरागता विशेष उग्ररूप से हुई है, वह चारित्र, वह मुक्ति का कारण है। बाकी संज्वलन, पंच महाव्रतादि का विकल्प रह गया, वह बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया? ये तीनों बातें आ गयीं। उसमें जितना राग रहा, वह बन्ध का कारण है, ऐसा यहाँ कहते हैं।

इस प्रकार यह जीव राग-द्वेष के परिणाम... **अनादि काल से २५ कषायों के वशीभूत होकर...** अनादि काल से क्रोध, मान, राग, द्वेष के—कषाय के आधीन होकर **नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ...** हमेशा दुष्कर्म, बुरे राग-द्वेष के परिणाम करता हुआ। **संसारसागर में भ्रमण कर रहा है...** अहो! संसार-चौरासी के अवतार, सागर में परिभ्रमण, गोते खा रहा है। कहीं इसका पता नहीं। चौरासी के अवतार, अनन्त-अनन्त अवतार, यह आत्मा राग-द्वेष के वश होकर चौरासी में परिभ्रमण कर रहा है। **अतः आठों कर्मों में इस मोहनीयकर्म को सर्व प्रथम जीतना चाहिए।** बराबर है? जीतना चाहिए। अब इसकी व्याख्या करते हैं।

जब तक मोहनीयकर्म का पराजय न हो, तब तक शेष कर्मों का पराजय

हो ही नहीं सकता। मोहनीय का अभाव हुए बिना दूसरे कर्म नहीं मिटते। **इसलिए सर्व प्रथम...** अब आया। मुद्दे की रकम। **सम्यग्दर्शन प्राप्त करके...** पहले में पहले भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसके सन्मुख दृष्टि में प्रतीति को प्रगट करके **दर्शनमोह का नाश करके...** दर्शनमोह का नाश हो तो यहाँ हो, ऐसा नहीं लिया, भाई! आहा..हा..! भगवान आत्मा अनन्त स्वभाव शान्त वीतराग आनन्दस्वभाव सामर्थ्य है। ऐसे स्वभाव की अन्तर्मुख होकर, उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि प्रगट करने से दर्शनमोह का नाश होता है। कहो, पहले यह करना है।

मुमुक्षु : पहला?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला ही। कहा न, इसमें क्या कहा? देखो! पहले। **सर्व प्रथम...** है इसमें? सबसे पहले यह। पहले दर्शन प्रगट करना। सम्यग्दर्शन। अर्थात् आत्मा पूर्णानन्द शुद्ध है, उसके सन्मुख होकर, उसकी प्रतीति करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। यह पहले में पहली धर्म की शुरुआत सम्यग्दर्शन से होती है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? इससे पहले राग घटाने को और राग करो, व्रत करो, यह धूल भी इसे नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना व्रत भी नहीं होते, तप भी नहीं होता, चारित्र भी नहीं होता और सच्चा ज्ञान भी नहीं होता। कहो, समझ में आया?

सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके... अर्थात् आत्मा पवित्र, पूर्ण आनन्दधाम , उसके प्रति सन्मुखता की प्रतीति करके, सम्यग्दर्शन पहले प्राप्त करना। जो विमुखरूप से, स्वभाव से विमुखरूप से वर्त रहा है, वह मिथ्यादर्शन है। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञायक की मूर्ति परमेश्वर केवलज्ञानी ने ऐसा देखा है और है। ऐसा जो भगवान आत्मा, उससे विमुख दृष्टि होना, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं और उसके सन्मुख दृष्टि होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। कहो, समझ में आया इसमें? अनादि की स्वभाव से विमुखता है, उसे स्वभाव से सन्मुखता पहले करना। कहो, यह समझ में आता है या नहीं?

मुमुक्षु : बहुत सरल उपाय बताया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल उपाय तो सरल ही होता है न।

भगवान आत्मा वस्तुरूप से समस्वभावी सम्यक् चैतन्यस्वभावसहित विराजमान हैं। भगवान आत्मा का स्वरूप मोक्षस्वरूप ही है। पर्याय नहीं; वस्तु मुक्तस्वरूप, द्रव्यस्वरूप,

स्वभावस्वरूप। वीतराग परम आनन्द के सामर्थ्यस्वरूप। ऐसा आत्मा, उससे अनादि का विमुख होकर, स्वभाव से विमुख होकर, विपरीत होकर, पुण्य–पाप के राग का आचरण करके मैं वास्तविक आचरण करता हूँ, ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण का सेवन करता है। कहो, बराबर है? तब इसे पहले में पहले करनेयोग्य हो तो, ऐसा यह वस्तु का स्वभाव सर्वज्ञ से कथित, हों! सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल–तीन लोक देखे हैं, उसमें आत्मा कैसा है? यह भगवान ने जो आत्मा देखा, ऐसा आत्मा पहले ज्ञान में लक्ष्य में करके स्व–सन्मुख होना और प्रतीति करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन पहले में पहले धर्म की कड़ी है। पहली कड़ी यह है। बाद में दूसरी कड़ी। समझ में आया?

मुमुक्षु : अनादि काल से ऐसा नहीं किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं किया। यथार्थरूप से कभी सुना ही नहीं। गप्पें मारे हैं। समझ में आया? दृष्टि विमुख और फिर राग मन्द करने की क्रिया करे तो भगवान से विरुद्ध दृष्टि है। अब विरुद्ध दृष्टि के आचरण में राग की मन्दता करे तो तुझे क्या काम करेगी? कहो, समझ में आया? पहले दृष्टि बदल।

भगवान आत्मा एक समय में... आहा..हा..! उसकी एक समय की एक गुण की पर्याय की ताकत, तीन काल–तीन लोक को जानने की उसकी ताकत है। भले मति–श्रुत की पर्याय हो परन्तु एक समय में तीन काल, तीन लोक को जानने की ताकत है परन्तु उसमें स्वसन्मुख न आवे, तब तक उस पर्याय की ताकत इतनी मानी, तब तो इसने पर्याय को माना कहा जाये। समझ में आया?

एक समय की इसकी पर्याय को कब माना कहा जाये? कि छह द्रव्य लोकालोक जो है उसे जानने की ताकत है, उतनी पर्याय को माने, तब इसने पर्याय को मानी कहा जाये। (ऐसा न माने) तब तक तो अभी मिथ्यादृष्टि है। इतनी पर्याय को माने, तब तक मिथ्यादृष्टि है। वह पर्यायदृष्टि है, ऐसा कहना है। सेठी! आहा..हा..! उसने भगवान आत्मा ऐसी अनन्त... अनन्त... पर्याय का एक गुण और अनन्त गुण का एकरूप वस्तु, ऐसे भगवान आत्मा के सन्मुख, स्वभावसन्मुख पर से विमुख ऐसा होकर अन्तर में दृष्टि का

अनुभव करना, वह पहले में पहले सम्यग्दर्शन, वह स्वभाव के मोक्षसाधन की पहली कड़ी और पहली कला है। कहो, समझ में आया?

सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का नाश... सम्यग्ज्ञान द्वारा ज्ञानावरणीय का नाश और **सम्यक्चारित्र से चारित्रमोहनीय का नाश...** देखो! स्वरूप की स्थिरता द्वारा चारित्रमोह का नाश होता है। चारित्रमोह का नाश हो तो यहाँ करता है, ऐसा नहीं। भगवान आत्मा अपने में जितना आनन्द में चरे, रमे और लीन हो, ऐसे चारित्र से चारित्रमोह का नाश होता है। कहो, समझ में आया? **सम्यक्रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिए।** लो! तीनों। तीन गाथायें थी न? **जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा...** गुण अर्थात् पर्याय। **तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।** लो! अब २१५।

गाथा - २१५

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध करानेवाला कौन है, यह बात बताते हैं:-

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च।।२१५।।

प्रदेश बन्ध है योग से, स्थिति बन्ध कषाय से।
नहिं योगरूप कषायमय नहिं, दर्श बोध चरित्र ये।।२१५।।

अन्वयार्थ : (प्रदेशबन्धः) प्रदेशबन्ध (योगात्) मन, वचन, काय के व्यापार से (तु) और (स्थितिबन्धः) स्थितिबन्ध (कषायात्) क्रोधादि कषायों से (भवति) होता है, परन्तु (दर्शनबोधचरित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय (न) न तो (योगरूपं) योगरूप है (च) और न (कषायरूपं) कषायरूप भी है।

टीका : 'योगात् प्रदेशबन्धः भवति तु कषायात् स्थितिबन्धः भवति यतः दर्शनबोधचरित्रं योगरूपं च कषायरूपं न भवति।' –अर्थः– मन, वचन, काय के योग से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है तथा क्रोधादि कषायों से स्थितिबन्ध और

अनुभागबन्ध होता है। यहाँ श्लोक में यद्यपि प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध का उल्लेख नहीं किया गया है तो भी उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, यह तीन न तो योगरूप हैं और न कषायरूप ही हैं। इसलिए रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकता।

भावार्थ : बन्ध चार प्रकार का है – प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगों से होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं। अब इन चारों बन्धों का स्वरूप कहते हैं। १. प्रकृतिबन्ध– प्रकृति नाम स्वभाव का है। कर्मों की मूल–प्रकृति आठ और उत्तर–प्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं।

१– ज्ञानावरणीयकर्म का स्वभाव पर्दे के समान है, जैसे जिस वस्तु के ऊपर पर्दा ढँका हुआ हो, वह पर्दा उस वस्तु का ज्ञान नहीं होने में कारण है, उसी प्रकार जब तक आत्मा के साथ ज्ञानावरणीय कर्मरूपी पर्दा हो, तब तक वह आत्मा को पदार्थों का सम्यग्ज्ञान नहीं होने में कारण है।

२– दर्शनावरणीयकर्म का स्वभाव दरबान जैसा है। जिस प्रकार दरबान राजा का दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को स्व–पर पदार्थों का दर्शन नहीं होने देता।

३– वेदनीयकर्म का स्वभाव शहद लपेटी तलवार के समान है। जैसे तलवार चखने पर मीठी लगती है परन्तु जीभ को काट डालती है। वैसे ही वेदनीयकर्म भी पहले थोड़े समय सुखरूप लगता है, पश्चात् दु:खदायक बन जाता है।

४– मोहनीयकर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य असावधान हो जाता है अर्थात् मनुष्यता का भान नहीं रहता, वैसे ही मोहनीयकर्म में जुड़ने से आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों में अपनत्व, स्वामित्व तथा कर्त्ता–भोक्तापना मानता है।

५– आयुकर्म का स्वभाव बेड़ीसहित जेल समान है। जिस प्रकार कोई मनुष्य जब तक जेल में है, तब तक वहाँ से निकलकर कहीं भी जा नहीं सकता; उसी प्रकार जीव ने जिस आयुकर्म का बन्ध किया है, वह आयु जब तक पूर्ण न हो, तब तक उसे उसी गति में रहना पड़ता है।

६– नामकर्म का स्वभाव चित्रकार समान है। जिस प्रकार चित्रकार भिन्न–भिन्न जाति के अर्थात् कभी मनुष्य का, कभी घोड़े का, कभी हाथी का चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म भी इस जीव को कभी मनुष्य, कभी घोड़ा, कभी बहरा, कभी गूँगा, कभी लँगड़ा इत्यादि प्रकार से अनेकरूप बनाता है।

७– गोत्रकर्म का स्वभाव कुम्हार जैसा है। जैसे कुम्हार कभी छोटे और कभी बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्रकर्म भी इस जीव को कभी उच्च कुल में और कभी नीच कुल में उत्पन्न करता है।

८– अन्तरायकर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे राजा किसी को कोई इनाम आदि देता हो और भण्डारी उसे न देने दे, वैसे ही अन्तरायकर्म भी आत्मा को प्राप्त होनेवाले पदार्थों में अनेक प्रकार के विघ्न डालकर उन पदार्थों को प्राप्त नहीं होने देता अर्थात् यह दान–लाभादि में अन्तराय डालता है–इस तरह यह आठ कर्मों का स्वभाव है। यह सभी अपने अपने स्वभावसहित जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, इसी को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

अब प्रदेशबन्ध का वर्णन करते हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक–एक प्रदेश के साथ कर्म के अनन्तानन्त–परमाणु बँधते हैं अर्थात् जीव के प्रदेश और कर्म के परमाणु दोनों एक क्षेत्रावगाह होकर रहते हैं, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

अब, स्थितिबन्ध का वर्णन करते हैं। जो कर्म (जीव के साथ रहने की) अपनी–अपनी स्थिति लिये हुए बँधे, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय–इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है और मोहनीयकर्म में से दर्शनमोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी तथा चारित्रमोहनीय की ४० कोड़ाकोड़ी सागर की है। नाम और गोत्रकर्म की स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है। आयुकर्म की स्थिति ३३ सागर की है। इस प्रकार यह इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति हुई। जघन्य स्थिति नाम और गोत्रकर्म की ८ मुहूर्त, वेदनीय की १३ मुहूर्त, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय और आयुकर्म की अन्तर्मुहूर्त है। मध्यम स्थिति के अनन्त भेद हैं। इस प्रकार स्थितिबन्ध का वर्णन किया।

अब अनुभागबन्ध का वर्णन करते हैं। कर्मों का विपाक अर्थात् उनमें जो फल देने की शक्ति होती है, उसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं। यह अनुभागबन्ध घातियाकर्मों का

तो केवल अशुभरूप ही होता है और अघातियाकर्मों का शुभरूप तथा अशुभरूप दोनों प्रकार का होता है। जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय-इन चार का तो लता, लकड़ी, हड्डी और पत्थररूप क्रम से बढ़ता-बढ़ता बन्ध होता है। और नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु-इन चार कर्मों का यदि शुभरूप हो तो गुड़, खाँड, शक्कर, और अमृत समान क्रमश: बढ़ते हुए माधुर्य की तरह शुभरूप फल होता है और यदि अशुभरूप हो तो नीम, काँची, विष और हलाहल समान क्रमश: बढ़ती हुई कटुकता की तरह अशुभरूप फल देता है। इस प्रकार इन सभी कर्मों का विपाक हुआ करता है। इस तरह चारों प्रकार के बन्ध का वर्णन किया।।२१५।।

गाथा २१५ पर प्रवचन

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध करानेवाला कौन है, यह बात बताते हैं.. आत्मा को किस परिणाम से बन्धन होता है, वह क्या? इसकी बात करते हैं। एक ही बोल है।

योगात्प्रदेशबन्ध: स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च।।२१५।।

टीका : मन, वचन, काय के तीन योग से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है... टीका। पाठ में अकेला प्रदेशबन्ध लिया है परन्तु इसके साथ शामिल प्रकृतिबन्ध भी ले लेना। यह आत्मा अपने योग कम्पन द्वारा... समझ में आया? परमाणु जो नये आवें, उनमें प्रकृतिस्वभावरूप हो और प्रदेश की संख्यारूप हो। उसमें इसका निमित्त योग का है। प्रकृतिबन्ध अर्थात् स्वभाव और प्रदेश अर्थात् परमाणु की, नये रजकणों की संख्या। इसके बन्धन में योग कम्पन, आत्मा के प्रदेश का कम्पन, वह निमित्त है। समझ में आया?

तथा क्रोधादि कषायों से स्थितिबन्ध... पाठ में अकेली स्थिति ली है परन्तु दोनों लेना। **और अनुभागबन्ध होता है।** जितने प्रमाण में वह कषाय करता है, मिथ्यात्व आदि सब कषाय, हों! मिथ्या अभिप्राय करे या मिथ्याचारित्र करे, उससे कर्म में स्थिति और अनुभाग पड़ता है। उसमें कर्म की स्थिति पड़ती है और कर्म में फल देने की शक्ति पड़ती है। यह आत्मा जितने प्रमाण में मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष के आचरण के परिणाम

करे, उसके प्रमाण में कर्म में स्थिति और रस–फल देने की शक्ति पड़ती है। समझ में आया?

यहाँ श्लोक में यद्यपि प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध का उल्लेख नहीं किया गया है तो भी उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है। दोनों आ गये। **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह तीन न तो योगरूप हैं...** क्या कहते हैं? आत्मा शुद्ध चैतन्यप्रभु की जो सम्यक्प्रतीति–सम्यग्दर्शन, उसका जो सम्यग्ज्ञान, उस शुद्ध भगवान आत्मा में स्थिरता की चारित्रदशा, वे तीनों योगरूप भी नहीं, कषायरूप भी नहीं। समझ में आया? इसलिए वे तीनों बन्ध के कारण नहीं हैं। समझ में आया? लोगों को मूल बात की खबर नहीं होती, इसलिए ऊपर–ऊपर से ऐसा का ऐसा आगे चला जाता है। यह आचरण करें, दया पालें, व्रत पालन करें, भक्ति (करें...)। धूल में भी नहीं। वस्तु की खबर बिना। कहो, हिम्मतभाई! खबर नहीं। दरकार भी कहाँ है? इस दुनिया में भी बाहर की इज्जत में रुक जाये, हो गया, जाओ! धर्म में बाहर की क्रियाकाण्ड में रुक जाये, इसलिए मूल तत्त्व रह गया।

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिनके केवलज्ञान में ऐसा आया है और ऐसा है। है, ऐसा आया है। समझ में आया? नहीं तो वे कहते हैं न कि लो, भगवान ने देखा वैसा नियत होता है। परन्तु पदार्थ में नियत है, वैसा भगवान देखते हैं। जगत के पदार्थ नियमसार–क्रमसर परिणम रहे हैं, वह अपने कारण से परिणम रहे हैं, उन्हें भगवान देखते हैं। भगवान देखते हैं, इसलिए वहाँ परिणम रहे हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह पदार्थ का ही स्वभाव क्रमसर, नियमसर परिणमन होना, एक के बाद एक, एक के बाद एक जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है, ऐसा जो व्यवस्थित नियम है। नियम कहो या नियत कहो या व्यवस्थित कहो, वह उस द्रव्य में होता है, उसे भगवान केवलज्ञान (में) जानते हैं। समझ में आया? ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे तो केवलज्ञान का निर्णय अर्थात् आत्मा के दर्शन का निर्णय हुआ। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है, तो सर्वज्ञ पर्याय सर्वज्ञ को प्रगट हुई है। तो वह सर्वज्ञ पर्याय प्रगटी, तदनुसार वहाँ नियत हो, उसे भगवान जानते हैं। वैसे मैं भी सर्वज्ञ शक्तिवाला तत्त्व हूँ क्योंकि भगवान को पर्याय उसमें से प्रगटी है तो मैं भी ऐसा हूँ, ऐसी सर्वज्ञशक्ति पर दृष्टि पड़ने से उसे सर्वज्ञ अर्थात् केवलज्ञानी आत्मा है, ऐसा उसे प्रतीति में होता है। समझ में आया? और उस स्वरूप में स्थिरता होने पर, वीतरागता होने पर केवलज्ञान होता है।

दर्शन होने पर प्रतीति होती है और स्वरूप की पूर्ण स्थिरता होने पर केवलज्ञान होता है। वह केवलज्ञान होने के लिये जो आत्मा शुद्ध भगवान आत्मा, उसका जो सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र, वह तीन मोक्ष का मार्ग है। वह मोक्ष का मार्ग, वह योग-कषायरूप नहीं। कि जो योग और कषाय बन्ध के कारण हैं, उस रूप से दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम नहीं योगरूप, नहीं कषायरूप तथा कषाय और योग है, वह नहीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूप। समझ में आया? यह बात करते हैं न? जितने अंश में, उसमें से यह स्पष्टीकरण लेकर आगे चलता है।

मुमुक्षु : कम्पन है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : योग कम्पन है। वह कम्पन है। कम्पन का परिणमन। पहले शुभ-अशुभ परिणाम वह नहीं। शुभ-अशुभपरिणाम कषाय में जाते हैं। शुभ-अशुभभाव, वह कषाय में जाता है परन्तु उस समय कम्पन होना, वह योग में जाता है। उस प्रकार के निमित्त का अवलम्बन है, उस प्रकार का उसे कम्पन कहने में आता है। मन के परमाणु का अवलम्बन हो तो मनयोग कहलाता है, वचन का अवलम्बन हो तो वचनयोग कहलाता है। कम्पन है। उस कम्पन से प्रदेश और प्रकृति परमाणु में होती है, परमाणु के स्वभाव के कारण (होती है), उसमें यह योग मात्र निमित्त है। कर्म में प्रकृति अर्थात् स्वभाव, ज्ञानावरणीय आदि स्वभाव, प्रदेश अर्थात् परमाणुओं की संख्या। वह परमाणु की स्वयं की पर्याय की योग्यता से होती है, उसमें जीव के प्रदेश का कम्पन निमित्त है। समझ में आया? और जो चारित्र होता है, चारित्रमोहनीय बन्ध से। वह अपनी प्रकृति और योग परमाणु की पर्याय से चारित्र-चारित्रमोहनीय होता है। उसमें जीव के राग-द्वेष के परिणाम, वे निमित्त हैं। समझ में आया?

इसलिए कहा **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह तीन...** आत्मा का मोक्ष का मार्ग, बन्धन से छूटने का उपाय, भगवान पूर्णानन्द प्रभु की अन्तर्मुख प्रतीति, ज्ञान और लीनता, यह तीन मोक्ष का मार्ग है। आनन्द का पन्थ है, उस आनन्द के पन्थ में जाता है। पूर्णानन्द के पन्थ में पूर्णानन्द वह मोक्ष, उसके पन्थ में जाने की दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह भी आनन्द है। समझ में आया?

पूर्ण आत्मा की मोक्षदशा, वह पूर्णानन्द है और उसकी मोक्षमार्ग की दशा, वह

अपूर्ण आनन्द है। वह स्वभाव आनन्दमूर्ति है, उसकी प्रतीति में आनन्द आता है, उसके ज्ञान में आनन्द और शान्ति में आनन्द। वह आनन्द जो मोक्ष का मार्ग है, वह योग और कषायरूप नहीं क्योंकि योग और कषाय, वह दुःखरूप है। समझ में आया? आहा..हा..! देखो, कैसा स्पष्ट लिखा है! मोक्षमार्ग है, वह योग नहीं। वह तो योग के कम्पनरहित आत्मा–सन्मुख की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति जो आनन्दमार्ग है, वह योगरूप नहीं। योगरूप है, वह बन्धमार्ग है, वह दुःखमार्ग है। यह (रत्नत्रय) आनन्दमार्ग है। समझ में आया?

मुमुक्षु : सुखमार्ग भी हो–दुःखमार्ग भी हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो मार्ग हों। थोड़ा दुःख भी हो। कहा न, जितने अंश में दर्शन–ज्ञान–चारित्र वह सुखमार्ग है और जितने अंश में कम्पन और कषाय है, वह दुःखमार्ग है। भगवान को एक ही पूर्ण आनन्द रह गया। अज्ञानी को एक ही रह गया पूर्ण दुःख। साधक को दो है। ऐई! अमरचन्दभाई! आहा..हा..! समझ में आया?

इसलिए रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकता। ऐसा कहते हैं। है न? क्योंकि वह योग और कषायरूप नहीं है। अब इसकी व्याख्या करते हैं। **बन्ध चार प्रकार का है–** कर्मबन्धन पड़ता है न? कर्मबन्धन, उसमें निमित्त, योग और कषाय है। आत्मा का दोष ही निमित्त है परन्तु उस दोष के निमित्त में जो कर्म में हो, क्या होता है? कहते हैं। **प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगों से होते हैं...** कम्पन से। **तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं। अब इन चारों बन्धों का स्वरूप कहते हैं। १. प्रकृतिबन्ध–प्रकृति नाम स्वभाव का है। कर्मों की मूल–प्रकृति आठ...** है। ज्ञानावरणीय आदि। **और उत्तर–प्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं। जैसे ज्ञानावरणीयकर्म का स्वभाव पर्दे के समान है,..** अब स्वभाव की व्याख्या करते हैं। **ज्ञानावरणीयकर्म का स्वभाव पर्दे के समान है,..** देखने न दे। स्वयं देखता नहीं, इसका परिणमन हीन करता है, उसमें ज्ञानावरणीय का पर्दा निमित्त है। समझ में आया? स्वयं ज्ञान की हीन दशारूप जीव परिणमता है, तब उसमें ज्ञानावरणीय का पर्दा निमित्तरूप कहलाता है।

मुमुक्षु : ....कर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म क्या करते हैं? कर्म तो निमित्त हैं। समझ में आया? यह तो

कहते हैं कि कर्म के कारण ज्ञानावरणीय का पर्दा है, इसलिए आत्मा देख नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। जड़ का पर्दा, इसे जड़ बाधक होगा? घातिकर्म कहा है न उसे? यह स्वयं अपने ज्ञान की अवस्था के हीनरूप से परिणमता है, स्वभाव का आश्रय जितना नहीं, उतनी हीन दशा है, ऐसी दशा में ज्ञानावरणीय का पर्दा निमित्तरूप कहलाता है। समझ में आया?

जिस वस्तु के ऊपर पर्दा ढँका हुआ हो, वह पर्दा उस वस्तु का ज्ञान नहीं होने में कारण है,... निमित्तकारण है, ऐसा। उस वस्तु का... यहाँ देखो! ऐसा सीधा अर्थ करते हैं कि ज्ञानावरणीय पर्दा है। आत्मा को ढँक दिया है। वह तो जड़ है। जड़, चैतन्य को किस प्रकार ढँकेगा? अर्थ में बड़ा अन्तर...

मुमुक्षु : दृष्टान्त में तो स्पष्ट बात है कि

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त में स्पष्ट बात है कि दृष्टान्तरूप से कहते हैं, वह निमित्तरूप की व्याख्या है, ऐसा स्पष्ट है। पर्दा आड़े आता है, यह स्पष्ट है, ऐसा कहते हैं वे। दृष्टान्त स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीयकर्म किसे कहना? उस जड़ की अवस्था के प्रकृति स्वभाव को, उसका प्रकृति, उसका स्वभाव कि यहाँ अपने स्वभाव से हीन दशा को जो परिणमता है, उसमें वह पर्देरूप निमित्त ज्ञानावरणीय कहने में आता है। दीपचन्दभाई!

उसी प्रकार जब तक आत्मा के साथ ज्ञानावरणीय कर्मरूपी पर्दा हो... निमित्तरूप से। **तब तक वह आत्मा को पदार्थों का सम्यग्ज्ञान...** न होने में कारण है। न होने में निमित्त कारण है। न होने में निमित्त कारण है। कारण है न? कारण कहा न? परवस्तु है न? उपादान कारण अपना है।

मुमुक्षु : कर्म का स्वभाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म का स्वभाव नहीं, परन्तु न होने में कारण अर्थात् यह कारण कहा? पर। पर अर्थात् निमित्त, व्यवहारकारण हुआ। समझ में आया या नहीं? भले कारण लिखा है। परवस्तु कारण कही है न? परवस्तु कारण तो व्यवहारकारण होता है। परवस्तु निश्चयकारण होगी? समझ में आया या नहीं? आहा..हा..! भगवान की स्वतन्त्रता लूटे स्वयं और कहे हमारी कर्म ने लूटे। भाई! कर्म के कारण हमारे यह सब भटकना पड़ता है। परन्तु तू तेरे विपरीत भाव से भटकता है, तब कर्म तो निमित्त कहने में आता है। कहो, जेठालालभाई!

मुमुक्षु : कर्म उसे विपरीत नहीं कराता, स्वयं विपरीतता करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बात (संवत्) २००६ के वर्ष में वहाँ पालीताणा में चली थी। तीन लोक के नाथ परमोपकारी तीर्थंकर कहते हैं कि आठ कर्म के कारण भटका और तुम कहते हो कि हमारे विकार से भटका। २००६ के वर्ष। वहाँ '....जी' थे न? यह नहीं मानो तब तक नहीं। ठीक। कर्म के कारण भटकते हो ऐसा मानो, फिर मेरे साथ बात चलेगी। ठीक। २००६ के वर्ष में बड़ी चर्चा हुई। सत्रह वर्ष हुए। आषाढ़ महीना था। दो आषाढ़ थे। वहाँ आणंदजी कल्याणजी की पैढ़ी में ही था। क्या कहलाता है वह? मण्डप था। वहीं था। उसमें ठाकरसीभाई लुहाणा थे। जामनगर के थे। वे व्याख्यान में आते थे, वे कहें, कि नहीं। ये लोग कहते हैं कि विकार से भटकता है, भगवान कहते हैं कि कर्म से भटकता है। सेठी! ऐसा का ऐसा चलता है। (संवत्) १९७१ के वर्ष से ऐसा चलता है। परन्तु मेरे साथ भटकाऊँ। १९७१ से कहा। विकार आत्मा करे तो होता है, और न करे तो नहीं होता और विकार मिटावे तो आत्मा शान्ति उत्पन्न करे, दूसरा कोई करानेवाला नहीं है। वे कहें, नहीं; नहीं। फिर वे बोल नहीं सकते थे। पाठ है न? भगवती के पहले शतक के तीसरे उपदेश में पाठ है कि कर्म स्वयं ही निमित्त... अर्थात् विकार स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से हुआ। ऐसा पाठ है, इसलिए कुछ बोल नहीं सकते... सब पढ़ा था न पहले-पहले।

....है विद्यमान पुरुषार्थ। ऐसा पाठ था। छई अर्थात् छतो। छतो (विद्यमान) पुरुषार्थ है। उस पुरुषार्थ द्वारा आत्मा विकार करता है और दूसरी बात यह कि विद्यमान पुरुषार्थ है कि आत्मा कर्म को टालकर उपशमभाव अपने पुरुषार्थ से करता है। ऐसा पाठ है, उस समय सब नहीं बोले। मूर्ति से विरुद्ध सही, परन्तु सामने पाठ आवे न! बोले नहीं। दूसरे बहुत बोले। दामोदर सेठ कहे – ऐसा नहीं। तुम पुरुषार्थ की बात की बहुत बात रखते हों तो ५१ प्रतिशत पुरुषार्थ के, ४९ प्रतिशत कर्म के, ऐसा रखो। कहा कि एक भी प्रतिशत आत्मा के पुरुषार्थ में कर्म का बिल्कुल नहीं। कर्म का प्रतिशत कर्म में और आत्मा का प्रतिशत आत्मा में। अपने तब ऐसा तो दोकड़ा-बोकड़ा ऐसे बोले थे। ४९ और ५१ रखो। कहा, यह कुछ नहीं, जरा भी नहीं। यह और पचास (कहते हैं।) और दिगम्बर के पण्डित जीवन्धरजी कहते हैं ५०-५० प्रतिशत रखो। उपादान का अपराध पचास प्रतिशत, निमित्त का अपराध उपादान अपराध में पचास प्रतिशत। इसके अपराध में। सोलह के सोलह आने

निमित्त में और उपादान के उपादान में सोलह आने। आहा..हा..! अपराध करे (स्वयं) और डाले किसी के ऊपर। अब यह अपराध मिटे कब ? यह अपराध मिटाने का अवसर कहाँ मिला इसे ? क्योंकि निमित्त है, वह अपराध कराया ही करता है। कर्म के कारण दोष हो, इसलिए निमित्त दोष कराया करे। अब दोष मिटाने का अवसर नहीं रहता।

मुमुक्षु : करे नहीं और करावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह बलजोरी से करावे। लिखते हैं न ? कहाँ तक लिखते हैं। निमित्त आकर द्रव्य में शक्ति अनेक होने पर भी, जैसा निमित्त मिले वैसी पर्याय परिणमे, वैसा स्वभाव भगवान ने कहा। तुम यह क्या करते हो ? यह विपरीत पड़ेगा। ८ पृष्ठ पर आया है। कहते हैं, अरे... ! तुम ऐसे अर्थ करते हो। *अन्यथा इस तरह की प्रवृत्ति का परिणाम जैन संस्कृति के लिये आगे चलकर बड़ा भयानक होगा। जिसके लिये यदि जीवित रहे तो हम और आप सभी पछतायेंगे।**

आहा..हा..! ऐसा कि तुम निमित्त के कारण नहीं होता, प्रत्यक्ष दिखता है, आगम कहता है, तर्क बैठता है और यह तुम क्या करते हो ? परद्रव्य के कारण परद्रव्य में हो, तब तो जगत को ईश्वरकर्ता कहते हैं। यह ऐसा कहे कि परद्रव्य से मुझमें होता है, मैं पर का करता हूँ। दो कर्ता एक प्रकार के हो गये। कौन जाने क्या है, कुछ विचार ही नहीं करते। समझ में आया ? परन्तु क्या करे ? क्या करे ? परन्तु देखो, इसमें लिखा है। यह हमें और आपको दोनों को पछताना पड़ेगा, हों! परन्तु जीवित होंगे तो। वरना दूसरे पछतायेंगे।

निमित्त के अनुसार आत्मा में विकार होता है। कुम्हार के अनुसार उसके घड़े की पर्याय होती है। तुम कहते हो कि पूर्व की पर्याय और उपादान, तथा बाद की पर्याय उपादेय। ऐसा नहीं है। वह उपादेय कैसी होगी ? कि जैसा निमित्त आवे, तदनुसार होगी। क्यों प्रत्यक्ष दिखता है या नहीं ? घड़ा होते-होते कोई फोड़ डाले तो ? तुम कहते हो कि पूर्व की उत्तर पर्याय, पूर्व की पर्याय वह उत्तर की पर्याय का कारण। परन्तु वह पर्याय होने के पहले तोड़ डाले-फोड़ डाले तो ?**

---

* प्रस्तुत इटेलिक अंश गुरुदेवश्री ने कतिपय विरोधियों द्वारा लगाये गये आक्षेप को पढ़कर सुनाया है, जिसे इटेलिक में दिया गया है।

** विरोधी पक्ष द्वारा किये गये आक्षेपों की चर्चा है। – अनुवादक

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह प्रश्न ही कहाँ है ? फोड़ डाले, फिर घट होने का जो काल था, वह काल यहाँ नहीं। यह तो दूसरा काल है। यह पढ़े-पढ़े परन्तु बड़े... समझे न ? वह कहते हैं न, क्या कहते हैं ? समझ में आया ? वह तो और उस लड़के का याद आ गया था। कम पात्र और आधा पढ़ा। एक कहावत आती है न ? नहीं आता ? 'ओछुं पात्र अने अदकु भण्यो वढकणी बहुअे, दीकरो जण्यो।' ऐसा आता है। एक तो उसकी माँ झगड़ालु हो, और उसे लड़का ऐसा हो। कम पात्र और ज्यादा पढ़ा पात्र थोड़ा और अधिक पढ़ गया। वढकणी बहुअे दीकरो जण्यो। वढकणी अर्थात् क्लेश करनेवाली स्त्री ने पुत्र को जन्म दिया अर्थात् लड़का झगडालु, उसमें फिर यह पुष्टि देनेवाली। ऐसी आत्मा की बात तत्त्व की दृष्टि बिना ऐसे विपरीत पठन वे महा नुकसान करनेवाले हैं। समाज में क्लेश उत्पन्न करनेवाले हैं परन्तु उसकी खबर नहीं। समझ में आया ?

पहले ज्ञानावरणीय की बात हुई। निमित्तरूप से है। **दर्शनावरणीयकर्म का स्वभाव दरबान जैसा है।** दरबारी व्यक्ति होता है न सामने ? क्या कहते हैं उसे ? प्रतिहारी। **जिस प्रकार दरबान राजा का दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को स्व-पर पदार्थों का दर्शन नहीं होने देता।** यह निमित्त। सर्वत्र निमित्त लेना। परपदार्थ वह व्यवहार की बात; स्वपदार्थ, वह निश्चय की बात। स्व-आश्रय, वह निश्चय और पराश्रय, वह व्यवहार—यह सिद्धान्त रखकर बात करना। यह कथन पराश्रित की बात है तो उसमें व्यवहारनय की व्याख्या है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह तो कथन कहा न, कि पराश्रय की बात है न यह ? यह निमित्त की बात अर्थात् व्यवहार की बात है।

वेदनीयकर्म का स्वभाव शहद लपेटी तलवार के समान है। तलवार-तलवार होती है न तलवार ? शहद लपेटी हुई। मीठा लगे परन्तु जीभ को काटे। **तलवार चखने पर मीठी लगती है परन्तु जीभ को काट डालती है। वैसे ही वेदनीयकर्म भी पहले थोड़े समय सुखरूप लगता है,...** लगे, हों लगे। मानो यह पैसा, स्त्री, पुत्र हमें ठीक-ठीक, ऐसा राग लगे परन्तु राग अन्तर आत्मा की शान्ति को काट डालता है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; सुख कब था? शहद के समय ही तलवार (से) कटते हैं। यह दृष्टान्त सम्यग्ज्ञान दीपिका में दिया है। पुरानी में दिया है। उस समय मिठास के समय ही कपाय (कटता) है। यह राग है, वह दुःख है, ऐसा कहते हैं। तेरी शान्ति को काट डालता है। वेदन में सामग्री अनुकूल होवे तो... लड़का अनुकूल। हीराभाई लड़का ऐसे बापू-बापू करे, भाई... भाई... करे... आहा..हा..! कोई दो बोल बोले तो यह बोले नहीं। हाँ, बापू.. बापू.. कहते हैं कि इन सब सामग्रियों में जो मिठास वेदन की जाती है, उसमें राग होता है, उसमें जीव की शान्ति कटती है। आहा..हा..! ऐसा कहे, स्त्रियाँ अच्छी, पैसा अच्छा, मकान अच्छा, इज्जत अच्छी - ऐसा जहाँ लक्ष्य करता है तो राग होता है परन्तु वह राग तो आत्मा की शान्ति का घातक है।

मुमुक्षु : सम्हाल.. सम्हाल कर चाटे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्हाल-सम्हाल कर चाटे तो भी अरे! धार ऐसी सूक्ष्म होती है कि काट डाले तो इसे खबर नहीं पड़े। इसी प्रकार कषाय (है)। यह लोहे के हथियार (कटार) होते हैं न अभी। ये लोहे के हथियार बहुत होते हैं। देखो न, अभी नहीं होते? सफेद... नवरंगभाई के यहाँ देखे थे। ऐसे सफेद। खबर नहीं पड़े परन्तु कट गया हो। एकदम कट गया हो। फिर दाह (हो)। यह ऊँचे होते हैं न? यह ऑपरेशन करते हैं? बड़ी कीमत के होते हैं। हजारों-हजारों के, पाँच-पाँच हजार के एक हथियार। लोहे की बन्दूक होती है न! नवरंगभाई के यहाँ एक बार देखा था। बहुत ऊँचा, वह भी लोहे का है न? बारीक धार ऐसे शहद को छुए...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे नहीं। मार डाले। कि सातावेदनीय के उदय में राग करे, असाता में द्वेष तुझे हो, (उसमें) दुःख होता है। समझ में आया? आहा..हा..! कहो, बड़े योद्धा जैसे छह लड़के हों। पाँच-पाँच हाथ के ऊँचे, बलवान और निरोगी। और कैसा? एक तो मानो रूपवान हो, उसमें निरोगी हो, बुद्धिवाले हों। समझ में आया? और उसमें पैसा हो, आमदनी हो। हो गया। ...भगवान घर में एक ओर पड़ा रहा। पैसा हो, आमदनी हो। वापस पैसा हो और आमदनी न हो तो वापस... और आमदनी हो परन्तु पूँजी न हो तो...

यह तो पैसा, आमदनी, निरोगता, शरीर रूपवान, शरीर जवान, अच्छा और बुद्धिवाला। अब इसमें मुझे अब क्या चाहिए? उसके पास सब कषाय की होली है, कहो, प्रभुभाई! आहा..हा..! इसमें भगवान को कहाँ याद करे?

भाई! यह सामग्री की ओर लक्ष्य जाये, उसमें राग होता है, कहते हैं। भाई! उस राग का वेदन, बापू! यह आत्मा की शान्ति का घात करता है। तुझे ऐसा लगता है कि सुख भोगता हूँ। सुख नहीं। तलवार की धार पर शहद चाटने जैसा है। आहा..हा..! समझ में आया? इन्द्र को इन्द्राणी होती है। करोड़ों अप्सरायें, महा सुन्दर। यह अभी की तो अनाज के पिण्ड हैं। दो घड़ी न खाये तो शरीर ऐसे हो जाये। रोग एक-दो घड़ी आवे, एक बार बुखार आवे, वहाँ ऐ... ऐ... हो जाये। उसे (देवियों को) धान-बान न मिले। वैक्रियक शरीर है। समझ में आया? वह इन्द्र भी उसके साथ राग करे तो आत्मा की शान्ति का घात होता है। दुनिया कहती है सुखी है; भगवान कहते हैं कि दुःखी है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें क्या? वह तो फिर अपने आप मानता है कि इसमें फिर कितने ही सन्तोष माने, ऐसा मेल करेंगे... और किसी की सिरपच्ची ले। स्वयं को लड़का न हो तो किसी का ले। गोद बैठावे। यह करे। क्या है परन्तु? आहा...हा...! राग का चाला, राग का खेल है सब? यह वेदनीय तो कहते हैं कि शहद चाटे ऐसी तलवार जैसा है।

मोहनीयकर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है। मदिरा-शराब। **जैसे मदिरा पीने से मनुष्य असावधान हो जाता है अर्थात् मनुष्यता का भान नहीं रहता,...** मनुष्यपने का भान नहीं रहता। राजा शराब पीवे तो हो गया। आहा...हा...! विष्टा हो वहाँ गिरे, पेशाब किया हो वहाँ गिरे। आहा..हा..! किसी समय मनुष्य साथ में हो तो उठो... उठो... साहेब चलो, यहाँ नहीं। ले जाये... करके... ले जाये। अकेला हो तो वहाँ गिरे। उसमें कुत्ता आकर मुँह में पेशाब करे तो उसे अच्छा लगता है। शराब की गहल है न? ऐसे मदिरा-मोह की मदिरा पी है। दूसरे हैरान करे, नुकसान में निमित्त हो तो कहते हैं, आहा..हा..! बहुत अच्छे, हों! तुम बहुत अच्छे, हों! समझ में आया? यह मोह की गहलता है।

मनुष्य असावधान हो जाता है अर्थात् मनुष्यता का भान नहीं रहता, वैसे ही मोहनीय कर्म में जुड़ने से आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर पर... देखो! वह

मनुष्य है, इसकी खबर नहीं रहती कि मैं राजा हूँ। मुझे यह नहीं होता। इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का नाथ स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु है। मिथ्यात्व के भाव के कारण, मोह के कारण उसका भान नहीं रहता। मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? कहो, समझ में आया ?

अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों में अपनत्व,... एक बात। मिथ्यात्व परिणाम के कारण भगवान आत्मा अपने आनन्द और शुद्धस्वभाव को भूलकर, पुण्य और पाप के मलिन परिणाम और उनके निमित्त बाहर के, उन्हें अपने रूप मानकर, कर्ता-भोक्ता होकर मैं उनका कर्ता हूँ, यह पैसे मैंने कमाये। मेरे पिता के पास कुछ नहीं था। कुछ छोड़कर नहीं गये थे और मैंने यह सब मेरे बाहुबल से उत्पन्न किया है। वह मूढ़ पर का कर्ता होता है। मिथ्यादृष्टि ने शराब पी है, ऐसा कहते हैं। कहो, मोहनभाई ! बालजीभाई ! इतना सब छोड़कर नहीं गये थे। बाद में दो भाईयों ने सब इकट्ठा किया है। वह कहे, मुझे कुछ रहा नहीं। यह कहे मुझे कुछ रहा नहीं। व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।

मुमुक्षु : मिलने के बाद.....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह माना है न कि उनके पास नहीं था और हमारे पास इतना हुआ। कहो, समझ में आया ? मनसुखभाई ! इसके पिता तो रखकर गये हैं। इसका पिता कहाँ रखकर गया था ? कुँवरजीभाई के पिता कुछ नहीं रखकर गये थे। इसलिए उन्हें ऐसा लगता था कि मैंने यह सब किया। धूल में भी कुछ नहीं किया। यह तो...

मुमुक्षु : मेहनत की....

पूज्य गुरुदेवश्री : मेहनत की राग-द्वेष के मोह की। विकार-विकार। बेकार, आत्मा के लिये नुकसान। ऐई !

यहाँ कहते हैं, देखो न ! **अपने स्वरूप को भूलकर...** भगवान। आहा..हा.. ! चिदानन्दस्वरूप, जिसे आनन्द है, शान्ति है। सन्तोष समाधानस्वरूप भगवान आत्मा है। उसे मिथ्याभ्रम से भूलकर, जिसमें अपनापन नहीं, उसे अपनेरूप मानता है; और स्वयं जिस स्वरूप है, जिसे भूल (गया है)। दो बातें की न ? अपने स्वरूप को भूलकर अर्थात् उसे भूला और परपदार्थ में अपनापन माना। दोनों अस्ति-नास्ति हो गयी। कर्ता-भोक्ता हुआ। यह पर का मैं कर्ता, मैंने यह सब किया, मैंने यह इकट्ठा किया, मैंने यह किया। कहो... कुछ धूल भी किया नहीं। तूने राग किया है। भोक्ता। भाई ! भगवान ने दिया, वह

तो हम भोगें न! धूल में भी भगवान ने दिया नहीं। सुन न अब। तुझे कहाँ दिया? वह तो बाहर की चीज़ है। शरीरादि का भोक्ता मानता है, वह मूढ़ है – ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह स्त्री का, दाल–भात का, रोटी का, पैसा का, मकान का भोक्ता मानता है, वह अपने स्वरूप को भूलकर भोक्ता मानता है। अपना भोग्य अनुभव भूल जाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

स्वामित्व मानता है। मैं उनका स्वामी हूँ। मेरे हाथ के नीचे सब खड़े हुए हैं। फिर सब बड़े हुए। नहीं तो भिखारी, कटोरा लेकर माँगे तो भी पूरा नहीं होता। ऐसे सब कहे, ऐई! पोपटभाई! यह तो अब नहीं। नहीं तो लड़के को ऐसा कहे।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा कहे। बराबर। ध्यान रखना। कटोरा माँगकर भीख माँगोगे तो भी पूरा नहीं पड़े। ऐसा ठीक से ऐसा कहे... अन्दर एकान्त में। मानो यह हम कर देते हैं और यह हम दे देते हैं। पर का स्वामी होकर हैरान होता है। समझ में आया? ये नेताओं को देखो न बेचारे, हैरान... हैरान हो जाते हैं। हम इनका कर देते हैं... इनका कर दें। धूल में भी नहीं कर सकता। सुन न अब तू! तू राग–द्वेष करता है। दूसरे का क्या कर दे? फिर सोचा हुआ न हो तो हम बहुत अच्छा करना चाहते थे परन्तु कुछ होता नहीं, वह तेरे कारण कब होता था?

मुमुक्षु : भूल हुई थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का कर्ता हूँ—ऐसा मानने की इसकी भूल हुई थी। हम निमित्त हैं। किसी निमित्त होवें? ढेबरभाई ऐसा कहे। हम निमित्त तो होवें। परन्तु तुम किसे निमित्त होओ? होते हुए कार्य में निमित्त होना, तुमने उसका क्या किया? ऐई! मगनभाई! ऐसा स्वरूप है या व्यर्थ में मानता है। परपदार्थ स्वतन्त्र है। उनकी अवस्था होना, वह उनके आधीन है। उसे ऐसा कहे कि इसका स्वामी। पत्नी का पति स्वामी, नर का नरेन्द्र स्वामी,.. नरपति आता है या नहीं? धूल में भी पति नहीं। सुन न! समझ में आया?

परपदार्थों में अपनत्व, स्वामित्व तथा कर्त्ता–भोक्तापना मानता है। यह महामूढ़ता और मोहकर्म है। ऐसे भाव करनेवाले को मोहकर्म निमित्त है। इसलिए मोह से होता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है।

आयुकर्म का स्वभाव बेड़ीसहित... बेड़ी होती है न बेड़ी ? ऊपर लकड़ी डाली हो, उसमें पैर डाला हो तो चल नहीं सकता। बीछिया में सामने है, नहीं ? दरवाजे में सामने बेड़ी है। **जिस प्रकार कोई मनुष्य जब तक जेल में है, तब तक वहाँ से निकलकर कहीं भी जा नहीं सकता; उसी प्रकार जीव ने जिस आयुकर्म का बन्ध किया है,...** यह आयु तो निमित्त है। वहाँ तक रहने की अपनी योग्यता थी, उसमें आयुकर्म निमित्त है। उस आयुकर्म के कारण यहाँ रहता है, यह सब व्यवहार का कथन है।

मुमुक्षु : आयुकर्म सिद्ध करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आयुकर्म सिद्ध अर्थात् उस निमित्त से सिद्ध। आयुकर्म अर्थात् पर। पर ने इसे रोका, यह व्यवहारनय का वचन है। परन्तु आयुकर्म सिद्ध में... ऐसा है। आयुष्य परद्रव्य है न ? वह आत्मा को रोक सके, ऐसा नहीं हो सकता। स्वयं वहाँ रहने के योग्य इतनी अवधि हो, उसमें आयुकर्म निमित्त कहलाता है। इसलिए इसे रोकता है, ऐसा कहने में आता है। उतना इसे रहना ही पड़े। कहो, समझ में आया ?

आयुकर्म का बन्ध किया है, वह आयु जब तक पूर्ण न हो, तब तक... शरीर में रहना ही पड़े। वह पराधीन दशा है। इसलिए स्वाधीन दशा करनेवाले कर्म को भूलकर, दोष को भूलकर, स्वभाव का साधन करते हैं, उन्हें पराधीन दशा का नाश होता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भक्त स्वयं भगवान बन जाता है

जैनधर्म में ही यह एक विशेष विशिष्टता है कि उसमें सर्वज्ञस्वामी का सेवक, सदा सेवक ही नहीं रहता, अपितु वह स्वयं केवलज्ञानादि वैभव प्रगट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है। परमात्मा की उपासना करनेवाले का लक्ष्य स्वयं परमात्मा बनने का है, इसलिए स्वयं में परमात्मस्वभाव है; उसकी प्रतीति करके, उसकी अन्तरङ्ग उपासना से परमात्मपद को साध लेता है, भक्त स्वयं भगवान बन जाता है... यह है जैन भक्ति का फल!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य, पृष्ठ ७४

प्रवचन नं. ८५ गाथा–२१५ से २१६ गुरुवार, श्रावण शुक्ल ५, दिनांक १०.०८.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय चलता है। इसकी २१५ वीं गाथा। २१५। पुरुषार्थसिद्धि–उपाय का अर्थ क्या है? पुरुष अर्थात् आत्मा, उसका जो ज्ञान–दर्शन–चैतन्यस्वभाव है, उसकी पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति होना, उसका नाम पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है। कहो, समझ में आया? पुरुष अर्थात् यह आत्मा, इसका चैतन्य स्वभाव है। जानना–देखना, आनन्द इसका स्वभाव है। उस स्वभाव का अर्थ / प्रयोजन सिद्धि होना, पूर्ण मुक्ति होना, पूर्ण शुद्धि होना, इसका नाम पुरुषार्थसिद्धि–उपाय कहने में आता है। उसका उपाय क्या, यह यहाँ कहते हैं। कहो, फूलचन्दजी! आज तो हिन्दी चलेगा।

पुरुष अर्थात् भगवान आत्मा की प्रयोजनसिद्धि। प्रयोजनसिद्धि का अर्थ, शुद्ध आत्मा की प्राप्ति, शुद्ध आत्मा की प्राप्ति। उसका उपाय क्या? कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र क्या? यह बात तो २१५ में चली है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो साथ में योग और कषायभाव है, वह बन्ध का कारण है, ऐसा २१५ गाथा में बताते हैं। तो बन्ध का कारण क्यों नहीं है? कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह आत्मा का स्वभाव है। उससे शक्ति की व्यक्ति प्रगट होती है, तब तो जैसा शक्तिस्वभाव है, वैसी अन्दर सम्यग्दर्शन / प्रतीति, सम्यग्ज्ञान–सम्यक्‌चारित्र / लीनता, अनाकुल आनन्द का वेदन (होना), वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है। अतः जैसा स्वभाव है, वैसी व्यक्तता हुई। समझ में आया? यह कोई बाहर की वस्तु नहीं है।

भगवान आत्मा ज्ञान–दर्शन–आनन्दस्वभाव है। उसकी अन्तर्दृष्टि करके जो सम्यग्दर्शन हुआ, वह स्वभाव ही हुआ। स्वभावशक्तिरूप था, वह प्रगटरूप हुआ। सम्यग्ज्ञान हुआ, वह ज्ञान शक्तिरूप था, वह प्रगटरूप हुआ। स्वसंवेदनज्ञान (हुआ) और चारित्र भी जो शक्तिरूप था, उसकी स्थिरता करके अनाकुल शान्ति उत्पन्न होना, वह भी शक्ति की व्यक्तता हुई। वह कोई दूसरा कषाययोग नहीं है। समझ में आया?

आत्मा जो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी अनुभव में प्रतीति-ज्ञान-रमणता, ये तीन जो मोक्ष का मार्ग है, वह मोक्ष का मार्ग है अर्थात् वह बन्ध का मार्ग नहीं है। क्यों नहीं? क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आत्मा के शक्तिस्वभाव में से प्रगट हुए, व्यक्तदशा प्रगट हुई, वह भाव है। वह योग और कषायरूप नहीं। यह २१५ गाथा में चला है। समझ में आया?

योग अर्थात् प्रदेशों का कम्पन और कषाय अर्थात् शुभ-अशुभ विकारभाव, तो जो योग-प्रदेशों का कम्पन है, वह नये कर्म आने में प्रकृति और प्रदेश—कर्म का स्वभाव और उसके प्रदेश की संख्या-वह आती है स्वयं के कारण से परन्तु उसमें आत्मा का प्रदेश कम्पन निमित्त पड़ता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, योग नहीं है। समझ में आया? और जो नये कर्म आते हैं, उनमें स्थिति और रस पड़ता है, वह कषाय से है, शुभाशुभ परिणाम से पड़ता है; तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कषायरूप नहीं है। समझ में आया? यह २१५ गाथा में है। गाथा चली है न? देखो!

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च।।२१५।।

कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्द की मूर्ति वस्तु है। पुण्य-पाप का जो भाव होता है, वह तो आस्रवतत्त्व, मलिन तत्त्व है और कर्म-शरीर, वह तो अजीवतत्त्व है। अतः अजीवतत्त्व की रुचि छोड़कर, अजीव मैं हूँ, ऐसी रुचि छोड़कर... जीव-अजीवतत्त्व की श्रद्धा है, वह तो जीव स्वभाव में नहीं है, ऐसी श्रद्धा है और पुण्य-पाप की श्रद्धा, पुण्य-पापरूप से है, परन्तु पुण्य-पाप मैं हूँ, ऐसी श्रद्धा नहीं है। पुण्य-पाप मेरे स्वभाव में नहीं है। समझ में आया? आज फूलचन्दजी को हिन्दी (प्रवचन) ठीक पड़ेगा। पहले सब गुजराती चलता था। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द की मूर्ति शक्तिस्वभाव शुद्धचिदानन्दस्वरूप है। वह योगरूप और कम्पन कषायरूप स्वभाव नहीं है और उस स्वभाव की शक्ति की व्यक्तता हुई, वह भी योग और कषायरूप नहीं है। समझ में आया? वस्तु जो वस्तु आत्मा है, आत्मा वह योग-कषायरूप नहीं है। समझ में आया? योग-कषायरूप नहीं है, अजीवरूप नहीं है। अब यहाँ तो अपने योग-कषाय की बात चलती है। अतः आत्मा जो शुद्ध ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप है, वह अजीवरूप नहीं है, उसकी यहाँ बात नहीं करनी है। अब योग और

कषायरूप भाव है, कम्पन और पुण्य–पाप के भाव, उसरूप आत्मा नहीं है। ऐसे आत्मा की अन्तर में श्रद्धा–ज्ञान और अनाकुल आनन्द की रमणता करने से जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र हुआ, उस वस्तु में योग और कषाय नहीं है। वस्तु में योग और कषाय नहीं तो वस्तु में है क्या? उसमें ज्ञान और आनन्द, श्रद्धा और शान्ति आदि स्वभाव है। उसके अन्तर स्वभावसन्मुख दृष्टि करके, सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वह स्वभाव में से हुआ तो शक्ति की व्यक्तता हुई। समझ में आया? और सम्यग्ज्ञान हुआ, वह ज्ञान है, वह शक्तिरूप है, उसकी एकाग्रता हुई तो वह भी शक्ति की व्यक्तता हुई, शक्ति की प्रगटता हुई। समझ में आया? और आत्मा में शान्ति है। शान्ति और आनन्द है, उसकी एकाग्रता करने से चारित्र में शान्ति और आनन्द प्रगट हुए, वह शक्ति की व्यक्तता हुई। समझ में आया? राजेन्द्रजी! समझ में आया या नहीं? थोड़ा–थोड़ा! ऐ सेठी! ऐसा क्यों है? परिचय में नहीं।

भगवान आत्मा यहाँ तो शक्तिस्वभाव, उसकी व्यक्तता (हुई), वह भी स्वभाव है। भाई! वह प्रगट (हुए ऐसा) कहना है। तो भगवान आत्मा... इसका स्पष्टीकरण २१६ गाथा में करेंगे। आत्मा की सिद्धि, मुक्ति का उपाय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है। अतः सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र क्या चीज़ है? कि वह योग और कषायरूप नहीं है। समझ में आया? क्योंकि योग है, वह कम्पनरूप है और कषाय मलिन परिणामरूप है, तो यह आत्मा वैसा नहीं है; अतः इसकी श्रद्धा–ज्ञानशक्ति जो व्यक्त हुई, वह भी ऐसी नहीं है। देवीलालजी! समझ में आया?

जो आत्मा की श्रद्धा की कि आत्मा, वह कम्पनरूप नहीं, कषायरूप नहीं, अजीवरूप नहीं। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्द आदि स्वभाव सम्पन्न है। फूलचन्दजी! तुमने सबेरे कहा था कि स्वभाव अभिन्न है और पर से (भिन्न है)। उसमें से एक शब्द पकड़ लिया। पर से भिन्न। तो पर क्या? जो कम्पन होता है और कषायभाव है, अजीव है, उससे भिन्न है और अपने आनन्द आदि ज्ञानस्वभाव से अभिन्न है। ऐसे अभिन्न स्वभाव की अन्तरसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र जो मोक्ष का मार्ग, पुरुषार्थसिद्धि–उपाय उत्पन्न हुआ, वह तो स्वभाव ही उत्पन्न हुआ। वह तो स्वभाव ही उत्पन्न हुआ। शक्ति थी, वह प्रगट हुई। उसमें योग, कषाय नहीं है। यह तो सब सादी भाषा है। राजेन्द्रजी! अभ्यास नहीं? तुम्हें तो कोई बाल–बच्चे नहीं, तो इतने अटकते किसलिए हो?

कहते हैं, भगवान आत्मा वह स्वभावरूप है, विभावरूप नहीं। कम्पनरूप नहीं।

यह योग, विभाव है। ऐसा स्वभाव जो भगवान, उसका जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मुक्ति का मार्ग, पूर्ण शुद्धि का मार्ग है, वह बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि वह योग और कषायरूप नहीं है। कहो, धन्नालालजी! अब योग-कषाय से क्या होता है, इसका स्पष्टीकरण चलता है। आत्मा में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, वह तो मोक्ष का कारण हुआ। वह तो छूटने का उपाय हुआ। तब साथ में योग, कषाय है, वह क्या है? समझ में आया?

योग जो कम्पन है, वह नयी प्रकृति-परमाणु जो आते हैं, उनका स्वभाव और उनकी प्रदेश संख्या, उसमें वह निमित्त होता है; मोक्ष में निमित्त नहीं होता, बन्धन में निमित्त होता है। समझ में आया? और जो रागादि कषाय हुए, वे किसमें निमित्त होते हैं? वह मोक्ष का तो कारण नहीं। मोक्ष का कारण तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र है तो वह कषाय किसमें निमित्त होती है? (कहते हैं) कि बन्ध में। कैसे बन्ध में? कि जो प्रकृति-प्रदेश परमाणु में आये, उनमें स्थिति और अनुभाग का निमित्त कषाय है। समझ में आया? बन्धन में निमित्त इस प्रकार से योग और कषाय है। मोक्ष का कारण, वह निमित्त कहो या कारण कहो, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। समझ में आया? और बीच में निमित्त आया।

मोक्ष के मार्ग में उसे मोक्ष का निमित्त कहा और वह अन्दर से आ गया। क्यों निमित्त है? मोक्ष की पर्याय, मोक्ष का मार्ग है, वह व्यय होकर मोक्ष होता है। अतः वास्तव में तो वह मोक्ष का निमित्त हुआ। मोक्ष का वास्तविक कारण तो द्रव्यस्वभाव हुआ। समझ में आया? भाई! यह निमित्त कहा। व्यवहार कहा न? व्यवहार है वह। पर्याय हुई, पर्याय वह मोक्ष का कारण है तो व्यवहार है। व्यवहार अर्थात् निमित्त हुआ। त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव है, वह निश्चय से मोक्ष का उपादानकारण है। समझ में आया? इस आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो मोक्ष का निमित्तकारण है। जबकि योग और कषाय नये बन्ध में निमित्त हैं। समझ में आया? भाव तो हिन्दी में आया। भाव तो जो होगा, वही आयेगा न! कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

कहते हैं, आठ कर्म की प्रकृति जो है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जो ज्ञानावरणीय ज्ञान में, पर्याय में अटकने में निमित्त ऐसा स्वभाव। उस स्वभाव में निमित्त कौन है? कि योग। आठ कर्म की प्रकृति अर्थात् स्वभाव में निमित्त कौन है? कि योग। आठों प्रकृति के परमाणुओं की संख्या में निमित्त कौन है? कि योग। अब आठों प्रकृति की स्थिति, रस

में निमित्त कौन है ? कि कषाय। तो यह नामकर्म की बात है। स्वभाव की बात चली। फिर प्रदेश स्थिति और अनुभाग बाकी है। देखो!

नामकर्म का स्वभाव... है ? **नामकर्म का स्वभाव...** हों! ऐसे भगवान आत्मा का स्वभाव। (मोक्षमार्ग की) पर्याय का वह कारणस्वभाव। यह प्रकृति का स्वभाव उपादान, इसमें योग निमित्त है, योग निमित्त है। आत्मा का मोक्षमार्गस्वभाव, इसमें वह निमित्त नहीं है। समझ में आया ? स्वभाव की बात... कल आयुष्य तक ले गये थे। **नामकर्म का स्वभाव चित्रकार समान है।** चित्रकार चित्र बनाता है न ? **जिस प्रकार चित्रकार भिन्न-भिन्न जाति के अर्थात् कभी मनुष्य का, कभी घोड़े का, कभी हाथी का चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म भी इस जीव को कभी मनुष्य,...** बनाता है। शरीर के रजकण बनाने में नामकर्म निमित्त है, ऐसा कहना है। नामकर्म बनाता है, इसका अर्थ है कि रजकण के पुद्गल की जो आकृति होती है, उसमें नामकर्म के परमाणु निमित्त पड़ते हैं। समझ में आया ? उसमें आत्मा का स्वभाव निमित्त नहीं पड़ता। उसमें कषाय, योग निमित्त पड़ते हैं, यह बात कहनी है। योग भिन्न है, आत्मस्वभाव भिन्न है अथवा योग भिन्न है, मोक्षमार्ग की पर्याय भिन्न है। पोपटभाई! यह सब समझना पड़ेगा, हों! थोड़े-थोड़े नहीं चलेगा।

कभी घोड़ा, कभी काना,.... काना बनाता है न ? यह नामकर्म की रचना है न यह ? **कभी बहरा, कभी लँगड़ा इत्यादि प्रकार से अनेकरूप बनाता है।** यह नामकर्म का स्वभाव है, नामकर्म का स्वभाव है। इस स्वभाव में योग निमित्त पड़ता है, बस इतना। आत्मा का स्वभाव निमित्त नहीं है और आत्मा का मोक्षमार्ग इसमें निमित्त नहीं है। समझ में आया ?

गोत्रकर्म का स्वभाव कुम्हार जैसा है। जैसे कुम्हार कभी छोटे बर्तन बनाता है.. बर्तन। **कभी छोटे और कभी बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्रकर्म भी इस जीव को कभी उच्च कुल में और कभी नीच कुल में उत्पन्न करता है।** छोटा-बड़ा करता है।

अन्तरायकर्म का स्वभाव... कर्म में स्वभाव पड़ता है, वह तो उसकी पर्याय का स्वभाव है, हों! योग तो निमित्त है। उन परमाणुओं में, उस समय में वैसे स्वभाव पड़ने की

पर्याय की योग्यता से होता है। जो परमाणु में कर्म की स्वभाव की शक्ति है, वे ही कर्मरूप से परिणमते हैं। वह योग से हुआ है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? वह तो उपादान उनका है तो उनसे हुआ है। योग तो मात्र निमित्त है। मोक्षमार्ग है, वह निमित्त नहीं - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? भगवान आत्मा के अन्तर्मुख दृष्टि-ज्ञान और रमणता, वह तो मुक्ति का ही कारण है तथा योग और कषाय साथ में रहे हैं, वे बन्ध का कारण है। बस, ये दो बात भेद से कही है। बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं; मोक्ष का कारण है, वह बन्ध का कारण नहीं।

अन्तरायकर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे राजा किसी को कोई इनाम आदि देता हो और भण्डारी उसे न देने दे, वैसे ही अन्तरायकर्म भी आत्मा को प्राप्त होनेवाले पदार्थों में अनेक प्रकार के विघ्न डालकर... निमित्त होता है। पदार्थ आते हैं तो उसमें निमित्त होता है, इतना उसका स्वभाव है। **उन पदार्थों को प्राप्त नहीं होने देता-इस तरह यह आठ कर्मों का स्वभाव है। यह सभी अपने-अपने स्वभावसहित जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं।**

यह जगत को बहुत कठिन पड़ता है... समझ में आया? यह प्रश्न उठा था। तब (संवत्) १९९२ में वे त्रिलोकचन्दजी। यह किस प्रकार हो सकता है? ईश्वर की श्रद्धा। साधु हो गया, साधु। आज सबेरे रास्ते में बात की थी। वह स्थानकवासी साधु हो गया। पाँच वर्ष से पण्डित हो गया परन्तु उसे यह श्रद्धा। पहला प्रश्न यह कहा था। उसे केवलज्ञान उड़ाना था कि केवलज्ञानी ने देखा, ऐसा होवे तो पुरुषार्थ कहाँ रहा? ऐसा प्रश्न किया। साधु था, छोड़कर बैठा था। फिर १९९२ में अपने हीराभाई के मकान में द्रव्यसंग्रह चलती थी, वहाँ कहा—केवलज्ञान होवे तो केवलज्ञानी ने देखा वैसा होगा। १९९२ के वर्ष की बात है। पुरुषार्थ नहीं रहा।

मैंने कहा, केवलज्ञान को मानते हो? केवलज्ञान को मानते हो? पहले तुम्हारा प्रश्न ऐसा हुआ कि केवलज्ञानी ने देखा, वैसा हो तो पुरुषार्थ कहाँ रहा? तो पहला प्रश्न, केवलज्ञानी है, ऐसा तो तुमने निश्चित किया, तो तुम केवलज्ञानी को मानते हो? समझ में आया? तो कहा, यह कुछ मेरा प्रश्न नहीं है। परन्तु प्रश्न ही तेरा यह है। केवलज्ञानी है, उन्होंने देखा है, वैसा होगा, तो हमारा पुरुषार्थ कहाँ रहा? उसका अर्थ यह कि तुम

केवलज्ञानी को मानते नहीं तो केवलज्ञान हो सकता है या नहीं? – यह प्रश्न करो। केवलज्ञानी है और हो सकते हैं या नहीं? केवलज्ञानी है और उन्होंने देखा है, तो पुरुषार्थ कहाँ रहा? सीधा ऐसा प्रश्न करते हो? तुम्हें केवलज्ञान को उड़ाना है। समझ में आया? जेठाभाई! भारी शल्य गड़बड़वाली।

तत्पश्चात् दूसरा प्रश्न किया कि, परन्तु यह कर्म का उदय आवे, असाता का उदय आता है और बाहर बैल निकले और उसके सींग लग जायें। सींग कहते हैं न? सींग, सींग, वे सींग लग जायें और असाता के उदय को किस प्रकार खबर पड़ी कि ऐसे सींग लाना ओर सींग को किस प्रकार खबर पड़ी कि असाता का उदय आता है तो मुझे जाना? सेठी! वहाँ से श्रद्धा भ्रष्ट हो गयी। जैन की श्रद्धा नहीं रही। वह दोनों में सुमेल करानेवाला कोई ईश्वर होना चाहिए।

यहाँ कहते हैं, यह ऐसा नहीं है। पदार्थ में ऐसा ही कोई निमित्त-निमित्त स्वभाव है कि जब यहाँ शरीर में उस प्रकार की रचना होनी हो, तब उसे नामकर्म का निमित्त होता है। समझ में आया? निमित्त होता है। निमित्त को खबर नहीं कि ऐसा यहाँ रचा जाये। परमाणु को खबर नहीं कि यह मैं रचता हूँ, यह निमित्त आया इसलिए। सेठी! इसी प्रकार असाता का उदय आनेवाला हो तो उसे कुछ खबर नहीं कि यह सींग आयेगा परन्तु वहाँ उस सींग का और इसका मिलान खा जाता है। यह निमित्त है और वह नैमित्तिक है, बस। यह वस्तु का निमित्त-नैमित्तिक स्वभाव ही ऐसा है। इसी प्रकार यह कर्म का स्वभाव होते ही आत्मा का प्रकृति, प्रदेश में योग का निमित्त पड़ता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह योग से इसमें पड़ता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? स्वतन्त्र है। अपनी-अपनी उत्पाद-व्यय पर्याय से स्वतन्त्र है या नहीं?

अब इसे कहते हैं, प्रदेशबन्ध की व्याख्या है। परमाणु में प्रदेश पड़ते हैं। कितनी संख्या में? अनन्त। इतने में भी अनन्तगुणा अन्तर होता है। उसमें योग निमित्त है। योग को खबर नहीं कि यहाँ इतने प्रदेश आवें तो ठीक और इतने प्रदेश आते हैं, उन्हें योग की खबर नहीं, परन्तु ऐसा ही निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। समझ में आया? यह सब अभी गड़बड़ है न? नहीं, उसे निमित्त ऐसा आया तो हुआ, निमित्त आया तो ऐसा हुआ। ऐसा है ही नहीं। निमित्त तो तब कहलाता है कि जब नैमित्तिक पर्याय है तो निमित्त कहने में आता है। तो

निमित्त से हुआ, यह आया कहाँ से ?

प्रदेशबन्ध का वर्णन। देखो! यहाँ क्या कहना है ? परमाणु का जितनी संख्या में आना होता है, वह अपनी योग्यता से आते हैं। उसमें योग / कम्पन निमित्त पड़ता है। योग को खबर नहीं कि इतने प्रदेश आवें तो ठीक। है ? और प्रदेश आते हैं, उन्हें खबर नहीं कि यह योग है, इसलिए मुझे इतने प्रदेश में आना। गजब बात, भाई! समझ में आया ? **आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश के साथ कर्म के अनन्तानन्त-परमाणु बँधते हैं...** आत्मा का एक प्रदेश... असंख्य प्रदेशी आत्मा है। एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्म की वर्गणा पड़ी है। है भिन्न तत्त्व, है भिन्न तत्त्व। आत्मा भिन्न तत्त्व, वे परमाणु भिन्न तत्त्व। परन्तु ऊपर है। अनन्तानन्त **कर्म के परमाणु दोनों एक क्षेत्रावगाह होकर रहते हैं, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।** कहो समझ में आया ? यह बात हुई योग के निमित्त की। जेठालालभाई! योग का निमित्त कैसा है, तो निमित्त कैसा आना, उसे कुछ खबर नहीं। योग, वह अज्ञान है। अज्ञान समझे ? योग में ज्ञान नहीं। योग कम्पन है, उसमें ज्ञान नहीं और परमाणु प्रदेशरूप और स्वभावरूप (प्रकृतिरूप) आते हैं, उन्हें भी ज्ञान नहीं, वह भी अज्ञान है। पवनकुमारजी! समझ में आया ? ज्ञानस्वरूप तो भगवान है, वे दोनों अज्ञान हैं, तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किस प्रकार हुआ ? वह स्वतः स्वभाव है। समझ में आया ? अब आयी कषाय। अब कषाय जो आत्मा में होती है, आत्मा...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब स्वतन्त्र ही है। सब स्वतन्त्र है, कोई किसी के पराधीन नहीं और पर के आधीन आत्मा होता है, वह भी अपनी स्वतन्त्रता से होता है। पर आधीन करता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अब यहाँ तो स्थितिबन्ध का वर्णन करते हैं।

कर्म में जो अवधि पड़ती है न ? अवधि। वह तो अपनी पर्याय की योग्यता से पड़ती है। समझ में आया ? कषाय के कारण नहीं। कषाय तो निमित्त है। निमित्त के कारण से उसमें (कर्म में) स्थिति पड़ती है ? क्यों ? ऐसा कहते हैं न कि जैसी कषाय हो, वैसी स्थिति और रस (अनुभाग) पड़ता है। स्थिति और रस तो उसकी पर्याय उसमें है। इस निमित्त के कारण से उसमें पड़ती है ? वे परमाणु जो आनेवाले हैं, उसमें स्थिति के योगवाले जितने परमाणु अमुक स्थिति के हैं, वे आते हैं, उसमें कषाय को निमित्त कहने में आता है।

कषाय को खबर नहीं कि ऐसी स्थिति में उसमें पड़ेगी और परमाणु की स्थिति को खबर नहीं कि ऐसी कषाय साथ में है। आहा..हा..! गजब बात, भाई!

एक भगवान ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त कषाय अज्ञान है, कषाय अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् ज्ञान नहीं। पुण्य–पाप के भाव में ज्ञान नहीं, अज्ञान है, अचेतन है और जो परमाणु आते हैं, स्थितिरूप पड़ते हैं, वे भी अचेतन, अज्ञान जड़ है परन्तु उस पर्याय का ऐसा कोई स्वभाव है कि उस स्थिति में पड़नेवाले परमाणु वहाँ आते हैं, वह स्थिति जितनी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय की प्रकृति में पड़नेवाली है, वैसे ही परमाणु वहाँ स्वयं की योग्यता से उस समय में आते हैं। समझ में आया? आहा..!

जो कर्म (जीव के साथ रहने की) अपनी–अपनी स्थिति लिये हुए बँधे... लो, कर्म जो आते हैं, वे अपनी अवधि रखकर बँधते हैं। **उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय–इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है...** क्या कहते हैं। चार कर्म की अवधि पड़ती है तो ३० कोड़ाकोड़ी की उत्कृष्ट स्थिति (पड़ती है)। ३० कोड़ाकोड़ी किसे कहते हैं? ३० कोड़ाकोड़ी। एक कोड़ाकोड़ी नहीं, ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम। एक सागरोपम, ऐसे तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम। एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम के असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। ऐसी जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय जो कर्म हैं, वे उनकी उत्कृष्ट स्थिति में आनेवाले हैं, वे ही परमाणु वहाँ आते हैं। आहा...हा..! ऐई! बड़ी संख्या हो गयी। अनन्त काल के समक्ष यह संख्या बड़ी कहाँ रही? तीस कोड़कोड़ी स्थिति चार कर्म की पड़ती है। उत्कृष्ट कोड़ाकोड़ी सागर, देखो तो सही।

मोहनीयकर्म में से दर्शनमोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी... ७० कोड़ाकोड़ी। ७०। तुम्हारी भाषा में। सात चौबीसी। **चारित्रमोहनीय की ४० कोड़ाकोड़ी...** अर्थात् चार चौबीसी। यह चारित्रमोहनीय की प्रकृति की जो स्थिति होने के योग्य परमाणु हैं, वे ही वहाँ आते हैं और दर्शनमोहनीय में जो परमाणु ७० कोड़ाकोड़ी की स्थिति की योग्यतावाले हैं, वे ही परमाणु वहाँ आते हैं। इस कषाय के कारण वहाँ स्थिति पड़ी, ऐसा नहीं है। अरे... अरे! कषायभाव तो अपने में है और स्थिति पड़ी है, वह कर्म में स्थिति पड़ी है। कर्म की स्थिति में तो निमित्त है। निमित्त ने उसमें स्थिति की है, ऐसा नहीं है। आहा..हा..! कर्म की

बात का भी ठिकाना नहीं। कषाय हुई तो कर्म आते है, कषाय हुई तो स्थिति पड़ी - ऐसी शास्त्र में भाषा आवे। लो! कषाय अर्थात् स्थिति, रस। परन्तु वह तो ऐसा निमित्त यहाँ है तो ऐसा नैमित्तिक उसके (स्वयं के) कारण से होता है। स्वतन्त्रस्वभाव का ढिंढ़ोरा पीटा है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र परिणमता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित् परतन्त्र जरा भी नहीं। स्वतन्त्र है और परतन्त्र नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र, यह तो फुदड़ीवाद हुआ। स्वतन्त्र है और परतन्त्र नहीं, इसका नाम अनेकान्त। क्रमबद्ध है और इससे विरुद्ध अक्रम नहीं, इसका नाम (अनेकान्त है) पर्याय (क्रमसर है), हों! गुण अक्रम है।

नाम और गोत्रकर्म की स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है। देखो! नाम और गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी (स्थिति), उसमें कौन डालता है? लोग ऐसा कहते हैं, यह कषाय हुई इसलिए (स्थिति) पड़ी। कषाय तो निमित्त है। वे परमाणु जो गोत्रकर्म होनेयोग्य हैं, उनमें बीस कोड़ाकोड़ी स्थिति पड़े, ऐसी उन परमाणुओं की वर्तमान पर्याय की योग्यता है। कषाय तो निमित्त है। आहा..हा..! भारी सूक्ष्म, भाई!

मुमुक्षु : कषाय से पड़ती होती तो सबकी समान पड़नी चाहिए थी, सबमें अलग पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह कहेंगे, यह कहेंगे।

आयुकर्म की स्थिति ३३ सागर की है। इस प्रकार यह इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति हुई। आयुकर्म की ३३ सागर। स्वर्ग और नरक। इस आयुष्य की स्थिति पड़ने के योग्य जो परमाणु हैं, वह स्वयं के कारण से स्थिति पड़ती है। उसमें कषाय निमित्त होती है। उसमें मोक्ष का मार्ग निमित्त नहीं होता, यह सिद्ध करना है। मोक्ष का मार्ग तो अबन्धपरिणाम भगवान आत्मा... यह कहेंगे। अपनी श्रद्धा, अपने स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप का अनाकुल आनन्द, यह पर्याय बन्ध में निमित्त नहीं है। यह पर्याय तो मोक्ष का कारण है। समझ में आया?

(अब) जघन्य स्थिति का वर्णन करते हैं। समझे? **जघन्य स्थिति नाम और**

गोत्रकर्म की ८ मुहूर्त,... कहो, यह कौन पाड़ता है ? नाम, गोत्र की कम से कम स्थिति आठ मुहूर्त की। परिणाम तो उस प्रकार के हैं। दसवें गुणस्थान में लोभ का एक परिणाम एक भाग का है और छह कर्म बन्ध में पड़ते हैं। उसमें नाम, गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की पड़ती है। परिणाम तो एक ही हैं। लोभ के परिणाम, दसवें गुणस्थान में लोभ के परिणाम एक सरीखे हैं, तथापि नाम और गोत्र में आठ मुहूर्त की, **वेदनीय की १२ मुहूर्त, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय और आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।** कौन पाड़ता है ? परिणाम तो एक ही है, लोभ। दसवें गुणस्थान में संज्वलन का लोभ एक ही है और यह चार, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त की, वेदनीय की बारह मुहूर्त की। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय की अन्तर्मुहूर्त की। मोहनीय की तो है नहीं। नीचे नौवें में मोहनीय है, वह अन्तर्मुहूर्त की। नौवें गुणस्थान में मोहनीय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की। दसवें में मोहनीय नहीं है। समझ में आया ? वस्तु ऐसी है कि उसे स्वतन्त्र पर्यायरूप से निर्णय करे, तब तक उसकी व्यवस्था आत्मा की दृष्टि में सच्ची आयेगी नहीं। सच्ची नहीं आवे, विपरीत होगा। जैसा है, वैसा न माना तो दृष्टि विपरीत है। विपरीत दृष्टि असत् दृष्टि है। असत् दृष्टि तो महाबन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया ?

मध्यम स्थिति के अनन्त भेद हैं। ऐसा लिया है। असंख्य भेद हैं। अनुभाग की अपेक्षा से अनन्त, स्थिति की अपेक्षा से असंख्यात हैं। **इस प्रकार स्थितिबन्ध का वर्णन किया।** अब अन्तिम अनुभाग बन्ध। रस पड़ता है न ? रस।

कर्मों में जो फल देने की शक्ति... शब्द देखो ! ज्ञानावरणीय आदि में अनुभाग / फल देने की शक्ति। किसे फल देते हैं ? कर्म जो सत्तारूप है, वे पाकरूप हुए, वह अपनी पर्याय में फल, रस आया, उसे फल देने की शक्ति कहते हैं। क्या आत्मा को फल देते हैं ? अमरचन्दभाई ! भाषा क्या करे शास्त्र की ? **कर्मों में जो फल देने की शक्ति होती है, उसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं। यह अनुभागबन्ध घातियाकर्मों का तो केवल अशुभरूप ही होता है...** चार घातिकर्म है न ? मात्र पाप का बन्ध करते हैं। यहाँ तो सिद्ध करना है कि उस पाप के बन्ध में कषाय कारण पड़ती है। जितनी कषाय है, उतना घातिकर्म में अशुभबन्ध पड़ने में निमित्त है। आत्मा का मोक्षमार्ग निमित्त नहीं है, बस, यह सिद्ध करना है। समझ में आया ? ओहो... !

अघातियाकर्मों का शुभरूप तथा अशुभरूप दोनों प्रकार का होता है। जैसे कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय-इन चार का तो लता, लकड़ी, हड्डी और पत्थररूप क्रम से बढ़ता-बढ़ता बन्ध होता है। यह रस का भाग है। थोड़ा रस, अधिक रस, अधिक-अधिक। ऐसा। **नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु-इन चार कर्मों का यदि शुभरूप हो तो गुड़, खाँड, शक्कर, और अमृत...** उसमें उनकी योग्यता, हों! कर्म की फल देने की शक्ति का रस देने का परिणमन स्वयं के कारण से हुआ है। कषाय तो निमित्तमात्र है। शुभ-अशुभभाव निमित्तमात्र है। कहो, समझ में आया? **और यदि अशुभरूप हो तो नीम, काँची,...** काली जीरी कहते हैं न? काली जीरी। **विष...** जहर **और हलाहल...** यह रस पड़ता है। **इस प्रकार इन सभी कर्मों का विपाक हुआ करता है। इस तरह चारों प्रकार के बन्ध का वर्णन किया।** यहाँ तो २१५ गाथा में ऐसा कहा कि योगात्, प्रदेश, कषाय, स्थिति ऐसे दो शब्द आये, मूल पाठ में दो हैं। परन्तु प्रदेश के साथ में... समझे। प्रकृति में प्रदेश ले लेना और स्थिति के साथ में अनुभाग ले लेना।

आत्मा भगवान, अपने स्वभाव की शक्ति की व्यक्तता अन्तर्मुख होकर प्रगट हुई, वह स्वभाव ही है। स्वभाव बन्ध का कारण नहीं होता। जितना विभावरूप परिणमन सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी है, कम्पन और कषाय है, उस प्रकृति प्रदेश में योग निमित्त है; स्थिति, रस में कषाय निमित्त है, वह भी निमित्त है। स्वयं के कारण से स्वतन्त्र वे आते हैं। ओहो..हो..! यह कषाय हुई तो उसमें इतना अनुभाग पड़ा। ....उसके बिना रस क्यों नहीं पड़ा? यहाँ कषाय मन्द किया तो मन्द स्थिति, तीव्र हुआ तो तीव्र स्थिति-ऐसा क्यों हुआ? ऐसा नहीं होता? मन्द कषाय तो स्थिति मन्द थोड़ी पड़ती है, तीव्र कषाय हो तो (तीव्र स्थिति पड़ती है)। वह स्वतन्त्र है। ऐसी स्थिति पड़ने योग्य परमाणु स्वयं के कारण से आते हैं और कषाय स्वयं के कारण से विकार होता है। आहा...हा..! ऐसी स्थिति की स्वतन्त्रता की खबर नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा रस पड़ने की उसकी पर्याय की योग्यता, ऐसे कषाय का यहाँ निमित्त है। कषाय भी उस प्रकार की होती है न? उसी प्रकार की।

गाथा - २१६

रत्नत्रय से बन्ध कैसे नहीं होता यह बात अब बताते हैं:–

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।।२१६।।

है आत्म निश्चयमई दर्शन, आत्म परिज्ञान बोध है।
आत्मा में स्थिरता सुचारित्र, बन्ध कैसे इन्हीं से?।।२१६।।

अन्वयार्थ : (आत्मविनिश्चितिः) अपने आत्मा का विनिश्चय (दर्शनम्) सम्यग्दर्शन, (आत्मपरिज्ञानं) आत्मा का विशेष ज्ञान (बोधः) सम्यग्ज्ञान और (आत्मनि) आत्मा में (स्थितिः) स्थिरता (चारित्रं) सम्यक्चारित्र (इष्यते) कहा जाता है तो फिर (एतेभ्यः 'त्रिभ्यः') इन तीनों से (कुतः) किस तरह (बन्धः) बन्ध (भवति) होवे?

टीका : 'आत्मविनिश्चितिः दर्शनं, आत्मपरिज्ञानं बोधः, आत्मनि स्थितिः चारित्रं इष्यते एतेभ्यः बन्धः कुतः भवति।'–

अर्थ : आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन है, आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में लीन (अर्थात् निश्चल) होना सम्यक्चारित्र है। यह तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। जब यह तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं तो इनसे कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ : रत्नत्रय दो प्रकार का है – १. व्यवहाररत्नत्रय, और २. निश्चयरत्नत्रय। देव, शास्त्र, गुरु का तथा सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है, तत्त्वों के स्वरूप को जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है, अशुभ क्रियाओं से प्रवृत्ति हटाकर शुभ क्रिया में प्रवृत्ति करना व्यवहारसम्यक्चारित्र है। यह व्यवहाररत्नत्रय हुए। आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना निश्चयसम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान, और आत्मस्वरूप में परिणमन–विश्राम करना निश्चयसम्यक्चारित्र है। (यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है–मोक्ष रूप ही है,) वह जीव को कर्मों से छुड़ाने का कारण है परन्तु कर्मबन्ध का कारण सर्वथा नहीं है।।२१६।।

गाथा २१६ पर प्रवचन

रत्नत्रय से बन्ध कैसे नहीं होता यह बात अब बताते हैं:-

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोध:।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्ध:।।२१६।।

थोड़ा अभ्यास करना, राजेन्द्रजी! तुम्हारे को तो कुछ है नहीं, लड़का है, वह अभी मूक है, दोनों व्यक्ति क्या करते हो? यह अभ्यास तो करो। कोई भाई-बाई कुछ दे नहीं दे। ए... पोपटभाई! क्या कहते हैं? देखो, यह जरा शब्द में अन्तर पड़ जाता है... **आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन है,...** लो, पहला शब्द। देखो इसमें सम्यग्दर्शन में व्यवहार और अमुक और ऐसा भेद नहीं किया। निश्चय सम्यग्दर्शन, वही सम्यग्दर्शन है - ऐसा कहा जाता है। समझ में आया?

आत्मा के स्वरूप का निश्चय होना। मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति, ज्ञायकभाव परमानन्द पूर्ण स्वरूप हूँ, ऐसा अन्तर में राग, पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर, अजीव से हटकर स्वभावसन्मुख होकर जो निश्चय हुआ, उसका नाम भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो मोक्ष का पहला अवयव अर्थात् मार्ग है। समझ में आया? यह सम्यग्दर्शन की व्याख्या की। अर्थ में व्यवहार की करेंगे। अर्थ में करेंगे। सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है, दो प्रकार के सम्यग्दर्शन है ही नहीं। कोई कहता है कि निश्चयसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन; निश्चयज्ञान और व्यवहारज्ञान। ऐसे दो हैं ही नहीं। दो प्रकार के कथन हैं। मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। कथन में आया है, वस्तु एक ही है। आहा...हा..! मोक्षमार्गप्रकाशक, टोडरमलजी। है न टोडरमलजी में? मोक्षमार्ग दो नहीं। समझ में आया? हिन्दी है? देखो! उसमें पहले लिया है न?

मोक्षमार्ग दो नहीं परन्तु मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है। वह बात यहाँ कही है, देखो! यह श्लोक रखा है न? भाई! आगे रखा है। यह श्लोक रखा है, यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय का श्लोक रखा है। **'आत्मविनिश्चिति: सम्यग्दर्शनम्'** आत्मा का विशेष प्रकार से निश्चय-निर्णय पर्याय में शुद्धस्वभाव के सन्मुख होकर, निर्विकल्प प्रतीति का होना,

वह ही एक सम्यग्दर्शन भगवान के मार्ग में कहा है। देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व की श्रद्धा, उसे विकल्परूप व्यवहारसम्यग्दर्शन आरोप करके कहा है। वह सम्यग्दर्शन नहीं है। कहो, समझ में आया ? मोक्षमार्ग दो नहीं है। देखो ! समझ में आया ? मोक्षमार्ग दो नहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। एक सच्चा मोक्षमार्ग और सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं। सच्चा निरूपण, वह निश्चय; उपचार निरूपण, वह व्यवहार। कथन की अपेक्षा से दो मोक्षमार्ग जानना परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है, एक व्यवहारमोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना, वह मिथ्या है। इतना तो स्पष्ट किया है।

यहाँ अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने यही लिया है, देखो ! **'दर्शनमात्मविनिश्चिति'** समझ में आया ? आत्मा के स्वरूप का विशेष निश्चय होना, वह सम्यग्दर्शन है। देखो, पहला मोक्ष का मार्ग; सम्यग्दर्शन मोक्ष का एक अवयव है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीन होकर मोक्षमार्ग है। उसमें पहला दर्शन है। जो अनन्त काल में इसने सम्यग्दर्शन कभी प्रगट नहीं किया। इस सम्यग्दर्शन के बिना क्रियाकाण्ड, व्रत, नियम आदि ले, सब बिना एक के शून्य हैं। समझ में आया ? कोरे कागज पर एक न लिखे और शून्य लिखे, शून्य, करोड़ शून्य, अंक नहीं, उसकी कोई कीमत नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना चाहे तो यह व्रत–तप अज्ञान से चाहे तो पूजा, भक्ति, व्रत आदि करे, वह संसार में भटकने का कारण है, उसमें मोक्ष का मार्ग नहीं है। समझ में आया ?

पहले **'आत्मविनिश्चितिः' आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन है,...** देखो ! एक ही बात की है। पुरुषार्थसिद्धि–उपाय में पहला यह लिया है। **आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है...** शास्त्र का ज्ञान करना या ग्यारह अंग पढ़ा या बारह अंग पढ़ा, वह बात यहाँ नहीं ली है। भगवान आत्मा... समझ में आया ? भाषा तो **'आत्मनि'** है। **'आत्मनि आत्मान'** करके। फिर उसमें से स्वरूप कहा। फिर यह स्वरूप लेते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, शुद्धस्वरूप का ज्ञान होना। अन्तर्मुख होकर उसका ज्ञान होना, आत्मस्वरूप का ज्ञान होना। **आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान होना...** देखो, समस्त प्रकार से आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति का (ज्ञान), शास्त्र का ज्ञान और राग से भिन्न पड़कर, अपने शुद्धस्वरूप का ज्ञान होना, इसका नाम सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? फिर शास्त्र का ज्ञान अल्प हो, विशेष हो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

वस्तु भगवान आत्मा, चिद्घन ज्योति की ओर सन्मुखता में उसका ज्ञान, उसका भान, उसके वेदन में स्वरूप स्वसंवेदन होना, इसका नाम भगवान मोक्षमार्ग का दूसरा अवयव सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ऐसा नहीं कहा कि ऐसा पढ़ा है, इतना पढ़ा है, ग्यारह अंग पढ़ा है, नव पूर्व पढ़ा है या इतना पढ़ा है, इसलिए सम्यग्ज्ञान है, ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? रामचन्द्रजी, देखो! आहा..हा..! देखो! यह अमृतचन्द्राचार्य महाराज, दिगम्बर सन्त, वनवासी-जंगल में रहते थे। ९०० वर्ष पहले। कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय की टीका बनानेवाले। उनका यह ग्रन्थ है। पहले टीका की, उनका यह ग्रन्थ है।

अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि सन्त जंगल में ताड़पत्र पर लिखते थे। वह यहाँ आया है। अरे! भाई! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चैतन्यज्योति वस्तु का स्वरूप जो ज्ञान आनन्द है, उसका ज्ञान; स्वरूप का ज्ञान। राग-पुण्य-पाप, पर का ज्ञान, वह बात नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? देखो! '**आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोध:**' इसका नाम बोध है। आहा..हा..! है या नहीं? सामने पाठ है या नहीं?

मुमुक्षु : गृहस्थी को भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : गृहस्थी को भी होता है। चौथे गुणस्थान में होता है, वह बात चलती है। आत्मा गृहस्थी है ही नहीं। गृहस्थी और मुनि, वह तो पर्याय का लक्षण है। वह भेद वस्तु में नहीं है। समझ में आया? आहा..हा..! आत्मा-अपने स्वरूप का परिज्ञान होना, वह सम्यग्ज्ञान है। ओहो...हो...! आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव अस्ति, अस्ति-सत्ता, अस्तिरूप पदार्थ है, जिसमें अनन्त-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि स्वभाव पड़ा है। एक-एक ज्ञान में अनन्त सामर्थ्य, एक-एक दर्शन में अनन्त सामर्थ्य, ऐसा जो स्वरूप वह आत्मा, उसका अन्तर में ज्ञान होना, इसका नाम भगवान सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मोक्ष का मार्ग है। यह ज्ञान, बन्ध का कारण बिल्कुल नहीं है। समझ में आया? निश्चय का ठिकाना नहीं, वास्तविकता क्या है, इसका बोध नहीं और माने कि हम धर्मी हो गये। कौन इनकार करे? समझ में आया? ओहो...हो..!

देखो न! व्यवहार का कितना वर्णन किया! व्रत और अतिचार और यह और वह... फिर अन्त में यह रखा। समझ में आया? पहले भी यह रखा था, बाद में भी यह रखा, बीच

में व्यवहार का अधिकार लिया। जब निश्चय ऐसा होता है, तब उसे व्यवहार व्रत आदि के विकल्प होते हैं। श्रावक को बारह अणुव्रत के, मुनि को पंच महाव्रत के विकल्प होते हैं परन्तु वे विकल्प हैं, वे बन्ध का कारण है। वह कषाय है और कषाय, बन्ध का कारण है। समझ में आया?

और आत्मस्वरूप में लीन होना... देखो! इतना पालना और व्रत पालना और अमुक पालना, उसे यहाँ चारित्र नहीं कहते। भगवान आत्मा, शुद्ध वीतरागमूर्ति आत्मा है। वस्तुस्वरूप से अकषाय अन्तर्मुख रस स्वभाव में लीनता। अनाकुल आनन्द का होना, अनाकुल आनन्द में लीन होना, उसका नाम भगवान चारित्र कहते हैं। कहो, समझ में आया? है, पुस्तक साथ में है या नहीं? यहाँ गुजराती बहुत है। हिन्दी भी थोड़े हैं। समझ में आया?

आत्मस्वरूप में लीन... इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान जो चारित्र–वीतराग सम्पन्न आत्मा है, उसमें एकाग्र होकर जो शक्ति पड़ी है, उसकी प्रगटता, शान्ति का, आनन्द का, स्थिरता का, स्थिति का होना, इसका नाम भगवान चारित्र कहते हैं। समझ में आया? यह चारित्र, सम्यग्दर्शन–ज्ञान के बिना नहीं होता। समझ में आया? ऐसा चारित्र, सम्यग्दर्शन–ज्ञान बिना नहीं होता। चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन–ज्ञान होता है परन्तु चारित्र है, वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान के बिना नहीं होता। समझ में आया?

यह तीनों गुण... गुण शब्द से पर्याय। परन्तु यहाँ गुण कहते हैं। गुण में से प्रगट हुए हैं न? राग में से प्रगट नहीं हुए। क्या कहा? यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अन्तर श्रद्धागुण, ज्ञानगुण और चारित्रगुण, इसमें से–शक्ति में से प्रगट हुए हैं। धन्नालालजी! गुण में से प्रगट हुए हैं तो इन्हें गुण कहते हैं। है तो पर्याय। वह कोई राग और पुण्य अवगुण है, उनमें से उत्पन्न नहीं हुए हैं।

मुमुक्षु : श्रावक और मुनि के बीच कुछ अन्तर तो होना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर है न; श्रावक को स्थिरता कम है और मुनि को बहुत स्थिरता है। व्यवहार में भी अन्तर है। श्रावक को बारह व्रत का विकल्प है। मुनि को पंच महाव्रत का विकल्प है। दृष्टि और ज्ञान में अन्तर नहीं है। जैसी श्रावक की निश्चय दृष्टि, ज्ञान है, वैसी ही मुनि की दृष्टि और ज्ञान है। दर्शन–ज्ञान में अन्तर नहीं है, स्थिरता में अन्तर है।

मुमुक्षु : जातिभेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जातिभेद नहीं। जो स्थिरता पंचम गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को होती है, वही स्थिरता छठे (सातवें) गुणस्थान में (मुनि को) विशेष होती है। जातिभेद नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया?

तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं... देखो! ये आत्मस्वरूप ही है, देखो! भाषा। समझ में आया? क्यों? भगवान आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र उसका त्रिकाली स्वभाव है, वह स्वरूप त्रिकाली जो है, उस ओर की एकाग्रता होकर वह शक्ति, जो स्वभाव है, वह ही स्वरूप प्रगट हुआ है। समझ में आया? यहाँ तो यह भी कहना है कि साथ में जो शुभराग है, उससे प्रगट नहीं हुआ। यह शक्तिस्वरूप है, उसमें से प्रगट हुआ है। समझ में आया? व्यवहार राग की मन्दता है तो ये प्रगट हुआ है, ऐसा वस्तु में नहीं है-ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

कोई कहता है न कि पहले व्यवहार, फिर निश्चय—परन्तु ऐसा है कहाँ? व्यवहार पहले अर्थात् राग, निश्चयस्वरूप स्वभाव इसका अर्थ क्या? आत्मा में जो स्वभाव श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र अर्थात् त्रिकाल समभाव पड़ा है, उसका आश्रय लिया तो शक्ति की व्यक्तता हुई। उसमें राग में से आये, यह बात नहीं है। अत: व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात ही सत्य नहीं है। कथन ऐसे आते हैं, व्यवहार साधन निश्चय साध्य। यह तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का ज्ञान कराने की बात है। समझ में आया? बहुत गड़बड़... आहा..हा..! भगवान आत्मा का जो स्वरूप—स्व-रूप—शाश्वत् स्वरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शन और आनन्द, चारित्र, ऐसा जो स्वरूप है, उसमें से प्रगट हुआ स्वरूप—श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, वह कहीं राग से प्रगट नहीं हुआ। राग में वह शक्ति नहीं थी कि राग में से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आवे। वह तो आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शक्ति थी। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं? इसमें तो सादी बात है, ऐसा बहुत सूक्ष्म नहीं है।

आत्मा है या नहीं? आत्मा वस्तु है या नहीं? वस्तु है या नहीं? तो उसका कोई स्वभाव होना चाहिए या नहीं? उसका स्वभाव है या नहीं? शक्कर है, तो शक्कर तो वस्तु हुई, तो उसका कोई स्वरूप है या नहीं? स्वभाव है या नहीं? मिठास, सफेदाई वह स्वभाव है या नहीं? इसी प्रकार आत्मा वस्तु। आत्मा वस्तु हुई। वस्तु है तो उसका कोई स्वभाव

है या नहीं ? वह तो गुणी हुई, तो कोई गुण है या नहीं ? उसका गुण क्या ? श्रद्धा–ज्ञान–शान्ति समरस आनन्द, वह उसके त्रिकाली गुण हैं। उन गुण में एकाकार होकर गुण में से पर्याय आती है। श्रद्धा में से सम्यग्दर्शन पर्याय आयी। श्रद्धागुण त्रिकाल में से (आयी), ज्ञानगुण में से सम्यग्ज्ञान पर्याय आयी, चारित्रगुण में से समरस, आनन्द और शान्ति आये। आनन्द में से आनन्द आया। चारित्र में से शान्ति आयी। समझ में आया ? यह आयी वह पर्याय है, परन्तु वह गुण में से आयी तो उसे गुण कहा। वह गुण है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह गुण है; अवगुण नहीं। रागादि अवगुण है; वे गुण नहीं। अवगुण है, वह बन्ध का कारण है; गुण, बन्ध का कारण नहीं। समझ में आया ?

यह तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं... देखो! **यह तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं...** तो जब ये तीनों गुण आत्मस्वरूप ही है **तो इनसे कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है ?** है ? है इसमें है ? पहले व्याख्यान में आया, दर्शन, ज्ञान और चारित्र। **जब यह तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं तो इनसे कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।** मोक्षमार्ग से बिल्कुल बन्ध नहीं होता। मोक्षमार्ग कहना और बन्ध का कारण कहना, यह दोनों बातें हैं कहाँ ? दोनों वस्तु भिन्न–भिन्न है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

......आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्तःस्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री–पुत्रादि में, शरीर–वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है – ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग–सामग्री में किञ्चित् आसक्ति दिखती है – होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं। — ***पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी***

प्रवचन नं. ८६ गाथा-२१६ से २१७ शुक्रवार, श्रावण शुक्ल ६, दिनांक ११.०८.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। २१६ गाथा। क्या कहते हैं? रत्नत्रय से बन्ध क्यों नहीं होता, इसकी गाथा है। आत्मा का जो मोक्षमार्ग है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र—वह क्या है, यह कहेंगे। उससे बन्ध नहीं होता। वह तो मोक्ष का मार्ग है। क्यों मोक्ष का मार्ग है? और बन्ध क्यों नहीं? यह स्पष्टीकरण करते हैं, देखो!

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।।२१६।।

पाठ तो इतना है कि, आत्मा का निश्चय, वह सम्यग्दर्शन। समझ में आया? तो आत्मा क्या? कैसे आत्मा का निश्चय? द्रव्य का, गुण का या पर्याय का? यहाँ तो आत्मा शब्द आया। समझ में आया? शब्द तो इतना आया है –'**आत्मविनिश्चितिः दर्शनं**' तो यहाँ आत्मा किसे कहते हैं? यहाँ, हों! आत्मा कहने से अस्ति ली है, देखो! **आत्मा के स्वरूप का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है,...** ऐसा लिया। '**आत्मविनिश्चितः**' आत्मा तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों होकर होता है।

मुमुक्षु : अकेले द्रव्यस्वभाव को लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु निर्णय करना है, ऐसा है न? तो निर्णय करनेवाली तो पर्याय है। निर्णय किसका करना? कि आत्मस्वरूप का। त्रिकाल स्वभाव का। पर्याय का नहीं। पर्याय तो निश्चय करती है। समझ में आया? देवीलालजी! रात्रि को मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा था। चार बजे उठे (तब)। यहाँ कोई द्रव्य-गुण-पर्याय को इकट्ठा डाल दे तो? ऐई! पाठ तो ऐसा है कि '**दर्शनमात्मविनिश्चिति**' आत्मा का निश्चय, उसका नाम सच्चा निश्चय सम्यग्दर्शन कहने में आता है। इसका अर्थ टोडरमलजी ने लिया है। और न्याय

से है न ? अभी हमारे पण्डितजी ने कहा। **'स्थितिरात्मनि चारित्रं'** कहा न ? मैंने कहा था, आत्मा की स्थिति, वह चारित्र है। यदि आत्मा की स्थिति वह चारित्र, तो किसमें स्थिति करना ? पर्याय में स्थिति करना है ?

मुमुक्षु : सबमें आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबमें आ गया। समझ में आया ? यह तो पाठ में ऐसा है न ? **'आत्मविनिश्चितिः दर्शनं'** पहले में पहला धर्म का अंश सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का निश्चय। आत्मा के निश्चय का अर्थ क्या ? कि आत्मा का असली शाश्वत् ध्रुवस्वरूप है, उसका निश्चय। अमरचन्दभाई ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा... एक समय के उत्पाद-व्यय हैं, वे नहीं लेना। ऐसा स्वरूप जो त्रिकाली है, त्रिकाली, ज्ञायकभाव शुद्धभाव ध्रुवभाव अचलभाव नित्यभाव... समझ में आया ? वह भाव है, वह उसका स्वरूप है। उस स्वरूप का निश्चय करने का नाम सम्यग्दर्शन, सच्चा धर्म और सच्चा मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। समझ में आया ? कहते हैं कि **आत्मा के स्वरूप का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है,...** देखो ! अर्थ भी ऐसा लिया है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन की बात है। व्यवहार की बात करेंगे परन्तु वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कथनमात्र है। वास्तव में व्यवहारसम्यग्दर्शन वस्तु नहीं है। यह अभी कहेंगे। फिर ऐसा शब्द लिया है न ?

'आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः' आत्मा का ज्ञान, वह बोध। आत्मा जो त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप शुद्ध ध्रुव है, उसका ज्ञान होना, उसका ज्ञान होना; पर्याय का, ऐसा नहीं, परन्तु ज्ञान करनेवाली पर्याय है, किन्तु निश्चय करना है किसका ? ज्ञान करना है किसका ? आत्मा त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है उसका। समझ में आया ? वस्तु भगवान एक समय में पूर्ण शुद्ध चैतन्य ध्रुव है। उसका ज्ञान, उसके स्वरूप का ज्ञान। वस्तु है, उसका स्वरूप जो त्रिकाली है, उसका ज्ञान करना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान-बोध कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? दूसरे अनेक शास्त्रों का बोध आदि हो, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। समझ में आया ? दो शब्द लिये हैं न ? पहले में **'दर्शनं'** लिया। यह **'आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः'** (लिया)। मूल बात है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। लो, यह चरणानुयोग है। वस्तु तो जैसी है,

वैसी आती है या नहीं? पहले भी १२वीं गाथा में कह गये हैं, जीवादि श्रद्धानं आत्मरूप। पहले भी कह गये हैं। १२वीं (गाथा में कह गये हैं) मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में दोनों ली है। १२वीं और अन्तिम। आत्मनिश्चय भी ली है। १२वीं है या नहीं, कितनी है? जीवादि। २२वीं है, देखो! यह पहले आ गया है, हों! पहले शुरुआत में यह बात ली है, बाद में यह बात ली है। '**तत्रादौ सम्यक्त्वं**' २१वीं है न? यह सम्यक्त्व किसे कहते हैं, यह २२ में है।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

देखो! यह आत्मरूप कहा। किसे आत्मरूपं कहा? यहाँ आत्मरूपं दूसरा। वहाँ आत्मरूप दूसरा। यहाँ तो आत्मा आदि नवतत्त्व में नवतत्त्व भले लिया है, परन्तु यह ज्ञायकस्वरूप ध्रुव है, इसकी श्रद्धा वह आत्मरूप है। वह श्रद्धा आत्मरूप है, आत्मस्वरूप है। श्रद्धा, हों! पर्याय। वहाँ यह लिया। आत्मरूपम्। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव, उसकी श्रद्धा, वह आत्मरूप है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप है, वैसी श्रद्धा हुई तो वह आत्मरूप ही हुई। समझ में आया? और वह आत्मा का ज्ञान, आत्मा जो शुद्ध चैतन्य है, उसका ज्ञान हुआ, वह भी आत्मरूप ही है। समझ में आया? यहाँ तो श्रद्धा ली है न? फिर तो तीनों में लेते हैं। बात तीनों की आ गयी है। उसमें अपने लिखा है। तीनों में आ गयी। खबर नहीं? इसमें आ गया है न पहले, कहाँ गया? यह गुजराती है न? क्या है यह? गुजराती नहीं आया। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में आत्मरूप की तीनों गाथा कही थी। यह पुस्तक रखी नहीं। इसके जगह यह रखा है। रखनेवाले को ध्यान रखना चाहिए। तीन गाथायें रखी थीं, नहीं? तीन दी नहीं थी। क्या है यह? मैंने तो उसमें लिखा था। २२, ३५ और ३९। देखो, आत्मरूपमं सम्यग्दर्शन। फिर ३५, उसमें लिखा है, उस दिन बताया था। ३५ देखो। '**संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं**' ३५ गाथा। सम्यग्ज्ञान के लिये है, २२वीं सम्यग्दर्शन के लिये है और ३९वीं सम्यक्चारित्र के लिये है। वहाँ अपने चल गया है न? '**विशदमुदासीनमात्मरूपं**' ३९। ३९ समझते हो? ४० में एक कम। क्या कहा?

पहले २२, ३५ और ३९ में क्या आया? कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति जो स्वरूप उसका वास्तव में तो त्रिकाली वही उसका स्वरूप है। ज्ञायकभाव शुद्धभाव, ध्रुवभाव वह त्रिकाली स्वरूप है। उसका जो निश्चय दर्शन है, वह आत्मरूप है। क्योंकि

आत्मा के स्वरूप की पर्याय आत्मारूप ही है। समझ में आया या नहीं ? और वह आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु है, उसका ज्ञान। यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है। उस शुद्ध चैतन्य भगवान का ज्ञान, जिसे यहाँ बोध कहा, वह आत्मरूप है। आत्मा की जो शक्ति है, वही व्यक्तरूप पर्याय हुई तो उसे आत्मरूप ही कहा है। वह रागरूप या विकल्परूप नहीं है। इसलिए कहा है। समझ में आया ? व्यवहारसम्यग्दर्शन, वह विकल्परूप है; व्यवहारज्ञान, विकल्परूप है; व्यवहारचारित्र, विकल्परूप है, रागरूप है। वह यह नहीं है। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु का ज्ञान आत्मरूपम्, आत्मस्वरूपम्। स्वरूप जो त्रिकाल है, उसका रूप वह पर्याय है; इसलिए उसे आत्मरूप कहा। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, उसमें स्थिरता करना, रमणता करना, वही आत्मरूप है क्योंकि आत्मा की निर्मल पर्याय, जैसा स्वरूप है, उसमें से प्रगट होती है।

अभी पुस्तक–बुस्तक लेने का बन्द करो। पहले से लेना हो वह ले ले, नहीं तो बाद में नहीं। समझ में आया ? यह तो वार्ता नहीं है। जरा सूक्ष्म बात है। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, वहाँ लिया, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र आत्मरूप। यहाँ लिया, आत्मस्वरूप का निश्चय, वह सम्यग्दर्शन है। यह त्रिकाल की बात है। वहाँ पर्याय की बात है। समझ में आया ? वहाँ तो भगवान आत्मा, राग नहीं, निमित्त नहीं, वे तो इसमें नहीं तो इसकी श्रद्धा यह है, उसमें श्रद्धा आ गयी कि ये (रागादि) इसमें (आत्मा में) नहीं है। समझ में आया ? जीवादि श्रद्धान आता है न ? यह प्रश्न हुआ था न ? जीवादि श्रद्धान, आता है न, पुण्य–पाप अधिकार समयसार। कितनी गाथा है, याद नहीं। आता है या न ? यह प्रश्न विद्यानन्दजी ने वहाँ पूछा था न ? दिल्ली में साधु है न ? क्या कहा ? पुण्य–पाप है न ? कितनी गाथा है ? '**जीवादिसद्दहणं**' लो, यह आया। १५५ गाथा।

'**जीवादिसद्दहणं**' जीवादि शब्द है तो जीवादि का अर्थ ऐसा नहीं कि जीवादि नवतत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। परन्तु जीव... यह प्रश्न हुआ था। यह प्रश्न हुआ था। विद्यानन्दजी है न ? उनने कहा, यह क्या ? कहा, ऐसा है कि ज्ञायकस्वरूप भगवान का निर्णय–निश्चय हो, ज्ञायक का निर्विकल्प निर्णय हुआ, उसका नाम '**जीवादिसद्दहणं**' सम्यग्दर्शन। वह ज्ञान का परिणमन है। ज्ञान अर्थात् स्वभाव का परिणमन है। वह राग का परिणमन नहीं। समझ में आया ? वहाँ दिल्ली में थे न ? बड़े व्याख्याता हैं। बीस–बीस

हजार लोग, पच्चीस-पच्चीस हजार। ऐसी व्याख्यान की शैली। सत्य बात (कितनी) वह अलग बात है। यह तो मार्ग तो जैसा हो वैसा होगा। उन्होंने बेचारे ने नम्रता से एकान्त में पूछा था। सब सेठों को बाहर भेजकर एकान्त में पूछा था कि इसका क्या अर्थ है? मैंने कहा, इसका अर्थ यह है। जीवादि नवतत्त्व की श्रद्धा, वह समकित, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

आत्मा अन्तर में से भेद निकालकर, अभेद चैतन्यमूर्ति का जो स्वरूप त्रिकाल है, उसका ज्ञानरूप परिणमन होना। ज्ञानरूप परिणमन सम्यग्दर्शन क्यों कहा? ज्ञान तो दूसरी पर्याय है, ज्ञान का अर्थ रागरूप परिणमन नहीं, ऐसा ज्ञानरूप परिणमन का अर्थ आत्मस्वभावरूप परिणमन। दर्शन। उसे यहाँ सम्यग्दर्शन कहने में आता है। मूल बात में सब अन्तर और बाहर से मान ले कि यह सम्यग्दर्शन। मूल में अन्तर (हो)। फिर लाख करोड़ बात जाने और पढ़े उसमें सब शून्य है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं भगवान आत्मा का दर्शन, ऐसा पाठ लिया है। स्पष्टीकरण कर दिया है कि आत्मस्वरूप जो त्रिकाल है, ध्रुव चैतन्यबिम्ब भगवान का जो स्वरूप है, उस स्वरूप का निश्चय, वह सम्यग्दर्शन है। स्वरूप का निश्चय, वह निश्चय सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प रागरहित वीतरागदर्शन है। उससे बन्ध कैसे हो? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उससे बन्धन नहीं होता।

आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है... बोध है अथवा सम्यग्ज्ञान है। भगवान आत्मा का ज्ञान होना। परिज्ञान—समस्त प्रकार से पूरा चैतन्यबिम्ब भगवान... समझ में आया? उस ओर के झुकाव से शुद्धस्वभाव के झुकाव से जो ज्ञान हुआ, उसका नाम बोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। उस सम्यग्ज्ञान से बन्धन कैसे हो? उससे बन्धन हो तो बन्धन छूटने का कोई रास्ता नहीं है। समझ में आया?

और आत्मस्वरूप में लीन... यह इतना अर्थ किया है, आगे विशेष करेंगे। आगे कहेंगे कि आत्मा में परिणमन होना, ऐसा कहेंगे। उसी और उसी में। **आत्मस्वरूप में लीन होना...** आत्मा शुद्ध आनन्द के दर्शन हुए, ज्ञान हुआ, उसमें लीन... लीन, वीतरागभाव से लीन होना। वीतरागस्वरूपी आत्मा है, उसमें वीतरागभाव से लीन होना, उसका नाम चारित्र है। वर्तमान में यह विवाद (चलता है)। अणुव्रत को, महाव्रत को चारित्र नहीं कहते

और हेय कहते हैं। अजितकुमार का बड़ा लेख आया है। क्या कहलाता है यह ? जैन गजट। यह नया पन्थ निकालते हैं। भगवान! नया नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। आहा..हा..! ऐ जेठालालभाई! उन्होंने चर्चा का सार लिखा है। ये दो पुस्तकें प्रकाशित हो गयी, लोग पढ़ेंगे। उसमें से निकालेंगे, बहुत पक्ष तो यहीं की ही बात है। फूलचन्दजी यहीं की सब बात को सिद्ध किया है। ऐसा बाहर आयेगा तो पहले से लिखो कि खानिया में हुई उस चर्चा का सार यह है कि ऋषभदेव भगवान से अभी तक अणुव्रत और महाव्रत को चारित्र गिनकर लोग पालते आये हैं। उसे यह कहते हैं कि यह अणुव्रत और महाव्रत हेय हैं, ऐसा नया पन्थ निकाला। उस चर्चा का सार है। अरे! भगवान! दो पुस्तकें बाहर निकली तो लोगों में उसकी कीमत कदाचित् हो जाये। उसे कम करने के लिये संक्षिप्त एकदम भड़काकर (सार लिख दिया)।

भाई! अणुव्रत और महाव्रत तो आत्मा के सम्यग्दर्शन अनुभव में और सम्यग्ज्ञान में तथा स्वरूपस्थिरता में जब आत्मा आता है, तब उसमें जो विकल्प आता है, पंचम गुणस्थानयोग्य स्थिरता, दर्शन हुआ, ज्ञान हुआ, अनुभव हुआ, आंशिक स्थिरता हुई, उसमें जो बारह व्रत के विकल्प व्यवहार उठता है, उसे व्यवहार अणुव्रत कहते हैं। वह बन्ध का कारण है। वह तो यहाँ बताना है। समझ में आया ? और मुनि को भी जो निश्चय सम्यग्दर्शन है, अपने स्वरूप का निश्चय, उसका ज्ञान और लीनता, वह तीनों मोक्ष का मार्ग है; बन्ध का मार्ग बिलकुल नहीं। साथ में व्रत है। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण का जो विकल्प उठता है, वह बन्ध का कारण है, वह आत्मरूप नहीं, आत्मस्वरूप नहीं। आत्मरूप नहीं, यह पहले गाथा में आया, और यहाँ आत्मस्वरूप की श्रद्धा–ज्ञान नहीं। समझ में आया ? क्या हो ?

लोगों को बाहर के क्रियाकाण्ड में व्रत–फ्रत में धर्म मनवा देना है। अनन्त काल में तीन काल में अभव्य ने भी ऐसा तो अनन्त बार किया है। अभव्य का दृष्टान्त कल दिया था न ? क्या कहा था ? यह पण्डित, नहीं ? दृष्टान्त कुछ था। अज्ञ न समझे और ज्ञानी समझता है। यह अभव्य के लिये लिया है। अज्ञ आता है न ? भारी दृष्टान्त, भाई! वहाँ तो कहते हैं कि निश्चय अज्ञानी है, अपने से अज्ञानी है, वह पर से किस प्रकार समझे और ज्ञानी है, वह पर से कैसे समझे ? वह तो स्वयं से समझता है। पर से नहीं समझता, यह बात वहाँ सिद्ध करनी है। अपना गुरु आत्मा है, ऐसा वहाँ इष्टोपदेश में सिद्ध करना है।

जेठालालभाई! क्या हो? यह तो इसकी स्थिति की योग्यता प्रमाण अनादिकाल का परिणमन उल्टा करता आया है न! उसे स्वयं को बहुत होता है कि मैं तो कुछ हित करता हूँ। अहित करने का तो न हो मस्तिष्क में, परन्तु वस्तु की खबर नहीं होती, इसलिए अहित हो जाता है। अहित हो और माने कि हित करते हैं। वह भगवान है, भाई! समझ में आया? भूला है तो भी भगवान है। पर्याय में भूला है। समझ में आया? वस्तु का स्वरूप तो भगवान ही है। त्रिकाल द्रव्य गुणस्वरूप तो भगवान है। पर्याय में भूल है। इसका नाम संसार है, वह भूल किसी ने करायी नहीं है। कर्म-बर्म ने करायी नहीं है। स्वयं भूल करता है और भटकता है, उस भूल को तोड़े और भगवान हो। आहा..हा...!

कहते हैं **आत्मस्वरूप में लीन**... स्थिति है न, पाठ में तो। **'स्थितिरात्मनि चारित्रं'** भगवान आत्मा... स्थिति का अर्थ पर्याय है। किसमें स्थिति करना? कि आत्मस्वरूप में। ज्ञानानन्द शुद्ध ध्रुव चैतन्य है, उसमें स्थिति होना, रागरहित, विकल्परहित, पंच महाव्रतादि के विकल्प रहित, स्वरूप में स्थिरता करने का नाम भगवान चारित्र कहते हैं। देखो न! अमृतचन्द्राचार्य महाराज ९०० वर्ष पहले दिगम्बर सन्त-मुनि जंगलवासी वनवासी पुकार करके यह लिखते हैं। समझ में आया?

जब यह तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं... जब यह तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं... ऐसा आया न? वहाँ आत्मरूप कहा था न? यहाँ आत्मस्वरूप ही है। क्योंकि आत्मा स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य शक्ति है, उसकी प्रतीति, ज्ञान, रमणता हुई, वह शक्ति की व्यक्तता हुई है, स्वभाव की प्रगटता हुई है तो स्वभाव ही है। धन्नालालजी! भगवान आत्मा ऐसे आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यशक्तिरूप सत्त्व पूरा, उसमें से-शक्ति में से ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हुए हैं तो शक्तिस्वभाव की व्यक्तता हुई, प्रगटता हुई तो वह आत्मरूप ही है। आत्मरूप है। जैसे आत्मद्रव्य, गुण बन्ध का कारण नहीं, वैसे शुद्ध पर्याय भी बन्ध का कारण नहीं। आहा..हा..! अरे! भगवान! समझ में आया? ऐई! यह तुम्हारा प्रश्न रात्रि को उठा था। लक्ष्य में नहीं आये थे परन्तु यह **'दर्शनमात्मविनिश्चितं'**। कहाँ गये माणिकलाल? रास्ते में कहा था या नहीं? कोई ऐसा डाल दे कि आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय की श्रद्धा। तीनों इसमें आये। अखण्ड आया इसमें, एक द्रव्य अखण्ड आया। पर्याय अखण्ड कहाँ आयी? ....फिर धीरे-धीरे बैठ गये। कहो, समझ में आया? इसके लिये तो सबेरे चार बजे

उठे और मस्तिष्क में आ गया कि आत्मविनिश्चय कहा है और प्रश्न क्यों किसी ने किया नहीं ? कोई प्रश्न क्यों नहीं किया ? आत्म निश्चय परन्तु कौन सा आत्मा ? कैसा ?

मुमुक्षु : स्पष्टीकरण बहुत होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए नहीं किया, ऐसा कहते हैं। परन्तु यहाँ तो आत्मा आया न ? आत्मा का निश्चय, तो किसी को ऐसा हो कि आत्मा अर्थात् क्या ? कौन सा आत्मा ? कितना आत्मा ? किस प्रकार का कितना स्वरूप है वह ? ऐसा प्रश्न उठे न ? इसका अर्थ, स्पष्टीकरण कर दिया। आत्मा अर्थात् आत्मा का स्वरूप। उसका स्वरूप जो त्रिकाली, उसका निश्चय, ज्ञान और रमणता वह मोक्ष का मार्ग। समझ में आया ?

कहते हैं कि **आत्मस्वरूप ही हैं। जब यह तीनों गुण**... गुण कहा न ? गुण में से आयी, इसलिए गुण कहा। **आत्मस्वरूप ही हैं तो इनसे कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है ?** इन तीन दशा से–पर्याय से कर्मों का बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? कहो, समझ में आया ? भारी कठिन जगत को।

भावार्थ : रत्नत्रय दो प्रकार का है... यह तो समझाते हैं, हों ! यहाँ तो एक ही प्रकार का कहा है, पाठ में तो एक ही प्रकार का कहा है, परन्तु दूसरे प्रकार का कथन निरूपण है तो साथ में स्पष्टीकरण किया है। **१. व्यवहाररत्नत्रय, और २. निश्चयरत्नत्रय।** समझे ? रत्नत्रय दो प्रकार के। व्यवहार, निश्चय।

देव, शास्त्र, गुरु का... श्रद्धान करना। देखो ! देव–शास्त्र–गुरु। सच्चे देव अरिहन्त भगवान। समझ में आया ? और गुरु निर्ग्रन्थ सन्त–मुनि भावलिंगी चारित्रवन्त। और शास्त्र – भगवान के मुख से निकले हुए अनेकान्त। आत्मा स्व–रूप से है, पर–रूप से नहीं, ऐसी जो अनेकान्तमय शास्त्र की वाणी, उसका श्रद्धान करना, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। व्यवहारसम्यग्दर्शन, वह कहीं सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं है। समझ में आया ? निश्चयसम्यग्दर्शन जो है, वह आत्मा के श्रद्धागुण की निश्चय पर्याय है। यह तो राग है। राग को आरोप करके व्यवहारसम्यग्दर्शन कहने में आया है। है नहीं, उसे कहना, इसका नाम व्यवहार है। समझ में आया ? कहते हैं कि इन देव–गुरु–शास्त्र का श्रद्धान करना, वह राग है, विकल्प है; मिथ्यात्व नहीं। विकारी राग की पर्याय को श्रद्धा में मिली हुई देखकर,

निश्चयस्वभाव का सम्यग्दर्शन हुआ, उसमें निमित्त सहचर देखकर, उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन आरोप से, उपचार से कहने में आया है। वह वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं, परन्तु निरूपण कथन में दो प्रकार आये हैं तो उसमें व्यवहार कहने में आया। समझ में आया?

सात तत्त्वों का श्रद्धान करना... लो, जीव-अजीव आदि सातों का भेदरूप श्रद्धान है, वह भी विकल्प है, राग है। एकरूप ज्ञायक की श्रद्धा चिदानन्द निर्मलानन्द ध्रुव की सम्यक् अन्तर्दृष्टि, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और जैसे भगवान ने कहे, वैसे सात तत्त्व... समझ में आया? अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु अजीव में... समझ में आया? और पुण्य-पाप आस्रव-बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ऐसे भेदसहित सात तत्त्व की श्रद्धा होना, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। उसमें ज्ञान का इतना ख्याल-क्षयोपशम है कि यह... यह.. ऐसा है और साथ में विकल्प भी है। समझ में आया? उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहने में आया है कि जो व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चय से विरुद्ध है। निश्चयसम्यग्दर्शन स्व के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला, स्व की दशा से उत्पन्न होनेवाला निर्मल दशावन्त है और व्यवहारसम्यग्दर्शन पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ, वह रागभाग है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं, श्रद्धागुण की पर्याय नहीं। श्रद्धा नाम का जो गुण त्रिकाल है, उसके स्वरूप की श्रद्धा करने से तो सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय होती है और मिथ्यादर्शन की पर्याय है, वह भी श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय है। दोनों पर्यायें तो आ गयीं। फिर तीसरी पर्याय कहाँ से आयी? (कि) व्यवहारसम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन की पर्याय है। समझ में आया? क्या कहा, समझ में आया?

भगवान आत्मा... यह मूल वस्तु है। यहाँ चरणानुयोग में भी यह लिया। भगवान आत्मा का शुद्धस्वरूप, वह सम्यग्दर्शन। वह तो श्रद्धागुण की पर्याय है। त्रिकाल जो श्रद्धागुण है, उसकी पर्याय है। मिथ्यात्व है, वह श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय है। दोनों आ गये। अब तीसरी वस्तु कहाँ रही? व्यवहारसम्यग्दर्शन कहाँ रहा? समझ में आया? व्यवहारसम्यग्दर्शन है तो उस प्रकार का परलक्ष्यी क्षयोपशम में ख्याल आया और उसमें विकल्प है, वह राग की पर्याय है। वह चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है। श्रद्धागुण की दो पर्याय में कोई तीसरी पर्याय तो है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : मिश्र पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिश्र–विश्र नहीं। यह तीसरे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त मिश्र होता है। उसकी यहाँ कहाँ बात है? आहा..हा..! बात तो ऐसी है, भाई! निश्चय और व्यवहार दो का प्ररूपण है। टोडरमलजी ने कहा है न? मोक्षमार्ग दो नहीं, मोक्षमार्ग तो एक ही है परन्तु निश्चयमोक्षमार्ग, जो स्व–आश्रित दर्शन–ज्ञान–चारित्र हुए... निश्चय अर्थात् स्वाश्रित, व्यवहार अर्थात् पराश्रित। उसमें जितना राग बाकी है, पूर्ण वीतराग नहीं तो ऐसी श्रद्धा निमित्तरूप से अनुकूल व्यवहार है, वह गिनकर उसे सम्यग्दर्शन का आरोप किया है। है नहीं। वह तो राग है। समझ में आया? आहा..! अब यह कहे कि चौथे से अकेला व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है, निश्चय नहीं होता। भगवान! भाई! तूने गजब किया। तूने तुझे उड़ा दिया पूरा। तुझे उड़ाकर बात? धन्नालालजी!

अभी ऐसा कहते हैं, शुभयोग... उसमें थोड़ी शुद्धता है, वह सम्यग्दर्शन; राग है, वह बन्ध का कारण है। चौथे गुणस्थान में शुभोपयोग ही होता है, निश्चय नहीं होता। आहा..हा..! यहाँ तो कहते हैं कि भाई! आत्मा का निश्चयस्वरूप वह शुभराग है? वह तो वास्तव में शुद्ध उपयोग है। बाद में उपयोग हट जाये, फिर शुद्धपरिणति है। समझ में आया? शुद्धपरिणति है। आत्मा का निश्चयसम्यग्दर्शन, वह शुद्धपरिणति है, शुद्धपर्याय है और व्यवहारसम्यग्दर्शन, वह अशुद्धपरिणति राग है। गजब... ऐसी बात को पलटा डालते हैं न! शब्द–शब्द में पूरी वस्तु ही गुम हो गयी और मार्ग जैनदर्शन (कहे)। वीतरागभाव से जैनदर्शन होगा या रागभाव से जैनदर्शन होगा?

मुमुक्षु : जैन संस्कृति....

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन संस्कृति रागवाली होगी या जैन संस्कृति वीतरागवाली होगी? जैन संस्कृति, जैन अर्थात् क्या? वह कहीं सम्प्रदाय है? जैन अर्थात् वस्तु का वीतरागस्वभाव है, उसकी संस्कृति–पर्याय में श्रद्धा, ज्ञान प्रगट होना, वह जैन संस्कृति है। दूसरी जैन संस्कृति कौन सी? राग आता है, वह जैन संस्कृति है? बिल्कुल इनकार किया है। १५वीं गाथा (समयसार) **'जो पस्सदि अप्पाणं'** जिसने अपना आत्मा अबद्धस्पृष्ट देखा; कर्म से, राग से अबद्ध है, अस्पृष्ट है, अनन्य एकरूप है, अभेद है, विशेष नहीं, सामान्य है—ऐसी जिसे दृष्टि हुई, अनुभव हुआ, उसने पूरे शासन को देखा। **'पस्सदि जिणसासणं**

सव्वं'। वहाँ तो व्यवहार देखा, उसने शासन देखा, ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? व्यवहार कहीं जैन शासन नहीं है। (समयसार की) १५वीं गाथा में आता है या नहीं?

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥१४॥
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की यह गाथा है, इसका अमृतचन्द्राचार्य ने अर्थ किया है। भगवान आत्मा, कर्म और राग के साथ उसका सम्बन्ध है ही नहीं। ऐसी वस्तु प्रभु की प्रतीति होना, उसका भावश्रुतज्ञान में ज्ञान होना, सामान्य का ज्ञान होना, भेदरहित एकरूपता ज्ञान होना, उसका नाम जैनशासन भगवान कहते हैं। वह जैनशासन तो वीतरागभाव हुआ। भावश्रुतज्ञान का परिणमन, श्रद्धा और स्थिरतासहित हो, उसे जैनशासन कहने में आता है। क्या करे? वहाँ व्यवहार तो डाला ही नहीं कि व्यवहार, वह जैनशासन है। अमरचन्दभाई!

मुमुक्षु : क्यों नहीं डाला?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि राग है। राग, वह जैनशासन किस प्रकार होगा? वीतरागता, वह जैनशासन है। समझ में आया? श्रद्धा में ठिकाना नहीं होता, ज्ञान का ठिकाना नहीं होता और व्रत तथा नियम (ले लो)। कहाँ से व्रत और नियम आये? समझ में आया? भगवान आत्मा निर्विकल्प सहजानन्द की मूर्ति वीतरागस्वरूप है, क्योंकि चारित्रगुण उसका है। जैसे ज्ञानगुण है तो ज्ञायक है, वैसे चारित्रगुण है तो त्रिकाल वीतरागभाव है। उसकी अन्दरस्वरूप में प्रतीति, ज्ञान और रमणता, स्व-आश्रय करना, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं। क्या करे? पूरी बात ही बदल जाती है। यह ऐसा कुछ, बापू! बाहर से मिल जाये, ऐसा नहीं है। बाहर से तो अनन्त काल में बहुत सब किया है। समझ में आया? शुक्ललेश्या। नौवें ग्रैवेयक गया, शुक्ललेश्या। शुक्ललेश्या ऐसी कि चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, ऐसी तो क्षमा की। उसमें क्या आया? अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि-ज्ञान हुए नहीं। उससे पुण्य-बन्ध हुआ और स्वर्ग में गया। वापस गिरा। 'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो, फिर पीछे पटक्यो।' कहो, समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, तीन गुण आत्मस्वरूप है। **सात तत्त्वों का श्रद्धान करना**

व्यवहारसम्यग्दर्शन है,... व्यवहारसम्यग्दर्शन का अर्थ क्या? कि आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प वीतराग प्रतीति हुई, वीतरागरूप पर्याय प्रगट हुई। दर्शनरूप, हों! उसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन, सच्चा सम्यग्दर्शन, यथार्थ सम्यग्दर्शन, वास्तविक सम्यग्दर्शन है। उसके साथ सात तत्त्व की श्रद्धा, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह शुभराग है। निमित्त अनुकूल व्यवहार से देखकर, व्यवहार से, हों! निश्चय से प्रतिकूल है। क्योंकि उस समय सर्वज्ञ की श्रद्धा, देव-गुरु की श्रद्धा अनुकूल निमित्त है न? सर्वज्ञस्वभाव प्रगट हुआ, अन्दर शक्तिरूप प्रतीति हुई। जिसे प्रगट हुआ, उसकी प्रतीति है। वह विकल्प, निश्चय -सम्यग्दर्शन में व्यवहाररूप से अनुकूल गिनकर व्यवहारसमकित कहने में आया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह साधन कहो। साधन कहो या व्यवहार कहो, दोनों एक ही है। व्यवहार से भिन्न साधन-साध्य है। व्यवहार से, यथार्थ में नहीं। आहा..हा..! .....पंचास्तिकाय।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अणवर को कन्या न दे, भाई कहते हैं, बाबूभाई! वर राजा के साथ में अणवर जाये, खाये भले साथ में, अणवर को कन्या न दे। अपने तो ऐसा दृष्टान्त सुना था। समझ में आया? वर और अणवर, दो जाते हैं न? अणवर कहते हैं? क्या कहते हैं? विनायक। गजब भले नाम दे अणवर कहलाये, परन्तु कहीं कन्या उसे देते होंगे? चला जा। इसी प्रकार व्यवहार आदि हों, उसे कहीं उससे मोक्ष मिले? ऐई! न्यालभाई! कहो, समझ में आया? और वह अणवर का दृष्टान्त दिया। कहो, समझ में आया या नहीं? वर हो, वहाँ अणवर कहलाता है। अणवर का अर्थ वास्तव में वह वर नहीं। नो-वर। अण-वर। इसका अर्थ यह है। अण—नहीं, वर। तुम्हारे क्या कहा? विनायक क्यों कहते होंगे? वि-नायक। वह नायक मूल है और यह विनायक।

मैं भी हमारे फावाभाई के (विवाह में) अणवर हुआ था न! संवत् १९६४ के वर्ष में। मैंने कहा, हम तो भगत कहलाते हैं। हम यह लौकिक की बात बहुत गहरी जानते नहीं। फावाभाई का विवाह था न? फावाभाई गुजर गये। फिर बैठे। गाँव का और गाँव में विवाह था। बाहर गाडु आया। गाडु समझे? गाड़ी। मैंने कहा उठाओ। उठाओ नहीं कहा जाता

होगा। अपने को कुछ खबर नहीं। न्यालभाई! वर को उठाओ नहीं कहा जाता। ले जाओ कहा जाता है क्योंकि उठाना तो उन मुर्दों को कहा जाता है। बाबूभाई! यह तो हमारे बना हुआ (प्रसंग है)। उनकी उम्र १४ वर्ष की थी और मेरी थी १८ की। १९६४ के वर्ष की बात है। संवत् १९६४। कुछ नहीं हुआ। फिर तो सब लोग समझ गये। यह तो भगत है। इसकी कोई दिक्कत नहीं, यह चाहे जैसा बोले, इसकी दिक्कत नहीं। समझ में आया? लोगों में तुम उसका बुरा नहीं मानना, भगत है। फिर संवत् १९९६ को मेरे पास नियम लिया। अभी गत वर्ष गुजर गये हैं। उठाओ कहा तो कुछ अपशकुन नहीं हो गया। विवाह करके मर गये, उसके पहले। बाद के विवाह करके मर गये। वह तो आयुष्य (प्रमाण होता है)। उसके साथ उठाओ, न उठाओ का शब्द क्या है? समझ में आया? लोगों ने निकाल दिया। फिर मैं समझ गया कि यह बोला नहीं जाता होगा। अपने को खबर नहीं, उठाओ नहीं कहा जाता होगा। ठीक, कुछ नहीं। जेठालालभाई! वर को उठाओ कहे न? तेड़ो (ले जाओ) कहे। तुम्हारे हिन्दी में क्या कहते हैं? तेड़ो, ऐसी हमारे यहाँ भाषा है। उठाओ नहीं कहा जाता। उठाना तो अर्थी में मुर्दा उठाना हो, तब उठाओ कहा जाता है। अरे! ऐसे के ऐसे भाषावाले। भाषा के वजन पर तोल। यह तो हमारे प्रत्यक्ष दृष्टान्त हुआ। कहा, देखो न! फिर हमारे निकट नियम लिया। बत्तीस वर्ष का विवाह। १९६४ में विवाह और १९९६ में नियम लिया। गत वर्ष गुजर गये। कितने वर्ष हुए। समझ में आया? २६।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं होता, धूल भी नहीं होता,... क्या हो?

यहाँ कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह शुभराग है; मिथ्यात्व नहीं। उस राग को परमार्थ से धर्म माने, निश्चय धर्म माने तो मिथ्यात्व है। समझ में आया? आहा..हा..!

कहते हैं, इन तीन की श्रद्धा, सात तत्त्व और देव-गुरु-शास्त्र। अब (कहते हैं) **तत्त्वों के स्वरूप को जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है,...** भेदरूप। आत्मा का स्वरूप, वह सम्यग्दर्शन। त्रिकाली ज्ञान। यहाँ तत्त्वों का स्वरूप, ऐसी भाषा ली है न? जीव, अजीव आदि अनन्त तत्त्व। जीव है, अनन्त परमाणु हैं, उनका ज्ञान करना। वह उघाड़ / विकास है परन्तु वह परलक्ष्यी विकास है, साथ में राग है, वह भी शुभराग ही है। समझ में आया?

जानना होता है, वह तो ज्ञान का क्षयोपशम है, परन्तु वह क्षयोपशम परलक्ष्यी है, तो साथ में राग है। उस राग को यहाँ सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। अथवा परलक्ष्यी विकास को सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। वास्तव में परलक्ष्यी ज्ञान बन्ध का ही कारण है। आहा..हा..! ऐई!

मुमुक्षु : ज्ञान बन्ध का कारण?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परलक्ष्यी ज्ञान है, वह बन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं।

मुमुक्षु : ज्ञान बन्ध का कारण होता ही नहीं, ऐसा आप कहते हो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दूसरी अपेक्षा से बात है। विपरीतता हो, अकेला पर प्रकाश में ज्ञान गया, स्व में आया नहीं। इस अपेक्षा से विपरीतपना गिनकर बन्ध का कारण है। बाकी उघाड़ अंश है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? मिथ्याज्ञान बन्ध का कारण, तीन सामने लिये हैं। श्लोकवार्तिक में। जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है; वैसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र बन्ध का मार्ग है। तीनों ले लिये। समझ में आया? तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में बहुत स्पष्ट किया है। यह तो एकदम स्पष्ट दीपक जैसी बात है। सन्तों ने मार्ग सरल कर दिया है। दिगम्बर मुनि, सन्तों ने तो मार्ग सनातन सत्य आत्मा का (मार्ग) ऐसा स्पष्ट कर दिया है कि उसमें कहीं गड़बड़ है ही नहीं। कहो, समझ में आया?

तत्त्वों के स्वरूप को जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है,... देखो! व्यवहार, हों! पराश्रित है। व्यवहार है, उतना पराश्रित है। तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान, वह पराश्रित हुआ; स्वाश्रित नहीं। स्वाश्रित है, वह मोक्ष का मार्ग है; पराश्रित है, वह वास्तव में मार्ग नहीं परन्तु निमित्त देखकर व्यवहार से सम्यग्ज्ञान कहने में आया है।

अब तीसरा, **अशुभ क्रियाओं से प्रवृत्ति हटाकर...** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानी की बात चलती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अपने स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान हुए, उसमें आगे जाकर अशुभपरिणति से रुककर शुभपरिणति में प्रवृत्ति (होना)। अशुभभाव का त्याग और शुभभाव की प्रवृत्ति। समझ में आया? **हटाकर शुभ क्रिया में प्रवृत्ति करना व्यवहार –सम्यक्चारित्र है।** शुभ प्रवृत्ति को व्यवहारचारित्र कहा। स्वरूप में रमणता को निश्चयचारित्र कहा। व्यवहार निमित्त देखकर कहा है। व्यवहारचारित्र पराश्रित, बन्ध का कारण है।

व्यवहार अणुव्रत और महाव्रत... निश्चय अणुव्रत, महाव्रत तो स्वरूप में लीनता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, आत्मा के भान और प्रतीतिसहित, स्वरूप में शान्ति का होना और स्थिरता होना, वह निश्चय अणुव्रत और महाव्रत है तथा साथ में जो बारह अणुव्रत का विकल्प उठता है, और मुनि को अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प उठते हैं, वे व्यवहारव्रत हैं। वह पराश्रित है, बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : ....महाव्रत कहलाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, निश्चयमहाव्रत स्वरूप में स्थिरता, वह महाव्रत है। सब आया है, वहाँ आया है। द्रव्यसंग्रह में स्पष्टीकरण किया है। भेद नहीं लिये ? संवर के भेद लिये हैं न वहाँ ? टीका में सब स्पष्ट लिया है। सोमचन्दभाई ने पहला प्रश्न यही किया था न ? (संवत्) १९९३ में। यह (महाव्रत) ? तो क्या है ? कहा, स्थिरता हो, वहाँ भेद हो उसे व्यवहार कहा है। अन्दर में जो स्थिरता जम जाये, स्वरूप में रमणता, वही शान्ति और वही वीतरागता और मोक्षमार्ग है, वीतरागमार्ग है। बीच में अणुव्रत, महाव्रत आते हैं, कहा न ? पंचम गुणस्थान में बारह अणुव्रत के विकल्प निमित्त हैं, परन्तु उन्हें शासन नहीं कहा। देखो ! १५वीं गाथा में उन्हें शासन (जैनशासन) नहीं कहा। क्योंकि राग है। धन्नालालजी ! समझ में आया ? जैनशासन तो वीतरागी दृष्टि और वीतराग का ज्ञान और वीतराग उपयोग से स्थिर होना, वह शासन। आहा..हा.. ! उसमें राग आता है, उसे व्यवहार से जैनशासन कहो, व्यवहार से अर्थात् उपचार से, पराश्रित से। वस्तु (वास्तव में) नहीं है। आहा..हा.. ! ये चिल्लाने लगते हैं। अरे ! सोनगढ़ में तो अणुव्रत और महाव्रत का त्याग करते हैं। परन्तु यह तो विकल्प है, भगवान ! तुझे खबर नहीं, बापू ! तुझे नुकसानकारक है। उनका त्याग श्रद्धा में न हो तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा नहीं। इसके लिये यह बात है। समझ में आया ? कुन्दकुन्दाचार्य ने अट्ठाईस मूलगुण क्यों पाले थे ? यदि वे व्रत त्याज्य हों तो (क्यों पाले) ? पाले अर्थात् बीच में आते हैं, उनका आदर नहीं है। उल्लंघकर स्वरूप में जाते हैं, उसे चारित्र कहते हैं।

मुमुक्षु : बीच में आते हैं, उसे पालते हैं - ऐसा कहा जाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पालते हैं, ऐसा कहा जाता है। व्यवहारनय से पालते हैं, ऐसा कहा जाता है। अशुभ नहीं, अशुभ छूटा है, इसलिए शुभ व्यवहार से पालते हैं, ऐसा कहा

जाता है। निश्चयनय में यह तो उनका जाननेवाला ही है। व्यवहार आदि के विकल्प होते हैं; नहीं होते, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? वे इसी प्रकार के ही होते हैं, भगवान ने कहे वैसे। मुनि को आत्मदर्शन, ज्ञान, चारित्र अन्दर का निश्चय हुआ हो तो उसे अट्ठाईस मूलगुण के ही विकल्प होते हैं। उसे वस्त्र ग्रहण का, पात्र ग्रहण का, उसके लिये बनाया हुआ आहार लेने का विकल्प होता ही नहीं। यह तो भूमिका की दशा ही ऐसी है। यह सहज वस्तु का स्वभाव है, वह कहीं कृत्रिम नहीं है। भगवान ने कहा कि ऐसा... ऐसा नहीं, उसमें ऐसा ही होता है। समझ में आया ?

कहते हैं, **यह व्यवहाररत्नत्रय हुए। आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना निश्चय – सम्यग्दर्शन,...** विशेष स्पष्टीकरण है। **आत्मज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान,...** अब देखो, तीसरा अर्थ किया। **आत्मस्वरूप में परिणमन निश्चयसम्यक्चारित्र है।** उसमें स्थिति कहा था। परिणमन, तो परिणमन पर्याय आयी। द्रव्यस्वरूप शुद्ध चैतन्य में दर्शन–ज्ञानसहित परिणमन करना, स्थिरता करना, आनन्द में लीन होना, उसका नाम भगवान सच्चा चारित्र कहते हैं। **आत्मस्वरूप में परिणमन निश्चयसम्यक्चारित्र है।** कहो, समझ में आया ? यह छठवें गुणस्थान से तीनों शुरु होते हैं और चौथे गुणस्थान में भी आंशिक शुरु होते हैं। दर्शन–ज्ञान–चारित्र अनुभव में तीनों आ जाते हैं। दर्शन–ज्ञान और चारित्र। स्वरूपाचरणदशा चौथे से उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्वरूपाचरण स्थिरता, अनन्तानुबन्धी के अभावमात्र की। इतनी दशा का अंश तो चौथे गुणस्थान में शुरु होता है। उसे ही वहाँ से मोक्षमार्ग कहा है। चारित्र पूर्ण नहीं है, इस अपेक्षा से उसे उपचार मोक्षमार्ग कहा है। उपचार का अर्थ मोक्षमार्ग नहीं, ऐसा नहीं परन्तु वह चारित्र साथ में पूर्ण नहीं, चारित्र साथ में नहीं तो उसे उपचार कहने में आया है। उपचार अर्थात् खोटा है, ऐसा नहीं भाई!

वे कहते हैं टोडरमलजी ने चौथे में उपचार मोक्षमार्ग कहा है। क्या करना है तुझे ? आहा..! अपना भगवान है, उसका तो आश्रय लेने की तुझे महिमा ही नहीं होती और पर का आश्रय–सहारा लेकर हम आगे बढ़ते हैं। परन्तु मर जायेगा इसमें। कहो, समझ में आया ? भगवान पूरा चिदानन्द भगवान विराजता है, परमात्मस्वरूप ही है। उसके आश्रय से तुझे लाभ मानना रुचता नहीं और पर का आश्रय आवे वहाँ कहे, हाँ! इसका अर्थ क्या होता है ? पर के आधीन होकर भाव हो, वह तुझे मुक्ति का मार्ग होगा ? समझ में आया ?

ज्ञान घट गया, पहिचान घट गयी, वास्तविक तत्त्व का क्या स्वरूप है, वह सब (घट गया)। इसलिए यह लोगों को गड़बड़ हो गयी। मुश्किल से जहाँ आया वहाँ (कहने लगे), यह निश्चय है, वह लोप हो जायेगा। भाई! निश्चय अर्थात् सच्चा। व्यवहार अर्थात् उपचार। उपचार का विषय नहीं, ऐसा नहीं है परन्तु जो वस्तु कहता है कि यह व्यवहार सम्यग्दर्शन, वह नहीं, वह उपचार है। तब कुछ है या नहीं? है न, राग है। व्यवहारनय का विषय नहीं, ऐसा नहीं। नय है तो नयज्ञान है, तो ज्ञान का विषय ज्ञेय न हो? परन्तु जो ज्ञेय व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं, वह ज्ञेय वैसा नहीं है। सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, व्यवहार-राग है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। पोपटभाई! पढ़े हुए को बड़ी दिक्कत आती है। 'शास्त्रेवादम भयं, गुणे.... भयं।' शास्त्र पढ़े हों, उन्हें वाद आवे। भगवान! इसमें वाद नहीं, भाई! आहा..हा..! तेरी चीज़ है न अन्दर! तुझे तेरा भरोसा करने के लिये कहते हैं। तो (तू कहता है), नहीं, नहीं, यह नहीं, यह नहीं। इससे होगा, इससे होगा, किसके भरोसे मेरा भरोसा आयेगा। यह तुझे रुचता कैसे है?

अनन्त काल में मुश्किल से ऐसा मनुष्यपना (मिला)। उसमें भी यह जैनदर्शन और उसमें सत्यवाणी सुनने का योग आ गया, वहाँ से यदि वापिस हटा तो कहीं पता नहीं मिलेगा। समझ में आया? आहा..हा..! देखो न! यह हरितकाय निकली है, हरितकाय का ढेर पड़ा है। एक निगोद के... तो पूरा ढाई द्वीप भर जाये। यह सब वहाँ मरे, वहाँ उपजे, वहाँ मरे, वहाँ उपजे। अरे! भाई! तेरी स्थिति मिथ्यादर्शन के कारण, मिथ्याश्रद्धा के कारण स्वरूप के भान बिना कौन-कौन सी दशायें तुझे हुई और कौन-कौन सी दशा में श्रद्धा सच्ची नहीं करे तो होगी, बापू! इसका पता नहीं लगेगा। समझ में आया? यह सब कितने ढेर पड़े हैं न? लड़के को कहे, बापू! इसमें मैं अवतरित हुआ होऊंगा या नहीं? हाँ, अनन्त बार अवतरित हुआ है, भाई! इसमें अनन्त बार गया है। समझ में आया? क्योंकि वस्तु के स्वरूप का इसे माहात्म्य आया नहीं। पर के माहात्म्य में तो परवस्तु का संयोग मिलेगा। संयोगी का माहात्म्य, वह संयोग देगा। स्वभाव का माहात्म्य, वह संयोग के अभाव-स्वभाव को देगा। समझ में आया? ऐसी वस्तुस्थिति है। प्रत्यक्ष है। इसमें कहीं... ओहो..!

कहते हैं **आत्मस्वरूप में परिणमन करना निश्चयसम्यक्चारित्र है।** यह महाव्रतादि तो व्यवहारचारित्र है। अर्थात् वास्तविक चारित्र नहीं। उसे है अवश्य, आते हैं; नहीं आते,

ऐसा नहीं। छठे गुणस्थान में; पाँचवें गुणस्थान में बारह व्रत का विकल्प आता है परन्तु है वह बन्ध का कारण। किन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं, इसलिए बन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। कहलाता है मोक्ष का कारण; है बन्ध का कारण। व्यवहार से मोक्ष का कारण, वह निश्चय से बन्ध का कारण है। आहा..हा..!

वह जीव को कर्मों से छुड़ाने का कारण है... कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा अन्तर शुद्ध चैतन्य प्रभु के आश्रय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र हो, वह तो कर्मों से छूटने का कारण है। **परन्तु कर्मबन्ध का कारण नहीं है।**

गाथा - २१७

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों के भी बन्ध का कर्त्ता नहीं है, यह बात अब बताते हैं:-

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय।।२१७।।

सम्यक्त्व चारित्र से तीर्थंकर, कर्म आहारक बँधें।
यह जो जिनागम वचन, हेतु दोष नहिं नयविज्ञ के।।२१७।।

अन्वयार्थ : (अपि) और (तीर्थकराहारकर्म्मणाः) तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक प्रकृति का (यः) जो (बन्धः) बन्ध (सम्यक्त्वचरित्राभ्यां) सम्यक्त्व और चारित्र से (समये) आगम में (उपदिष्टः) कहा गया है, (सः) वह (अपि) भी (नयविदां) नय के ज्ञाताओं को (दोषाय) दोष का कारण (न) नहीं है।

टीका : 'सम्यक्त्व चरित्राभ्यां तीर्थकराहार कर्मणः बन्धः (भवति) यः अपि समयं उपदिष्टः सः अपि नयविदां दोषाय न भवति'। - अर्थः- सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थंकर-प्रकृति और आहारक-प्रकृति का बन्ध होता है, ऐसा जो सिद्धान्त में उपदेश है, वह भी अनेक नय के वेत्ता विवेकी जिनधर्मी पुरुषों के समक्ष दोष अर्थात् विरोध उत्पन्न नहीं करता।

भावार्थ : सम्यक्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् ही तीर्थंकरनामकर्म की प्रकृति का

बन्ध तथा सम्यक्चारित्र होने के पश्चात् ही आहारकप्रकृति का बन्ध होता है, तो जो ऐसा कथन है कि रत्नत्रय तो कर्म का बन्ध करनेवाला नहीं है, वह कैसे?।।२१७।।

गाथा २१७ पर प्रवचन

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों के भी बन्ध का कर्त्ता नहीं है, यह बात अब बताते हैं:- कोई कहता है कि सम्यग्दर्शन होने के बाद ही तीर्थंकरगोत्र की प्रकृति का बन्ध पड़ता है, मिथ्यात्व में नहीं। क्या कहते हैं? तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। जब सम्यग्दर्शन आत्मा का भान होने के बाद किसी को तीर्थंकरप्रकृति के परिणाम आते हैं तो प्रकृति का बन्ध पड़ता है। मुनि होने के बाद कोई आहारकशरीर बाँधने के परिणाम होते हैं। आहारक शरीर का बन्ध पड़ता है। आहारक शरीर का बन्ध मिथ्यात्व में नहीं पड़ता, चौथे (गुणस्थान में) भी नहीं पड़ता। समझ में आया? कहते हैं कि जब सम्यग्दर्शन के बाद तीर्थंकरगोत्र का बन्ध होता है तो उस बन्ध में सम्यग्दर्शन कारण है या नहीं? और मुनि हुए, जहाँ आत्मदर्शन, ज्ञान और चारित्र में लीनता है, उसे यहाँ आहारकशरीर का बन्ध होता है, उसका चारित्र आहारक बन्ध का (कारण) है या नहीं? समझ में आया? पहले तो बन्ध पड़ता नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्व में तीर्थंकरप्रकृति नहीं बँधती, चारित्र के बिना आहारकशरीर का बन्धन नहीं होता, तो फिर वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसका कारण है या नहीं? कि नहीं। समझ में आया? यह सिद्ध करते हैं।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय।।२१७।।

टीका : 'सम्यक्त्व चरित्राभ्यां तीर्थकराहार कर्मणः बन्धः (भवति) यः अपि समयं उपदिष्टः सः अपि नयविदां दोषाय न भवति'।-अर्थः-सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से... दोनों लिये। सम्यग्दर्शन से तीर्थंकर प्रकृति और सम्यक्चारित्र से **आहारक-प्रकृति का बन्ध होता है, ऐसा जो शास्त्र में उपदेश है...** देखो! क्या कहा? सम्यग्दर्शन से तीर्थंकरप्रकृति बँधती है। श्रेणिक राजा। सुना है या नहीं? श्रेणिक

राजा। पहले तो सातवें नरक का आयुष्य बँध गया था, फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ। स्थिति घट गयी। तैंतीस सागर में से चौरासी हजार की रह गयी। पहले नरक में है। फिर तीर्थंकरगोत्र बाँधा। सम्यग्दर्शन के बाद तीर्थंकरगोत्र बाँधा। अत: सम्यग्दर्शन बन्ध में कारण है या नहीं? समझ में आया? फूलचन्दजी! समझ में आया या नहीं? थोड़ा-थोड़ा।

मुमुक्षु : गरम घी...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, गरम तो आग है। आहारकप्रकृति का बन्ध पड़ता है, ऐसा शास्त्र में उपदेश है।

उसमें भी नय विवक्षा जाननेवालों को दोष अर्थात् विरोध ज्ञात नहीं होता। यह व्यवहारनय से कहा है। सम्यग्दर्शन कभी तीन काल में बन्ध का कारण नहीं है। आहा..हा..! यह तो पहले आ गया न? योग और कषाय बन्ध के कारण हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, योग और कषायरूप नहीं। बराबर है? भगवान आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निर्विकारी पर्याय है, वह पर्याय है, वह योग और कषाय विकारीरूप नहीं; और बन्ध का कारण तो योग और कषाय है। आहा...! दोनों वस्तुयें भिन्न हैं।

सराग समकित कहते हैं। सराग समकित का अर्थ क्या? क्या समकित सराग है? समकित तो नीरागी, अरागी है। राग देखकर समकित को सराग; राग चारित्र देखकर कहा है। है नहीं। सम्यग्दर्शन तो वीतरागी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार यहाँ तीर्थंकरप्रकृति समकिती बाँधता है। शास्त्र में क्या आता है? समकिती तीर्थंकरगोत्र बाँधता है। श्रेणिक राजा ने बाँधी है। अभी पहले नरक में हैं। वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होंगे। समझ में आया? चारित्र नहीं था, पंचम गुणस्थान नहीं था, छठवाँ गुणस्थान नहीं था। चौथे गुणस्थान में तीर्थंकरगोत्र बँधा। क्या समकित से बँधा है? नहीं। समकित तो संवर, निर्जरा का ही कारण है। सम्यग्दर्शन तो संवर, निर्जरा का ही कारण है। साथ में योग और कषाय से तीर्थंकरगोत्र बँध गया है। बँध गया तो क्या? वह तो ज्ञेय है। सम्यग्दृष्टि को भी तीर्थंकरगोत्र के परिणाम होते हैं, उन्हें अपने रूप स्वीकार नहीं करता। समझ में आया? वह राग है। सोलह कारण भावना आती है या नहीं? सोलह कारण भावना भाये... क्या आता है दूसरा? सोलह, तीर्थंकर पद पाये... परम गुरु होय। प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। आहा..हा..! अपने को तीर्थंकरगोत्र आ जायेगा। भाई!

मुमुक्षु : जो माँगता है, उसे नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : माँगे... परन्तु हो कहाँ से? सम्यग्दर्शन के बिना ऐसा विकल्प आता ही नहीं। सम्यग्दर्शन आत्मा के अनुभव बिना ऐसा विकल्प आता नहीं। यह द्रव्य ही अनादि का उस प्रकार का होता है, उसे यह विकल्प आता है। लाता है? आता है कि मैं ऐसा विकल्प लाऊँ? उस द्रव्य की योग्यता (ऐसी है)। चारित्रगुण की पर्याय में उस समय ऐसे ही परिणाम होने के योग्य हैं, परन्तु है हेयबुद्धि।

मुमुक्षु : सभी द्रव्यों में कहीं ऐसी योग्यता नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होती। समझ में आया?

कहते हैं, सम्यग्दर्शन से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, यह नय विवक्षा से कहा है। उस भूमिका में बँधा तो कहा। यथार्थ में बन्ध का कारण (विकल्प) है। चारित्र को भी कहा, आहारकशरीर के बन्ध का कारण है। व्यवहार से कहा है, परमार्थ से नहीं। विशेष बात कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - २१८

उसे स्पष्ट कहते हैं:-

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवत:।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्।।२१८।।

सम्यक्त्व चारित्रवान के ही, बँधें योग कषाय से।
ही तीर्थंकर आहारद्विक, नहिं हों बँधे नहिं राध से।।२१८।।

अन्वयार्थ : (यस्मिन्) जिसमें **(सम्यक्त्वचरित्रेसति)** सम्यक्त्व और चारित्र होने पर **(तीर्थकराहारबन्धकौ)** तीर्थंकर और आहारकद्विक के बन्ध करनेवाले **(योगकषायौ)** योग और कषाय **(भवत:)** होते हैं **(पुन:)** और **(असति न)** नहीं होने पर नहीं होते, अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र बिना, बन्ध के कर्त्ता योग और कषाय नहीं होते **(तत्)** वह सम्यक्त्व और चारित्र **(अस्मिन्)** इस बन्ध में **(उदासीनम्)** उदासीन हैं।

टीका : 'सम्यक्त्व चरित्रे सति योगकषायौ बन्धकौ: भवत: तस्मात् तत्पुन: अस्मिन् उदासीनम्।' -अर्थ:- सम्यक्त्व और चारित्र के प्रगट होने पर ही मन, वचन, काय के योग तथा अनन्तानुबन्धी को छोड़कर शेष तीन कषायों की उपस्थिति में तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध होता है। अत: रत्नत्रय है, वह तो बन्धक नहीं है, बन्ध में उदासीन है। (तीर्थंकर का बन्ध तो योग, तीन चौकड़ी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन तथा नव नोकषाय में होता है और आहारकद्विक का बन्ध योग, संज्वलन कषाय तथा नोकषाय में होता है, फिर भी वह सम्यक्त्व और चारित्र इस बन्ध में उदासीन है अर्थात् रागरूप नहीं है।)

भावार्थ : जब आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रगुण प्रगट नहीं था, तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता था और जब एकदेश सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया, तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है, इससे सिद्ध हुआ कि कर्मों का बन्ध करने में कारण योग-कषायों का सद्भाव है और कर्मों के अबन्ध में कारण योग्य-कषायों का असद्भाव है।।२१८।।

प्रवचन नं. ८७ गाथा-२१८ से २२० शनिवार, श्रावण शुक्ल ७, दिनांक १२.०८.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है, इसमें २१७ गाथा चली है। २१८। क्या चलता है? देखो! प्रश्न ऐसा है कि यह आत्मा... पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है न? पुरुषार्थ-पुरुष अर्थात् आत्मा, उसकी सिद्धि - मुक्ति का उपाय। आत्मा की (सिद्धि का) उपाय क्या? सम्यग्दर्शन -ज्ञान और चारित्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्या है? अपना शुद्ध स्वरूप पवित्र के सन्मुख अपनी दृष्टि का होना और स्वभावसन्मुख का आत्मा का ज्ञान होना और आत्मा के आश्रय से स्वरूप स्थिरता होना, वही तीन रत्नत्रय मोक्ष का उपाय है। तब प्रश्न हुआ कि यदि रत्नत्रय मोक्ष का कारण है तो यह बन्ध का कारण कौन है? रत्नत्रय कर्म का बन्ध करनेवाला नहीं है, इसका स्पष्टीकरण (करते हैं)। क्योंकि जब सम्यग्दर्शन होने के बाद ही तीर्थंकर गोत्र बँधता है और सम्यक्‌चारित्र होने के बाद ही आहारक प्रकृति बँधती है तो यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का भाग इसमें आया? इसके बिना बन्ध पड़ता नहीं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन और चारित्र के बिना तो तीर्थंकरगोत्र और आहारकशरीर का बन्ध नहीं होता। अत: वह कारण हुआ। पहले क्यों नहीं बँधा? सम्यक् आत्मा का भान हुआ और स्वरूप में स्थिरता हुई, उस समय ही तीर्थंकरप्रकृति का और आहारकशरीर का बन्ध होता है तो उसका कारण क्या है? वह कहते हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवत:।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्।।२१८।।

सम्यक्त्व और चारित्र के प्रगट होने पर ही.. आत्मा में सम्यग्दर्शन-आत्मदृष्टि, अनुभव सम्यक् का होने के बाद ही तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध पड़ता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन से नहीं। समझ में आया? अभी कितने ही कहते हैं कि मोक्षमार्ग है, वह अनेकान्त है। मोक्षमार्ग है, वह कथंचित् बन्धमार्ग है और शुभोपयोग है, वह कथंचित् अबन्धमार्ग भी है तो अनेकान्त होता है, नहीं तो अनेकान्त नहीं होता। समझ में आया? ऐसा चला है, बहुत बार बात हो गयी है। क्यों? देवीलालजी! कहते हैं कि अनेकान्त कब होगा? कि जो मोक्ष का मार्ग आत्मा का दर्शन-ज्ञान और चारित्र है, उससे भी कथंचित् बन्ध शास्त्र में कहा है...

दोनों पाठ आये हैं और शुभोपयोग भी थोड़ा संवर, निर्जरा और शुद्धता होती है। ऐसा कहते हैं, इस बात का यहाँ निषेध करते हैं कि ऐसा नहीं है।

एक क्षण में जब तक वीतरागता न हो, तब तक ज्ञानधारा और रागधारा एक समय में दोनों साथ रहती हैं। समझ में आया? ज्ञानधारा का अर्थ कि आत्मा चैतन्य प्रभु, अपने शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, वह ज्ञानधारा है। ज्ञानधारा का अर्थ (कि) उसमें राग नहीं है और जब तक ज्ञानधारा पूर्ण न हो, तब तक राग भाग साथ में होता है। राग भाग है, वही बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया? सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग बन्ध का कारण है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आत्मा की दृष्टि हुई, आत्मा का ज्ञान हुआ और स्थिरता हुई, वह तो मुक्ति अर्थात् संवर, निर्जरा का ही कारण है परन्तु साथ में शुभोपयोग रहता है, वह कोई कहते हैं कि शुभोपयोग में किंचित् संवर-निर्जरा है।

मुमुक्षु : कितनी....

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं। ऐई... धन्नालालजी!

मुमुक्षु : .....साथ में सम्यग्दर्शन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ में है, वह अलग बात है। तो क्या है? दृष्टान्त देंगे।

कहते हैं **योग तथा कषाय तीर्थंकर और आहारक का बन्ध करनेवाले होते हैं...** देखो! भगवान आत्मा अपने निज आश्रय से जितना ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रगट किया है, वह तो संवर, निर्जरा ही है अथवा संवर, निर्जरा कहो या मोक्ष का कारण कहो, मार्ग कहो। साथ में योग, कषाय, यह शब्द लिया है। अन्त में शुभोपयोग कहेंगे। अन्दर कम्पन है, उसके साथ में शुभ प्रकृति है। समझ में आया? दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, अपवास आदि के जो विकल्प उठते हैं, वह प्रवृत्ति है। समझ में आया? वह प्रवृत्ति योग-कषायरूप है। उससे संवर-निर्जरा नहीं होती। कहो, समझ में आया?

योग तथा कषाय तीर्थंकर और आहारक का बन्ध करनेवाले होते हैं। इसलिए रत्नत्रय तो प्रकृतियों का बन्ध करने में उदासीन है... देखो, उदासीन है। अपना शुद्ध भगवान आत्मा, उसका दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो रत्नत्रय है, वह बन्ध करने में उदासीन है। समझ में आया? वह बन्ध का कर्ता नहीं है।

भावार्थ : जब आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रगुण प्रगट नहीं होता...

अब सिद्धान्त कहते हैं। **तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता ही है...** जब आत्मा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग प्रगट नहीं होता, तब भी बन्ध तो होता है, तो बन्ध का कारण क्या? समझ में आया? **और जब एकदेश प्रगट हो जाते हैं...** देखो, एकदेश कहा। आत्मा में सम्पूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान, चारित्र प्रगट हो जाये तो फिर राग साथ में नहीं रहता। एकदेश लिया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकदेश भाग। सम्यग्दर्शन तो पूर्ण होता है। सम्यग्ज्ञान भी अपूर्ण होता है और चारित्र भी अपूर्ण होता है। जब तक छठवें-सातवें में चारित्र की मन्दता है, चारित्र का एक अंश शुद्ध है, एकदेश भाग शुद्ध है। समझ में आया? कितने ही कहते हैं न कि समकिती का शुभोपयोग मोक्ष का कारण है, मिथ्यादृष्टि का शुभयोग बन्ध का कारण है। उसका स्पष्टीकरण करते हैं। बड़े-बड़े पण्डित पढ़े परन्तु यह बातें करते हैं। समझ में आया?

कहते हैं **आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है, इससे सिद्ध हुआ कि कर्मों का बन्ध करने में कारण योग-कषायों का सद्भाव है और कर्मों के अबन्ध में कारण योग-कषायों का असद्भाव है।** आत्मा में जितने कम्पन और शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं, वही बन्ध का कारण है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि के शुभभाव, बन्ध का ही कारण हैं।

मुमुक्षु : सातिशय पुण्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सातिशय पुण्य का क्या अर्थ?

मुमुक्षु : ले जाये मोक्ष में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य मोक्ष में ले जाता होगा? सातिशय का अर्थ वह शुद्धता में चढ़ता है, तब शुभभाव होता है, उसे सातिशय कहते हैं, परन्तु वह तो अपने शुद्ध के कारण चढ़ता है, उसमें वह निमित्त है, वह छूट जायेगा, शुभभाव छूट जायेगा। अज्ञानी को अकेला पुण्य बँधता है, वह छूटेगा नहीं। इस अपेक्षा से सातिशय पुण्य कहा गया है। कहो, धन्नालालजी! जहाँ हो, वहाँ कुछ लगाये। कुछ पुण्य.. पुण्य.. इसलिए तो यह स्पष्टीकरण करते हैं। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय - आत्मा की मुक्ति का उपाय, वह बन्ध का कारण नहीं और जो योग, कषाय बन्ध का कारण है, उसमें किंचित् संवर, निर्जरा का कारण नहीं है। बात ऐसी स्पष्ट है। अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि, जिन्होंने समयसार, प्रवचनसार,

पंचास्तिकाय की टीका बनायी है। यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय उन्होंने बनाया है। तत्त्वार्थसार भी उन्होंने बनाया है। स्पष्ट कहते हैं।

जब ज्ञानधारा शुद्ध चैतन्यस्वरूप की अन्तर्दृष्टि, ज्ञान और जितनी लीनता स्वाश्रय में होती है, वह तो छूटने का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है और साथ में जितनी प्रवृत्ति के परिणाम हैं—दया, दान, व्रत, शील, संयम, तप, पूजा, भक्ति, यात्रा, ऐसे जो भाव हैं, वह बन्ध ही का कारण है, पुण्य–बन्ध का कारण है। उसमें किंचित् भी संवर–निर्जरा नहीं होती। कहो, जेठालालभाई! है न इसमें? देखो!

इससे सिद्ध हुआ कि कर्मों का बन्ध करने में कारण योग–कषायों का सद्भाव है और कर्मों के अबन्ध में कारण योग–कषायों का असद्भाव है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, वह योग–कषाय के अभावरूप हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन ज्ञान–चारित्र जो है, पवित्र आत्मा का दर्शन, ज्ञान है, वह तो योग–कषाय का अभाव है। योग–कषाय के अभावरूप बन्ध का कारण नहीं है। योग–कषाय बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को शुद्धपरिणति तो होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होती है, शुद्धपरिणति कहा न? यह क्या कहलाता है? शुद्धपरिणति है, वह संवर–निर्जरा का कारण है। यह बात तो चलती है। क्या कहा? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहो या शुद्ध परिणति कहो। समझ में आया? साथ में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वह शुभपरिणति, शुभोपयोग है, शुभराग है।

मुमुक्षु : शुभ है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभ अर्थात् भला–फला की बात कहाँ है? समझ में आया? व्यवहार से कहे अशुभ की अपेक्षा से। बन्ध का कारण है, वह आत्मा को लाभ का कारण किंचित् नहीं होता। बन्ध का कारण है, वह स्वाश्रय में बिल्कुल लाभदायक नहीं है। पराश्रय का भाव, वह बिल्कुल बन्ध का कारण है। चाहे तो सम्यग्दृष्टि को हो या चाहे तो मिथ्यादृष्टि को हो, समझ में आया? किसी में अपवाद नहीं कि सम्यग्दृष्टि के योग, कषाय से संवर–निर्जरा है। वह है ही नहीं। शुद्ध परिणति, अपने आत्मा के अवलम्बन से जो श्रद्धा–ज्ञान और शान्ति रमणता, अराग–स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुए हैं, वही परिणति संवर, निर्जरारूप है। वही परिणति मोक्ष का मार्ग है। कहो, समझ में आया?

गाथा - २१९

शंका :- यदि ऐसा है तो सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध का कारण क्यों कहा?

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्।।२१९।।

नित रत्नत्रययुत मुनिवरों के, बँधें जग प्रसिद्ध यह।
देवायु आदि सत् प्रकृतिआँ, सिद्ध कैसे? प्रश्न यह।।२१९।।

अन्वयार्थ : (ननु) शंका-कोई पुरुष शंका करता है कि (रत्नत्रयधारिणां) रत्नत्रय के धारक (मुनिवराणां) श्रेष्ठ मुनियों को (सकलजनसुप्रसिद्धः) सर्व लोक में भले प्रकार प्रसिद्ध (देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः) देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बन्ध (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (कथम्) किस तरह (सिद्ध्यति) सिद्ध होगा।

टीका : 'ननु रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां सकलजनसुप्रसिद्धः देवायुः प्रभृति-सत्प्रकृतिबन्धः एवं कथम् सिद्ध्यति।' -अर्थः- यहाँ कोई शंका करे कि रत्नत्रय के धारक मुनिवरों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह कैसे सिद्ध होगा?

भावार्थ : यहाँ कोई शंका करता है कि हे स्वामी! पहले आपने कहा है कि तीर्थंकर प्रकृति और आहारकद्विक का बन्ध योग और कषायों से होता है, यह बात तो मेरी समझ में आ गई परन्तु रत्नत्रय के धारक मुनियों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह किस प्रकार से सिद्ध होगा?।।२१९।।

गाथा २१९ पर प्रवचन

शंका :- यदि ऐसा है तो सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध का कारण क्यों कहा? तत्त्वार्थसूत्र में कहा है, सराग संयम देवायु के बन्ध का कारण है। कहो, आता है न? तत्त्वार्थसूत्र में आता है। समझ में आया? इसलिए दोनों लिये हैं। यह और तीर्थंकर गोत्र

लिया, और समकित के, चार बोल लेंगे। **सम्यक्त्वं च** आता है न? समकित भी आयुष्य के बन्ध का कारण आता है। बहुत दृष्टान्त भी यही देते हैं, देखो! समकित को बन्ध का कारण कहा है। इसलिए कथंचित् मोक्षमार्ग बन्ध का कारण है, कथंचित् निर्जरा का कारण है और शुभराग कथंचित् बन्ध का कारण है। शुभोपयोग समकिती का, हों! कथंचित् संवर–निर्जरा का कारण है। समझ में आया? अभी बड़ी गड़बड़ (चलती है) ऐसी तो अनादि की है परन्तु अभी जरा यहाँ का स्पष्ट आया, इसलिए सामने अधिक विपरीत पड़ा। अमरचन्दभाई! ऐसा कहते हैं, हों! अभी बाहर समाचार पत्र में बहुत आता है। शास्त्र में भी देवायु के बन्ध का कारण तो चारित्र को कहा है। सराग संयम। कहो, समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को ही देवायु का बन्ध पड़ता है, तो सम्यग्दृष्टि बिना भले पड़े परन्तु शास्त्र में ऐसा लिया है कि समकिती को वैमानिक आयुष्य का ही बन्ध है। समकिती को नरक का आयुष्य नहीं बँधता, पशु का नहीं बँधता, स्त्री योनि में नहीं जाता। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में नहीं जाता। वे प्रश्न करते थे न? समझ में आया?

आत्मदर्शन होने के बाद स्त्री का बन्ध नहीं पड़ता, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष का भी बन्ध नहीं पड़ता। नरक के, पशु के आयुष्य का बन्ध नहीं (पड़ता है)। समझ में आया? इतनी सम्यग्दर्शन की महिमा है। युद्ध भी करता हो, विषयवासना में हो, तब आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ेगा। क्या कहा? युद्ध के अशुभपरिणाम में हो, विषयवासना के अशुभपरिणाम में सम्यग्दृष्टि हो, उस समय आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ता। उस समय आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ता। जब आयुष्य का बन्ध पड़ेगा, तब शुभभाव होंगे, तब बन्ध पड़ेगा। इतना सम्यग्दर्शन का जोर है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....ऐसा द्वेषभाव होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न ही नहीं। सम्यक्त्व के पश्चात् नरक का आयुष्य बँधता ही नहीं। यह बात हो गयी न! यहाँ तो किस भूमिका में बन्ध होता है, यह बात है। सम्यग्दर्शन में... यहाँ सम्यग्दर्शन में... सम्यग्दर्शन है, युद्ध में है। अशुभभाव है तो भी आयुष्य बँधता नहीं, ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है। यह बात करते हैं। समझ में आया? इस काल में आयुष्य का बन्ध पड़ता ही नहीं, क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन है तो जब शुभभाव आयेगा, तब ही आयुष्य का बन्ध पड़ेगा। उससे पहले आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ेगा।

समझ में आया? अपने स्वभाव का आश्रय शुद्ध चैतन्य है, मैं शुद्ध आनन्द ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि हुई, ऐसा दृष्टिवन्त चाहे तो छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में भोग में अशुभभाव में दिखायी दे और कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या भी उसे आ जाये, युद्ध में भी ऐसे मारफाड़ करते हुए तीव्र भाव में दिखायी दे। उस समय आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ेगा। समझ में आया? उसे अशुभभाव में आयुष्य का बन्ध ही नहीं है। उसे जब अशुभभाव न हो और जब शुभभाव आयेगा तब किसी समय बन्ध पड़ जायेगा। किसी समय। समझ में आया?

इसी प्रकार पंचम गुणस्थान में आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और आंशिक स्थिरता है। श्रावक है। वह भोग–वासना में पड़ा हो, उस समय आयुष्य नहीं बँधती। समझ में आया? क्योंकि उसमें हेयबुद्धि है। राग आता है तो हेयबुद्धि है। हेयबुद्धि है तो अशुभ के समय आयुष्य का बन्ध कभी पड़ता ही नहीं। समझ में आया? जब आयुष्य के बँधने का काल होगा, तब शुभभाव होगा, तब आयुष्य बँधेगा; नहीं तो आयुष्य नहीं बँधेगा। ऐसी वस्तु है। आत्मा के स्वभाव का शरण लिया, उसमें अभी थोड़ा भाग बाकी है तो भी उसे स्वर्ग की गति का ही बन्ध पड़ेगा और कोई नारकी या देव हो तो मनुष्य होगा। वह भी शुभभाव होगा तब। भाई! नारकी और देव हों, वह भी शुभभाव आयेगा, तब बन्ध पड़ेगा। देव भी विषयवासना में पड़ा है... समझे? तब आयुष्य नहीं बँधता, क्योंकि मनुष्य की आयु बँधनेवाली है। सम्यग्दृष्टि को तो मनुष्य की आयु बँधनेवाली है तो जब अशुभभाव है, तब आयुष्य नहीं बँधेगी। इतनी उसकी ताकत है। आत्मा के स्वभाव की प्रतीति और भान है तो हल्की गति का बन्ध पड़े, ऐसा भाव ही उसके पास नहीं होता। अशुभभाव है तो भी अशुभभाव में बन्ध नहीं पड़ता। कोई ऐसा कहे कि नरक का आयुष्य है तो इतना शुभभाव नहीं। इसकी बात यहाँ है ही नहीं। समझ में आया? उसके योग्य जो अशुभभाव है, तब भी आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ेगा। गति नहीं बँधेगी। समझ में आया?

मुनि लो न। किसी समय ऐसा आर्तध्यान का भाव आ जाये। आत्मा का भान है, (कि) मैं चैतन्य हूँ, ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ। आर्तध्यान आ जाये। आर्तध्यान में आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ेगा। समझ में आया? जब शुभभाव आयेगा तो वैमानिक का बन्ध पड़ेगा। यह राग के कारण से बन्ध है, परन्तु यहाँ अशुभ के कारण से बन्ध नहीं पड़ता, ऐसा कहना है। दूसरी गति आदि का बन्ध भले पड़े परन्तु आयुष्य का बन्ध नहीं पड़ता। आहा..हा..!

समझ में आया ? भगवान आत्मा जहाँ दृष्टि में, आश्रय में और अन्तर आत्मा के पक्ष में चढ़ा है, उसे गति हल्की नहीं होती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? २१९ (गाथा)।

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायु: प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध:।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्।।२१९।।

कहते हैं महाराज! जगत में प्रसिद्ध है न कि मुनिवर तो देव का ही आयुष्य बाँधते हैं। यह कहा न ? मुनि तो देव का ही आयुष्य बाँधते हैं। वे तो प्रसिद्ध हैं। मुनिवर को दर्शन-ज्ञान-चारित्र है तो देव का आयुष्य किसमें बँधा ? समझ में आया ? **यहाँ कोई शंका करे कि रत्नत्रय के धारक मुनिवरों के देवायु आदि...** देव आयु इत्यादि उन्हें योग होता है न ? **शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह कैसे सिद्ध होगा ?** समझ में आया ? शास्त्र में तो मुनिवरों को स्वर्ग का ही बन्ध है, ऐसा पाठ है। बन्ध पड़े तो। केवलज्ञान हो जाये वह दूसरी बात। रत्नत्रय की भूमिका है तो देवायु का बन्ध मुनि को कहा है, तो देवायु के बन्ध का क्या कारण है ? यह दुनिया में प्रसिद्ध है कि मुनि स्वर्ग में जायें। उसमें पंचम काल में मुनि, सच्चे मुनि हों वह तो स्वर्ग में ही जाते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य जैसे सन्त हों तो भी वर्तमान में केवलज्ञान नहीं है। समझ में आया ? कहते हैं कि वे भी लोकान्तिक में जायें। अपना राग बाकी है। पुण्य-बन्ध से लोकान्तिक में जाते हैं। वहाँ से निकलकर केवलज्ञान प्राप्त करके मनुष्य होकर मोक्ष में जायेंगे परन्तु एक बार तो उन्हें स्वर्ग में ही जाना है। वर्तमान में चाहे जितने मुनि हों, कुन्दकुन्दाचार्य जैसे हों तो भी स्वर्ग में जाना पड़ेगा। इतना राग बाकी है तो राग से आयुष्य बन्ध पड़ता है। कहो, समझ में आया ? राग ही बन्ध का कारण, अराग बन्ध का कारण नहीं, वीतरागमार्ग ऐसा कहता है। भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता जितनी वीतरागभाव से हुई, वह तो अत्यन्त शुद्धता ही कारण है, बन्ध का कारण नहीं। उन्हें देवायु का कारण कहा। यह कहते हैं, देखो! **देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह कैसे सिद्ध होगा ?**

गाथा – २२०

उसका उत्तर :–

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।।२२०।।

है मोक्ष का ही हेतु रत्नत्रय, नहीं है अन्य का।
अपराध शुभ उपयोग मय, आस्रव हुआ यह पुण्य का।।२२०।।

अन्वयार्थ : (इह) इस लोक में (रत्नत्रयं) रत्नत्रयरूप धर्म (निर्वाणस्य एव) निर्वाण का ही (हेतु) कारण (भवति) होता है, (अन्यस्य) अन्य गति का (न) नहीं, (तु) और (यत्) जो रत्नत्रय में (पुण्यं आस्रवति) पुण्य का आस्रव होता है, (अयम्) यह (अपराधः) अपराध (शुभोपयोगः) शुभोपयोग का है।

टीका : 'इह रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः भवति अन्यस्य न तु यत् पुण्यं आस्रवति अयं अपराधः शुभोपयोगः।' –अर्थः– इस लोक में रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष का ही कारण होता है, दूसरी गति का नहीं। तथा रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है, वह सब शुभकषाय और शुभयोग से ही होता है, अर्थात् वह शुभोपयोग का ही अपराध है किन्तु रत्नत्रय का नहीं है। भिन्न–भिन्न कारणों से भिन्न–भिन्न कार्य होते हैं तो भी व्यवहार से एक–दूसरे का भी कार्य कहने में आता है।

भावार्थ : (प्रथम श्लोक में शिष्य ने प्रश्न किया था कि तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध तो सम्यक्त्व के भावों में योग और कषायों से बताया, फिर देवायु आदि अन्य शुभ प्रकृतियों का बन्ध रत्नत्रय में कैसे हो सकता है? उसका समाधान यह किया कि वास्तव में रत्नत्रय तो निर्वाण का ही कारण है। परन्तु उसके होते हुए जो इन्द्रादि देवपद का आस्रव होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है। रत्नत्रय का दोष किञ्चित् भी नहीं है।)।।२२०।।

गाथा २२० पर प्रवचन

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराध:।।२२०।।

देखो! अनेकान्त करते हैं। मुनि को भी शुभोपयोग का अपराध है, इसलिए वे स्वर्ग का आयुष्य बाँधते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? धर्मात्मा आत्मा की शान्ति में, आनन्दकन्द में विराजमान हैं। एक ओर ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है। वह दृष्टि के जोर की अपेक्षा से है। यहाँ मुनिवरों को भी बन्ध होता है, ऐसी बात कहते हैं। समझ में आया? दोपहर को तो वह चलता है, निर्जरा... निर्जरा...। धन्नालालजी! सम्यग्दृष्टि को शुभ–अशुभभाव के समय भी निर्जरा होती है। वह दृष्टि के स्वभाव के आश्रय से और वस्तु अबन्ध है, उसके परिणाम अबन्ध हुए तो बन्ध के परिणाम गिनने में आये ही नहीं। यहाँ तो थोड़ा चारित्र हुआ है, थोड़ा राग भी बाकी है तो मुनि को भी स्वर्ग का बन्ध पड़ता है, अबन्ध नहीं। देखो! क्या शैली कही देखो!

एक ओर कहे, सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु है। एक ओर कहे कि चारित्रवन्त को भी शुभराग होता है, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया? एक ओर निर्जरा अधिकार में ऐसा कहे कि इन्द्रिय और अतीन्द्रिय आदि सचेत–अचेत से भोग भोगनेवाले सम्यग्दृष्टि को निर्जरा ही होती है। वह कहीं भोग से निर्जरा नहीं है। भोग तो राग है, पाप है, परन्तु दृष्टि का जोर है, मैं अबन्धस्वभाव हूँ। मुझे उस अबन्धस्वभाव का आदर है। मैं आनन्दमूर्ति हूँ, ऐसा आदर है, इस कारण थोड़ा राग का बन्ध है, उस अल्पबन्ध को नहीं गिनकर (बन्ध) नहीं होता, ऐसा कहने में आया है। यहाँ तो मुनि को भी शुभभाव का बन्ध है, ऐसा सिद्ध करना है। आहा..हा..! समझ में आया? सम्यग्दर्शन में बन्ध नहीं, छठे–सातवें (गुणस्थान में) चारित्र में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्ग, तीनों पूरे हो गये।

यहाँ कहते हैं **इस लोक में रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण होता है,...** देखो! मोक्ष का 'ही' कारण है। है न? **'रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव'** ऐसा नहीं लिया कि रत्नत्रय कथंचित बन्ध का भी कारण है। बहुत पत्र आते हैं। मासिक, मासिक क्या कहलाते हैं सब

अखबार? उनमें बहुत आता है। समकित बन्ध का ही कारण है। अनेकान्त है। भगवान का मार्ग अनेकान्त है। मोक्षमार्ग भी कथंचित् बन्ध का कारण और शुभोपयोग बन्ध का कारण, वह कथंचित् निर्जरा का कारण। अरे! भगवान! ऐसा अनेकान्त कहाँ से निकाला? समझ में आया? फुदड़ीवाद है।

यहाँ कहते हैं, देखो न! **इस लोक में रत्नत्रय मोक्ष का ही... एव** शब्द पड़ा है न? **'निर्वाणस्यैव'** पन्थ कहो, मार्ग कहो, उपाय कहो, कारण कहो। मोक्ष का-पूर्ण शुद्धि... पूर्ण शुद्धि का कारण अपने अवलम्बन से श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति उत्पन्न हुए हों, वह निश्चय से एक ही मोक्ष का कारण है। किंचित् अपवाद नहीं कि उनसे बन्ध होता है। समझ में आया? अनेकान्त की ऐसी व्याख्या करते हैं कि अनेकान्त ऐसा होना चाहिए। नियत-अनियत में कहते हैं न? नियत भी हो, अनियत भी हो तो अनेकान्त है। ऐसा है ही नहीं। सुन तो सही! यह क्या कहते हैं? रत्नत्रय मोक्ष का कारण है, बिल्कुल बन्ध का कारण नहीं। मोक्ष का ही कारण है। ही, एकान्त आता है। यह एकान्त बन्ध का कारण नहीं, ऐसा आता है। सम्यक् एकान्त है। निर्धार न हो तो ऐसे-ऐसे होता है।

भगवान आत्मा परिपूर्ण आनन्दस्वरूप है, ऐसी दृष्टि-श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति प्रगट हुए तो कहते हैं कि बिल्कुल मोक्ष का ही कारण है, पक्का मोक्ष का ही कारण एक ही है; दूसरी गति का कारण नहीं। यह मोक्षगति का कारण है, दूसरी गति का कारण नहीं। रत्नत्रय कोई मनुष्यगति का भी कारण नहीं। चक्रवर्ती पद मिले, तीर्थंकर पद मिले, गति मिले, वह कहीं रत्नत्रय का फल नहीं है। अन्य गति का वह कारण है ही नहीं। मात्र मोक्षगति का ही कारण आत्मा का मोक्षमार्ग है। समझ में आया?

रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है... रत्नत्रय भगवान आत्मा का, देखो! रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय को रत्नत्रय कहा, रत्न कहा। समझ में आया? उसका फल केवलज्ञान महारत्न; और वह केवलज्ञान ज्ञानगुण में अनन्त पड़ा है, वह महारत्न का रत्न है और ऐसा अनन्त गुण का पिण्ड भगवान तो महा... महा... महारत्न है!!! आहा..हा...! समझ में आया? ऐसी वस्तु भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें अनन्त केवलज्ञान, अनन्त आनन्द जो रत्नत्रय के फलरूप प्रगट हो, ऐसी पर्यायें भी जिसके एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त पड़ी हैं, ऐसा भगवान

पूर्णानन्द चैतन्य रत्नाकर का जिसने अन्तर में आश्रय लिया, वह तो अकेला मोक्ष का कारण है। क्योंकि आत्मा ही अबन्धस्वरूप है, तो जो परिणाम प्रगट हुए, वे अबन्ध स्वरूप ही हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

दूसरी गति का कारण नहीं। रत्नत्रय तो मनुष्यगति का भी कारण नहीं, देवगति का कारण नहीं, नरक और पशु का कारण तो है ही नहीं। समझ में आया? आत्मा का मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन–ज्ञान। वह सम्यग्दर्शन भी अन्य गति का कारण नहीं है। समझ में आया? मोक्ष का ही कारण है। **तथा रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है...** यह पाठ में है न? समझे न? पहले में था न '**सत्प्रकृति**' २१९ में। '**सत्प्रकृति–बन्धः**' सत् सत् अर्थात् शुभ। २१९ में पाठ है। सत्... सत्.. सत् अर्थात् शुभ, शुभप्रकृति। सत् अर्थात् वहाँ शुभ। २१९ में पाठ है। '**देवायुप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः**' है या नहीं? जेठालालभाई! किसमें है? सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी सत् प्रकृति का बन्ध पड़ता है। सत् प्रकृति अर्थात् शुभ प्रकृति। देखो! यहाँ सत्प्रकृति का अर्थ शुभ प्रकृति। समझ में आया?

वह सब शुभकषाय... भाषा देखो! **तथा रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है...** यह सोलहकारण भावना से जो तीर्थंकरप्रकृति बँधती है, वह भी शुभ प्रकृति है, वह आस्रव है। जो तीर्थंकरगोत्र का भाव है, वह आस्रव है; संवर–निर्जरा किंचित् नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? सोलहकारण भावना भाय... फिर यह हो जाये। वह तो राग है, वह सम्यग्दर्शन, चारित्र नहीं। सम्यग्दर्शन, चारित्र से बन्ध होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन से विरुद्ध योग, कषाय से बन्ध होता है। तीर्थंकर–प्रकृति का बन्ध भाव है, वह योग, कषायरूप है; मोक्षमार्गरूप नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : रत्नत्रय को आरोपित शुभभाव कहा जाता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शुभभाव ही भिन्न है। रत्नत्रय भिन्न है, शुभभाव भिन्न है। रत्नत्रयरूप शुभभाव नहीं और शुभभावरूप रत्नत्रय नहीं। दोनों वस्तु भिन्न हैं। एक जहर है और एक अमृत है। समझ में आया? जिस परिणाम से तीर्थंकरप्रकृति बँधे, वह योग, कषायरूप है और कषाय जहररूप है। रमणीकभाई! थोड़ी बात ऐसी है। समझ में आया?

संवत् १९८५ में सम्प्रदाय में थे न? पौष महीना था। बोटाद में बहुत लोग, बहुत मान था न लोगों को! व्याख्यान चलता था, हजारों लोग खचाखच भरे थे। पौष महीना

(संवत्) १९८५ की बात है। कितने वर्ष हुए? ३८। व्याख्यान चला, कोई साधु ऐसा विरोध करनेवाले नहीं थे। बहुत लोग। लोगों को हमारे प्रति प्रेम था न! हम तो पुस्तक हाथ में लेकर बैठें तो लोग कीड़े-मकोड़े की तरह उमड़ पड़ते। ऐसा प्रश्न हुआ कि जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति बँधती है, वह भाव धर्म नहीं। धर्म नहीं, कहो, या अधर्म कहो। और लोग भड़क गये। आहा..हा..! ऐई! न्यालचन्दभाई! समझ में आया? भड़के। परन्तु किसलिए भड़कते हो? जिस भाव से बन्ध होता है, वह धर्म है? धर्मभाव से बन्ध होगा? और धर्मभाव से बन्ध हो तो मुक्ति कहाँ से होगी? सेठी! १९८५ के पौष महीने की बात है। सम्प्रदाय में। यहाँ तो सम्प्रदाय में कितनी ही सत्य बातें तो कहते थे। कितनी ही गुप्त रखते थे। द्वेष न हो न, इसलिए।

मुमुक्षु : अधर्म कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधर्म अर्थात् धर्म का स्वभाव नहीं। क्या है? योग, कषायरूप। योग-कषाय, धर्म से विरुद्ध। ऐई! एक साधु बैठे थे, वे कहने लगे। वोसरे.. वोसरे.. वोसरे.. वोसरे ऐसा कहकर भाग गये। अर..र..! सभा किसी को गिनती नहीं। व्याख्यान चलता था। सब गये बाद में कहा, बैठना था न, तुम्हें कौन गिनता था वहाँ? वोसरे.. वोसरे.. अर्थात् (क्या) समझ में आता है? यह नहीं होओ, यह वोसरे कहलाता है। यह छोड़ते हैं, यह छोड़ते हैं, यह श्रद्धा नहीं... नहीं... नहीं। सभा में तुम्हारा कौन सुनता था? सभा तो ऐसी की ऐसी बैठी हुई सुनती थी। १९८५ की बात है। पौष महीना। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह धर्मभाव नहीं और धर्मभाव होवे, उससे तीर्थंकरगोत्र बँधता नहीं। वजुभाई! हमारे तो सब ऐसा का ऐसा ही चला आता है।

पंच महाव्रत के परिणाम बन्ध का कारण है, कहा। दो बातें की थी भाई! पंच महाव्रत, आस्रव का कारण है। यह विवाद तब से चला आ रहा है। यहाँ कहे, नहीं। पंच महाव्रत और अणुव्रत तो कुन्दकुन्दाचार्य ने पालन किये थे। अरे! भगवान! सुन तो सही, प्रभु! निश्चय पंच महाव्रत तो भगवान आत्मा में अन्तर एकाकार हो जाना। शुद्ध श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक स्वरूप में लीनता हो जाना, वह निश्चय महाव्रत है। और व्यवहार पंच महाव्रत जो अट्ठाईस मूलगुण आदि कहने में आते हैं, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। वह शुभोपयोग है। यह क्या कहते हैं? समझ में आया? यह तो चला आता है। वह शुभोपयोग का अपराध है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि है। उसे है कहाँ ? वस्तु कहाँ है ? कहो, जेठालालभाई !

मुमुक्षु : आस्रव को........

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु जिससे बन्ध हो.... संवर से बन्ध होगा ? सीधी बात है। आस्रव है तो बन्ध पड़ता है। फिर प्रश्न कहाँ है ? बराबर है ? मगनभाई ! यह सब तुम्हारे से विरुद्ध है। तुम्हारे यहाँ तो खलबलाहट हो गयी थी। वोसरे.. वोसरे.. करके भागे। उठे सभा के बीच से भाग गये। लोगों को क्या है ? मैंने कहा, तुम्हें बैठना था। तुम्हें न रुचे तो बैठे रहना था परन्तु उसे मूलचन्दजी को कहना हो कि देखो ! उस समय नींद आयी तो मैंने वोसरे.. वोसरे... कहा। वोसरे अर्थात् छोड़ना। यह श्रद्धा छोड़ देता हूँ, यह श्रद्धा छोड़ देता हूँ। ऐसा आता है। अरे ! भगवान ! भाई ! तेरी वस्तु शुद्ध चिदानन्द प्रभु का जितना आश्रय लेकर पवित्रता हुई, वह पवित्रता बिल्कुल बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि वह पवित्रता योग, कषायरूप नहीं है। योग, कषायरूप पवित्रता नहीं है। यह पहले आ गया है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र योग कषायरूप नहीं है और योग, कषाय है, वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ तो आचार्य एकदम स्पष्ट करते हैं। यह शुभोपयोग किसकी बात है। सम्यग्दृष्टि के। मिथ्यादृष्टि की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया ? कितने ही कहते हैं सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग मोक्ष का कारण है। परम्परा मोक्ष का कारण है। वह है ही नहीं। सुन तो सही। शास्त्र में लिखा है न ? व्यवहाररत्नत्रय परम्परा (कारण है)। वह तो छोड़कर स्थिर होगा इस अपेक्षा से बात की है। समझ में आया ? यह आचार्य का कथन है। देखो ! तीन शब्द प्रयोग किये हैं। **रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है...** बहुत शुभ प्रकृतियाँ उसमें आती है न ? **वह सब शुभकषाय और शुभयोग...** पाठ में शुभोपयोग है। कोई ऐसा अर्थ करते हैं, शुभोपयोग इसे कहते हैं और शुभयोग इसे कहते हैं, अमुक... अमुक... ऐसी बहुत चर्चा चलती है। यहाँ तो शुभोपयोग को शुभयोग और शुभकषाय कहा है। एक ही बात है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय–वासना, यह अशुभभाव है और पंच महाव्रत के परिणाम, बारह व्रत के परिणाम विकल्प जो व्यवहार व्रत है, वह शुभोपयोगरूप है। शुभ आस्रवरूप है। शुभ आस्रव से बन्ध होता है; संवर, निर्जरा किंचित्

नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को यह शुभपरिणाम है, वह दृष्टि में हेय है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभोपयोग में मोक्ष की भावना? जहर में से अमृत की भावना? समझ में आया? भावना का अर्थ शुद्धता में है, वह मोक्ष की भावना है। शुभराग है, शुभराग है। चाहे तो तीर्थंकरप्रकृति के बन्धन का कारण हो। समकिती की-मुनि की बात करते हैं।

मुमुक्षु : मोक्ष की भावना की भूमिका की बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी तो बात करते हैं। चारित्रवन्त मुनि को आहारकशरीर का बन्ध पड़ता है, वह शुभोपयोग का अपराध है, ऐसा कहते हैं। जिसे शुद्धोपयोग प्राप्त हुआ है, मुनि, शुद्ध उपयोग ही मुनिपना है। प्रवचनसार में साम्यभाव कहा था न? साम्य। शुद्धोपयोग। बीच में कषाय आती है, उसे उल्लंघकर साम्यभाव में आते हैं। उन्हें भी शुभभाव आया, वह अपराध, बन्ध के कारण में वही अपराध है। आहा..हा..! शुभ उपयोग अपराध है। पाठ है? क्या पाठ है? देखो **'शुभोपयोगोऽयमपराधः'** कौन जाने इसे सच्ची समझ करने में कितनी तकलीफ पड़ती है! स्व आश्रय में से किंचित् बन्ध हो जाये और पराश्रय में से किंचित् लाभ हो जाये - परन्तु पर-आश्रय तो अनादिकाल से किया है। समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक जाये, ऐसा शुभभाव मिथ्यादृष्टि का हुआ, शुक्ललेश्या, चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, ऐसा तो शुभोपयोग था। समझ में आया? अकेला बन्ध का कारण है। तो कहते हैं, वह तो मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग। सम्यग्दृष्टि का? यहाँ सम्यग्दृष्टि और मुनि की तो बात करते हैं। उन्हें भी जितना शुभोपयोग रहता है, शुभोपयोग कहकर योग और कषाय साथ में जोड़ दिये। समझ में आया? पहले कह गये न? योग और कषाय बन्ध का कारण है। यह शुभोपयोग बन्ध का कारण कह दिया। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन की भूमिका में आत्मदर्शन हुआ, आत्मप्रतीति हुई, तीर्थंकरगोत्र बँधता है न? वह शुभोपयोग अपराध है। तीर्थंकरप्रकृति बाँधे और अपराध है? क्या कहते हैं यह? तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, वह अपराध है। शुभोपयोग, वह अपराध है। है या नहीं पुस्तक हाथ में? धन्नालालजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ बन्ध का कारण कहा, वहाँ जहर कहा। समयसार मोक्ष अधिकार में शुभोपयोग को जहर कहा है। (पहले हमने) विष्टा कहा, वहाँ तो भड़क गये। शुभोपयोग विष्टा है, ऐसा कहा तो भड़क गये। समझ में आया? शास्त्र में तो ऐसा कहा नहीं? चक्रवर्ती के भोग, 'इन्द्र सरीखी सम्पदा, चक्रवर्ती के भोग काग वीट सम मानत है सम्यग्दृष्टि लोग।' समझ में आया? आता है या नहीं? इन्दौर में भी है। इन्दौर में काँच का, सेठ का मन्दिर है न? वह काँच का मन्दिर है न? इन्दौर। क्यों पूनमचन्दजी है न वहाँ? लिखा है। 'इन्द्र सरीखी सम्पदा चक्रवर्ती के भोग।' कितना पुण्य का भोग है, यह पुण्य की बात है या नहीं? 'काग वीट सम मानत है।' कौआ.. कौआ.. कौवे की विष्टा समान उस भोग को सम्यग्दृष्टि मानता है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : वे दोनों सम्यग्दृष्टि के ही पुण्य हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके सिवाय दूसरे को हो कहाँ से? चक्रवर्ती का पुण्य भी सम्यग्दृष्टि को हो, इन्द्र का पद भी सम्यग्दृष्टि को हो। दो धारा ही अलग है। समझे? आगरा में चली थी। कहाँ गये पदमचन्दजी? आगरा में चला था न? कर्मधारा और ज्ञानधारा। पदमचन्दजी कहाँ गये? अपने चर्चा चली थी न? यह गाथा चली थी। ज्ञानधारा और कर्मधारा। कलश... कलश... चला था। उसमें कहा... एक पण्डित था.. कौन? रामप्रसाद, थोड़ा लम्बा पण्डित था। वह कहता था। व्याख्यान सुनने के बाद कहा, आनन्द की बहुत बात आयी परन्तु करना–धरना कुछ नहीं। मैंने कहा, पण्डितजी! क्या है? करना–धरना तो विकल्प है। कुछ करना, छोड़ना, पर का करना और उसमें से कुछ लाभ हो... धूल में भी नहीं हो। क्या करे? पर पदार्थ का कुछ कर सकता है या छोड़ सकता है आत्मा? करना, धरना कुछ नहीं और बहुत आनन्द। धन्नालालजी! आहा..हा.. ! कलश चलता था। आता है न? ज्ञानधारा, कर्मधारा – कलश आता है न? पुण्य अधिकार में आता है। दोनों अधिकार भिन्न हैं।

भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय करके जितनी दर्शन, ज्ञान की शुद्धि की है, उससे तो संवर, निर्जरा ही है और साथ में राग है, वहाँ तो सम्यग्दृष्टि का राग लिया है, इसमें तो स्पष्टीकरण किया है, हों! सम्यग्दृष्टि को... कलश है न? लो, पृष्ठ ही यह निकला। 'यतिपना क्रियारूप है, वह बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि का जो है यतिपना

शुभक्रियारूप मोक्ष का कारण है क्योंकि अनुभव ज्ञान और दया, व्रत, तप, क्रिया दोनों मिलकर कर्म का क्षय करते हैं—ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं। वहाँ समाधान ऐसा है कि शुभ, अशुभक्रिया बहिर्जल्प विकल्पजल्प, अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यों के विचाररूप, शुद्धस्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मबन्ध का कारण हैं।' समझ में आया? 'ऐसा सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का भेद नहीं है। ऐसी करतूती से बन्ध है। शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि को श्रुतज्ञान की क्रियारूप परिणाम हो, परन्तु क्रियारूप परिणाम से तो मात्र बन्ध होता है।' समझ में आया? यह गुजराती है। कलश ११०। पुण्य-पाप अधिकार। धारावाही ११०, पुण्य-पाप का ११वाँ (कलश)। **'यावत्पाकमुपैति'** पृष्ठ भी तुरन्त ही सामने आया। यही पृष्ठ सामने आया। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का सब एक ही है। कहते हैं न? सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कुछ है ही नहीं। पुण्य-परिणाम एकान्त बन्ध का कारण है। मात्र बन्ध होता है। कर्म का क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता, ऐसा वस्तु का स्वरूप है, सहारा किसका? इस काल में शुद्धस्वरूप अनुभव-ज्ञान भी उस काल में ज्ञान से कर्मक्षय होता है। एक अंश भी बन्ध नहीं होता। मोक्षमार्ग से एक अंशमात्र बन्ध नहीं होता। देखो! सर्वथा नहीं होता, ऐसा कहा है। समझ में आया? वस्तु का ऐसा स्वरूप है। उसमें सहारा किसका? बहुत लिया है। **कितने ही काल तक दोनों होते हैं, अपने-अपने स्वरूप से हैं, विरोध तो नहीं करते। आत्मा के मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम मिटे है, आत्मद्रव्य शुद्ध हुआ है, उसे पूर्वोक्त क्रिया का त्याग भलीभाँति परिपक्त्वा को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् क्रिया का मूल से विनाश नहीं हुआ। भावार्थ ऐसा है कि जब तक अशुद्धपरिणमन है...** जबतक शुद्ध परिणमन पूर्ण न हो, तब तक अशुद्धपरिणाम है। वे अशुद्धपरिणाम कहो या शुभपरिणाम कहो। समझ में आया? वे शुभपरिणाम सम्यग्दृष्टि के एकान्त बन्ध का कारण है। कथंचित् लाभ का कारण और कथंचित् बन्ध का कारण, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? फिर नहीं बोला। करना-धरना क्या? कुछ करना है? किसी का भला करना, बुरा करना। किसी का भला कर दें, धूल भी नहीं कर सकता। तुझमें पर्याय में शुभ प्रवृत्तिरूप विकल्प आता है, वह बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, दोनों के शुभभाव बन्ध का ही कारण है। रामचन्द्रजी! यह सब निर्णय करना पड़ेगा। ऐसी की ऐसी गप्प नहीं चलेगी। बराबर है।

कहते हैं, कितना स्पष्टीकरण किया! देखो! **'यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराध:'** आहा..हा..! आचार्य, दिगम्बर आचार्य ढिंढ़ोरा पीटकर प्रसिद्ध करते हैं। अपनी बात करते हैं कि हमें जो देव आयु का बन्ध होगा, वह हमारे शुभोपयोग का अपराध है। समझ में आया? पंचम काल के मुनि हैं तो स्वर्ग में जायेंगे। अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य सब स्वर्ग में हैं। वैमानिक में हैं। कहते हैं कि हमारा अपराध है। आहा..हा..! इतना हमारा शुभोपयोगरूपी अपराध से स्वर्ग का बन्ध पड़ेगा। निरपराध से भगवान आत्मा दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो बन्ध में उदास है। समझ में आया? श्रद्धा में इतनी सब गड़बड़ कर डाली, अभी तो व्यवहार श्रद्धा में ठिकाना नहीं। निश्चय श्रद्धा तो स्व–आश्रित दूसरी रही, बाहर में भगवान के दर्शन से निद्धत निकाचित कर्म टूट जाते हैं। ठीक! भगवान के दर्शन करने से निद्धत निकाचित (कर्म का नाश होता है)। अरे! परन्तु भगवान के दर्शन में तो शुभभाव है। शुभभाव तो अपराध है, बन्ध का कारण है। वहाँ से निद्धत निकाचित कर्म किस प्रकार छूटेगा? पाठ में आता है न? पाठ में आता है, वह तो व्यवहारनय का कथन है। जिनबिम्ब ऐसा है, ऐसा देखकर अपने जिनबिम्ब में दृष्टि गयी। अपना जिनबिम्ब अक्रियज्ञायकमूर्ति हूँ। बस, मिथ्यात्व के टुकड़े हो जाते हैं। समझ में आया? जेठालालभाई! यह तो जिनबिम्ब भगवान की मूर्ति से हो जायेगा। यह लोग कहते हैं न? वह आगम और मूर्ति दोनों अपने को आधार है। अब आगम और मूर्ति दोनों पराश्रय है। समझ में आया? आगम भी पर है, मूर्ति भी पर है और देव भी पर है। यहाँ तो शुभोपयोग को अपराध कहा, लो!

(संवत्) २०१० के वर्ष में प्रश्न था। देव–गुरु–शास्त्र? शुद्धदेव, गुरु, शास्त्र पर कहलाये? एक ने प्रश्न किया था। (संवत्) २०१० के वर्ष में। देव केवली शुद्ध, वे पर कहलाये? गुरु महामुनि पर कहलाये? शुद्ध पर कहलाये? लाख बार पर कहलाये। आत्मा के अतिरिक्त वह वस्तु पर है और जितना पर में लक्ष्य जायेगा, उतना शुभभाव होगा। देव–गुरु–शास्त्र में, हों! स्त्री कुटुम्ब में जायेगा तो अशुभभाव होगा। समझ में आया? कितना स्पष्टीकरण करते हैं, देखो!

जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है, वह सब शुभकषाय... देखो, शुभोपयोग को शुभकषाय कहा। शुभोपयोग, वह शुभकषाय है। तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, वह भी शुभकषाय है; संवर, निर्जरा नहीं। आहा..हा..! प्रसन्न–प्रसन्न हो जाये। तीर्थंकरगोत्र बाँधे,

वह भाव अपराध ? अपराध है। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि अपराध है। कहो, भीखाभाई !

मुमुक्षु : शुभोपयोग कषाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभोपयोग है, शुभकषाय है और शुभयोग है, तीन नाम हैं, कहो, समझ में आया ? मूल पाठ है, उसकी तो बात चलती है **'आस्रवति यत्तु पुण्यं'** क्या ? पुण्य जो आस्रव होता है, नये तीर्थंकरगोत्र के, आहारकशरीर के रजकण आते हैं, उनका कारण कौन है ? पुण्य है। पुण्य आस्रव होता है। उसका कारण शुभ अपराध है। **'आस्रवति यत्तु पुण्यं'** तीर्थंकरपने की प्रकृति आती है, आहारकशरीर बँधता है, देव का आयुष्य आता है, वह सब पुण्य आस्रव है। शुभोपयोग का अपराध है। समझ में आया ? लोगों को यथार्थ तत्त्व की रुचि में विपरीतता दूर होने में महापुरुषार्थ अपेक्षित है। यह मूल चीज़ है। आस्रव तत्त्व को संवर, निर्जरा मानना और संवर, निर्जरा तत्त्व को बन्ध का कारण मानना, यह सब तत्त्व की भूल है। समझ में आया ? तत्त्व का विपरीत अभिनिवेश है। आहा..हा.. ! देखो ! भाषा कैसी आयी ? पुण्य तो यह लिया, नया आता है न ? नया पुण्य जो आता है, उसका कारण कौन ? तीर्थंकरपने का पुण्य बाँधता है, उस पुण्य के रजकण आते हैं न ? उनका कारण कौन ? शुभोपयोग अपराध।

मुमुक्षु : मोक्ष का निर्णय हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्णय हो जाता है ? वह पुण्य के परिणाम शुभ के हुए, उनसे निर्णय हो जाता है ? उसे अल्प काल में मुक्त ही है परन्तु मुक्ति उस परिणाम के कारण से है ? प्रकृतिबन्ध के कारण से है ? अपनी शुद्धि के जोर के कारण से है। समझ में आया ? यह आया न ? टोडरमलजी में। सिद्ध (जीव), सम्यग्दर्शन के कारण संसार को नहीं चाहते, राग को नहीं चाहते। आता है या नहीं ? सम्यग्दर्शन के कारण शुभराग की इच्छा नहीं है। आहा..हा.. ! परन्तु जब तक वीतरागता न हो तो ऐसा शुभभाव सम्यग्दृष्टि को देव, गुरु, दर्शन, भक्ति, पूजा का भाव आये बिना नहीं रहता, परन्तु है अपराध। ए.. राजमलजी ! क्या है यह ? लोग चिल्लाने लगते हैं।

पंचम गुणस्थान में बारह अणुव्रत के विकल्प होते हैं, परन्तु है शुभ अपराध। मुनि को, सच्चे सन्त को आत्मदर्शन, ज्ञानपूर्वक जो नग्न-दिगम्बर हैं और अन्तर में तीन कषाय

का अभाव है, उन्हें भी पंच महाव्रत, व्यवहार महाव्रत के विकल्प, अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प आते हैं, परन्तु है शुभोपयोगरूपी अपराध।

मुमुक्षु : उस अपराध के कारण स्वर्ग में गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस अपराध के कारण स्वर्ग में गये हैं। मोक्षमार्ग के कारण स्वर्ग में गये हैं ? अपराध का फल है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म किसे कहना, खबर नहीं होती। वाड़ा में पड़े हैं, और यह शुभ की क्रिया करे तो धर्म हो गया ? धर्म तो कोई अपूर्व चीज़ है। अनन्त काल में इसे यह बात रुचि नहीं। आत्मा निर्लेप, निर्विकल्प, निष्क्रिय, रागरहित पूरी चीज़ है। ऐसी अन्तर में दृष्टि, ज्ञान हुए बिना धर्म कहाँ से हो ? कहो, पोपटभाई ! थोड़ा पैसा दे, दान दे तो दान में शुभभाव है, उसमें अशुभभाव घटा, उतना तो निर्जरा का लाभ है या नहीं ? निर्जरा धूल भी नहीं, सुन न ! पाँच लाख, पच्चीस लाख, पोण लाख खर्च किये। उसमें क्या है ? राग मन्द किया तो शुभभाव है। संवर, निर्जरा, बिल्कुल नहीं। कहो, समझ में आया ? शास्त्र में थोड़े पैसे खर्च किये, पाँच रुपये की कीमत हो और दो रुपये करे, पैसे दो, लाख–दो लाख, पाँच लाख। समझे ? क्या है ? शास्त्रदान में खर्च करे वह संवर–निर्जरा है। शास्त्रदान है न ? शास्त्र है, वह तो पर है। उसे लेने–देने में शुभ–विकल्प है। धन्नालालजी ! ज्ञानदान–शास्त्रज्ञान देने से निर्जरा होती है। क्या दान। अपने आत्मा में ज्ञानदान देना। ज्ञान में एकाग्र होकर ज्ञानशुद्धि प्रगट करना, वह निर्जरा है। समझ में आया ? कोई ऐसा कहता है कि शुद्ध प्ररूपणा करते–करते कोई धर्म पा जाये तो उसे निर्जरा हो। धूल में भी नहीं है। यह तो शुभविकल्प है। उपदेश का शुभभाव, वह अपराध है। धन्नालालजी ! गजब बात, भाई ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ओर इन्हें—आचार्य, उपाध्याय और साधु को परमेश्वर कहना तथा एक ओर अपराधी कहना। जो मुनि हैं, वे तो शुद्धोपयोग और निरपराधी हैं। राग है, वह तो मुनिपना है ही नहीं। वह दूसरी चीज़ है परन्तु उन्हें अपराधी कहना ? वह निरपराधी है, देखो !

शुभकषाय **वह सब शुभकषाय...** समझ में आया ? आहा..हा.. ! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह शुभकषाय है। आहा..हा.. ! यह तीर्थंकर कहे और तीर्थंकर का मार्ग ऐसा कहे। दूसरे तो ऐसा कहें, अरे ! तीर्थंकरप्रकृति बँधे, उसे शुभकषाय कहो। अशुभकषाय वह पाप, यह शुभकषाय, वह पुण्य। पुण्य का आस्रव होगा। समझ में आया ? और उस प्रकृति का फल तो तेरहवें गुणस्थान में आता है। जिस भाव से-राग से बन्ध हुआ, उस राग को छोड़कर वीतराग हुए, केवलज्ञान हुआ, तब इस तीर्थंकर प्रकृति का विपाक तेरहवें में आयेगा। तेरहवें गुणस्थान में इसका उदय है, नीचे नहीं, तो इसने क्या लाभ किया ? समझ में आया ? फिर केवलज्ञान हुआ तो समवसरण हुआ। उसमें आत्मा को क्या हुआ ? ऐ... सेठी ! बात बहुत कठिन जगत को ! यह **शुभकषाय और शुभयोग से ही होता है,...** देखो ! योग से ही होता है। **अर्थात् वह शुभोपयोग का ही अपराध है किन्तु रत्नत्रय का नहीं है। भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं तो भी व्यवहार से एक-दूसरे का भी कार्य कहने में आता है।** व्यवहार से कहने में आता है कि सम्यग्दर्शन से देव आयुष्य का बन्ध होता है, सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकरगोत्र बँधता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। बाकी भिन्न-भिन्न कार्य है। किसी का कार्य किसी में नहीं मिलता। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

धर्मात्मा की दृष्टि

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - २२१

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमिति।।२२१।।

नित एक में समवाय से, विपरीत अति ही परस्पर।
के कार्य में व्यवहार रूढ़ि, ज्यों जलाता घी कथन।।२२१।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (एकस्मिन्) एक वस्तु में (अत्यन्तविरुद्धकार्ययो:) अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के (अपि) भी (समवायात्) मेल से (तादृश: अपि) वैसा ही (व्यवहार:) व्यवहार (रूढिम्) रूढ़ि को (इत:) प्राप्त है, (यथा) जैसे (इह) इस लोक में '(घृतम् दहति) घी जलाता है' - (इति) इस प्रकार की कहावत है।

टीका : 'हि एकस्मिन् अत्यन्तविरुद्धकार्ययो: अपि समवायात् यथा घृतम् दहति इति व्यवहार: अपि तादृश: व्यवहार: रूढिं इत:।' -अर्थ:-निश्चय से एक अधिकरण में परस्पर विरुद्ध दो कार्यों का बन्ध होने से 'जैसे घी जलाता है', ऐसा एक का दूसरे में व्यवहार हो जाता है; उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है कि सम्यक्त्व से शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

भावार्थ : यद्यपि घी जलाता नहीं है, तथापि अग्नि के सम्बन्ध से जब घी गर्म हो

---

* हिन्दी प्रति में इस गाथा की टीका एवं भावार्थ इस प्रकार है-
अर्थ:- एक ही वस्तु में जिनका कार्य परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो कार्यों का बन्ध होने से 'जैसे घी जलाता है' ऐसे एक में दूसरे का व्यवहार हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है कि सम्यक्त्व से शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। परस्पर विरुद्ध है, ऐसे ज्ञानभाव और रागभाव के समवाय अर्थात् मिलाप से जो कर्मों का बन्ध होता है, वह इस तरह जानना चाहिए जैसे अग्नि के संयोग से उष्ण हुए घृत के द्वारा कोई पुरुष जल गया, वहाँ यद्यपि जलाने का स्वभाव घृत का नहीं है-अग्नि का ही है-परन्तु फिर भी उन दोनों के संयोग से लोक में ऐसा कहा जाता है कि घृत ने शरीर को जला दिया; उसी प्रकार सम्यक्त्व और रागभाव इन दोनों के मिलाप में यद्यपि बन्ध का कारण तो राग ही है-सम्यक्त्व नहीं-फिर भी व्यवहाररूढ़ि से यही प्रसिद्ध है कि रत्नत्रय इन्द्र-अहमिन्द्रादिक शुभबन्ध का कारण है अर्थात् सम्यक्त्व से शुभप्रकृतियों का बन्ध होता है।

जाता है, तब ऐसा जानने में आता है कि घी जलाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का काम कर्म बन्ध करना नहीं है, तथापि जब आत्मा में सम्यक्त्व और रागभाव दोनों मिल जाते हैं, तब ऐसा ही कहने में आता है कि सम्यक्त्व से कर्म का बन्ध होता है। इसीलिए लोक में व्यवहार भी ऐसा होता है कि सम्यक्त्व से शुभकर्मों का बन्ध होता है, रत्नत्रय से मोक्ष का लाभ होता है।।२२१।।

प्रवचन नं. ८८ गाथा-२२१ से २२३ रविवार, श्रावण शुक्ल ८, दिनांक १३.०८.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। इसमें मोक्ष का मार्ग क्या है अथवा परमानन्दरूपी मोक्षदशा का उपाय किस प्रकार होता है, इसका स्वरूप है। मोक्ष अर्थात् आत्मा की शक्ति में जो शुद्धता और आनन्द भरा है, उसका व्यक्तता, पूर्ण शुद्धता और पूर्ण आनन्द की हो जाना, उसे मोक्ष कहने में आता है। उसका कारण भी स्वाभाविक चीज़ है। जैसे मोक्ष की पर्याय स्वभाव से प्रगट हुई है, वैसे मोक्ष का मार्ग स्वभाव के आश्रय से अथवा स्वभाव में से प्रगट होता है। समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप, उसके सन्मुख जो दृष्टि करके, दृष्टि-ज्ञान में और लीनता प्रगट होती है, वही वास्तव में शक्ति की आंशिक व्यक्तता के कारण मोक्ष का उपाय कहने में आता है। समझ में आया? और उस शक्ति की पूर्ण व्यक्तता, पूर्ण आनन्द आदि की प्रगटता को मोक्ष कहते हैं। समझ में आया? तो कहते हैं कि... पर्याय को बन्ध का कारण क्यों कहा? ऐसा कहते हैं। २२१ गाथा। पहले चली न? कि आत्मा अपना शुद्धस्वरूप, उसकी अन्तर सन्मुख की दृष्टि-ज्ञान और रमणता, वह तो मोक्ष का मार्ग है और साथ में शुभोपयोग है, वह अपराधिक नया पुण्य का कारण है। समझ में आया?

निश्चयमोक्षमार्ग अर्थात् शक्ति की-स्वभाव की परिपूर्णता अन्दर है, उसमें से शक्ति

भावार्थ : जैसे अग्नि और घृत दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य हैं। घृत का काम तो पुष्ट करने का है और अग्नि का काम जलाने का है। घी तो जलाता नहीं है किन्तु ऐसा कहा जाता है कि घी जलाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का कार्य कर्म-बन्ध कराने का नहीं है फिर भी जब आत्मा में सम्यक्त्व और रागभाव दोनों के सम्बन्ध से ऐसा कहा जाता है कि सम्यक्त्व से कर्म का बन्ध होता है; इसीलिए लोक में व्यवहार भी ऐसा होता है कि सम्यक्त्व से शुभकर्मों का बन्ध होता है, रत्नत्रय से मोक्ष का लाभ होता है।।२२१।।

की व्यक्तता अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी स्वभाव प्रगट हुआ, वह तो वास्तव में मोक्ष का कारण है। साथ में शुभोपयोग बाकी रहता है, वह नये पुण्य का आस्रव करने का कारण है। वह बन्ध का कारण शुभोपयोग अपराध से होता है। तीन दशा तो निरपराधी है। समझ में आया? भगवान आत्मा का शुद्ध पवित्रस्वरूप, उसकी सन्मुखता से जो दृष्टि–ज्ञान प्रगट हुए, वह तो निरपराधी दशा है। निरपराधी दशा का बन्ध में कारण नहीं होता; और साथ में जो दया, दान, व्रत आदि... देखो विशिष्टता कहेंगे, हों! २२१ के बाद २२२वीं गाथा में लेंगे कि दोनों मोक्ष के मार्ग हैं, ऐसा कहेंगे। समझ में आया?

कहते हैं कि आत्मा में साथ में शुभोपयोग है, वही नये तीर्थंकरगोत्र, आहारकशरीर के पुण्य का कारण है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र आत्मा का मोक्षमार्ग, वह बन्ध का कारण नहीं। समझ में आया? और इतना भी सिद्ध किया कि शुद्धोपयोग जो आत्मा की दशा है, वह मोक्ष का कारण है और शुभ–उपयोग है, वह अपराध है। समझ में आया? क्यों? कि शुद्धोपयोग का आश्रय द्रव्य है, उसका फल मोक्ष है। शुभोपयोग का आश्रय पर है, उसका फल बन्ध है। दोनों का कार्य भिन्न है, दोनों का कारण भी भिन्न है, तथापि एक दूसरे का कार्य कहना, वह व्यवहार है, यह बात सिद्ध करते हैं। समझ में आया? शास्त्र में इतने सब कथन आते हैं। लोगों ने यह कहा, यह कहा, यह कहा शास्त्र में। तो कहते हैं, देखो!

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमिति।।२२१।।

यहाँ अधिक वजन है। आहा..हा..! **निश्चय से एक अधिकरण में परस्पर विरुद्ध दो कार्यों का बन्ध होने से...** एक ही प्रसंग में, एक ही आधार में दो कार्य प्रगट होने से। पहले नाम लेते हैं। **एक अधिकरण में परस्पर विरुद्ध दो कार्यों का बन्ध होने से जैसे घी जलाता है, ऐसा एक का दूसरे में व्यवहार हो जाता है...** शीतलता का आधार घी है। घी वास्तव में शीतलता का कारण है। परन्तु अग्नि साथ में सम्बन्ध होता है तो अग्नि उष्णता का कारण है। परन्तु घी उष्ण होता है तो घी भी जलाता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? घी जलाता नहीं। घी का स्वरूप तो ठण्डा – शीतल है। नारायणस्वरूप कहते हैं न ये? नारायण अर्थात् शीतलस्वरूप है। समझ में आया? अग्नि का संयोग होने से... अग्नि तो उष्ण है, वह उष्णता जलाती है परन्तु घी का सम्बन्ध होने

से घी जलाता है, ऐसा कहने में आता है। ध्यान रखना, हों! यह गाथा २२२ में बाद में आयेगा। उसमें व्यवहार मोक्ष का कारण है, ऐसा लिया है। दोनों से मोक्ष मिलेगा। इस गाथा के बाद वह गाथा ली है। समझ में आया?

ऐसा एक का दूसरे में व्यवहार हो जाता है, उसी प्रकार... समझ में आया? यह विवाद है। भाषा का विवाद है न, भाई! ऐसा कहते हैं, यह केवलज्ञान कारण है, दिव्यध्वनि कार्य है, ऐसा शब्द शास्त्र में आता है। केवलज्ञान का भाषा कार्य है, ऐसा आता है। लो, यह विवाद। यह तो साथ में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध देखकर व्यवहार से कहा कि ऐसा केवलज्ञान हो, वहाँ ऐसी दिव्यध्वनि होती है। नीचे ऐसी दिव्यध्वनि नहीं होती। यह बताने के लिये ज्ञान का कार्य दिव्यध्वनि है, ऐसा कहा। वास्तव में दिव्यध्वनि ज्ञान का कार्य है ही नहीं। समझ में आया? भाषा तो भाषा है, वह तो पूर्व भाषावर्गणा की पर्याय, वही शब्दरूप परिणमी है। कोई भगवान परिणमे हैं? दिव्यध्वनिरूप से भगवान परिणमित हुए हैं? और दिव्यध्वनि के कर्ता भगवान हैं? समझ में आया?

पहले चर्चा में यह प्रश्न उठे थे। जो तुम हमसे पूछते हो और हमसे तुम्हें लाभ नहीं होता तो पूछते किसलिए हो? समझ में आया? हमसे पूछते किसलिए हो? तुम तो कहते हो कि निमित्त से लाभ नहीं है तो हमसे किसलिए पूछते हो? हम नहीं बोलते, हम मौन रहेंगे। ठीक! मौन रहना और बोलना, वह क्या ज्ञान का कार्य है? ऐसा प्रश्न हुआ। समझ में आया? क्या ज्ञान कर्ता है और भाषा कार्य है? समझ में आया? देवीलालजी!

मुमुक्षु : ऐसा होवे तो सिद्ध भगवान...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह फिर दूसरी बात है। परन्तु यहाँ ज्ञान कर्ता और भाषा कार्य ऐसा है? जड़ की पर्याय का कर्ता ज्ञान? क्या मौन रहे? तुम तो निमित्त से लाभ नहीं मानते। निमित्त से लाभ नहीं मानते तो पूछते किसलिए हो? हम तुम्हारे निमित्त हैं, तो हमसे तुम्हें कुछ लाभ होता है, तब तुम पूछते हो या नहीं? ऐई! राजमलजी! यह देखो! वकालात है अन्दर में। समझ में आया?

हमको किसलिए पूछते हो? परन्तु भगवान! इच्छा हो और ज्ञान की ऐसी योग्यता हो तो भाषा उसके कारण से निकलती है। स्वयं के कारण से समझे तो भाषा को निमित्त कहने में आता है। भाषा करे कौन? आहा..हा..! भारी भ्रम! समझ में आया? जड़ भाषा

–वर्गणा है। वह वर्गणा ही उपादानरूप से शब्द होने की योग्यता उसमें है। या आत्मा में योग्यता है? भाषा निकलती है तो क्या वह आत्मा की योग्यता से निकलती है? समझ में आया? जिसकी बहिर्दृष्टि है कि यह मेरा कार्य है, वह अन्तर्दृष्टि में जानेयोग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मेरा कार्य भाषा का है, मेरा कार्य पर का है, ऐसी दृष्टि पर के ऊपर जाती है, उसे स्व में आने की योग्यता ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मेरा कार्य पर में है ही नहीं, मेरा कार्य मुझमें है, पर का कार्य पर में है, तो उसे स्वसन्मुख होने का अवकाश मिलता है। पर का कार्य करनेवाला और पर से मुझमें होता है, वह बहिरात्मदृष्टि है, वह बहिर्दृष्टि खींचकर अन्दर में नहीं जा सकेगा। समझ में आया?

मुमुक्षु : असत् में से सत्कार्य नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से हो? वह तो सत् वस्तु है। वास्तव में तो भाषावर्गणा में भाषा / शब्दपर्याय होने की शक्ति है। उसमें पर्याय में है। भाई! क्या कहा समझ में आया? इस शब्दवर्गणा में यह शब्द की पर्याय होने की शक्ति पड़ी है। सत् है तो प्रगट होता है। न हो तो कहाँ से हो? क्या आत्मा में सत् पड़ा है? भाषा की पर्याय होने का सत् आत्मा में है? समझ में आया? भाषा बोलते हैं, समझाते हैं तो ज्ञान भाषा में आता है या नहीं? नहीं। समझ में आया? भाषा आत्मा का कार्य है; जैसे घी जलाता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है, यथार्थ नहीं परन्तु एक साथ अधिकरण देखकर घी जलाता है... जलाती तो है अग्नि, परन्तु घी जलाता है, ऐसा कहने में आता है। इसी प्रकार एक साथ आत्मा की पर्याय काम करती है और भाषा की पर्याय का सम्बन्ध देखकर आत्मा का कार्य भाषा है, ऐसा व्यवहाररूढ़ि से कहने में आता है, परन्तु ऐसा है नहीं। समझ में आया? न्याय समझ में आता है? आहा..हा..!

उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है... देखो! भाषा ऐसी है न? **'तादृशोऽपि रूढिमित:'** अर्थात्? **'मित:'** अर्थात् क्या? मर्यादा हो गयी, रूढ़ि की मर्यादा हो गयी। यह तो हमारे संस्कृत व्याकरणवाले क्या अर्थ करते हैं? हम तो कह देते हैं ठीक नहीं है। रूढ़ि का मित अर्थात् रूढ़ि की मर्यादा हो गयी, ऐसा। अर्थात् रूढ़ि की हद हो गयी। आत्मा में कुछ है नहीं। वह तो पर का काम करे, वह तो रूढ़ि की हद हो गयी। यथार्थ की मर्यादा नहीं। यथार्थ की मर्यादा है ही नहीं, रूढ़ि की मर्यादा है, रूढ़ि अनादि की।

मुमुक्षु : रूढ़ि सच्ची है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, सच्ची नहीं। ऐसा कहते हैं। सच्ची किसे कहें? समझ में आया?

व्यवहार हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है कि सम्यक्त्व से शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। शास्त्र में आता है (कि) सम्यक्त्व से देव आयुष्य का बन्ध होता है। समझ में आया? समकिती ही तीर्थंकरगोत्र बाँधता है। समकिती ही तीर्थंकरगोत्र बाँधता है, यह व्यवहार की भाषा है। समकिती... सम्यक्त्वी जीव... पर्याय में है, परन्तु सम्यग्दर्शन बन्ध के कारण में नहीं। समझ में आया? आहा..हा..!

भावार्थ : यद्यपि घी जलाता नहीं है, तथापि अग्नि के सम्बन्ध से... देखो! **अग्नि के सम्बन्ध से जब घी गरम हो जाता है, तब ऐसा जानने में आता है..** तब ऐसा जानने में आता है कि घी **घी जलाता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व का काम कर्म बन्ध करने का नहीं है।** समझ में आया? सम्यक्त्व कोई बन्ध का कारण नहीं है। **तथापि जब आत्मा में सम्यक्त्व और रागभाव दोनों मिल जाते हैं...** मिल जाते हैं अर्थात् एकसाथ होते हैं। मिल जाते हैं, इसका अर्थ क्या? वह घी, अग्नि मिल जाते हैं न? ऐसे। सम्यग्दर्शन-आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रतीति, वह स्वभाव तो अकेला संवर-निर्जरारूप ही है। उसमें बन्ध किंचित् नहीं है। रागभाव और दोनों एक साथ होते हैं, तब **ऐसा ही कहने में आता है कि सम्यक्त्व से कर्म का बन्ध होता है।** सम्यक्त्व से कर्म का बन्ध होता है, ऐसा दोनों का मेल देखकर व्यवहार से / रूढ़ि से कहने में आता है। यह आया है न उसमें? ८४ में। अनादिरूढ़। समयसार। वह अनादिरूढ़ अज्ञानी का व्यवहार कि कर्म का कर्ता आत्मा है। समझ में आया? ८४ गाथा समयसार में आता है। अनादिरूढ़। अनादि के अज्ञानी का ऐसा व्यवहार है। रूढ़ व्यवहार है। ८४ में आता है। समझ में आया? पर से पर का कार्य होता है, ऐसा रूढ़िगत अनादि के अज्ञानी का व्यवहार है; ज्ञानी का वह व्यवहार नहीं। यहाँ व्यवहार से ऐसा कहने में आता है, उसका ज्ञान करने की बात है। समझ में आया?

लोक में व्यवहार भी ऐसा होता है कि सम्यक्त्व से शुभकर्मों का बन्ध होता है (बस इतनी बात)। रत्नत्रय से मोक्ष का ही लाभ होता है। अब देखो! यह बड़ा विवाद है। स्पष्ट यह गाथा रखते हैं, सब जगह। इस गाथा के बाद यह गाथा रखी है।

गाथा - २२२

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।२२२।।

मुख्योपचारमई सुसमकित, बोध चारित्र युक्त यह।
शिवमार्ग आतम को परम, पद प्राप्त करवाता सतत।।२२२।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार (एषः) यह पूर्वकथित (मुख्योपचाररूपः) निश्चय और व्यवहाररूप (सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला (मोक्षमार्गः) मोक्ष का मार्ग (पुरुषं) आत्मा को (परं पदं) परमात्मा का पद (प्रापयति) प्राप्त करवाता है।

टीका : 'सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः इति एषः मोक्षमार्गः मुख्योपचाररूपः पुरुषं परं पदं प्रापयति।' –अर्थः– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप ही मोक्षमार्ग अर्थात् निर्वाण का मार्ग है। यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है।

भावार्थ : निश्चयरत्नत्रय तो मुख्य है और व्यवहाररत्नत्रय उपचाररूप है, यह दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं और जीव को परमपद की प्राप्ति करवाते हैं अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है तथा व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परा से मोक्षमार्ग का साधक है, अथवा व्यवहारमोक्षमार्ग, निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है।।२२२।।

गाथा २२२ पर प्रवचन

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।२२२।।

'पुरुषम्' पुरुष अर्थात् भगवान आत्मा। उसे... देखो! **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप ही मोक्षमार्ग**... मोक्षमार्ग तीन नहीं है; मोक्षमार्ग

एक ही है। भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसकी लीनता, वह एक ही मोक्षमार्ग है; उसके तीन भाग करना, वह भेद है। निश्चय से तो अभेद एक ही मोक्षमार्ग है। कहते हैं, इन तीन स्वरूप मोक्षमार्ग है। तीन स्वरूप एक मोक्षमार्ग है।

यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है। देखो भाषा! पाठ है या नहीं इसमें?

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।

मुख्य अर्थात् निश्चय; उपचार अर्थात् व्यवहार, आरोपित मोक्षमार्ग। वह भी पुरुष को-आत्मा को **'प्रापयति परं पदं'** परमपद में पहुँचा देता है। आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहा न पहले कि घी अग्नि के सम्बन्ध से घी जलाता है, ऐसा कहने में आता है। इसी प्रकार निश्चयव्यवहार का सम्बन्ध है तो कहा जाता है कि व्यवहार, वह मोक्ष का कारण है, ऐसा लिया है। यहाँ तो सन्धि गाथा ली है। समझ में आया? गाथा के साथ सम्बन्ध... क्या कारण है? सब ऐसा कहते हैं, देखो! निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्ष के मार्ग हैं। उपचार अर्थात् व्यवहार, हों! उपचार अर्थात् व्यवहार। उपचार शब्द आया न? मोक्षमार्गप्रकाशक में। यथार्थ अर्थात् निश्चय और व्यवहार अर्थात् उपचार। उपचार मोक्षमार्ग में पूरा सातवाँ अध्याय शुरु किया है। सातवाँ अध्याय। जैन-दिगम्बर में रहने पर भी मिथ्यादृष्टि क्यों रहता है, इसका स्पष्टीकरण सातवें अध्याय में किया है। समझ में आया? और इसके अतिरिक्त दूसरे हैं, वे तो गृहीतमिथ्यात्व में जाते हैं। यथार्थ वीतरागदर्शन, दिगम्बर दर्शन यथार्थ जैनदर्शन है। इसके अतिरिक्त जितने मार्ग हैं, वे सब गृहीतमिथ्यादृष्टि के मार्ग हैं। ऐ... मगनभाई! सत्य होगा? परन्तु इस दिगम्बर में जन्म लेकर भी मिथ्यात्व रह जाता है। यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार है, ऐसा कहकर पूरा अध्याय शुरु किया है। वह यहाँ लिया है। मुख्य। मुख्य कहो या निश्चय कहो; उपचार कहो या व्यवहार कहो। दो मोक्षमार्ग है ही नहीं। मोक्षमार्ग का कथन दो है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ रूढ़िगत में आया न! ऊपर रूढ़ि कहा न? अग्नि जलाती

है, उसे घी जलाता है, ऐसा रूढ़ि का व्यवहार चला है, यथार्थ में ऐसा नहीं है। इसी तरह भगवान आत्मा को अपने शुद्धस्वभाव की सन्मुख के दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, वही मोक्ष का कारण है और साथ में जो व्यवहारमोक्षमार्ग है, वह शुभोपयोग रागरूप है, विकल्परूप है। साथ में है तो निश्चय के साथ में देखकर वह भी मोक्ष का मार्ग है, ऐसा रूढ़ि का व्यवहार हो गया है। देवीलालजी, आहा...हा..! कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : वास्तविक नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तविक है ही नहीं। बन्ध का कारण है। घी शीतल है। शीतल घी को गरम कहना, वह रूढ़िगत व्यवहार शास्त्र में है वह। इसी प्रकार शुभ बन्धमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं परन्तु निश्चयमोक्षमार्ग के साथ में है तो रूढ़िगत होकर व्यवहार से कहने में आता है कि यह भी मोक्ष का मार्ग है। टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग बराबर लिया है। समझ में आया? टोडरमलजी ने बहुत स्पष्टीकरण किया है। दो मोक्षमार्ग नहीं। दोनों मोक्षमार्ग को उपादेय मानना, वह भ्रम है। समझ में आया? क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग स्व-आश्रय है, व्यवहार पराश्रय है। निश्चयमोक्षमार्ग निर्मल है; व्यवहारमोक्षमार्ग पर्याय राग है। निश्चय -मोक्षमार्ग का फल मोक्ष है; व्यवहार का फल बन्ध है। दोनों की दिशा में अन्तर है, दोनों की दशा में अन्तर है, दोनों की दिशा में अन्तर है, दोनों की दशा में अन्तर है। समझ में आया?

निश्चय की दशा निर्मल है, उसकी दिशा द्रव्य है। लक्ष्य द्रव्य पर है और व्यवहार मलिन है, उसकी दशा, उसकी दिशा पर के ऊपर जाती है। समझ में आया? व्यवहार का फल बन्ध है, निश्चय का फल मोक्ष है; दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। देवीलालजी! अभी बड़ा विवाद है। पहले तो व्यवहारमोक्षमार्ग है, व्यवहारमोक्षमार्ग है, ऐसा कहते हैं। अरे! भगवान! देखो न! यह रूढ़िगत शब्द कहकर कैसा पाठ लिखा है। समझ में आया? पहले सन्धि की है, देखो! **'मोक्षमार्ग इत्येषः। मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्'** वे कहें, देखो! दोनों से मोक्ष होता है। दोनों से मोक्षमार्ग है। दोनों से मोक्षमार्ग नहीं परन्तु रूढ़ि से अपना शुद्धस्वरूप... यहाँ जैसे शुभोपयोग अपराध है, वैसे निश्चय निरपराध दशा है, व्यवहार अपराध दशा है परन्तु निरपराध के साथ में अपराध को देखकर उसे भी निरपराध ऐसा कह दिया है। निरपराध कहो या मोक्ष का मार्ग कहो। समझ में आया? गजब बात, भाई! आहा..हा..!

मुमुक्षु : साथ में जोगानुयोग में चले तो हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर के साथ में अणवर होवे तो अणवर, वर हो जाता होगा? अणवर को कन्या मिलती होगी? विवाह कर देते होंगे? कपड़े-बपड़े बहुत पहने हो, वर दो लाख का आसामी हो, अणवर करोड़पति हो तो उसे कन्या देते होंगे?

इसी प्रकार आत्मा निश्चय को मोक्ष-कन्या मिलती है। समझ में आया? आहा..हा..! शिवरमणी / मोक्षदशा भगवान आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा। वह दशा तो भगवान आत्मा अपने निज स्वरूप की अन्तरसन्मुख की श्रद्धा, ज्ञान, लीनता जो शक्ति की व्यक्तता है, उसे मोक्ष वरता है। उसका फल मोक्ष है। राग बीच में आया, उसका फल मोक्ष कहना, वह तो उपचार रूढ़िगत से कहने में आया है। वास्तविक है नहीं, कहो, अमरचन्दभाई! इस गाथा में बड़ा विवाद है। देखो! दो मोक्षमार्ग कहे हैं। **'प्रापयति परं पदं'** देखो! लिया है **'प्रापयति परं पदं पुरुषं'** आत्मा को दोनों मोक्षमार्ग, मोक्ष प्राप्त कराते हैं, ऐसा पाठ है। इन शब्दों को तो बराबर करना चाहिए या नहीं? यह गाथा है। कहते हैं न? पहले कह गये न? घी जलाता है, यह व्यवहार रूढ़ि है, यह व्यवहारमोक्षमार्ग है, यह व्यवहार रूढ़िगत की बात है। (यथार्थ) है नहीं। बन्ध के मार्ग को मोक्षमार्ग के समीप देखकर उसे मोक्ष का मार्ग कहना, वह रूढ़िगत व्यवहार है। समझ में आया? शशीभाई! यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है परन्तु इसे कौन जाने, ऐसा होता है कि... यह प्रश्न चला है।

मुमुक्षु : ऐसा रूढ़िगत व्यवहार क्यों कहा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : रूढ़िगत व्यवहार ऐसा चलता है। साथ में है या नहीं? इसलिए चला है। निश्चय के साथ में है या नहीं? इसलिए कहा, भाई ने कहा न? रहस्यपूर्ण चिट्ठी में यह आया न? कि व्यवहारसम्यग्दर्शन में निश्चयसम्यग्दर्शन अन्तरगमनरूप, साथरूप, परिणमनरूप है। समझ में आया? यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी में है न? व्यवहार। व्यवहारसम्यग्दर्शन में... समझे? पुस्तक है या नहीं? मोक्षमार्गप्रकाशक है? रहस्यपूर्ण चिट्ठी है न?

...सम्यक्त्वी होता है; इसलिए स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। तथा यदि स्व-पर का श्रद्धान नहीं है और जिनमत में कहे जो देव, गुरु, धर्म उन्हीं को मानता है; व सप्त तत्त्वों को मानता है; अन्यमत में कहे देवादि व तत्त्वादि को नहीं मानता है; तो इस प्रकार केवल व्यवहारसम्यक्त्व

से सम्यक्त्वी नाम नहीं पाता; इसलिए स्व–पर भेदविज्ञानसहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसी को सम्यक्त्व जानना। फिर आगे है। निश्चयसम्यग्दर्शन का निरन्तर परिणमन हो, वहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन कहने में आता है। व्यवहारसम्यग्दर्शन है, वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन गतिरूप हो तो व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया?

तथा तुमने निश्चयसम्यक्त्व का और व्यवहारसम्यक्त्व का स्वरूप लिखा, वह सत्य है, परन्तु इतना जानना कि सम्यक्त्वी को व्यवहारसम्यक्त्व में व अन्य काल में... दोनों लिये हैं न वापस? व्यवहार न हो, तब निश्चयसम्यग्दर्शन है। समकिती इतना शब्द इसमें अधिक डाला है, पहले में नहीं था। खबर है। मूल चिट्ठी में नहीं था। अधिक स्पष्ट हो, इसलिए। **सम्यक्त्वी को व्यवहारसम्यक्त्व में व अन्य काल में...** व्यवहार न हो, तब भी **अन्तरंग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, निरन्तर गमन (परिणमन) रूप रहता है।** साथ में लिया है। व्यवहारसम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवें और निश्चय फिर आठवें में, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया?

घी जलाता है, वह तो घी के काल में ही जलाता है, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? घी जलाता है, वह घी के काल में उष्ण हुआ, इसलिए कहने में आता है। इसी प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग है, वह अपने स्वभाव के आश्रय से निश्चय श्रद्धा परिणमनरूप है। उसके साथ में व्यवहार है, उसे कहते हैं कि वह भी मोक्ष का मार्ग है। निश्चय के सम्बन्ध से रूढ़िगत को व्यवहारमोक्षमार्ग कहने में आया है। वास्तव में बन्धमार्ग को मोक्षमार्ग कहना, वह व्यवहार है। समझ में आया? बहुत गड़बड़ चलती है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में तो व्यवहाररत्नत्रय होता है, फिर आठवें से निश्चय, सातवें से निश्चय तथा कोई आठवें से कहते हैं, तथा कोई तेरहवें से कहते हैं। जिसे ठीक पड़े, वैसा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है। यहाँ वे जोड़ दें। पहले दृष्टान्त दिया न? घी जलाता है। वैसे व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्ष को प्राप्त कराता है, ऐसे दोनों के साथ सम्बन्ध ले लेना।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बेड़ा पार है। व्यवहारवाले को कहते हैं। दृष्टान्त देते हैं। मासिक

(पत्र) में आता है। क्या कहलाता है ? अखबार में वह आता है। देखो ! यह गाथा कही है। अमृतचन्द्राचार्य ने कही है परन्तु वाक्य तो सुन। एक को मुख्य और एक को उपचार (कहा तो) दोनों पृथक् कैसे पड़े ? भाई ! एक को मुख्य कहा, और एक को उपचार कहा तो दो नाम कैसे पड़े ? यदि दोनों समान हों तो दो नाम कैसे पड़े ? एक नाम मुख्य अर्थात् वास्तविक निश्चय है। उपचार अर्थात् व्यवहार रूढ़िगत है। दो शब्द आये हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्यार्थ नहीं ? दोनों सत्यार्थ, दोनों उपादेय, दोनों मोक्षमार्ग ? धर्म में पड़ा है, वह तो। समझ में आया ? अभी श्रद्धान का ठिकाना नहीं, उसे अनुभव हो कहाँ से ? और अनुभव के बिना चारित्र कभी होता नहीं। समझ में आया ?

भावार्थ : निश्चयमोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है तथा व्यवहार-मोक्षमार्ग परम्परा से मोक्षमार्ग का साधक है,... इसका अर्थ कि साथ में है और फिर छूट जायेगा और पूर्ण निश्चय हो जायेगा; इसलिए व्यवहार को परम्परा मोक्ष का कारण कहने में आता है। व्यवहारमोक्षमार्ग शुभोपयोग है, शुभराग है। यह पहले कह गये हैं। अपराध है, उसे मोक्ष का कारण कहना अथवा समकिती बन्ध करता है, ऐसा कहना, वह रूढ़ि है। समकिती तीर्थंकरगोत्र बाँधता है, वह रूढ़ि का व्यवहार है। ऐसे ज्ञान का कार्य भाषा है, यह रूढ़ि का व्यवहार है। ऐसा है नहीं। आहा..हा... ! ऐसा लिया न ?

देखो ! आत्मा में राग होता है या नहीं ? धन्नालालजी ! तो राग बन्ध का कारण है या बन्धरूप है ? यहाँ तो बन्ध का कारण कहा है। राग होता है, वह बन्ध का कारण है, बन्धरूप नहीं। अरे ! भावबन्धरूप है। समझ तो सही ! भावबन्ध के बिना द्रव्यबन्ध का कारण कौन हो सकता है ? समझ में आया ? वह तो यहाँ कहते हैं कि शुभोपयोग भावबन्ध है। समझ में आया ? भावबन्ध न हो तो द्रव्यबन्ध में कारण निमित्तरूप किसे कहा जाये ? वह भावबन्ध है, राग भावबन्ध है। तब वे कहते हैं कि नहीं, राग बन्ध का कारण है, बन्धरूप नहीं। भगवान कहते हैं कि बन्धरूप है। वास्तव में बन्धरूप वही है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कारण का उपचार हुआ। पर का कारण वह तो निमित्त

व्यवहार की बात हुई। वास्तव में राग अपराध किया है, वही भावबन्ध है। मोक्षमार्ग है, वह स्वभाव–आश्रय हुआ, वह वास्तविक मोक्षमार्ग यथार्थ है और राग वास्तव में भावबन्ध है। व्यवहारमोक्षमार्ग भावबन्ध है। आहा..हा..! ऐई! द्रव्यबन्ध का कारण है। यहाँ आया न? कि तीर्थंकरगोत्र और आहारक (शरीर) का बन्ध का कारण है, वह पुण्य का कारण है। वह पुण्य है न? पुण्य का कारण शुभभाव है; शुभभाव, भावबन्ध है; भावबन्ध, द्रव्यबन्ध का कारण है; मोक्ष का मार्ग बन्ध का कारण नहीं। समझे नहीं कुछ और ऐसे के ऐसे प्रश्न करे। समझ में आया? सेठी पीछे बैठे हैं, देरी से आये न। कहो, समझ में आया?

व्यवहारमोक्षमार्ग, निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है। आता है न? निमित्त का, व्यवहारकारण कहलाता है न? व्यवहारकारण कहलाता है। वास्तविक कारण नहीं, उसे रूढ़िगत से कारण कहना, इसका नाम कारण है। यह सबमें अनादिरूढ़ लागू कर देना। समझ में आया? यह अनादिरूढ़ भी अमृतचन्द्राचार्य की टीका है न, भाई! यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका है। पाठ में नहीं, पाठ में तो समुच्चय बात है। अनादिरूढ़ है। अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं ८४ (गाथा में) में अनादिरूढ़ कहा है। अज्ञानी का अनादिरूढ़ व्यवहार है, कर्म का कारण आत्मा है। समझे? बन्ध का कारण आत्मा है। नहीं। कर्म, कर्म के कारण बँधते हैं, आत्मा, आत्मा के कारण से भावबन्ध करता है। समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : असद्भूत है। नहीं है, उसे कहना, उसका नाम व्यवहार है। यह बन्ध का कारण है, उसे मोक्ष का कारण कहना, वह व्यवहार है। समझ में आया? और वास्तव में तो आत्मा जो शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, उसकी दृष्टि, ज्ञान हुए, वह स्वभाव अपेक्षा से तो जो रागभाव है, वह स्वभाव का दूसरा रूप है। भाई! प्रवचनसार में आया न? द्विरूप, ऐ! बन्ध की व्याख्या है न? बन्ध की व्याख्या। बन्ध की व्याख्या क्या? अनेक पदार्थों में एकपने के सम्बन्ध को... क्या भाषा है? सम्बन्धविशेष को बन्ध कहते हैं। तो भावबन्ध को भी यह लागू पड़ता है। भगवान आत्मा... यह पाठ है, हों! प्रवचनसार में। द्वितीय बन्ध ऐसा पाठ है, तो यह कहे, बन्ध नहीं। भगवान! तुझे खबर नहीं। वास्तव में बन्ध तो वही है। भगवान चैतन्य शुद्धस्वरूप परमानन्द, जितना राग में रुकता है, वह रुका, यही भावबन्ध है। उसका अभाव होता है तो भावमोक्ष होता है। समझ में आया? राग का अभाव—

भावबन्ध है, उसका अभाव—होता है तो मोक्ष होता है। कहो, समझ में आया? बहुत जगह यह तो आता है न?

जैसे स्फटिक है, स्फटिक। उस स्फटिक की स्वच्छता में जो काली, नीली झाँई दिखायी देती है, वह स्फटिक की द्विरूपता, दूसरा रूप है। मूलरूप नहीं। स्फटिक में द्वितीय लिया है। स्फटिक में जो स्वच्छता है 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे... ऐसे वीर जिनेश्वर धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय अभाव रे...' भगवान आत्मा शुद्धचैतन्य अकषायस्वरूप है, उसकी दृष्टि, ज्ञान, रमणता, वह अकषायभाव है। वह अकषायभाव, मोक्ष का कारण है परन्तु उसके साथ जो है, वह स्फटिक की अवस्था में लालिमा दिखती है, वह स्वच्छता का दूसरा रूप है। दूसरा अर्थात् स्वच्छता का नहीं परन्तु स्वच्छता के साथ में (दूसरा रूप है)।

निश्चय-व्यवहार की गड़बड़ इतनी, व्यवहार कथन निमित्ताधीन होते हैं। उपचार से कथन आवे। उपचार से कहा न? देखो न! मोक्षमार्ग में भी लिया है। निश्चय यथार्थ, यहाँ निश्चय को मुख्य कहा है, मुख्य कहने का कारण यह मुख्य वस्तु है, वह कारण है। समझ में आया? मोक्ष का मार्ग निश्चयसम्यग्दर्शन, वह मुख्य है, प्रधान है, प्रधान है। अन्य उपचार नाम पाता है। समझ में आया? गजब बात! अभी तो समझने में, श्रद्धा करने में गड़बड़।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु नहीं, ऐसा नहीं, परन्तु वह सम्यग्दर्शन इसे कहते हैं, मोक्षमार्ग कहते हैं, वह झूठ है। समझ में आया? वस्तु है, वह मिथ्या नहीं। वे कहे कि वस्तु नहीं? व्यवहारनय है तो व्यवहारनय का विषय नहीं? व्यवहारनय का विषय है, इससे कौन इनकार करता है? परन्तु यह कहते हैं कि वह मोक्षमार्ग है, यह झूठ है। ऐसी बात है। परन्तु बन्धमार्गरूप से सच्चा है। है; व्यवहारनय का विषय है। समझ में आया? सब भारी गड़बड़। अभी तो सत्य समझने की गड़बड़। फिर समझने के बाद अन्दर में उतरना, अन्दर जाना, तब स्वसन्मुख हो, तब सम्यग्दर्शन होता है। यह अभी तो अन्दर में जाने में इन बाहर के कारणों में यह मैं हूँ और इनके कारण ऐसा होता है, यह बाहर में बहिर्बुद्धि में अटका, वह अन्दर में जाये किस प्रकार? जाये किस प्रकार, समझे? थोड़ी गुजराती आ जाती है। अन्दर किस प्रकार जा सकेगा? किस प्रकार से? बाहर-पर का कार्य मैं कर

सकता हूँ, राग मुझे मोक्ष का कारण है, तो दृष्टि तो पर के ऊपर है। पर दशा की ओर का राग, उसका लक्ष्य पर दिशा की ओर जाता है, तो उसकी दृष्टि तो वहाँ पड़ी है। उससे लाभ माननेवाला है तो वहाँ से दृष्टि उठाकर अन्दर ले जाना, वह उससे हो नहीं सकता। समझ में आया? क्यों, समझ में आता है या नहीं? फूलचन्दजी! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : प्रयास करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रयास करते हो? अच्छा, प्रयास तो करते हैं। ऐसा कि सूक्ष्म पड़ता है।

दो मार्ग साथ में हैं। आत्मा है न? शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्दकन्द है, उसकी अन्तर्दृष्टि स्वभावसन्मुख की, (उसे) सम्यग्दर्शन कहते हैं और अन्तरस्वभाव का–आत्मा का ज्ञान होना, उसे ज्ञान कहते हैं और आत्मा में लीनता, स्थिरता, रमणता अन्तर में होती है, उसका नाम चारित्र है, वह मोक्ष का मार्ग है परन्तु साथ में शुभोपयोग व्यवहाररत्नत्रय, देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा का राग, शास्त्र का बोध और पंच महाव्रत आदि के परिणाम,... वे निश्चय के साथ निमित्त देखकर, सहचर देखकर उपचार से उसे व्यवहार कहने में आया है। चार बोल प्रयोग किये, भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक में। टोडरमलजी ने शास्त्र का निचोड़ किया है, परन्तु अभिमान में लोगों को (ऐसा हो जाता है कि) हम बहुत जानते हैं, इसका जानते हैं, सबका जानते हैं, हम सब आचार्यों का जानते हैं। हम तो सबको जाननेवाले हैं, तुम तो एक को जाननेवाले हो। अरे भगवान! यहाँ तो ग्यारह अंग पढ़े, नव पूर्व जाने तो सब तेरा व्यर्थ है, सुन न! उसमें निकालना है तो वीतरागभाव। वीतरागभाव कब निकलेगा? कि पर की अपेक्षा छोड़कर स्व की अपेक्षा करे तो वीतरागभाव निकलेगा। समझ में आया? ऐसे शास्त्र में से निकाले नहीं तो शास्त्र के अर्थ की भी उसे खबर नहीं है। समझ में आया?

निश्चयमोक्षमार्ग का हेतु व्यवहारमोक्षमार्ग कहने में आता है। छहढाला में आता है—हेतु, निश्चय का हेतु। कारण भी कहा जाता है, हेतु भी कहा जाता है, साधक भी कहा जाता है। समझ में आया? उससे मोक्षमार्ग होता है, व्यवहार से मोक्ष होता है, ऐसा भी कहने में आता है। यह रूढ़िगत व्यवहार है। जैसे घी जलाता है, वैसे व्यवहार मोक्ष कराता है, यह रूढ़िगत व्यवहार है। समझ में आया? इसके बाद तो यह गाथा ली है। २२२ हो

गयी। अब इसका फल। भगवान मोक्ष होता है न ? लो, अब तो अन्तिम गाथायें हैं न ?

ऐसा निश्चयस्वभाव, भगवान आत्मा अपने पवित्रस्वभाव को पकड़कर जो लीनता, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की हुई, उसका पूर्ण फल मोक्ष है। समझ में आया ? वास्तव में तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त में रत्नत्रय की पूर्णता वहाँ होती है। समझ में आया ? क्योंकि तुरन्त ही पूर्ण उपादान की पर्याय वह उत्तरी भवन का कार्य होता है। शास्त्र के शब्द हैं तो वहाँ भी लागू करना चाहिए न ! मोक्षरूपी कार्य है, उससे पहले, मोक्ष होने से पहले, पूर्व अवस्था में जो अन्दर स्वरूपाचरण स्थिरता पूरी हुई, चारित्र भले बारहवें में हो गया, केवलज्ञान तेरहवें में हो गया, क्षायिक समकित चौथे में हुआ। क्षायिक समकित चौथे में हुए, ज्ञान तेरहवें में हुआ, क्षायिक चारित्र बारहवें में हो गया, तथापि अभी आत्मा की पूर्ण आचरणता बाकी है। अकेला आत्मा स्वरूपाचरण की स्थिरता में अभी तेरहवें में भी बाकी है। चौदहवें में अस्थिरता के अन्त में मोक्ष होने के पहले की दशा, मोक्ष होने के पहले की पर्याय, उस पर्याय को ही वास्तव में मोक्ष का कारण कहते हैं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? भाई ! मोक्ष कार्य है या नहीं ? तो कार्य का कारण कहाँ रहता है ? उस कार्य की पूर्व पर्याय में रहता है या आगे में रहता है ? समझ में आया ? यहाँ तो पूर्ण स्वरूप की बात है, पूरे की बात है। अन्तिम बात कह दी। निश्चय पूर्ण होता है, तब उत्तर पर्याय मोक्ष की होती है। समझ में आया ?

जिस समय आत्मा में चारित्र तेरहवें में भी अभी स्वरूप स्थिरता में भी कमी है, वह भी चौदहवें में पूर्ण होती है। योग का कम्पन है, उतना भी दोष है। वह दोष छूट जाता है और सर्व कर्ता, कर्म आदि की क्रिया शुद्ध हो जाती है। पूर्ण पर्याय जो निर्मल उस समय हुई, वह मोक्ष का कारण है। उस पर्याय का कार्य मोक्ष है। समझ में आया ? उससे पहले व्यवहार, मोक्ष का कारण कहे, वह उपचार से कहते हैं, ऐसा कहते हैं, लो ! आहा..हा.. ! समझ में आया ? क्या कहते हैं ? यह तो उसका फल बताते हैं। क्या कहते हैं ?

निश्चय आत्मा के आश्रय से जो स्वसन्मुख की दृष्टि, ज्ञान-चारित्र हुए, वे भी जब पूर्णता कब होती है ? मोक्ष होता है, उससे पहले निर्मल पर्याय पूर्ण होती है। व्यवहार तो कहीं रह गया ? समझ में आया ? भगवान आत्मा...

'मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पंथ,
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।'

श्रीमद् का वाक्य है। बहुत संक्षिप्त वाक्य में उन्होंने (रचना की है)। 'मोक्ष कहा निज शुद्धता' अपनी पूर्ण शुद्धता का नाम भगवान मोक्ष कहते हैं। 'मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पंथ।' मोक्ष की कार्यदशा को जो प्राप्त करे, उसका नाम पंथ अर्थात् कारण कहने में आता है। यह कारण तो निर्मल पर्याय है। समझ में आया?

अन्तिम पर्याय में व्यवहार कहाँ रहा? ऐई! यह तो और मस्तिष्क में यह आ गया कि जो मोक्ष का कार्य होता है, उसकी पूर्व पर्याय में क्या होता है? क्या व्यवहार होता है? समझ में आया? चारित्र पूर्ण हो गया, केवलज्ञान पूर्ण हो गया, क्षायिक समकित पूर्ण हो गया है, तथापि स्वरूप में एकाग्रता–जितनी शुद्ध परिणति चाहिए, उतनी बाकी है तो शुद्धपरिणति जो है, वह ही मोक्ष की पूर्व पर्याय कारण है। समझ में आया? पूर्व की पर्याय है, वही कारण है। दूसरा कारण–फारण नहीं। आहा..हा..! पहले की निश्चय मोक्षमार्ग पर्याय भी मोक्ष का कारण नहीं तो व्यवहार तो कहाँ से होगा? ऐसा कहते हैं। ए... भाई! हिम्मतभाई! समझ में आया? आहा..हा..! कितना मार्ग प्रभु का ऐसा... कितनी सीधी बात करते हैं! दिगम्बर सन्तों ने मार्ग को टिका कर रखा है। जो सनातन मार्ग था, सर्वज्ञ से कथित पंथ टिका रखा है। निश्चय क्या? पर्याय क्या? व्यवहार क्या? सब यथार्थ... यथार्थ। ऐसी बात अन्यत्र नहीं है। समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि, सन्तों ने केवलज्ञान का अनादि का पंथ टिका रखा है, परन्तु यह समझने की योग्यता न हो तो लोगों में गड़बड़ हो जाती है। समझ में आया? आहा..हा..! कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र अधिकार में, चरणानुयोग में कहते हैं न? मोक्षमार्ग के प्रणेता यह हम खड़े। आहा..हा..! समझ में आया? हम स्वयं मोक्षमार्ग में हैं और कैसा निश्चयमोक्षमार्ग है... यहाँ तो निश्चय–व्यवहार आया न? चरणानुयोग में भी यह आया है न? प्रवचनसार में चरणानुयोग में ऐसा आया है कि कैसा निश्चय है और साथ में विकल्प का प्रकार कैसा होता है, दोनों का अनुभव करनेवाले हम ज्ञाता, ऐसे मोक्षमार्ग के प्रणेता हम खड़े हैं। आहा..हा..! समझ में आया? धन्नालालजी! आहा..हा..! कुन्दकुन्दाचार्य का अनुसरण सभी मुनियों ने, कोई भी सन्त हो, पूज्यपादस्वामी हो, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हो,

समन्तभद्र हो, सबकी एक ही धारा है। किसी की बात में अन्तर नहीं है। कथन की पद्धति में अन्तर हो, उसके तात्पर्य में कहीं अन्तर नहीं है। समझ में आया? यहाँ तो क्या आया?

मोक्ष के दो मार्ग जो कहे, वह तो निश्चयमोक्षमार्ग के साथ में देखकर... समझ में आया? अग्नि को घी के साथ में देखकर घी जलाता है, ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग के साथ व्यवहार देखकर व्यवहार, मोक्ष का मार्ग है – ऐसा व्यवहार रूढ़िगत रीति से कहने में आता है। अमरचन्दभाई! और वास्तव में वह निश्चय से मोक्षमार्ग केवलज्ञान में भी जो हुआ है, वह भी वास्तव में मोक्ष की जो अन्तिम पर्याय कारण होती है, वह पर्याय यहाँ नहीं। समझ में आया? उसका अर्थ यह हुआ कि अन्तिम एक ही शुद्ध निर्मल अभेद पर्याय, वही मोक्ष का कारण है। व्यवहार तो निकल गया परन्तु निचलीदशा में भी वास्तव में कोई साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं। आहा..हा..! और वह भी वास्तव में पूर्व की मोक्षमार्ग की पर्याय का कार्य है, वह भी वास्तव में व्यवहार है। क्योंकि जो पूर्व पर्याय है, उसका व्यय होकर कार्य होता है। इस कार्य का उत्पाद, वह व्यय नहीं है, परन्तु उस व्यय को कहना, वह अन्तिम पर्याय थी, इसलिए कहने में आया है। अन्तिम पूर्ण शुद्ध पर्याय तो द्रव्य में से आती है। कारणपरमात्मा में से कार्य आता है। आहा..हा..! देखो तो सही, मार्ग प्रभु का! यह कहते हैं, देखो, समझ में आया?

ऐसा जो मोक्षमार्ग हुआ तो उसे मोक्ष होता ही है। मोक्ष होता है, उसका स्वरूप क्या? बस, अब यह कहते हैं। अन्तिम गाथा है न? मोक्ष का मार्ग तो बता दिया। अब मोक्षमार्ग की पर्याय जहाँ पूर्ण हुई और दूसरे समय में मोक्ष हो गया। मोक्ष में क्या है? परमात्मा का स्वरूप कैसा है? उसकी बात करते हैं।

गाथा - २२३

नित्यमपि निरुपलेप: स्वरूपसमवस्थितो निरुपघात:।
गगनमिव परमपुरुष: परमपदे स्फुरति विशदतम:।।२२३।।

हैं नित्य ही उपलेप बिन, उपघात बिन निज रूप में।
स्थित विशद परमात्मा, नभसम प्रकाशित मोक्ष में।।२२३।।

अन्वयार्थ : (नित्यमपि) हमेशा (निरुपलेप:) कर्मरूपी रज के लेप से रहित (स्वरूपसमवस्थित:) अपने अनन्तदर्शन–ज्ञान स्वरूप में भले प्रकार स्थित (निरुपघात:) उपघात रहित और (विशदतम:) अत्यन्त निर्मल (परमपुरुष:) परमात्मा (गगनम् इव) आकाश की भाँति (परमपदे) लोकशिखरस्थित मोक्षस्थान में (स्फुरति) प्रकाशमान होता है।

टीका : 'नित्यम् अपि निरुपलेप: स्वरूपसमवस्थित: निरुपघात: विशदतम: परमपुरुष: गगनम् इव परमपदे स्फुरति।' –अर्थ:– सदाकाल कर्ममल रहित, निजस्वरूप में स्थित, घातरहित, अत्यन्त निर्मल ऐसे परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे मोक्ष में आकाश के समान दैदीप्यमान रहते हैं।

भावार्थ : पुरुष नाम जीव का है और परमपुरुष नाम परमात्मा सिद्ध भगवान का है। जीव तो नर–नारकादि चारों गतियों में अपनी आयु–प्रमाण थोड़े काल तक ही रहता है और सिद्ध भगवान मोक्ष में सदा अनन्त काल तक विराजमान रहते हैं। संसारी जीव तो कर्ममल से संयुक्त होने के कारण मलिन हैं और सिद्ध भगवान कर्म मल से रहित हैं, इसलिए परम निर्मल हैं। संसारी जीव, पुण्य–पापरूपी लेप से लिप्त हैं और सिद्ध परमात्मा, आकाश समान निर्लेप हैं। संसारी जीव, विभाव परिणति के योग से सदा देहादिरूप हो रहे हैं और सिद्ध भगवान सदा निजस्वरूप में ही विराजमान रहते हैं। संसार के जीव अन्य जीवों का घात करते हैं तथा दूसरे जीवों के द्वारा स्वयं भी घाते जाते हैं परन्तु सिद्ध परमेष्ठी न तो किसी का घात करते हैं और न किसी के द्वारा घाते जाते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान अखण्ड, अविनाशी, निर्मल, निजस्वरूप में स्थित सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष में ही विराजमान रहते हैं।।२२३।।

गाथा २२३ पर प्रवचन

निम्यमपि निरुपलेप: स्वरूपसमवस्थितो निरुपघात:।
गगनमिव परमपुरुष: परमपदे स्फुरति विशदतम:।।२२३।।

आहा..हा..! सिद्ध का स्वरूप वर्णन करते हैं। उपाय का वर्णन हो गया, अब मोक्ष

का। मोक्ष किसे कहते हैं ? यहाँ कहा, 'मोक्ष कहा निज शुद्धता।' यह तो सामान्य एक शब्द में कह दिया। यहाँ सबकी व्याख्या करते हैं।

अर्थ:- सदाकाल कर्ममल रहित,... नित्य शब्द का अर्थ। सिद्ध भगवान जो मोक्ष है, जो अन्तर के निश्चयमोक्षमार्ग का कार्यरूप फल है, वह मोक्ष की कार्यरूप दशा कैसी होती है ? नित्यमल रहित है। संसारदशा मलसहित है। नीचे भी अभी... समझ में आया ? तेरहवें गुणस्थान में भी थोड़ी अशुद्धता है, अशुद्धता है। समझ में आया ? उदयभाव है न ? चौदहवें गुणस्थान तक उदयभाव है। उदयभाव है, तब तक असिद्धभाव है। चौदहवें में उसका अभाव होकर पूर्ण दशा हो गयी तो सदा काल कर्ममल से रहित है। मलिनता के अंश से रहित है। निमित्त से रहित, मलिनता के अंश से भी रहित है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? पूर्णानन्दस्वरूप 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में' भगवान जब से मोक्षपर्याय प्राप्त हुई, तब से सादि अनन्त-अनन्त काल ऐसी की ऐसी शान्ति, आनन्द, अनन्त ज्ञान, दर्शन, निर्मल-मलरहित होते हैं। अपूर्णता नहीं, मल नहीं।

सदाकाल कर्ममल रहित, निजस्वरूप में स्थित,... नास्ति। पहले मल से रहित नास्ति कहा, अस्ति के स्वरूप से पूर्ण। अपने स्वरूप में निर्मल और परिपूर्ण है। सिद्ध भगवान, वह पर्याय है। सिद्ध भगवान, वह गुण नहीं, द्रव्य नहीं। संसार भी एक विकारी पर्याय है, मोक्षमार्ग भी निर्विकारी अपूर्ण पर्याय है; मोक्ष निर्विकारी पूर्ण पर्याय है। समझ में आया ? द्रव्य-गुण तो त्रिकाली है। द्रव्य भी त्रिकाली, गुण भी त्रिकाली परन्तु यहाँ तो अब पर्याय को नित्य कहना है। आहा..हा.. ! क्यों ? कि ऐसी निर्मलदशा ऐसी की ऐसी कायम रहेगी, इस अपेक्षा से उसे नित्य कहने में आया है। है तो पर्याय। समझ में आया ? है तो द्रव्य-गुण नित्य परन्तु यह पर्याय हुई, वह ऐसी की ऐसी सदृश सादी-अनन्त रहेगी। इस सदृश की अपेक्षा से उसे पंचास्तिकाय में केवलज्ञान को कूटस्थ कहा है न ? कूटस्थ नहीं, केवलज्ञान भी परिणमता है। केवलज्ञान पर्याय है, गुण नहीं परन्तु एकरूप सदृश... सदृश.. सदृश रहता है तो नित्य कहने में आया है। समझ में आया ? यह नित्य शब्द इसीलिए प्रयोग किया है। मोक्ष के लिये नित्य है, हों! द्रव्य-गुण के लिये नहीं। पर्याय के लिये। आहा..हा.. !

भगवान आत्मा स्वयं जैसे नित्य है, शुद्ध ध्रुव, एकरूप पवित्र निजस्वभाव था, ऐसी शक्ति में से एकरूप पूर्ण स्वभाव प्रगट हो गया है, वह नित्य मलरहित अपने स्वरूप में

स्थित है। मलरहित नास्ति कही, यह अस्ति कही। समझ में आया? **'नित्यमपि निरुपलेप: स्वरूप'** ऐसा कहा न? **निजस्वरूप में स्थित,...** संसारी प्राणी मलवाले हैं, अनित्य है और स्वरूप में स्थित संसारी नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? संसार से यह विपरीत है। स्वरूप में पूर्ण स्थित कोई नहीं। आहा..हा..! यहाँ तो जब तक असिद्धभाव है, तब तक स्थिरता नहीं, तब तक संसार कहा है न? आहा..हा..! समझ में आया? स्वरूप स्थित। जब तक असिद्धभाव है, तब तक पूर्ण स्थिरता नहीं। भगवान को पूर्ण सिद्धदशा एक समय में पूर्ण दशा हो गयी, उसका नाम मोक्ष है। समझ में आया?

निजस्वरूप में स्थित, किसी के भी घातरहित,.. यह तीसरा शब्द है। **'निरुपघात:'** इसका अर्थ है। संसारी प्राणी में तो राग से नुकसान होता है, निमित्त से भी बाहर में घात नैमित्तिक में होता है। सिद्ध **'निरुपघात:'** है। किसी पदार्थ से उनमें घात होकर हानि हो, ऐसा नहीं होता। देखो! यह मोक्ष का स्वरूप, सिद्ध का स्वरूप वर्णन करते हैं। इससे विरुद्ध कोई कहे तो ऐसा मोक्ष का स्वरूप नहीं है। पहले लेपवाले थे तो निर्लेप हुए। पहले अस्थिरता थी तो स्थिर हो गये। पहले घातवाले थे, अब निरुपघात हो गये। ऐसी दशा बतलाते हैं। आहा..!

'गगनम् इव' निर्मल। देखो! **अत्यन्त निर्मल ऐसे परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे मोक्ष में आकाश के समान दैदीप्यमान रहते हैं।** अत्यन्त निर्मल ऐसे... **'गगनमिव परमपुरुष: परमपदे..' 'विशदतम:' 'विशदतम:'** आहा...हा..! **'विशदतम:'** अत्यन्त स्पष्ट निर्मलता। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मनुष्यभव की उपयोगिता

हे भाई! आत्मा को भूलकर, भव में भटकते हुए अनन्त काल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर!! शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर!!! और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन कर!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रवचन नं. ८९ गाथा-२२३ से २२६ मंगलवार, श्रावण शुक्ल १०, दिनांक १५.०८.१९६७

२२३ गाथा का अर्थ हो गया। उसमें क्या कहते हैं? जिसमें अपने शुद्धस्वरूप आनन्द ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करके... यह अन्तिम सार बताते हैं न? मोक्षमार्ग का फल। अभी तक तो मोक्षमार्ग के विषय में कहा था। मोक्षमार्ग जो अपना शुद्ध चैतन्य आनन्द है, उसका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो प्रगट हुए हैं, वही मोक्षमार्ग है। उससे मुक्ति प्राप्त होती है। उसकी बात चलती है। मुक्ति में परमात्मपद का स्वरूप कैसा है, वह कहते हैं। समझ में आया?

पहले २२२ गाथा में मुख्य-उपचार मोक्षमार्ग आ गया है न? निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग से परम पद की प्राप्ति होती है। समझ में आया? यह पहले २२२ गाथा में आ गया। वास्तव में तो अपने शुद्ध स्वरूप के आश्रय से मुक्ति होती है, परन्तु बीच में, पूर्ण वीतराग न हो, तब व्यवहार विकल्प ऐसा आता है, उस कारण से परम पद मिलता है, ऐसा आरोप से कथन किया गया है। समझ में आया? कोई तो ऐसा भी कहते हैं, भाई! कि व्यवहार है, वह जैसे हेय है तो, फिर मोक्षमार्ग की पर्याय भी समय-समय में हेय वृद्धिवाली होती है। क्या कहा?

मुमुक्षु : अन्त में तो सब हेय ही है। .....करने के लिये क्या हेय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ऐसा कहते हैं कि जैसे... यह मुख्य और उपचार दो मार्ग कहे न? मुख्य, वह निश्चय और उपचार, वह व्यवहार है। व्यवहार, वह हेय है—ऐसा कहो तो हम तो ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुए हैं, वह समय-समय की शुद्धि हेय हो जाती है। नयी-नयी प्रगट होती है और अन्तिम पर्याय जो है, मोक्ष (मोक्षमार्ग) की पर्याय का अन्त जो है, उसके पूर्व समय में जो आत्मा

की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रत्नत्रयात्मक परिणति है, मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होने के पहले, जो रत्नत्रय की पूर्णता होती है, वही मोक्ष का कारण है।

मुमुक्षु : वही मोक्ष का कारण है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी है, परन्तु पहले जो छठे गुणस्थान से (निश्चय) सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र आदि हुए, वह वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं हुआ। समझ में आया? अन्तिम पर्याय मोक्ष के कार्य का कारण हुई। क्या कहा समझ में आया?

मुमुक्षु : कारण–कार्य तो यह ही रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या आया? कि मोक्ष की पूर्ण पर्याय जब हुई—केवलज्ञान, केवलदर्शन परम आनन्द—उस दशारूपी कार्य का कारण तो पूर्व समय में होता है। पूर्व समय की पहली पर्याय, वहाँ वह कारण होती है, तो उस कारण से मोक्षपर्याय हुई। उससे पहले जो निश्चय पर्याय है, वह भी हेय होती जाती है। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अभाव हो गया....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभाव हुआ तो व्यवहार का भी अभाव होकर चला जाता है और यह भी अभाव होकर चली जाती है, अतः एक को हेय कहते हो और एक को उपादेय कैसे कहते हो? समझ में आया?

मुमुक्षु : थोड़ी देर रहता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चली जाती है, यह दूसरी बात है। उसका अभाव होकर। अभाव अर्थात् राग का लक्ष्य छोड़कर। यहाँ भी अपने आश्रय से जो निश्चयमोक्षमार्ग हुआ, उसका भी समय–समय में व्यय होता है और शुद्धि की वृद्धि की पर्याय का उत्पाद होता है। इस अपेक्षा से तो पूर्व की पर्याय, कारण और बाद की पर्याय, कार्य। समझ में आया? देवीलालजी! समझ में आया या नहीं?

फिर से, यह तो शास्त्र के अर्थ में कितनी गड़बड़ करते हैं। यह पाठ में भी ऐसा ही है न? कि मुख्य है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और उपचार, व्यवहारमोक्षमार्ग है, तो व्यवहारमोक्षमार्ग वास्तव में है ही नहीं और तुम हेय कहते हो, तो पहली जो निश्चय की पर्याय हुई, वह भी बाद की पर्याय की अपेक्षा से तो वह पर्याय भी हेय हो गयी।

मुमुक्षु : उसे कारण कैसे कहते हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कारण कैसे कहते हो ? इसका कारण छोड़ दो और उसका कारण कहते हो तो इसका भी कारण कहो। जरा सा समझ में आया ? भाई ! यह राग व्यवहार है, है तो विकल्प है। वह कहीं कारण नहीं है। उसका तो अभाव होकर स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धि होती है, अभाव होकर स्वभाव के आश्रय से शुद्धि होती है, वही मोक्ष का मार्ग है और प्रगट करने योग्य तो शुद्धपर्याय ही प्रगट करने योग्य है। राग प्रगट करने योग्य है ही नहीं। समझ में आया ? राग तो बीच में आ जाता है। समझ में आया ? निश्चय में बीच में व्यवहार आ जाता है। (समयसार) मोक्ष अधिकार में आता है न ? भाई ! पण्डित जयचन्द। अकेला व्यवहार नहीं। निश्चय हो, वहाँ व्यवहार बीच में आता है। पण्डित जयचन्दजी के मोक्ष अधिकार, अर्थ में है न ! कब ? निश्चय हो, तब व्यवहार आता है परन्तु उन दोनों में अन्तर है। निश्चय आत्मा जो है, वह शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। उसका आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय उत्पन्न हुई, वह तो प्रगट करने के योग्य थी। राग बीच में आता है, वह प्रगट करने के योग्य नहीं है परन्तु आता है। समझ में आया ?

अब आगे बढ़कर भगवान आत्मा अपना उग्र आश्रय करके जो अन्तिम शुद्ध पर्याय प्रगट हुई, मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होने से, मोक्ष का कार्य हुआ, उसके पहले की जो चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय की पर्याय जो है, वास्तव में तो वह ही कारण है। वही रत्नत्रय कारण है और मोक्ष कार्य है, परन्तु उस पहले की पर्याय को कारण कहा परन्तु वह यथार्थ कारण है। शुद्ध है। क्या हो, परन्तु झगड़े ऐसे चलते हैं न कि तुम जब व्यवहार को हेय कहते हो तो हम तो कहते हैं, निश्चय भी हेय है। हेय की अपेक्षा से दोनों हेय हैं। हेय हैं; इसलिए उससे लाभ नहीं, ऐसा नहीं। अमरचन्दभाई ! ऐसा कहते हैं कि व्यवहार हेय कहो तो उससे लाभ नहीं, ऐसा नहीं। लाभ है। लाभ है ही नहीं। इस हेय में दूसरी बात है, पहले हेय में दूसरी बात है। भाई ! आहा..हा.. ! क्या हो ? जगत को...

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द का आश्रय करके जो निर्मल सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र हुआ, वह तो संवर-निर्जरारूप आनन्दरूप है। उस पर्याय के बाद दूसरी पर्याय जो होती है, उसका वह कारण भले हो। विशेष शुद्धि कार्य जो हो, उसके पहली शुद्ध पर्याय कारण भले हो, परन्तु उस कारण का नाश होकर कार्य होता है, परन्तु वह कारण हितकर है।

मुमुक्षु : इसलिए कारण कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए वास्तव में कारण है। इसलिए राग हितकर नहीं है। क्या हो ? समझ में आया ? समझ में आता है ? थोड़ा सूक्ष्म है परन्तु यहाँ तो... आहा..हा.. ! ऐई पोपटभाई ! बहुत सूक्ष्म मस्तिष्क करना पड़ेगा।

मुमुक्षु : मुद्दे की बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, मुद्दे की.....

भगवान आत्मा आनन्द और शान्ति के रस का पिण्ड प्रभु है। उसका आश्रय करना, वह मुद्दे की रकम है, परन्तु आश्रय करने में भी प्रथम आश्रय थोड़ा है, फिर आश्रय विशेष है, फिर आश्रय विशेष है, ऐसा समय-समय में आश्रय बढ़ता है तो शुद्धि बढ़ती है तो पहले की जो शुद्धि है, उसका व्यय होकर दूसरी शुद्धि विशेष होती है, तो पूर्व की पर्याय कारण और उत्तर की पर्याय कार्य—ऐसा यथार्थ में तो आता है, किन्तु यह मोक्ष का सीधा कारण नहीं रहा।

मुमुक्षु : परम्परा रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा जब उसे परम्परा कहते हो तो हम व्यवहार को भी परम्परा कहते हैं। (ऐसा वे लोग कहते हैं) अमरचन्दभाई !

मुमुक्षु : पहले दोनों का अन्तर है, एक निश्चय परम्परा है और एक व्यवहार परम्परा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें अन्तर है, भाई ! यह व्यवहार परम्परा आ जाती है। वह प्रगट करने योग्य नहीं है। अन्तर है। यह तो अन्तर आश्रय करके उग्ररूप से प्रगट करने योग्य है और जो शक्ति है, शक्ति में जो मोक्ष स्वभाव है, उस शक्ति की व्यक्तता, वह स्वभाव की व्यक्तता होती है। उस शक्ति में से राग प्रगट हो, वह शक्ति में नहीं है। आहा..हा.. ! मूल विवाद यह। मूल सूक्ष्म दिक्कत में इतना विवाद है कि जहाँ मूल भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द।.... ज्ञानमय, वह आनन्द से... २२४ गाथा में। ज्ञान और आनन्द दो ही कारण हैं यहाँ। ज्ञान और आनन्द। ज्ञान की परिपूर्णता और आनन्द की परिपूर्णता। बस, इसका नाम मोक्ष। समझ में आया ? तो उसका कारण जो शक्तिरूप स्वभाव भगवान आत्मा का

है, उस शक्ति की अन्तर में से व्यक्त प्रवाह आता है, वह अन्तर में से व्यक्त आता है, वास्तव में वही मोक्ष का कारण है। पहले की पूर्व पर्याय भले मोक्ष का कारण हो, परन्तु यह सब पर्यायें शक्ति में से आती हैं। समझ में आया? यह भिन्न चीज़ है। भाई!

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार तो परचीज है। अन्तर में से नहीं आया। यह तो निमित्त का लक्ष्य करके पराधीनरूप से पर्याय में राग आया है। उसे कारण कहना वह तो, भाई! सिद्धान्त क्या कहना है, वह समझ में आया? कि दोनों के स्वरूप में, दोनों के फल में, दोनों की दिशा में अन्तर है। इसलिए भगवान आत्मा अपना शुद्ध भगवानस्वरूप परमानन्दमूर्ति पूर्ण ध्रुवस्वरूप।

स्वभाव है न स्वभाव? अकेला स्वभाव, अकेला स्वभाव। स्वभाव की महिमा क्या? स्वभाव की अपरिपूर्णता क्या? और स्वभाव में विपरीतता कहाँ है? और स्वभाव की हद क्या? ऐसा जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि जो स्वभाव है, उसमें से प्रगट होती है। समझ में आया? स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुए, वे तो स्वभाव की जाति है। स्वभाव की जाति को मोक्ष का कारण कहना, वह यथार्थ है। समझ में आया? उसे अन्तिम पर्याय की अपेक्षा से भले उसे परम्परा कारण कहो।

मुमुक्षु : साक्षात् और परम्परा दो लागू पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ लागू पड़े। क्योंकि इसकी जाति है इसलिए। समझ में आया? आहा..हा..! अरे! जगत को तो अपना आश्रय लेना, उसे तो ऐसा लगता है मानो कुछ है ही नहीं। कहीं बाहर से मिल जाये, राग की क्रिया से और पर के आश्रय से हो, यह वस्तु ऐसी है ही नहीं। समझ में आया? रतिभाई!

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द, प्रभु! उसमें जो निर्मल पर्यायें हैं, वे अन्दर में पड़ी हैं। समझ में आया? वे प्रगट होती है तो है, उसमें से प्रगट होती है। उसमें राग अन्दर नहीं पड़ा। पूँजी में वह माल नहीं। पूँजी में यह माल है। सिद्ध की, अरिहन्त की, आचार्य की (उपाध्याय की), साधु की जो पाँच पद की वीतरागी पर्याय है, वह सब वीतरागी पर्यायें अन्दर पड़ी हैं। द्रव्य में है तो सत् है तो प्रगट होगी। अन्दर सत् न हो और प्रगट हो, ऐसा है नहीं। राग है, वह सत् अन्दर नहीं। समझ में आया? भाई!

विवाद भारी, भाई! शास्त्र में वादभयम्... अरे... भगवान! यह तो अन्तर का मार्ग है, प्रभु! इसमें वाद–विवाद नहीं होता। 'सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वाद–विवाद करे सो अन्धा।' यह बनारसीदास में आता है। 'सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वाद–विवाद करे सो अन्धा।'

भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है न, भाई! तुझे विश्वास नहीं। तुझे विश्वास नहीं। तू विश्वास ला तो अन्दर सब शक्ति पड़ी है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की जो पर्याय है, वह कहाँ से होती है? असत् उत्पन्न होती है? पर्याय अपेक्षा से असत् परन्तु वस्तु में है, तब उत्पन्न होती है या नहीं? फूलचन्दजी! समझ में आया? थोड़ी–थोड़ी मेहनत करते हैं। व्यापार करते हैं। व्यापारी व्यक्ति है। महाकठिनाई से न्याय का विषय चला। व्यापार में इस युक्ति की कुछ खबर नहीं पड़ती। समझ में आया? आहा..हा..!

कहते हैं कि अरे! भगवान आत्मा में सब समझने की शक्ति है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की जितनी पर्याय है, वह बाहर से नहीं आती। वह तो सब अन्दर में पड़ी है, इसलिए उसे प्रगट करने की ताकत है। समझ में आया? वह कहीं नयी बात नहीं है। आहा..हा..! भक्ति में नहीं आया कुछ? 'नयी–नयी बात नहीं' ऐई! कहाँ गये? हम–तुम समान हैं, नयी बात नहीं – ऐसा भजन में आया था न? कुछ आया था, वह शब्द याद रह गया। यह तो भक्ति में, नहीं? हम और तुम एक हैं, सिद्ध होना, वह कोई नयी बात नहीं। यह भक्ति में आया था। यहाँ कहीं सब याद रहता है? एक शब्द आया था। बहिन का आया था, नहीं?

मुमुक्षु : 'जो तू है....'

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा? 'जो तू है सो हूं, हम हैं, उसमें कोई नयी बात नहीं' यह कोई नयी बात नहीं है। भगवान! जैसे तुम हो, वैसे हम हैं, यह कहीं नयी बात नहीं है। धन्नालालजी! यह भक्ति में आता है। पढ़ते–पढ़ते भक्ति में भी फिर विचार चलते होते हैं न! वह तो यह कहते हैं। अन्दर मैं हूँ। पूरा अन्दर भरा पड़ा हूँ।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र जो निश्चयपर्याय है, वह तो स्वभाव शक्ति में है। वह... व्यवहार विकल्प है, व्यवहार की दशा पराश्रित है और निश्चय की दशा स्वाश्रित है। अतः स्वाश्रित है, उसका कारण? कि स्वाश्रित में सब पड़ा है, भाई! समझ में आया? भाई! बराबर है। भाई क्यों नहीं आये? बुखार आता है। समझ में आया? ऐसी बात है, भाई!

भगवान आत्मा जो कुछ पंच परमेष्ठी की पर्याय कहते हैं न ? कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि वह पर्याय कहीं नयी नहीं है। वह सब आत्मा में है। वह पाँच पद की वीतरागी पर्याय आत्मा में है। समझ में आया ? तो वह भी सिद्ध का-मोक्ष का मार्ग, मोक्षमार्ग भी आत्मा में है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? राग आत्मा में नहीं, क्योंकि व्यवहार पराश्रय है और यह स्वाश्रय है। दोनों में अन्तर है। स्व-आश्रय में भी जब तक सम्पूर्ण न हो, तब तक पहले की पर्याय का व्यय होता है। बाद की-उत्तर पर्याय / कार्य होती है परन्तु वह तो स्वभाव के प्रवाह में से आती है और कारण कार्य शुरु होता है। समझ में आया ? और यह पराश्रय राग। स्व-आश्रय निश्चय.. पराश्रय व्यवहार, इसका अर्थ क्या ? न्याय से करना चाहिए।

पर की दिशा की ओर का राग है, वह कहीं अन्तर की दिशा का कारण नहीं होता। भाई ! अन्तर के कारण में पड़ा है तो कारण होता है। राग में क्या पड़ा है ? राग तो नया-नया पर दिशा से उत्पन्न होता है। समझ में आया ? उसे व्यवहार कहा, वह तो आरोपित व्यवहार है। धन्नालालजी ! आहा..हा.. ! असद्भूत है। व्यवहाररत्नत्रय असद्भूत है। यह तो प्रगट होती है, वह सद्भूतपर्याय है। स्व-आश्रित कहो तो निश्चय है और भेद पड़े, इस अपेक्षा से सद्भूतव्यवहार है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा... आहा..हा.. ! अपने स्वरूप में पूर्णानन्द प्रभु 'पूर्ण इदम् ध्रुव', अकेला स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... इसकी हद नहीं, माप नहीं, प्रमाण नहीं, इतनी वस्तु। इसमें सब शक्तियाँ पड़ी हैं। अन्तर आश्रय करने से... समझ में आया ? अकार्य-कारण याद आ गया, देखो ! राग कारण और यह पर्याय कार्य, ऐसा नहीं, इसमें गुण नहीं। समझ में आया ? व्यवहार कारण राग और आत्मा की पर्याय कार्य, ऐसा गुण नहीं। भावगुण तो है। अपना स्वभाव कारण और वीतरागी पर्याय कार्य, ऐसा गुण है। कर्ता-कर्म, वह षट्कारक में आता है न ? वह तो अपने में है, परन्तु राग कारण और आत्मा की पर्याय कार्य, ऐसा वस्तु में नहीं है। समझ में आया ? थोड़ी सूक्ष्म बात आ गयी। ऊपर मुख्य-उपचार में है न ? उसका फल यहाँ बताते हैं। फल बताते हैं, उसमें वह व्यवहार तो है ही नहीं वास्तव में। यह छठे-सातवें में से निश्चयमोक्षमार्ग जब से शुरु हुआ, चौथे से शुरु हुआ, तो पूर्व की पर्याय का व्यय होता है और नयी-नयी पर्याय उत्पन्न होती है, अत: पूर्व की पर्याय कारण और उत्तर की पर्याय कार्य। उत्तर समझे ? बाद की। बाद की पर्याय कार्य और पहले की

पर्याय कारण। उसमें राग कारण और कार्य कहना, वह तो अत्यन्त आरोपित कथन है, क्योंकि वस्तु में ऐसा भाव है ही नहीं। समझ में आया?

यह तो वस्तु ऐसी है। यह किसी ने बनी बनायी है? बनायी है? किसी भगवान ने बनायी है? भगवान ने तो जैसा था, वैसा कहा, जाना और अनुभव किया। भगवान कहते हैं, ऐसा है, भाई! हम कुछ करता नहीं, तुम्हें कुछ करना नहीं। द्रव्य–गुण का तुम्हें करना है? ऐसा ही है। बस, अन्दर में आश्रय करके जो निर्मल प्रगट पर्याय हो, उसकी पर्याय भले अपूर्ण हो और व्यय हो जाती है, इस अपेक्षा से हेय भी कहने में आती है। परन्तु हेय है, वह दूसरी बात है। वह तो अन्तर में से दूसरी विशेष आती है तो व्यय होती है। राग के कारण से अन्दर में कोई कार्य उत्पन्न हो, ऐसा नहीं है। अब ऐसी पर्याय का फल क्या है? देखो! २२३ गाथा।

नित्यमपि निरुपलेप: स्वरूपसमवस्थितो निरुपघात:।
गगनमिव परमपुरुष: परमपदे स्फुरति विशदतम:।।२२३।।

सिद्ध भगवान नित्य हैं। संसार अनित्य है। कहो, समझ में आया? २२३ मूल श्लोक। भगवान परमात्मदशा नित्य रहती है। है पर्याय। सिद्ध की है पर्याय, परन्तु **'नित्यम्'** ऐसी की ऐसी पर्याय कायम रहती है। पहले मोक्षमार्ग की पर्याय बदलती थी। अपूर्ण से पूर्ण (होने के लिये बदलती थी)। यह ऐसी की ऐसी पर्याय (कायम रहती है), भाई! इसलिए नित्य शब्द पहला प्रयोग किया। व्यवहार तो अन्त में रहा, परन्तु मोक्षमार्ग की पर्याय कम थी, वह बढ़ाने की थी। यहाँ बढ़ाने का रहा नहीं, सदृश रह गयी।

सिद्ध भगवान में मोक्षमार्ग के कारण का कार्य सदृश रह गया। ऐसी की ऐसी सादि–अनन्त। समझ में आया? संसार में ऐसी दशा थी नहीं, ऐसी पर्यायदशा की बात है। ऐसी पर्याय सिद्ध में उत्पन्न हुई, उसे नित्य कहा। **'निरुपलेप:'** संसार लेपवाला है। भगवान! अभी चौदहवें गुणस्थान में उदयभाव है। सिद्ध **'निरुपलेप:'** हैं। कोई लेप नहीं। **'स्वरूपसमवस्थित:'** संसार में अभी पूर्ण स्वरूप समअवस्थित नहीं। समझ में आया? सिद्ध भगवान पूर्ण स्वरूप समअवस्थित हैं। अपने अब सीधे शब्दार्थ करते हैं। भाई! सीधे शब्दार्थ में। वह लम्बा.. लम्बा.. लम्बा.. लम्बा.. भाव है। कहो, समझ में आया?

'स्वरूपसमवस्थित:' दशा पूर्ण समअवस्थित हो गयी। परमात्मदशा समअवस्थित

ऐसी की ऐसी (रहती है)। **'निरुपघात:'** नीचे तो घात होता था, पर का घात करे, पर से अपने में व्यवहार निमित्त से घात हो जाये, ऐसा वहाँ रहता नहीं। **'निरुपघात:'** किसी का घात करता नहीं, कोई इसका घात करता नहीं। ऐसे सिद्धभगवान मोक्षमार्ग का फल आ गया। **'विशदतम: परमपुरुष:'** जीव को पुरुष कहते हैं, सिद्ध को परम पुरुष कहते हैं। समझ में आया? साधारण जीव को पुरुष कहते हैं। अन्दर अर्थ में है। यह तो ऊपर से लेते हैं। **'परमपुरुष:'** सिद्धभगवान परम पुरुष हैं। लो! पुरुष होंगे ये? परम पुरुष हैं। पूर्ण दशा प्रगट हुई। **'परमपदे स्फुरति'** परम पद में रहनेवाले हैं, परम आनन्द पद में रहनेवाले हैं। **'विशदतम:'** निर्मल हैं। **'विशदतम:'** निर्मल... निर्मल... निर्मल। अकेले स्फटिकवत् सिद्धभगवान हैं। यह २२३ गाथा हुई। अब २२४ गाथा।

गाथा - २२४

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्य: परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।।२२४।।

नित ज्ञानमय सर्वज्ञ, परमानन्द स्थिर कृत्यकृत।
परमात्मा निज परम पद, में विराजित आनन्दयुत।।२२४।।

अन्वयार्थ : (कृतकृत्य:) कृतकृत्य (सकलविषयविषयात्मा) समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्व पदार्थों के ज्ञाता (परमानन्दनिमग्न:) विषयानन्द से रहित ज्ञानानन्द में अतिशय मग्न (ज्ञानमय:) ज्ञानमय ज्योतिरूप (परमात्मा) मुक्तात्मा (परमपदे) सर्वोच्च मोक्षपद में (सदैव) निरन्तर ही (नन्दति) आनन्दरूप से विराजमान हैं।

टीका : 'परमात्मा कृतकृत्य: सकलविषयविषयात्मा (विरतात्मा) परमानन्द निमग्न: ज्ञानमय: परमपदे सदैव नन्दति।' -अर्थ:- सिद्ध भगवान को कोई काम करना शेष नहीं रहा, वह सकल पदार्थों को अपने ज्ञान में विषय करनेवाले अथवा सर्व पदार्थों से विरक्त, परम सुख में निमग्न और केवलज्ञान सहित परमपद अर्थात् मोक्ष में सदाकाल आनन्द करते हैं।

भावार्थ : संसार के अर्थात् चतुर्गति के जीवों को अनेक कार्य करने की अभिलाषा है इसलिए कृतकृत्य नहीं हैं, सिद्ध परमेष्ठी को कोई काम करना शेष नहीं रहा इसलिए कृतकृत्य हैं। जगत के जीव परमपद से–मोक्ष से विमुख हैं और अपद में–(संसार में) स्थित हैं, सिद्ध भगवान अपद से रहित हैं और परमपद में–मोक्ष में विराजमान हैं। संसारी जीव विषय–विकार सहित हैं, सिद्ध परमात्मा विषय–विकार से रहित हैं। संसारी जीव अनेक शरीर धारण करते हुए दु:खी हो रहे हैं, सिद्ध परमेश्वर मन, वचन, काय से रहित परम आनन्द में लीन हैं। इत्यादि अनन्त गुणों सहित सिद्ध भगवान विराजमान हैं।।२२४।।

गाथा २२४ पर प्रवचन

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्य: परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।।२२४।।

इस मोक्षमार्ग का फल मोक्ष आया। भगवान मोक्ष कैसा है ? कृतकृत्य। पूर्ण कार्य हो गया। बाकी रहा नहीं। अभी तेरहवें गुणस्थान में भी अभी निर्मल शुद्ध का कार्य बाकी था। समझ में आया ? यह कृतकृत्य हो गये। '**परमपदे**' भगवान परमपद में स्थित हो गये। नीचे तो अपरमपद असिद्धदशा थी। चौदहवें गुणस्थान तक तो असिद्धदशा था। यह सिद्धदशा। भगवान परमपद में सिद्ध हो गये। '**सकलविषयविषयात्मा**' लोकालोक जिनका विषय हो गया। विषय तो केवलज्ञान में भी हो गया है। यह तो विशेष कहते हैं। '**सकलविषयविषयात्मा**' और '**सकल विरतात्मा**' दो शब्द लिये हैं, भाई! सबसे विरक्त हो गये हैं। परमात्मा सिद्ध भगवान सबसे विरक्त हो गये हैं। वे सबको विषय करते हैं। सबसे विरक्त हुए हैं और सबको विषय करते हैं। रागादि सबसे विरक्त हो गये हैं, उदयभाव से विरक्त हो गये हैं और सबको विषय को करते हैं – लोकालोक को जानते हैं। समझ में आया ?

'**परमानन्दनिमग्न:**' परमात्मा परमानन्द में निमग्न है। समझ में आया ? सिद्ध वहाँ

क्या करते हैं ? परमानन्द में निमग्न हैं। यह करते हैं। संसार में (संसारी) क्या करते हैं ? राग-द्वेष में मग्न हैं। संसार में क्या करते हैं ? राग-द्वेष में मग्न हैं। वे दुःख को करते हैं। ये (परमात्मा) परमानन्द में निमग्न हैं। पूर्णानन्द मोक्षमार्ग से जो फल हुआ (उसमें मग्न हैं)। **'परमानन्दनिमग्नः ज्ञानमयो सदैव नन्दति'** जिनके ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण हो गये हैं, ऐसे सदैव—सादि-अनन्त—रहते हैं। अब २२५ गाथा।

गाथा - २२५

जैन-नीति अथवा नय-विवक्षा

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेणत्र।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।२२५।।

ज्यों एक खीचें अन्य छोर, शिथिल करें मथते दही।
त्यों विविध धर्मी वस्तु में से प्रयोजन वश एक ही।।
करते प्रमुख हैं अन्य गौण, इसी तरह सब धर्म का।
हो ज्ञान जैनी नीति यह, जयवन्त वर्ते नित यहाँ।।२२५।।

अन्वयार्थ : (मन्थाननेत्रम्) दही की मथनी की रस्सी को खेंचनेवाली (गोपी इव) ग्वालिनी की तरह (जैनी नीतिः) जिनेन्द्रदेव की स्याद्वाद नीति अथवा निश्चय-व्यवहाररूप नीति (वस्तुतत्त्वम्) वस्तु के स्वरूप को (एकेन) एक सम्यग्दर्शन से (आकर्षन्ती) अपनी तरफ खेंचती है, (इतरेण) दूसरे से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से (श्लथयन्ती) शिथिल करती है और (अन्तेन) अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य को उत्पन्न करने से (जयति) सर्व के ऊपर वर्तती है।

(अथवा दूसरा अन्वयार्थ)

अन्वयार्थ : (मन्थाननेत्रम्) दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली (गोपी इव) ग्वालिनी की तरह जो (वस्तुतत्त्वम्) वस्तु के स्वरूप को (एकेन अन्तेन) एक अन्त से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से (आकर्षन्ती) आकर्षण करती है-खेंचती है, और फिर

(इतरेण) दूसरी पर्यायार्थिकनय से (श्लथयन्ती) शिथिल करती है, वह (जैनी नीतिः) जैनमत की न्याय पद्धति (जयति) जयवन्ती है।

टीका : 'मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनी नीतिः वस्तुतत्त्वं एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति।' – अर्थ :– दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्र भगवान की जो नीति अर्थात् विवक्षा है वह वस्तुस्वरूप को एक नय–विवक्षा से खेंचती है, दूसरी नय–विवक्षा से ढीला करती है वह अन्ते अर्थात् दोनों विवक्षाओं से जयवन्त रहे।

भावार्थ : यह कि भगवान की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है। वस्तुस्वरूप का निरूपण प्रधान तथा गौणनय की विवक्षा से करने में आता है। जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य है, यही नय–विवक्षा है।।२२५।।

(नोंध :– इस श्लोक में यह बताया है कि शास्त्र में किसी स्थान पर निश्चयनय की मुख्यता से कथन है और किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि सच्चा धर्म किसी समय व्यवहारनय (अभूतार्थनय) के आश्रय से होता है और किसी समय निश्चयनय (भूतार्थनय) के आश्रय से होता है। वास्तव में धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के विषय के आश्रय से ही होता है। मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से होता है किन्तु मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। सरागता से भी मोक्षमार्ग और वीतरागता से भी मोक्षमार्ग–इस प्रकार परस्पर विरुद्धता तथा संशयरूप मोक्षमार्ग नहीं है।)

गाथा २२५ पर प्रवचन

जैन–नीति अथवा नय–विवक्षा.. इसमें जरा गड़बड़ है। यहाँ तो कुछ गड़बड़ ही नहीं।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेणत्र।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।२२५।।

टीका : 'मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनी नीतिः वस्तुतत्त्वं एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति।' क्या कहते हैं? देखो। **दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिन...** ग्वालिन होती है न? वह खींचती है न? क्या कहते हैं उसे? मथनी। उस मथनी में डोरी होती है। डोरी एक है, उसके छोर दो हैं। छोर कहते हैं? क्या कहते हैं? डोरी दो नहीं। डोरी तो एक ही है। यह तुम्हारी भाषा नहीं आती। यहाँ तो दो छेड़ा (कहते हैं)? समझ में आया? ऐसे खींचे तब यह (दूसरी ओर की) ढीली रखे, ऐसे खींचे तब ढीली रखे। ऐसे डोरी तो एक ही है। इसी प्रकार ज्ञान तो एक ही प्रकार का है, परन्तु ज्ञान के दो नय हैं। यह श्रद्धा की अपेक्षा से यहाँ बात नहीं है। समझ में आया? निश्चय में किसी समय मुख्य करे और किसी समय व्यवहार मुख्य करे, ऐसा इसमें लेते हैं। ऐसा है ही नहीं। यह बात यहाँ है ही नहीं। क्यों? कि श्रद्धा है, वह निर्विकल्प है। निर्विकल्प-एक निर्विकल्प वस्तु का विषय करती है, उसमें दो प्रकार नहीं हैं। समझ में आया? व्यवहारश्रद्धा करती है, वह आता है। निश्चयनय की पर्याय नव तत्त्व की श्रद्धा करे, वह दूसरी बात है। इसका विषय तो एक अभेद ही है। समझ में आया? और यह तो ज्ञान की बात चलती है। धन्नालालजी! इसमें से निकालते हैं कि यदि तुम एकदम निश्चय-निश्चय को मुख्य करते हो तो यहाँ कहते हैं कि किसी समय व्यवहार को मुख्य करे, किसी समय निश्चय को मुख्य करे। ऐसी बात है। श्रद्धा, सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग की अपेक्षा से बात नहीं है। मोक्षमार्ग है, वह तो मुख्य को निश्चय करके चलता है। व्यवहार कभी मुख्य नहीं होता। यदि व्यवहार मुख्य हो जाये तो दृष्टि मिथ्यात्व हो जाती है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपने पूर्णानन्दस्वरूप का नाथ, उसका आश्रय मुख्य है। निश्चय को मुख्य नहीं कहा। मुख्य को निश्चय कहा है। वरना तो निश्चय तो अपने द्रव्य, अपने गुण, अपनी पर्याय तीनों को स्व-अपेक्षा से निश्चय कहते हैं। समझ में आया? नहीं तो स्व में भी अभेद की बात है। मूल तो स्वाश्रय निश्चय है न, भाई! स्व-आश्रय निश्चय और पराश्रय व्यवहार, इसमें भी स्व-अपेक्षा से तो अभेद ही है। आहा..हा..! समझ में आया? लिखा है न वहाँ? अभेद का डाला है न? स्व-आश्रय निश्चय और पर-आश्रय (व्यवहार) २७२ (गाथा, समयसार) में। मूल तो अभेद का लिखा है। 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो (प्राप्ति करे निर्वाण की)' स्व का आश्रय, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों नहीं लिया है। स्व-आश्रय

निश्चय अभेद लिया है। समझ में आया? बन्ध अधिकार की २७२ गाथा। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा, जो स्वाश्रय, मुख्य जो त्रिकाल वस्तु है, उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान और चारित्र, वही मुख्य निश्चय है और साधक को व्यवहार का विकल्प तथा पर्याय कभी मुख्य नहीं होती। समझ में आया? पर्याय और राग गौण रहते हैं। अभाव नहीं, अभाव नहीं। वर्तमान पर्याय है, उसे गौण करके व्यवहार कहा है। अभाव करके व्यवहार नहीं कहा। अभाव नहीं। (यदि अभाव हो तो) तब तो पर्याय का नाश हो जाये। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन में भी मुख्य–गौण करके बात की है। भाई ने–पण्डित जयचन्दजी ने बहुत स्पष्टीकरण किया है। मुख्य बात है। गौण करके बात की है तो एकान्त नहीं ले जाना। भूतार्थ द्रव्य है और पर्याय वस्तु है ही नहीं, (ऐसा नहीं ले जाना)। समझ में आया? यह तो मुख्य–गौण करके आत्मा में जाने के लिये और स्वाश्रय लेने के लिये बात की है। इसकी मुख्यता धर्मी को कभी नहीं छूटती। समझ में आया? और व्यवहार की मुख्यता, सम्यग्दृष्टि को कभी नहीं होती। परन्तु व्यवहार होता अवश्य है। आहा..हा..! न हो तब तो वीतराग हो जाये अथवा मिथ्यादृष्टि हो जाये। व्यवहार है अवश्य।

देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा आदि भाव, पंच महाव्रत का भाव इत्यादि विकल्प होते हैं। पर्याय का भेद, वह सद्भूतव्यवहार है। पहला (राग आदि) असद्भूतव्यवहार है। व्यवहार है। बारहवीं गाथा में तो दोनों लिये हैं न? सद्भूत, वह पर्याय की शुद्धि बढ़े वह और अशुद्धता दोनों व्यवहारनय का विषय है। दोनों जाना हुआ प्रयोजनवान है – ऐसा कहा है। बारहवीं गाथा में दोनों प्रयोजनवान, ऐसा कहा है। शुद्धता का अंश जो बढ़ता है, वह भी ख्याल में रखना और अशुद्धता मिटकर अशुद्धता बाकी रही, उसका भी ख्याल रखना, इसका नाम वहाँ व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहने में आया है। गजब बात, भाई! झगड़ा.. झगड़ा। प्रभु! आहा..हा..! सीधा मार्ग, सरल मार्ग, सत्मार्ग। भगवान आत्मा, वहाँ दृष्टि लगा और वहाँ ज्ञान को लगा और वहाँ स्थिरता लगा, इतनी बात है। यह मुख्यरूप से कभी व्यवहार मुख्य नहीं होता। यहाँ दूसरी बात है।

यहाँ तो ज्ञानप्रधान का कथन है। अर्थ में यह लेंगे। भाई ने दूसरा थोड़ा लिया। देखो, **दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्र भगवान की**

जो नीति... देखो! नीति शब्द है न? भाई! **जो नीति अर्थात् विवक्षा है वह वस्तुस्वरूप को एक नय-विवक्षा से खेंचती है,...** निश्चय से बात-नित्य आत्मा है... नित्य आत्मा है... शुद्ध आत्मा है। तब निश्चय की मुख्यता से कथन करते हैं। समझ में आया? पर्याय में अशुद्धता है। वह पर्याय अनित्य है, क्षणिक है, तो व्यवहारनय की बात करते हैं। व्यवहारनय से मुख्यता होती है। जानने में, जानने में। समझ में आया?

एक नय-विवक्षा से खेंचती है, दूसरी नय-विवक्षा से ढीला करती है... निश्चय को ढीला करना और व्यवहार को खींचना, यह बात यहाँ नहीं है। अमरचन्दभाई! यहाँ तो नित्य जो वस्तु है, द्रव्य शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है। द्रव्य एक है, पर्याय अनेक है। उसमें से एक बात करते हुए मुख्य को खींचते हैं और दूसरे को ढीली करते हैं और पर्याय की बात, अनेक अवस्था की बात करते हैं तो उसे मुख्य करते हैं और इसे ढीली करते हैं। ऐई.. धन्नालालजी!

मुमुक्षु : ज्ञान में मुख्य गौण होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान में जानने में मुख्य-गौण होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञान में निश्चयनय को गौण करने का क्या अर्थ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नित्य को लक्ष्य में जानने की बात यहाँ है। जब पर्याय का ज्ञान करना है तो नित्य को लक्ष्य में न लेना, नित्य को गौण रखना, ऐसी बात है। जानपने की बात है न! यहाँ श्रद्धा की बात नहीं है। वस्तु की सिद्धि में ज्ञान करने का प्रयोजन यह है। जानपना इतना। सम्यग्ज्ञान, वह श्रद्धा का आश्रय और ज्ञान है, यह बात अभी नहीं है। द्रव्य वस्तु नित्य है। एकान्त नित्य है, ऐसा नहीं। अनित्य को लक्ष्य में गौण करके मुख्य और नित्य का निश्चय करते हैं और अनित्य का मुख्य लक्ष्य करते हैं, तब लक्ष्य में नित्य को गौण कर देते हैं। जानने में (गौण कर देते हैं)।

मुमुक्षु : यह ज्ञानप्रधान में है। सम्यग्दर्शन के विषय में खींचतान नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं है। यह बात है ही नहीं। यह बात यहाँ कहने में आती ही नहीं। यह तो पहले कह गये न, पहले १४वीं गाथा कह गये। आयी थी न? देखो उसमें है न १४वीं गाथा। कहाँ है? देखो,

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

१४वीं गाथा। **'एवमयं कर्मकृतैर्भावै'** कर्म के निमित्त से हुए पुण्य–पाप के विकल्प जो हैं, और कर्म है तथा कर्म की सामग्री है। दो तरफ ले लेना। घातिकर्म है, उनके सम्बन्ध से रागादि हुए, अघातिकर्म है, उस सम्बन्ध से ये हुए। तीनों चीज उनसे **'असमाहितो'** भगवान आत्मा उनसे रहित है, रहित है। राग से, आस्रव से, अजीव से, कर्म से, शरीर से, बाह्य की सामग्री से (रहित है) **'असमाहितो युक्तः इव प्रतिभाति'** परन्तु मैं सहित हूँ ऐसा प्रतिभास है। **'बालिशानां'** अज्ञानी को जो भास है वह **'स खलु भवबीजम्'** वह भव का बीज मिथ्यात्व है। समझ में आया?

मुमुक्षु : नहीं, ऐसा भाष नहीं हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। नहीं, उसमें है का भास हुआ। है नहीं। रागादि **'असमाहितो'** रागादि और पर से रहित है। सहित भासित होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। **'भवबीजम्'** समझ में आया? क्योंकि आस्रवतत्त्व, अजीवतत्त्व और ज्ञायकतत्त्व तीनों तो भिन्न है। अतः ज्ञायकतत्त्व, आस्रव और अजीवतत्त्व सहित है ही नहीं। है ही नहीं, उसे सहित मानना, वह **'बालिशानां'** अज्ञान, भव का बीज है। चार गति में भटकने का बीज है। व्यवहाररत्नत्रय राग है। रागसहित आत्मा को जानना... समझ में आया? वह मिथ्यादृष्टि है। गजब बात, भाई! वीतरागमार्ग...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धि... साला जितनी है। ऐसा कहते हैं। उस साला की बात थी न, दो वर ले आया, ऐसा कहते हैं। दो वर की बात आती है। यह बात नहीं सुनी? एक था साला–बहनोई, फिर उसकी बहिन कहे, परन्तु मेरे भाई को तुम कुछ काम सौंपते नहीं। भाई! वह बराबर सौंपने योग्य नहीं है। परन्तु सौंपो तो सही। कि भाई! तब अपनी कन्या की सगाई कर आओ, जाओ। एक की दो सगाई कर आया। बीस वर्ष का (वर) खोजना, तो दस–दस वर्ष के दो ढूँढ़कर ले आया। समझ में आया? यह बातें मैंने संसार में सुनी हुई है। यहाँ तो बहुत सब सुनी हुई है न? ६० वर्ष पहले, ६५ वर्ष पहले बात सुनी है। कि भाई! ऐसे एक बात संसार में चलती है। यह गारियाधार में सुनी थी। गारियाधार है न यहाँ?

वहाँ (सुनी थी) साला को काम सौंपा, उसकी बहिन को बहुत भाव हुआ कि तुम मेरे भाई को कुछ काम नहीं सौंपते और तुमने एक ओर ठोठ विद्यार्थी की तरह बैठा रखा है। अरे! उस तेरे भाई को रहने दे न ठीक से ऐसा का ऐसा। परन्तु कुछ सौंपो तो सही। कुछ काम करेगा। उसका शरीर बहुत अच्छा है। कहा – तब जाओ, अपनी भानेज की सगाई कर आओ कहीं। ठीक सा सुन्दर बीस वर्ष का युवक खोजना। यह चौदह वर्ष की है। फिर वहाँ जाकर दस-दस वर्ष के दो ढूँढ़ लाया। ऐसी बात तब सुनी थी।

मुमुक्षु : बीमार पड़ा तो वैद्य को बुलाने को कहा, वह तो कफन साथ में लेकर आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दो काम कर आया, वह मूर्ख। कहो, समझ में आया? ऐसा नहीं, भाई! यहाँ तो जैसा स्वरूप है, उस प्रकार से उसे समझना चाहिए। खण्ड-खण्ड नहीं कर डालना चाहिए। उस बीस के खण्ड करके यहाँ दो कर दिये। संसार में सब चलता है।

यहाँ कहते हैं **'एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती'** ढीली करे। **'वस्तुतत्त्वं एकेन'** देखो! अन्त अर्थात् एक धर्म। आत्मा को द्रव्यार्थिकनय से सिद्ध करना हो तो द्रव्य है, नित्य है – ऐसा सिद्ध करते हैं और पर्याय से सिद्ध करना हो तो उत्पाद-व्यय, समय-समय की पर्याय को सिद्ध करते हैं, तो उत्पाद-व्यय को सिद्ध करने में पर्याय की मुख्यता करके द्रव्य को गौण करते हैं। एक साथ दोनों का ज्ञान नहीं होता, इस कारण (ऐसा करते हैं)। और जब द्रव्य नित्य है, ऐसा ज्ञान कराते हैं तो पर्याय को गौण कर देते हैं, शिथिल कर देते हैं। एक ओर खींचे तो दूसरी ओर ढीला। यह ग्वालिन मक्खन निकालती है। समझ में आया?

जिनेन्द्र भगवान की जो नीति अर्थात् विवक्षा है, वह वस्तुस्वरूप को एक नय-विवक्षा से खेंचती है, दूसरी नय-विवक्षा से ढीला करती है, वह अन्ते अर्थात् दोनों विवक्षाओं से जयवन्त रहे। अथवा एक-एक धर्म से जिस नय से बात कहनेवाली है, वह जयवन्त रहो। नित्य द्रव्य से नित्य कहते हैं, वह भी जयवन्त रहो, पर्याय से अनित्य कहते हैं, वह भी जयवन्त रहो। एक-एक धर्म को बतानेवाला नय है, वह जयवन्त रहो। समझ में आया?

मुमुक्षु : पर्याय का स्थान बदल जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का स्थान नहीं बदलता। है, ऐसा ख्याल रह जाता है। है,

ऐसा स्थान होता है। आश्रय करनेयोग्य है, यह तो प्रश्न है ही नहीं। यहाँ तो ज्ञान की बात है। दुनिया एकान्त मानती है। वेदान्त आत्मा को एकान्त कूटस्थ मानता है, यह मिथ्या है और बौद्ध एकान्त क्षणिक मानता है, यह मिथ्या है। इसलिए यहाँ बात की है। स्वभाव नित्य सिद्ध करने में पर्याय को गौण करना, पर्याय को सिद्ध करने में ज्ञानी को एकसाथ लक्ष्य नहीं जाता। द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्य करना। किसी को छोड़ना नहीं। समझ में आया? यह लिखते हैं, देखो।

भगवान की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है। वस्तुस्वरूप का निरूपण प्रधान तथा गौणनय की विवक्षा से... देखो! प्रधान कहो या मुख्य कहो। **गौणनय की विवक्षा से करने में आता है।** परन्तु इस प्रकार से, हों! जानने में। नित्य–अनित्य, एक–अनेक, शुद्ध–अशुद्ध, भेद–अभेद ऐसा ज्ञान करना। **जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है।** देखो! **द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य है, यही नय–विवक्षा है।**

गाथा - २२६

ग्रन्थ पूर्ण करते हुए आचार्य महाराज अपनी लघुता बताते हैं:–

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः।।२२६।।

इन विविध वर्णों से बने, पद वाक्य बनते पदों से।
शुभ शास्त्र वाक्यों से बना, नहिं किया है हमने इसे।।२२६।।

अन्वयार्थ : (चित्रैः) अनेक प्रकार के (वर्णैः) अक्षरों से (कृतानि) रचे गये (पदानि) पद, (पदैः) पदों से (कृतानि) बनाये गये (वाक्यानि) वाक्य हैं, (तु) और (वाक्यैः) उन वाक्यों से (पुनः) फिर (इदं) यह (पवित्रं) पवित्र–पूज्य (शास्त्रं) शास्त्र (कृतं) बनाया गया है, (अस्माभिः) हमारे द्वारा (न 'किमपि कृतम्') कुछ भी नहीं किया गया है।

टीका : 'चित्रैः वर्णैः पदानि कृतानि तु पदैः वाक्यानि कृतानि वाक्यैः पवित्रं शास्त्रं कृतं पुनः अस्माभिः न।'–अर्थः–इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ग्रन्थ पूर्ण करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय नामक शास्त्र हमने नहीं बनाया है तो फिर किसने बनाया है? तब आचार्य ने उत्तर दिया कि नाना प्रकार के अक्षरों से छन्दों के चरण बने हैं और उन चरणों से छन्द अर्थात् वाक्य बने हैं तथा उन वाक्यों से शास्त्र की रचना हुई है इसलिए इसमें मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।।२२६।।

गाथा २२६ पर प्रवचन

ग्रन्थ पूर्ण करते हुए आचार्य महाराज अपनी लघुता बताते हैं:– वास्तव में तो वे कर्ता नहीं, ऐसा बताते हैं। लघुता तो... समझ में आया? इस ग्रन्थ के शब्द मैंने नहीं बनाये। आहा..हा..! ये वापिस ऐसा अर्थ करते हैं, लघुता बताते हैं, उसका क्या अर्थ करते हैं? कि अहंकार नहीं करना, कर सकता है। इसके लिये... वे इसमें से लघुता में से निकालते हैं। उसमें लघुता लिखा है न? कलश–टीका में राजमलजी ने लघुता लिखा है। लघुता अर्थात् अपना निर्मानपना रखना, अभिमान नहीं करना। इस प्रकार पर को मार सकता है, बचा सकता है, सुखी–दुःखी कर सकता है—ऐसा अहंकार नहीं करना। यहाँ कहते हैं कि यह तेरी बात ही मिथ्या है। पर को मार नहीं सकता, बचा नहीं सकता, सुखी–दुःखी नहीं कर सकता। मैं सुखी करता हूँ, यही मिथ्यात्व का अहंकार है। समझ में आया? यहाँ कहते हैं।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः।।२२६।।

आहा..हा..! देखो! शब्दों ने यह पवित्र शास्त्र बनाया है, मैंने नहीं। आहा..हा..!

स्वामी अमृतचन्द्र महाराज ग्रन्थ पूर्ण करते हुए अपनी लघुता बताते हैं और कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने नहीं बनाया। तो फिर किसने बनाया है?–तो कहते हैं कि अनेक प्रकार के स्वर, व्यंजन, वर्ण अनादि काल के हैं... 'सिद्धो वर्ण समामनायः' यह मोक्षमार्गप्रकाशक का पहला बोल है। पहला बोल है न? ऐसा कहते हैं, शब्द तो वे हैं परन्तु

जैसे मोती तो ऐसे के ऐसे हैं, परन्तु कोई मोती यहाँ रखे, यहाँ रखे। रखे का अर्थ कि कोई कहीं रचने में निमित्त हो, कोई कहीं रचने में निमित्त, ऐसा। ऐसे कि ये पद तो हैं परन्तु इस पद में कोई आचार्य एक-साथ रचते हैं, अमुक शैली में रचने में निमित्त हूँ ऐसा। यह कहीं आत्मा रच सकता है, ऐसा भी नहीं है।

वर्ण की आम्नाय अनादि से है। कैसी भाषा बोली जाती है, यह भाषा पर्याय में होना यह अनादि से है। आत्मा नया नहीं बना सकता। आहा..हा..! पहले कहा था न? पहले जब हम विद्यालय में गये थे। (संवत्) १९५२-५३ का वर्ष होगा। संवत् १९५२-५३। तब हमें खबर है। पहले अध्यापक ने हमें ऐसा सिखाया। सीखो। क्या? 'सिद्धो वर्ण समामनाय:' मैंने कहा यह क्या करते हैं? अपने को एक (अंक स्वर-व्यंजन) भी आता न हो। ऐ... तुम्हारे था या नहीं तब? खबर नहीं? यहाँ तो बराबर खबर है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में है। ग्रन्थ की प्रामाणिकता। देखो! 'सिद्धो वर्ण समामनाय:' वर्ण के उच्चारण का सम्प्रदाय स्वयंसिद्ध है। अक्षर की ध्वनि की पर्याय उठना, वह स्वयंसिद्ध है। आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : शुरुआत से ही ऐसा हाथ में आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला शब्द आया। मुझे बराबर याद है। जब याद आवे, तब पहले आया था। यह अन्दर याद आता है। बराबर ख्याल है। बहुत छोटी उम्र लगभग छह वर्ष की होगी। परन्तु बराबर जब मैंने याद किया तब अ.. हो...

मुमुक्षु : अध्यापक को तो खबर होगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने सिखाया था, भाई! 'नथु' मास्टर था बेचारा। गरीब व्यक्ति था, नथु मास्टर। उसे एक लड़का मणिलाल था, अविवाहित। हम यह ले जायें। सीधा अथवा आटा दें, वह खाये। उसे कोई वेतन-वेतन नहीं होता। आटा ले जाये और कोई विवाह हो, मृत्यु हो तो सीधा (भेंट में दी जानेवाली खाद्य सामग्री) दें। बस, पहले इतने पर ही निभाव था, भाई! न्यालभाई! गाँव के मास्टर का निभाव इस पर था। पैसे-वैसे का कुछ नहीं था।

मुमुक्षु : एकान्त मनुष्यों की, तब सरकारी स्कूल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह तो धूलीशाला, यह तो धूलीशाला की बात है। एकदम धूलीशाला। पहले धूल में लिखावे। धूल में लिखावट लिखे। अंक लिखावे ऐसे घोंटे तो इतना मोटा हो। यह सब खबर है। हाथ का घुमाव (मोड़) न आवे तो मास्टर हाथ पकड़कर (ऐसा करावे)। यह सब खबर है, हों! इतना मोटा। देखो! ऐसा लिखा।

वर्ण के उच्चारण का सम्प्रदाय स्वयंसिद्ध है और **तथा उन अक्षरों से उत्पन्न सत्य अर्थ के प्रकाशक पदों के समूह का नाम श्रुत है...** मिला। अक्षरों से उत्पन्न सत्य अर्थ के प्रकाशक। वास्तव में तो ऐसा है कि जब जो भाषा पर्याय होनी हो, शब्द पर्याय। पूर्व की पर्याय भाषा में उपादानता ऐसी है। शब्दवर्गणा में पहली पर्याय में ऐसी उपादानता है कि फिर उसका उत्तरी भवन... उत्तरी भवनं, यह भाषा की पर्याय में उपादान है, वह पलटकर शब्द पर्याय हो जाती है। यह आत्मा कारण-फारण नहीं है। समझ में आया? भाषावर्गणा में, यह जो भाषावर्गणा अन्दर है, उस भाषावर्गणा में शब्द होने की पर्याय पहले उसमें उपादानता ऐसी है। वह उपादान-पर्याय पलटकर भाषा हो जाती है। आत्मा से नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु आत्मा संग में न हो तो क्यों नहीं होती?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा संग में है नहीं।

मुमुक्षु : परपदार्थ संग में कहाँ से आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा को स्पर्श किया है? आत्मा भाषा को स्पर्श करता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता।

मुमुक्षु : स्पर्श नहीं करता परन्तु साथ में तो रहता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ में रहता है, इसका अर्थ क्या? साथ में तो छहों द्रव्य हैं। एक आकाश के प्रदेश में छहों द्रव्य हैं। एक आकाश प्रदेश है न यहाँ? जीव के अनन्त प्रदेश हैं। परमाणु के अनन्त प्रदेश हैं। धर्मास्तिकाय का एक है, अधर्मास्तिकाय का एक है, काल का एक है। समझ में आया? है तो क्या हुआ? किसी को स्पर्शता नहीं। समयसार की तीसरी गाथा में आया है न? **'एयत्तणिच्छयगदो'** कोई द्रव्य किसी द्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ अपने गुणधर्म को स्पर्श करता है। परस्पर अपने गुणधर्म को स्पर्श करता है परन्तु परस्पर एक द्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता। आहा..हा..!

देखो! समझ में आया? **सत्य अर्थ के प्रकाशक पदों के समूह का नाम श्रुत है...** बाकी मोती का दृष्टान्त दिया है। उसमें भी यह न्याय है, मोती है परन्तु मेरे निमित्त में जो कोई मोती ऐसे रचने में आनेवाले हैं न, भाई! उस प्रकार से यह निमित्त आया। किसी के दूसरे प्रकार से रचने के हों। यह हेतु जरा अन्तर डालते हैं। कहो, समझ में आया?

कहते हैं, मैंने तो कुछ किया नहीं। अर्थात् आत्मा में स्व-पर प्रकाशक शक्ति है। अपने को जाने, राग को जाने, होती हुई क्रिया को जाने। शब्द में स्व-पर स्वरूप कहने की ताकत है। समझ में आया? बड़ी गड़बड़ी। हम बोलते हैं, हमने शब्द बनाये। अरे... मिथ्यात्व है, भाई!

मुमुक्षु : मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्ट लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? परन्तु यहाँ तो ये शब्द स्पष्ट हैं न? मैं बोला, मैं बोलता हूँ, मैं बराबर धारावाही उपदेश दे सकता हूँ। भगवान! यह तेरी चीज़ नहीं है। जुगराजजी!

मुमुक्षु : यह तो वर्ण की समामनाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसकी आमनाय है भाई! भगवान! एक परमाणु, ऐसे अनन्त परमाणु मिलकर स्कन्ध बनते हैं और स्कन्ध में से शब्द-पर्याय उत्पन्न होती है। वह कहीं आत्मा से है? आत्मा उसका कर्ता है? आहा..हा..! प्रतिक्षण मैं बोलूँ, वैसा बोला जाता है। भाई! ऐसा नहीं, प्रभु! वह भाषा की पर्याय, भाई! उसके कारण से होती है, आत्मा के कारण से नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? लघुता नहीं परन्तु यथार्थता बताते हैं। मैंने कुछ नहीं किया।

कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने नहीं बनाया। भाषावर्गणा। तेईस प्रकार की वर्गणायें हैं न? परमाणु के समूह तेईस प्रकार के हैं। उसमें जो भाषावर्गणा है, उसमें ही शब्द बनने की पूर्व पर्याय में उपादानता है। मनोवर्गणा में नहीं, श्वास वर्गणा में नहीं, आहार वर्गणा में नहीं। आत्मा में तो कहाँ से होगी? समझ में आया? यह होंठ हैं न होंठ? वह भी उसकी पूर्व पर्याय से भाषा होती है, ऐसा नहीं है। यह जो है, इसकी पूर्व पर्याय से इसकी उत्तर पर्याय होती है। भाषा की पर्याय इस कारण से उत्पन्न होती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा..हा..! आत्मा से भाषा होती है? कितना अभिमान?

मैं उपदेशक हूँ, मैं ऐसा उपदेश करता हूँ। भगवान! उपदेश की भाषा तो जड़ की है न प्रभु! तू कहाँ उसका मालिक हो गया? जड़ का स्वामी हुआ। भाई! इस प्रकार से वस्तु नहीं है। आहा..हा..! रामचन्द्रजी! समझ में आया? भाषा आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। यह शरीर से ऐसा होता है, वह (आत्मा से) नहीं। इस शरीर से ऐसा होता है, वह इसकी पूर्व पर्याय उपादान से होता है, आत्मा से नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? कहते हैं कि मैंने तो पुरुषार्थसिद्धि-उपाय बनाया नहीं। आहा..हा..! अरे, पोपटभाई! यहाँ तो थोड़ा काम करे तो कहे, मैंने बनाया, मैंने बनाया, वहाँ मैं उपस्थित था, इसलिए काम हुआ।

मुमुक्षु : देखरेख तो रखे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : देखरेख उसकी पर्याय में रही। वहाँ बाहर में देखरेख कहाँ रहती है? बाहर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो पूर्व पर्याय के उपादान से (होती है)। निश्चय से तो वह पर्याय उस पर्याय के कारण से होती है। मोक्ष में भी जो कहा है कि पूर्व की पर्याय से मोक्ष हुआ है, वह भी एक व्यवहार की बात है। और मोक्ष की पर्याय से तो नहीं, परन्तु द्रव्य के कारण से हुआ, वह भी अपेक्षित भाव है। वर्तमान मोक्ष की पर्याय स्वयं से हुई है। ऐई! अरे! वीतराग का मार्ग तो देखो!

कहते हैं कि इस भाषावर्गणा में हमारा काम बिल्कुल नहीं। प्रवचनसार में लिया है न, हे जनो! शब्दवर्गणा भाषारूप परिणमती है न? मैंने बनाया नहीं। इसमें बहुत विशेष स्पष्ट किया है। प्रवचनसार में है न? वास्तव में पुद्‌गल स्वयं शब्दरूप परिणमते हैं। आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता। आहा..हा..! आत्मा यह होंठ हिला सकता है, हाथ हिला सकता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। तत्त्व की खबर नहीं कि क्या तत्त्व है? इसी प्रकार वास्तव में सर्व पदार्थ तो स्वयं ज्ञेयरूप से परिणमते हैं। अपनी पर्यायरूप से। शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर समझा नहीं सकते। इस शब्द की पर्याय से इसमें ज्ञान नहीं होता। शब्द को सुननेवाले को (शब्द से) ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसके ज्ञान की पर्याय से ज्ञान होता है। आहा..हा..! शब्द से नहीं। शब्द को आत्मा कर नहीं सकता। शब्द, ज्ञेय की पर्याय को कर नहीं सकता। आहा..हा..!

आत्मा सहित विश्व वह व्याख्येय (समझाने योग्य) है, वाणी का गुंथन, वह व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो। (प्रवचनसार, कलश २१) मैंने नहीं किया, भगवान! यह वाणी मेरी नहीं। वह तो अनादि शब्द की परिणति है, उससे बनता है। मेरा कुछ कार्य नहीं। **स्याद्वादविद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो (–परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ।)** (प्रवचनसार, कलश २१) अव्याकुलरूप से परिणमो। मैं ज्ञातादृष्टा हूँ। समझ में आया? मैं तो राग का भी कर्ता नहीं और वाणी का भी कर्ता नहीं। भगवान! ऐसा निर्णय करके ज्ञानरूप परिणम जाओ। पर के परिणमन का अभिमान न करो। मिथ्यात्व छोड़ दो, नहीं तो तुम्हें बहुत नुकसान होगा। भाषा तो भाषा की तरह से परिणमित होगी परन्तु मैंने परिणमाया है, मैंने किया है, मैंने ऐसा किया है, ऐसा बोलते हैं न कितने ही? मैंने उसे ऐसे समझाया, ऐसे समझाया, परन्तु तू समझानेवाला कौन? इतना सब अभिमान! मैंने ऐसे समझाया, इसलिए ठीक है। मैंने ऐसा किया मैं... मैं... जहाँ–तहाँ भाषा का अभिमान है। समझ में आया? कहते हैं कि मैंने नहीं बनाया।

स्वर, व्यंजन, वर्ण अनादि काल के हैं, उन वर्णों से पद अनादि के हैं तथा पदों से वाक्य बनते हैं और उन वाक्यों ने यह पवित्र शास्त्र बनाया है, हमने कुछ भी नहीं बनाया। आहा...हा..! समझ में आया? ऐसा वस्तु का स्वरूप है, प्रभु! एक–एक परमाणु की पर्याय स्वयं से होती है तो अनन्त परमाणु की भाषावर्गणा की पर्याय आत्मा किस प्रकार कर सकता है? ईश्वरकर्ता कहनेवाले ऐसा कहते हैं कि ईश्वर पर को करता है। जैन ऐसा कहें कि हम वाणी के कर्ता हैं, दोनों समान मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों एक वर्ग में बैठनेवाले हैं। इसलिए ऐसा कहते हैं कि यह शास्त्र मैंने नहीं बनाया। वाणी से बना है, ऐसे समझो, समझने से तुम्हें लाभ होगा, हमें कुछ नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ॐ

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन भाग-३